

भर्त्सना के अर्थ में
10 उपवास के उपलक्ष्य में
सुगन्धिका की उर्वर से सप्रेम भेट वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं० ११५

समयसार

पूर्वार्ध

(संवर अधिकार तक)

मूलगाथाएं

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य

आत्मव्याप्ति टीका

आचार्य श्री अमृतचंद्रसूरि



तात्पर्यवृत्ति टीका

आचार्य श्री जयसेन स्वामी

ज्ञानज्योति हिन्दी टीका

गणिनी १०५ आधिकारिक श्री ज्ञानमती माताजी

अमृतकलश पद्यानुवाद

आयिका श्री अभयमती माताजी



गाथा पद्यानुवाद

आयिका श्री चन्दनामती माताजी



प्रकाशक :

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान

हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रथमावृत्ति
२२०० प्रति

३१ जनवरी १९६०
वीर नि० सं० २५१६
माघ शुक्ला ५—वसंत पंचमी

मूल्य :
६४-००
७०-००

विषयानुक्रमिका

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना का क्रम	
समयसार—एक अध्ययन	४
श्री कुंदकुंददेव	२०
श्री अमृतचन्दसूरि	२३
श्री जयसेनाचार्य	२६
श्री ज्ञानमती माताजी	३३
श्री अभयमती माताजी	३६
श्री चंदनामती माताजी	३८
हृदय के उद्गार	४०
संप्रदकीय	४३
आभार	४६
स्वाध्याय से पूर्व विशेष ज्ञातव्य	५१
स्वाध्याय का मंगलाचरण	५२

ग्रंथ प्रारम्भ

मंगलाचरण	१
जीवाजीवाधिकार	८
कर्तृकर्मधिकार	२५७
पुण्यपापाधिकार	४८६
आस्रवाधिकार	५५०
संवरधिकार	६०२
प्रशस्ति	६४०
मूल गाथाएँ (संवर अधिकार तक)	६४१
विशेष गाथाएँ	६५७

समयसार—एक अध्ययन

—पूज्य गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

समयसार की गाथा संख्या और टीकायें—

वर्तमान में इस समयसार ग्रन्थ पर दो टीकायें उपलब्ध हैं। एक श्रीअमृतचन्द्रसूरि की, दूसरी जयसेनाचार्य की। पहली टीका का नाम 'आत्मख्याति' है और दूसरी का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने जीवाजीवाधिकार को सम्मिलित रूप से लिया है। पुनः कर्तृकर्म अधिकार, पुण्यपाप अधिकार, आस्रव अधिकार, संवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, बंध अधिकार, मोक्ष अधिकार और सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार ऐसे नव अधिकार किये हैं। आगे स्याद्वाद का विस्तार से वर्णन करके उसे स्याद्वाद अधिकार नाम दिया है किन्तु उसे 'दशम' अधिकार नहीं कहा है। अंतिम नौवें अधिकार की समाप्ति सूचक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

“इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्याती सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽङ्कः।”

इस आत्मख्याति टीका में गाथाओं की संख्या ४१५ है। इस टीका के मध्य में कुछ काव्य दिये हैं जिनमें समयसार की गाथाओं का सारभूत विवेचन बहुत ही मधुरता और सरलता से दिया गया है। इसीलिये इन्हें 'कलशकाव्य' संज्ञा दी है। इनकी संख्या २७८ है। इन कलश काव्यों के ऊपर पृथक् भी टीकायें हैं जिनका कि एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन गया है।

तात्पर्यवृत्ति टीका में मूल गाथाओं की संख्या ४३६ है। श्री जयसेनाचार्य ने सर्वप्रथम टीका में १४ गाथाओं की टीका की है। पुनः जीवाधिकार में २८ गाथायें ली हैं, अजीवाधिकार में ३० गाथायें हैं, कर्तृ कर्म अधिकार में ७८ हैं इत्यादि। श्री जयसेनाचार्य ने जीवअधिकार और अजीव-अधिकार इन दोनों को पृथक् कर दिया है जिससे इनकी टीका में दस अधिकार हो गये हैं तथा प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ और अन्त में गाथाओं की संज्ञा दी हुई है।

यथा—“प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंतजीवाधिकारः कथ्यते।”

ऐसे ही अन्त में—

“इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणयां तात्पर्यवृत्ती
समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः।”

इन्होंने भी सर्वविशुद्धज्ञान नामक दसवां अधिकार समाप्त करके स्याद्वाद अधिकार लिया है। अन्त में कहते हैं—

“इति श्रीकुन्दकुन्ददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रन्थस्य संबंधिनी श्रीजयसेनाचार्य-
कृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्तः ।”

इस प्रकार से श्री जयसेनाचार्य ने इस समयसार की ४३६ गाथाओं की टीका की है। इसी तरह प्रवचनसार और पंचास्तिकाय में भी श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका में गाथायें कम हैं एवं श्री जयसेनाचार्य की टीका में गाथायें अधिक हैं।

प्रवचनसार में श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका में गाथायें २७५ हैं और श्री जयसेनाचार्य की टीका में ३११ गाथायें हैं।

जिन गाथाओं को श्री जयसेन ने कुन्दकुन्द की मानकर टीकायें की हैं उनका अन्यत्र ग्रन्थों में भी श्री कुन्दकुन्द के नाम से उल्लेख मिलता है। जैसे कि—

नियमसार की टीका में श्री ५६मप्रभमलधारी देव कहते हैं—

तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवंः—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्डीसोवखं तहेव ईसरियं ।

तिहुवणपहाणदइयं माहुण्णं जस्स सो अरिहो ॥

यह गाथा प्रवचनसार में श्री जयसेनाचार्य ने ली है और इसकी टीका भी की है किन्तु अमृतचन्द्रसूरि की टीका में यह नहीं है।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जयसेनाचार्य ने जिन अधिक गाथाओं को श्री कुन्दकुन्द की ही माना है, अन्य आचार्य भी उन्हें श्री कुन्दकुन्द रचित मानते रहे हैं।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने उन गाथाओं को क्यों छोड़ा है? यह विषय विचारणीय ही है। किन्तु श्री जयसेनाचार्य द्वारा मान्य गाथाओं में ये श्री कुन्दकुन्द देवकृत नहीं हैं या शेषक हैं, सहसा ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

पंचास्तिकाय में भी श्री अमृतचन्द्रसूरि ने १७३ गाथाओं की टीका की है किन्तु श्री जयसेनाचार्य ने “अधिकारत्रयसमुदायेनैकाशीच्युतरशतगाथाभिः पंचास्तिकायप्राभृतः समाप्तः ।” अधिकार तीन के समूह से १८१ गाथाओं द्वारा पंचास्तिकाय प्राभृत समाप्त हुआ, ऐसा कहा है।

टीका की गूढ़ता—

अमृतचन्द्रसूरि की टीका अतीव सूढ़ है। संस्कृत की पंक्तियाँ भी क्लिष्ट और समास बहुल हैं, किन्तु जयसेनाचार्य की टीका में जगह-जगह गुणस्थान व्यवस्था स्पष्ट की गई है। भाषा भी सरल है

और भाव भी सरल है जिससे हम जैसे लोगों के लिये बहुत ही सरलता हो गई है। जो विद्वान इस टीका की उपेक्षा कर देते हैं सचमुच में वे समयसार के रहस्य को सही रूप से न आप ही समझ सकते हैं, न श्रोताओं को ही समझा सकते हैं। यही कारण है कि वे एकांत दुराग्रही बन जाते हैं। वास्तव में उन्हीं दुराग्रही लोगों के लिये यह समयसार शास्त्र न रहकर शस्त्र बन जाता है। उनके लिये श्री गुणभद्रसूरि का एक श्लोक सामने आ जाता है—

शास्त्राग्नी मणिवद् भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।

अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ।

इस शास्त्र रूपी अग्नि में भव्य जीव मणि के समान शुद्ध होकर निर्वृत हो जाता है किन्तु खलदुर्जन मनुष्य अंगारे के समान जलकर काला कोयला हो जाता है अथवा राख हो जाता है।

कहने का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को समयसार पढ़ते समय श्री जयसेनाचार्य की टीका अवश्य पढ़नी चाहिये।

श्री अमृतचन्द्रसूरि और श्री जयसेनाचार्य के अभिप्राय—

आज कुछ लोग ऐसा कहते हुए देखे जाते हैं कि श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका के आधार से चतुर्थ गुणस्थान में निश्चयसम्यक्त्व, निश्चयचारित्र, शुद्धोपयोग आदि हो जाते हैं किन्तु जयसेनाचार्य नहीं मानते हैं। वे सप्तम गुणस्थान से ही इनको घटित करते हैं। वास्तव में अमृतचन्द्रसूरि के शब्दों में भी निश्चय सम्यक्त्व आदि चौथे गुणस्थान में असम्भव हैं। सो ही देखिये—

गाथा १२वीं की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

“ये खलु पर्यतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयपरमं भावं अनुभवन्ति...”।

जो अन्तिम ताव से शुद्ध हुये सुवर्ण के समान परम भाव का अनुभव करते हैं उनके लिये शुद्धनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो एक-दो आदि ताव से शुद्ध हुये के समान ऐसे अपरम भाव का अनुभव करते हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल इसी रूप से व्यवस्थित है। कहा भी है—

“यदि आप जिन मत को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयनय में मोह को मत प्राप्त होवो, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ का और निश्चय के बिना तत्व का नाश हो जावेगा।”

आगे कलश काव्य में भी कहा है कि—

“पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिये यह व्यवहारनय हाथ का अवलम्बन है।”

अब आप देखिये—अन्तिम ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान शुद्ध भाव का अनुभव तो मोह-रहित मुनि के ११, १२वें गुणस्थान में ही घटेगा उसके पहले सब अशुद्ध भाव में ही हैं। हाँ, श्रीजी

में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से शुद्धोपयोगी मुनि के भी कथंचित् परमभाव का अनुभव कहा जाता है। किन्तु छठे, सातवें गुणस्थान पर्यंत सराग अवस्था होने से शुभोपयोग ही है अतः वहां तक परम-शुद्ध भाव का अनुभव नहीं है। आगे उद्धरण और कलश आदि से भी यह बात स्पष्ट है कि चतुर्थ, पंचम, छठे, सातवें गुणस्थानवर्तियों के लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

इसी प्रकरण को श्री जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि जो निर्विकल्प समाधि में रत हैं उनके लिये निश्चयनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो असंयत सम्यग्दृष्टि हैं, श्रावक हैं, प्रमत्त मुनि हैं या अप्रमत्त हैं ये सराग सम्यग्दृष्टि हैं, शुभोपयोगी हैं। ये छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी भेद-रत्नत्रय में स्थित हैं अतः इनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।

ऐसे ही गाथा १४२ की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि के अभिप्राय को देखिये—

“य एवंनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति ।” जो दोनों नयों के विकल्प को उल्लंघन कर देता है वह ही सम्पूर्ण विकल्प से रहित स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञान घन रूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है।

उसी टीका के ६६वें कलश में भी कहा है कि—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।

विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६६॥

जो दोनों नयों के पक्ष को छोड़ कर नित्य ही स्वरूप में गुप्त होकर निवास करते हैं वे विकल्प समूहों से रहित शान्त चित्त हो जाते हैं, वे ही साक्षात् अमृत का पान करते हैं।

यहां “स्वरूपगुप्ता” शब्द त्रिगुप्ति से सहित निर्विकल्प मुनियों के लिये ही है।

श्री जयसेन स्वामी ने भी इसी को सरल शब्दों में कहा है कि आगम के व्याख्यान के समय बुद्धि दोनों नयों का अवलम्बन लेती है किन्तु तत्त्वज्ञानी स्वस्य-आत्मा के ध्यान में लीन हुए मुनियों के वह विकल्प बुद्धि नहीं रहती है।

आगे गाथा १७६, १८० की टीका में भी कहा है कि जब यह ज्ञानी जीव शुद्धनय से च्युत हो जाता है तब उसके पूर्वबद्ध प्रत्यय पुद्गलकर्मों से बंध करा देते हैं।

इन्हीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि परमसमाधि लक्षण भेदज्ञानरूप शुद्धनय से च्युत होने पर पूर्वबद्ध प्रत्ययों से कर्मबन्ध होता है।

ऐसे ही गाथा १५० की टीका के कलश काव्य १०४ में कहा है—

“जिन्होंने पुण्य और पाप रूप सम्पूर्ण कर्मों का निरोध कर दिया है और निष्कर्म रूप-शुद्धोपयोग में प्रवृत्त हैं ऐसे मुनि अशरण नहीं हैं।”

इसी गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि—

“शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्प से रहित होने से अपने शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न निर्विकार सुख अमृत रस के आस्वाद से तृप्त होकर शुभ-अशुभ कर्म से राग मत करो ।”

ऐसे ही आगे गाथा ३०६, ३०७ की टीका में भी श्री अमृतचन्द्रसूरि ने अप्रतिक्रमण आदि को अमृतकुम्भ कहा है जो तृतीय भूमि में अर्थात् शुद्धोपयोग में कहा है—“तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन” अर्थात् अप्रतिक्रम-प्रतिक्रमण से परे जो अप्रतिक्रमण रूप तृतीय भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप है । इसी टीका के १६वें कलश में “मुनि” शब्द है जो कि अप्रमत्त मुनि की बात कह रहा है ।

इसी प्रकरण को श्री जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कहा है कि “सरागचारित्र लक्षण शुभोपयोग की अपेक्षा से इन्हें अप्रतिक्रमण आदि संज्ञा दी है । फिर भी वीतराग चारित्र की अपेक्षा से ये ही निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रतिसरण आदि कहलायेंगे क्योंकि प्रतिक्रमण आदि शुभोपयोग हैं । ये सब सविकल्प अवस्था में अमृतकुम्भ हैं किन्तु परमोपेक्षा संयमरूप निर्विकल्प अवस्था में विषकुम्भ हैं । वहाँ तो अप्रतिक्रमण अर्थात् निश्चय प्रतिक्रमण आदि ही अमृतकुम्भ हैं ।”

ऐसे ही सर्वत्र श्री जयसेनाचार्य ने श्री अमृतचन्द्र सूरि के अभिप्रायानुसार ही टीका की है । केवल गूढ़ अर्थ को न समझ सकने से ही कुछ दुराग्रही लोग अर्थ का अनर्थ कर देते हैं ।

समयसार की गाथाओं में जहाँ कहीं भी सम्यग्दृष्टि अथवा ज्ञानी शब्द हैं वहाँ पर प्रायः श्री अमृतचन्द्रसूरि को वीतराग सम्यग्दृष्टि ही विवक्षित है । इसका एक उदाहरण देखिये—

“णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठस्स आसवणिरोहो ।”

सम्यग्दृष्टि के आसव, बंध नहीं है प्रत्युत आसव का निरोध है । इसी संदर्भ में आगे चलकर कहते हैं—

“तेण अबंधोत्ति णाणी दु ।”

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।

अण्णत्तं णाणगुणो, तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

आत्मा का ज्ञानगुण जब तक जघन्य अवस्था में रहता है तब तक वह अन्यत्व को अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में अन्यपने को प्राप्त होता रहता है, इसलिए वह कर्मों का बन्ध करने वाला होता है ।

इसी की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि के वाक्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

“ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः तावत् तस्यांतर्मुहूर्तं—विपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यात्—चारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ।”

ज्ञान गुण का जब तक जघन्य भाव है अर्थात् क्षयोपशम भाव है तब तक वह अन्तर्मुहूर्त में अन्य रूप परिणत होता रहता है । इसलिये उस ज्ञान गुण में यथाख्यात चारित्र के पहले राग का सद्भाव अवश्यभावी है, अतः वह बंध का हेतु है ही है ।

यह यथाख्यात चारित्र दसवें गुणस्थान के बाद ११ से ही शुरू होता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में वहीं से ही 'वीतराग' शब्द का प्रयोग होता है। उसके पहले दसवें तक सराग चारित्र माना है। अतः श्री अमृतचन्द्र सूरि की दृष्टि में वीतराग चारित्र वाला मुनि ही समयसार की गाथा में कहा हुआ 'सम्यग्दृष्टि' है और वही समयसार की गाथाओं में कहा हुआ 'ज्ञानी' है। यही बात श्री जयसेन स्वामी ने कही है। ऐसे ही सर्वत्र समझना चाहिए।

समयसार में व्यवहारनय की उपयोगिता —

आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव ने सर्वप्रथम गाथा ७ में ही कहा है कि "व्यवहारनय से ही ज्ञानी के चारित्र दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं किन्तु (निश्चयनय से) न ज्ञान है न दर्शन है और न चारित्र ही है, यह आत्मा जायकमात्र शुद्ध है।"

पुनः कहते हैं—

"जिस प्रकार से किसी स्लेच्छको उसको भाषा में बोले बिना उसे समझाना शक्य नहीं है उसी प्रकार से व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश ही अशक्य है।"

आगे पुनः गाथा १३वीं में व्यवहार को अभूतार्थ कहकर तत्क्षण ही अगली गाथा में कहते हैं—

"परमभावदर्शी—परम शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले ऐसे महामुनियों के लिए शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला ऐसा शुद्धनय ही ज्ञातव्य है, अनुभव करने योग्य है किन्तु जो अपरम भाव में स्थित हैं अर्थात् चतुर्थ, पंचम, छठे अथवा सातवें गुणस्थान में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय का उपदेश दिया गया है।"

इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी कहा है कि जो अन्तिम सोलहवें ताव से शुद्ध हुये सुवर्ण के समान परम शुद्ध भाव का अनुभव करते हैं उनके लिए ही शुद्धनय प्रयोजनीभूत है किन्तु जो एक दो आदि ताव से शुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल व्यवहारनय से ही चलता है।

कलश काव्य में भी कहते हैं—

"पहली पदवी पर पैर रखने वालों के लिए यद्यपि यह व्यवहारनय हाथ का अवलम्बन स्वरूप है फिर भी पर से रहित चित्—चमत्कार मात्र परम अर्थ—शुद्ध आत्मा को अन्तरंग में देखने वालों के लिए वह व्यवहारनय कुछ भी नहीं है।"

इस कथन से भी स्पष्ट है कि पहली सीढ़ी पर पैर रखने वाले ऐसे चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के लिए व्यवहारनय सहारा है, हाथ का अवलम्बन है।

गाथा २२वीं में यह कहा है कि कर्म तोकर्म रूप में हूं अथवा ये मेरे हैं ऐसा समझने वाला अज्ञानी है। पुनः तत्काल अनेकांत की व्यवस्था करते हुए कहते हैं कि "यह आत्मा जिन भावों को करता है उन्हीं का कर्ता होता है यह निश्चयनय का कथन है और व्यवहारनय की अपेक्षा यह पुद्गल कर्मों का कर्ता होता है।

आगे चलकर शंका होती है कि "यदि जीव और शरीर एक नहीं हैं तो तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति मिथ्या हो जावेगी।" इस पर समाधान यह है कि "व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव और शरीर एक हैं और निश्चयनय की अपेक्षा से ये कथमपि एक नहीं हैं तथा तीर्थंकर आदि के शरीर आदि की स्तुति व्यवहारनय की अपेक्षा से ही होती है।"

आगे आचार्यदेव आठ प्रकार के कर्म और उनके फल आदि को पुद्गलमय कहते हैं। पुनः समाधान रूप में गाथा ५१ में कहते हैं—

"रागादि भाव आदि जो भी अध्यवसान परिणाम हैं वे सब जीव हैं यह व्यवहारनय का उपदेश है' ऐसा श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा है।" इसी गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

"व्यवहारनय अपरमार्थ होते हुए भी परमार्थ का प्रतिपादक और तीर्थ प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसका दिखलाना न्याय ही है। व्यवहारनय को माने बिना शरीर से जीव में परमार्थ से भेद होने से त्रस और स्थावर जीवों की व्यवस्था नहीं होगी पुनः कोई भी उन त्रस स्थावरों को राज के समान मर्दित कर देगा और त्रस करने पर भी हिंसा नहीं होगी तब उसके कर्मबन्ध नहीं होगा। पुनः राग, द्वेष, मोह से जीव में सर्वथा भेद रहने से मोक्ष के उपाय को ग्रहण करना कैसे हो सकेगा? और तब तो मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा।"

उपयुक्त गाथा में तथा टीका में व्यवहारनय की उपयोगिता विशेष रीति से ध्यान देने योग्य है।

गाथा ५५ से यह बतलाया है कि जीव के वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श आदि तथा गुणस्थान आदि कुछ भी नहीं हैं। पुनः नय विवक्षा खोलते हुए कहते हैं—

"व्यवहारनय की अपेक्षा से वर्ण आदि से लेकर गुणस्थानपर्यंत ये सभी भाव जीव के ही हैं किन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से ये कुछ भी नहीं हैं।"

इस बात को सुनकर कोई शिष्य प्रश्न कर देता है कि हे भगवन् ! शास्त्र में जो जीव के एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि नाना भेद माने हैं सो कैसे? तब पुनः आचार्य समाधान करते हैं—"पर्याप्त-अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर आदि जो भी जीव के भेद परमागम में कहे हैं वे सभी व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं।"

गाथा ८६ और ८७ में भी निश्चय और व्यवहार के कार्य को स्पष्ट कर रहे हैं—"निश्चयनय से यह आत्मा अपने आपका ही कर्ता है और अपने आपका ही भोक्ता है। किन्तु व्यवहारनय से यह आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का कर्ता है और उसी प्रकार से अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का भोक्ता भी है।"

निश्चयनय के जानने वाले महामुनियों ने जो यह आत्मा के कर्तापने की बात बतलाई है उसको जो समझ लेता है वही भव्य जीव सम्पूर्ण कर्तृत्व को छोड़ सकता है। इस गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि जो ऐसा समझ लेता है कि यह आत्मा निश्चयनय से अपने भावों का ही कर्ता है और व्यवहारनय से कर्मों का कर्ता है वह जीव सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तृत्व को छोड़ता है। पुनः निश्चय चारित्र के साथ अविनाशूत ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ-अशुभ ऐसे सम्पूर्ण कर्मों के कर्तृत्व से छूट जाता है।

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक के जीव अशुभ कर्म के कर्तृत्व से ही छूटने का प्रयत्न करते हैं, इससे आगे के जीवों के शुभ कर्म का कर्तृत्व चल रहा है जो कि दसवें तक चलता रहता है, आगे वह भी छूट जाता है।

आगे कहते हैं कि यह आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा से घट, पट, रथ आदि द्रव्यों को कर्ता है, इन्द्रियों को, ज्ञानावरण आदि कर्मों को, शरीर आदि नोकर्मों को और क्रोधादि रूप नाना प्रकार के भाव कर्मों को भी कर्ता है। यह आत्मा पुद्गल कर्म को उपजाता है, करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण भी करता है यह सब व्यवहारनय का कथन है।

आगे जीव को कथंचित् अकर्ता सिद्ध करते हुए कहते हैं—

“बन्ध के करने वाले सामान्य प्रत्यय चार हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। उनके ही भेद मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग केवली पर्यंत तेरह हो जाते हैं। ये गुणस्थान पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं अतः अचेतन हैं। ये ही कर्मों को करते हैं इसलिये आत्मा इन कर्मों का भोक्ता भी नहीं है क्योंकि ये गुणस्थान ही कर्म को करने वाले हैं अतः यह जीव अकर्ता है।”

इन गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति में आचार्य कहते हैं कि ये मिथ्यात्व आदि प्रत्यय और गुणस्थान न एकांत से जीवरूप हैं और न पुद्गल रूप हैं किन्तु चूना और हल्दी के मिले हुए रंग के समान हैं। अतः ये अशुद्ध निश्चयनय से, अशुद्ध उपादानरूप से चेतन हैं, जीव से सम्बन्धित हैं तथा शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप से अचेतन हैं, पौद्गलिक हैं।

कोई प्रश्न करता है कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से किसके हैं ? तो आचार्य कहते हैं—“सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से तो इनका अस्तित्व ही नहीं है चूंकि ‘सद्ये सुद्धा ह्यु सुद्धयया’ इस नियम के अनुसार तो सभी जीव शुद्ध ही हैं, पुनः ये रागादि प्रत्यय कहाँ टिकेंगे ?”

आगे पुनः इसी कर्तृ कर्म अधिकार में कहते हैं—

“जीव में कर्मबद्ध हैं और उस जीव के प्रदेशों में मिले हुए हैं यह व्यवहारनय का पक्ष है और जीव में कर्म न बंधे हुए हैं और न स्पर्शित ही हैं यह निश्चयनय का पक्ष है। इस प्रकार से जीव से कर्म बंधे हुए हैं अथवा नहीं बंधे हुए हैं ये दोनों ही नय पक्ष हैं। जो इन दोनों पक्षों से ऊपर जा चुके हैं वे ही महामुनि समयसार रूप हैं। जो समय रूप आत्मा का अनुभव करने वाले हैं वे दोनों ही नयों के कथन को केवल जानते हैं किन्तु इन दोनों में से किसी के भी पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं।”

इस गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि जिस प्रकार से केवली भगवान् निश्चय व्यवहार द्वारा कथित सम्पूर्ण पदार्थों को जानते हैं किन्तु कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं उसी प्रकार से जो श्रुतज्ञानात्मक समस्त अन्तर्बोद्धारूप विकल्पात्मक भूमि को पार कर जाने से समस्त नय पक्षों के ग्रहण करने से दूर हो चुके हैं किसी भी तत्त्व पक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं वे ही उग्रस्त विकल्पों से परे निर्विकल्प ज्ञानात्मक समयसार रूप हैं। इसी बात को श्री जयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कहा है कि वे गणधरदेवादि महामुनि ही निर्विकल्प ध्यान की अवस्था में इन नय पक्षों को ग्रहण नहीं करते हैं।

तात्पर्य यही निकलता है कि छोटे-सातवें गुणस्थान तक सविकल्प अवस्था में दोनों ही नयों का अवलम्बन लेना पड़ता है, आगे निर्विकल्प ध्यान में इन दोनों का ही विकल्प छूट जाता है।

इसी बात को आगे कहते हैं कि “ज्ञानी मुनि निश्चय को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है।”

बंधाधिकार में ऐसा कहा है कि “जीवों को मारने और दुःखी करने के भाव हिंसा रूप होने से पाप बन्ध के कारण हैं वैसे ही असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के भाव भी पाप बंध के कारण हैं तथा जीवों को जीवित रखने और सुखी रखने के भाव अहिंसा रूप होने से पुण्य बंध के कारण हैं वैसे ही सत्य, अचोर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भाव पुण्य बंध के कारण हैं। यह प्रकरण गाथा २६३ से प्रारम्भ होकर विस्तार से लिया गया है। पुनः आगे २८८ गाथा में कहते हैं कि “उपर्युक्त अध्यवसान (परिणाम) तथा और भी अध्यवसान भाव जिनके नहीं हैं वे मुनि ही शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से नहीं बंधते हैं।” यहाँ गाथा में ‘मुनि’ शब्द ध्यान देने योग्य है।

जब तक संकल्प-विकल्प होते रहते हैं तब तक यह जीव शुभ-अशुभ को उत्पन्न करने वाले कर्म बांधता रहता है जब तक कि उसके हृदय में आत्मा के स्वरूप की ऋद्धि स्फुरायमान नहीं होती है।

“इस प्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय का प्रतिषेध किया जाता है ऐसा समझो क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनिगण ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं।” यहाँ पर भी ‘मुनि’ शब्द ध्यान देने योग्य है।

यहाँ पर तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि यद्यपि प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा प्रारम्भ में सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है फिर भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन रूप शुद्धात्मा में स्थित हुये निर्विकल्प ध्यानी मुनियों के लिये निष्प्रयोजनीभूत है।”

उपर्युक्त प्रकरण में बंधाधिकार की गाथाओं में श्री कुन्दकुन्ददेव ने मुनियों के लिये ही ऐसा कहा है कि वे ही शुभ-अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों से छूट सकते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक अथवा अव्रती कथमपि पुण्य-पाप इन दोनों से नहीं छूट सकते हैं।

मोक्ष अधिकार में अन्त में ३२६, ३२७ गाथाओं में जो प्रकरण लिया है उससे पूर्णतया

स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ महामुनियों के लिये ही है। यथा—इन गाथाओं के पहले श्री अमृतचन्द्र सूरि उत्थानिका रूप में कहते हैं—

“शिष्य कहता है—इस शुद्धात्मा की उपासना के प्रयास से क्या प्रयोजन है? जबकि प्रतिक्रमण आदि से ही यह जीव निरपराधी हो जाता है।” व्यवहार आचार सूत्र में भी कहा है—

“अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अप्रतिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिदा, अगर्हा और अशुद्धि ये विषकुम्भ हैं और इनसे विपरीत प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि ये अमृतकुम्भ हैं।”

इस चर्चा पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

“प्रतिक्रमण आदि आठों विषकुम्भ हैं और अप्रतिक्रमण आदि आठों अमृतकुम्भ हैं।” इन गाथाओं की टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि स्पष्ट कह रहे हैं—

“अज्ञानीजनों में साधारण रूप से पहले वाले जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे तो विषकुम्भ हैं ही हैं उनके बारे में यहां कुछ विचार ही नहीं करना है किन्तु जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमण आदि हैं वे सम्पूर्ण अपराध को दूर करने वाले होने से यद्यपि अमृतकुम्भ हैं फिर भी प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमण से विलक्षण ऐसी तृतीय भूमि को प्राप्त हुए शुद्धोपयोगी मुनि के लिये वे विषकुम्भ हैं। इसलिये व्यवहार से प्रतिक्रमण आदि भी उस तृतीय भूमि को प्राप्त कराने में कारण होने से अमृतकुम्भ हैं यह बात सिद्ध हो जाती है। यहां द्रव्य प्रतिक्रमणादि को छुड़ाया नहीं है प्रत्युत उससे आगे निर्विकल्प अवस्था में पहुँचने की प्रेरणा दी है।”

इसी बात को कलश काव्य में भी कहते हैं—

“यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।

तत्किं प्रमादयति जनः प्रत्यन्तऽधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८६॥

हे भाई ! जहां प्रतिक्रमण को ही विषकुम्भ कह दिया है वहाँ अप्रतिक्रमण अमृतकुम्भ कैसे हो सकता है ? अतः यह मनुष्य नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है ? निष्प्रमादी होकर ऊँचे-ऊँचे क्यों नहीं चढ़ता है ?

आगे पुनः कलश काव्य में कहते हैं—

“प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोलसः ।

कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ॥

अतः स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भवन् ।

मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥१८७॥

कषाय के भार से भारी होना ही आलस्य है, उसे ही प्रमाद कहते हैं। अतः प्रमादयुक्त आलस्य भाव शुद्धभाव कैसे कहा जा सकता है ? इसलिये स्वरस से परिपूर्ण अपने स्वभाव में निश्चल होते हुए मुनि ही परमशुद्धि को प्राप्त होते हैं और वे ही अल्प समय में मुक्त हो जाते हैं।

इस १६० कलश में 'मुनि' शब्द भी स्पष्ट घोषणा कर रहा है कि ये प्रतिक्रमण आदि क्रियायें मुनियों की ही हैं न कि श्रावकों की ।

इन्हीं गाथाओं की टीका में श्री जयसेन आचार्य कहते हैं—

“अप्रतिक्रमण दो प्रकार का है एक अज्ञानीजन आश्रित और दूसरा ज्ञानीजन आश्रित । प्रथम भेद तो विषय कषाय की परिणतिरूप है और जो द्वितीय भेद है वह रत्नत्रय की एकाग्रपरिणति रूप होने से त्रिगुणित समाधिरूप है, उसे ही निश्चय प्रतिक्रमण भी कहते हैं । सरागचारित्र लक्षण शुभोपयोगी मुनि के लिए ये प्रतिक्रमण आदि क्रियायें अमृतकुंभ हैं और वीतरागी मुनि के लिये शुद्धोपयोगमय ध्यान में विषकुम्भ हैं वहां तो अप्रतिक्रमण (निश्चय प्रतिक्रमण) आदि ही अमृतकुंभ हैं । यहां पर ही ऐसा उल्लेख है कि आश्रित मुनियों के लिये भी व्यवहार प्रतिक्रमण ही प्रयोजनीय है ।”

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समयसार ग्रंथराज उन महामुनियों के लिए ही है जो कि अपनी आवश्यक क्रियाओं में पूर्णतया सावधान हैं ।

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में गाथा ३७० में तात्पर्यवृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर उठा कर व्यवहारनय की महत्ता दर्शायी है—

“जीव से प्राण भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि अभिन्न हैं तो जैसे निश्चयनय से जीवों का विनाश नहीं हो सकता है वैसे ही उनसे अभिन्न उनके प्राणों का भी विनाश नहीं होगा पुनः हिंसा कैसे होगी ? यदि आप कहें कि जीव से प्राण भिन्न हैं तब तो प्राणों के घात होने पर भी जीव का क्या बिगड़ेगा और तब भी हिंसा नहीं होगी ।”

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

“ऐसा नहीं है, क्योंकि काय आदि प्राणों का जीव के साथ कथंचित् भेद है और कथंचित् अभेद है । तपाये हुये लोहे के गोले के समान वर्तमान में जीव से प्राणों को पृथक् करना शक्य नहीं है इसलिये व्यवहारनय से अभेद है । मरणकाल में कायादि प्राण जीव के साथ नहीं जाते हैं इसलिए निश्चयनय से भेद भी है ।”

यदि एकांत से ही भेद मान लिया जावे तो जैसे पर के शरीर का छेदन-भेदन करने पर भी आपको दुःख नहीं होता है वैसे ही अपने शरीर का छेदन-भेदन करने पर भी दुःख नहीं होना चाहिए किन्तु वैसा तो नहीं है, वैसा मानने में तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है ।

पुनः शंकाकार कहता है कि—

“फिर भी व्यवहार से हिंसा हुई न कि निश्चय से ?”

तो आचार्य भी उत्तर देते हैं कि—

“सत्य ही कहा है आपने, व्यवहार से ही हिंसा है वैसे ही पाप भी और नारक आदि दुःख

भी व्यवहार से ही होते हैं यह बात हमें मान्य ही है । यदि वे नारक आदि दुःख आपको इष्ट हैं तब हिंसा करिये । यदि उन दुःखों से भीति है तब छोड़ दीजिये ।"

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यवहारनय का कथन कितना सच है और वह कितना उपयोगी है ।

आगे गाथा ३६४ की तात्पर्यवृत्ति में श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—

"सौगत कहता है कि आपके यहां भी व्यवहार से ही सर्वज्ञ है तब आप लोग हमें क्यों दूषण देते हैं ?" तब आचार्य कहते हैं—

"आप सौगत आदि के मत में जैसे निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार झूठा है, वैसे ही व्यवहार रूप से भी व्यवहार सत्य नहीं है । किन्तु जैन मत में यद्यपि व्यवहारनय निश्चय की अपेक्षा से झूठा है फिर भी व्यवहार रूप से सत्य ही है ।"

गाथा ३६६ की तात्पर्यवृत्ति टीका में कार्य समयसार और कारण समयसार का स्पष्टीकरण है । कारण समयसार और व्यवहार कारण समयसार । केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टय की व्यक्ति रूप कार्य समयसार है । इस कार्य समयसार के लिये कारणभूत कारण समयसार है ।

जो रत्नत्रय की एकाग्र परिणति रूप अभेद रत्नत्रय होता है वह निश्चय कारण समयसार है ।

जो कि कार्य समयसार के लिए साक्षात् कारण है तथा व्यवहार रत्नत्रय को भेद रत्नत्रय भी कहते हैं इसलिये यह भेद रत्नत्रय व्यवहार कारण समयसार है यह निश्चयकारण समयसार के लिए कारण है ।

आज के युग में यह भेदरत्नत्रय ही संभव है ।

इस समयसार के उपसंहार में भगवान् कुन्दकुन्ददेव शरीराश्रित लिंग के प्रति समत्व छुड़ाते हुए कहते हैं कि—

"सागार या अनगार लिंग मोक्षमार्ग नहीं हैं किन्तु रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है । पुनः दोनों नयों की उपादेयता दिखलाते हुए कहते हैं—

"व्यावहारिक जन दोनों ही लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार करते हैं किन्तु निश्चयनय मोक्षमार्ग में किसी भी लिंग को स्वीकार नहीं करता है ।

इस गाथा की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं—

"यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं मोक्षमार्ग इति प्रवृत्तप्रकारः स केवलं व्यवहार एव ।.....यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिजप्तिवृत्तप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंवेतनं परमार्थः ।"

मुनि और उपासक के भेद से दोनों प्रकार का द्रव्य वेष मोक्षमार्ग है यह कहना केवल व्यवहार

है । ... जो श्रमण और उपासक के विकल्प से परे दर्शन ज्ञान और चारित्र्य की एकाग्र परिणति रूप शुद्ध ज्ञान ही एक है, ऐसा निर्विकल्प अनुभव है वह परमार्थ मार्ग है ।

तात्पर्यवृत्तिकार ने और भी स्पष्ट कर दिया है—

‘हे शिष्य ! इन सात गाथाओं से द्रव्यलिङ्ग का निषेध ही कर दिया है ऐसा तुम मत समझो, किन्तु निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्पसमाधि रूप जो भावलिङ्ग है उनसे रहित मुनियों को संबोधन किया है । हे तपोधन मुनियों ! तुम द्रव्यलिङ्ग मात्र से ही सन्तोष मत करो, किन्तु द्रव्यलिङ्ग के आधार से निश्चयरत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप भावना को करो । यहां पर भावलिङ्ग सहित का बल्कि यहां पर द्रव्यलिङ्ग का आधारभूत जो शरीर है उसके ममत्व का निषेध किया है न कि द्रव्यलिङ्ग का । क्योंकि दीक्षा के समय संपूर्ण परिग्रह का तो त्याग कर दिया है किन्तु शरीर का त्याग नहीं किया है । कारण यह शरीर ही त्याग और ज्ञान के अनुष्ठान का हेतु है तथा शेष परिग्रह के समान शरीर को पृथक् करना शक्य भी तो नहीं है ।’

बीतराग, निर्विकल्प ध्यान के समय यह मेरा शरीर है मैं मुनिलिङ्गी हूँ इत्यादि विकल्प नहीं करना चाहिये ।

देखो ! धान के बाहर का तुष विद्यमान रहने पर भीतर की लालिमा को दूर करना शक्य नहीं है और अभ्यंतर की लालिमा को दूर करने पर बहिरंग का तुष नियम से निकल ही जाता है । इसी प्रकार से संपूर्ण परिग्रह के त्यागरूप बहिरंग द्रव्यलिङ्ग के होने पर भावलिङ्ग होता है, नहीं भी होता है । किन्तु अभ्यंतर का भावलिङ्ग होने पर सर्वपरिग्रहत्याग रूप द्रव्य लिङ्ग होगा ही होगा । इसलिये भावलिङ्ग के लिये यह द्रव्यलिङ्ग सहकारी कारण है ऐसा समझना ।

इस प्रकार से समयसार की अनेक गाथाओं में व्यवहारनय की उपयोगिता दिखलाई है । टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी व्यवहारनय की महत्ता पर जोर दिया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि शुद्धोपयोग में पहुँचने के पहले-पहले व्यवहारनय प्रयोजनीय है । श्री जयसेनाचार्य ने तो सरल शब्दों में ही कह दिया है कि निर्विकल्प समाधि में स्थित होने के पहले तक व्यवहारनय का ही अवलम्बन लेना होता है—जहाँ तक कि सराग चारित्र्य है ।

समयसार के अधिकारी कौन हैं ?

समयसार ग्रन्थ में ‘मुनि’ ‘साधु’ और ‘यति’ शब्द जिन-जिन गाथाओं में आये हैं उनको यहाँ दे रहे हैं ।

जीवाधिकार में निम्नलिखित ६ गाथाएँ आई हैं—

जो आदभावणमिणं जिञ्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।

सो सव्वदुक्खमोवखं पावदि अचिरेण कालेण ॥१२॥

जो मुनि नित्य ही उद्यमशील होते हुये इस आत्म भावना को करते हैं वे थोड़े ही काल में संपूर्ण दुःखों से छूट जाते हैं ।

संसर्गणाणचरित्ताणि सेविदब्बाणि साहूणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

साधु को दर्शन ज्ञान और चारित्र्य इन तीनों का नित्य ही सेवन करना चाहिये । पुनः निश्चयनय से ये तीनों ही आत्मस्वरूप हैं अतः आत्मा की सेवा-आराधना करनी चाहिए ।

भावार्थ—साधु को व्यवहारनय से भेद रत्नत्रय की उपासना करनी चाहिये और निश्चयनय से इन तीनों रूप अपनी शुद्ध आत्मा का आश्रय लेना चाहिये ।

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं धुणित्तु मुणी ।
मण्णदि ह्व संयुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥१७॥

जीव से अन्य इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके मुनि ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति व वंदना कर ली है ।

भावार्थ—‘ह्री कुन्देन्दुतुषारहारधवली’ तो तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त कुन्दपुष्प चंद्रमा बर्फ या हार के समान धवल वर्ण वाले हैं । इत्यादि रूप से तीर्थंकरों के वर्ण, शरीर की अवगाहना जन्म कल्याणक आदि दिवस अथवा निर्वाण भूमि की वंदना स्तुति करके मुनि भी ऐसा मान लेते हैं कि मैंने तीर्थंकर केवली भगवान की स्तुति वंदना कर ली है । यह सब व्यवहारनय की अपेक्षा ठीक है ।

जो इंदिए जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥१८॥

जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें निश्चयनय के ज्ञाता साधु जितेन्द्रिय ‘मुनि’ कहते हैं । वे जितेन्द्रिय मुनि आठवें, नवमें गुणस्थानवर्ती शुक्ल ध्यानी ही विवक्षित हैं क्योंकि वहीं पर निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान है ।

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहू परमट्ठवियाणया विति ॥१९॥

जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण अपनी आत्मा का अनुभव करते हैं परमार्थ के ज्ञाता गणधर देव आदि उन्हें जितमोह साधु कहते हैं । ये जितमोह मोह को पूर्णतया उपशान्त कर देने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती साधु ही होते हैं । ऐसा तात्पर्यवृत्तिकार ने कहा है ।

जिदमोहस्स तु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया ह्व खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहि ॥२०॥

जितमोह साधु का जब मोह नष्ट हो जाता है, निश्चयविद् महामुनि तब उन्हें क्षीणमोह कहते हैं। यह कथन बारहवें गुणस्थानवर्ती महामुनियों की अपेक्षा है।

अजीवाधिकार में दो गाथायें हैं—

जो संगं तु मुहत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं निस्संगं साहुं परमट्ठविद्याणया विति ॥१३१॥

जो अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को छोड़कर ज्ञान दर्शनोपयोग रूप अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है परमार्थ के ज्ञाता मुनि उसे ही निःसंग अपरिग्रही निर्ग्रथ साधु कहते हैं।

जो मोहं तु मुहत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जितमोहं साहुं परमट्ठविद्याणया विति ॥१३२॥

जो मोह को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण अपनी आत्मा का अनुभव करता है, परमार्थ के ज्ञाता मुनि उसे ही जित मोह साधु कहते हैं।

पुण्यपापाधिकार में दो गाथायें हैं—

परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवली मुणी णाणी ।
तह्मि दिठ्ठा सहावे, मुणिणो पावन्ति निब्बाणं ॥१५६॥

परमार्थ रूप जो समय है अर्थात् जो जीवात्मा है वह शुद्ध है, इन्द्रियों की सहायता से रहित होने से केवली है, ज्ञानी है ऐसे इस परमार्थ रूप अपने स्वभाव में स्थित हुये मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। यहाँ निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान रूप है उसमें एकाग्र परिणति रूप निर्विकल्प ध्यानी मुनि ही कर्मों को नष्ट कर निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।

मोत्तूण निच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्ठन्ति ।
परमट्ठमस्सिदाणं तु जदीणं कम्मवखओ होदि ॥१६४॥

विद्वान् साधु निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं क्योंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मक्षय होता है।

भावार्थ—यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक या अव्रती निश्चयनय का आश्रय नहीं ले सकते हैं।

संवर अधिकार में एक गाथा आई है—

कोविदिदच्छो साहुं संपडिक्काले भणिज्ज खवमिणं ।
पच्चवखमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठन्तं ॥१६६॥

कौन ऐसा बुद्धिमान साधु है जो कहता हो कि वर्तमान काल में यह आत्म तत्त्व छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्ष हो जाता है अर्थात् इसका साक्षात् तो केवलज्ञान में ही होता है। हां, परोक्षरूप मानस ज्ञान के द्वारा क्षद्मस्थ जीव भी उसका अनुभव करके प्रत्यक्ष कर लेते हैं।

निर्जरा अधिकार में एक गाथा है —

जो कृणदि वच्छलत्तं तिष्ठे साधूण मोक्षमगमि ।

सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥२५१॥

जो मोक्षमार्ग में चलने वाले तीनों साधुओं, (आचार्य, उपाध्याय, साधु) के प्रति वात्सल्य भाव रखता है वह सम्परदृष्टि वात्सल्य अंग का धारी होता है ।

बंधाधिकार में दो गाथाएँ हैं —

एदाणि पत्थि जेसि अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।

ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पन्ति ॥२८८॥

उपर्युक्त अध्यवसान भाव और इसी प्रकार के अन्य भी भाव जिनके नहीं हैं ऐसे मुनि ही शुभ और अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा २६३ से लेकर हिंसा-अहिंसा आदि की व्याख्या की गई है । पुनः गाथा २७२, २७३ और २७४ में कहा है कि जीवों को दुखी करने, मारने आदि के भाव हिंसा रूप हैं, वे पाप बंध के कारण हैं और जीवों को सुखी करने तथा जिलाने आदि के भाव पुण्य बंध के कारण हैं । आगे २७६-२७७ में कहते हैं कि ऐसे ही झूठ, चोरी, कुशोल, परिग्रह पाप बंध के कारण हैं और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पुण्य बंध के कारण हैं । पुनः इस २८८ गाथा में कहते हैं कि जिन शृद्धोपयोगी मुनि के ये दण्ड अण्ड के भाव नहीं हैं प्रत्युत जो निर्विकल्प अवस्था में परिणत हो चुके हैं ऐसे निर्विकल्प मुनि ही शुभ-अशुभ कर्मों से नहीं बंधते हैं ।

एवं व्यवहारणओ पडिसिद्धो जाण निच्चयणयेण ।

निच्चयणयसत्तीणा मुणिणो पावन्ति निब्बानं ॥२८९॥

इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का प्रतिषेध हो गया है ऐसा जानो क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ।

भावार्थ—यहाँ पर भी स्पष्ट है कि जब तक सविकल्प अवस्था है तभी तक व्यवहारनय का आश्रय है । निर्विकल्प अवस्था में मुनि निश्चयनय का आश्रय लेकर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं । अतः छठे सातवें गुणस्थान तक व्यवहारनय का ही आश्रय है । पुनः चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती आवश्यक तो व्यवहार में ही है ।

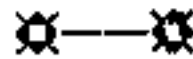
इस प्रकार से इन गाथाओं में मुनि, साधु और यति शब्दों के उल्लेख से स्पष्टतया झलकता है कि यह ग्रन्थ महामुनियों की चर्या से सम्बन्धित है ।

तात्पर्यवृत्तिकार श्री जयसेनाचार्य ने लिखा है कि—

“अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति ।”

इस ग्रंथ में पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों को ही मुख्य रूप से ग्रहण किया है सरागसम्यग्दृष्टियों को गौणरूप से ही लिया है।

यही बात श्री अमृतचन्द्रसूरि की १७१वीं गाथा की टीका में भी स्पष्ट है कि “यथाख्यात चारित्र्य के पहले कर्मबन्ध होता है और पहले कहा है कि सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं माना है। सो वहाँ पर उन्हें वीतराग सम्यग्दृष्टि की ही विवक्षा है ऐसा समझना।



“श्री कुन्दकुन्द देव”

—गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

श्री कुन्दकुन्द स्वामी मूलसंघ के अग्रणी आचार्य हैं यही कारण है कि वर्तमान में मंगल हेतु कुन्दकुन्द का नाम गौतमस्वामी के अनन्तर लिया जाता है। विद्वानों के निर्णयानुसार इनका जन्म दक्षिण भारत में माना गया है। “कौण्डकुन्दपुर” नामक ग्राम में कर्मण्डू की पत्नी श्रीमती के गर्भ से इनका जन्म हुआ है। इनके समय के बारे में विद्वानों में काफी मतभेद है।

“नन्दीसंघ की पट्टावली में लिखा है कि कुन्दकुन्द वि० सं० ४६ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला। ५१ वर्ष १० महीने तक उस पद पर प्रतिष्ठित रहे। उनकी आयु ६५ वर्ष १० महीने १५ दिन की थी।”

“कुन्दकुन्द स्वामी की परम्परा वाले मूलसंघ को अहंद्बलि आचार्य ने चार संघ में विभक्त किया, ऐसी भी एक शिलालेख में कथन है।”

तथा कुन्दकुन्द स्वामी ने अपने बोधपाहुड़ में स्वयं को भद्रबाहु का शिष्य कहकर उनका जयघोष किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भद्रबाहु श्रुतकेवली के अनन्तर ही हुए हैं।

१. यः पुष्पबलेन च भूतबल्यासयेनापि शिष्यद्वितयेन रेजे ।

फलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोकुराभ्यामिव कल्पभूजः ॥

अहंद्बलिसंघचतुर्विधः स श्रीकौण्डकुन्दान्वयमूलसंघम् ।

कालस्वभावादिह जायमानद्वेषोत्तशालीकरणाय अक्रे ॥

(अवणबेलगोल के १०५ नं० का शिलालेख)

यथा—

“जिनेन्द्रदेव-भगवान् महावीर ने अर्थरूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ—शब्दों में स्थित हुआ। भद्रबाहु के मुक्त शिष्य ने उन भाषा सूत्रों को उसी रूप से जाना है और उसी रूप से कहा है जो द्वादश अंग के ज्ञानी हैं, चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करने वाले हैं। ऐसे श्रुतकेवली भद्रबाहु गमकगुरु भगवान् जयवंत होंगे।”

“नन्दीसंघ की पट्टावली में भी— १. भद्रबाहु द्वितीय (४), २. गुप्तिगुप्त (२६), ३. माघनन्दी (३६), ४. जिनचन्द्र (४०) ५. कुन्दकुन्दाचार्य (४६), ६. उमास्वामी (१०१), इत्यादि। इसमें भी भद्रबाहु का परम्परा शिष्य कुन्दकुन्द को कहा है।”

“इनकी परम्परा व समय के विषय में विशेष जिज्ञासु विद्वानों की कृतियों का अवलोकन करें।”

इसके विषय में विदेह क्षेत्र में गमन, चारण ऋद्धि प्राप्ति, पाषाण की देवी को बुलवाना आदि कई बातें प्रसिद्ध हैं। पट्टावली में इनके पाँच नाम माने हैं उनका भी कई जगह समर्थन है।

पाँच नाम—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः।

एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दीति तन्नुतिः ॥

कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य, गृद्धपिच्छ और पद्मनन्दी ये पाँच नाम हैं।

वि० सं० ६६० में विद्यमान देवसेन आचार्य ने दर्शनसार में इनके विदेहगमन की बात कही है। यथा—

“यदि पद्मनन्दी स्वामी श्री सीमंधर स्वामी के दिव्य ज्ञान से सम्बोधन न प्राप्त करते तो श्रमण सुमार्ग को कैसे जानते।”

श्री जयसेनाचार्य ने पञ्चास्तिकाय प्राभूत के प्रारम्भ में कहा है—

“ओ श्री कुमारनन्दि सैद्धान्तिक देव के शिष्य हैं, प्रसिद्ध कथा के न्याय से पूर्व-विदेह में जाकर, वीतराग, सर्वज्ञ, सीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव का दर्शन करके और उनके मुख कमल से विनिर्गत दिव्यध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थ समूहों से ज्ञान को प्राप्त कर आत्मतत्त्व आदि

१. पट्टाभूत पू० १२७।

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। पु० ४, पृ० ४४१।

३. आचार्य कुन्दकुन्द और उसका समयसार। (डा० लालबहादुर शास्त्री एम० ए०)
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा। (डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य)
जैनधर्म का प्राचीन इतिहास द्वि० भाग। (पं० परमानन्द शास्त्री)

४. जइ पउमणदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वाणणेण।

ण विदेहइ तो समणइ कहं सुमणं पयानंति ॥४२॥ (दर्शनसार)

सारभूत अर्थ को ग्रहण करके पुनः यहां आये ऐसे श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य देव, जिनका अपर नाम पद्मनन्दी है^१ ।”

यहाँ इनके गुरु का नाम [कुमारनन्दी दिया है। नन्दिसंघ की पट्टावली में इनके गुरु का नाम] “जिनचन्द्र” कहा है। यथा—“मूलसंघ में नन्दिसंघ हुआ, उसमें बलात्कार गण है। उसमें पूर्वपदों के अंश के ज्ञाता माधनन्दी आचार्य के पट्ट पर जिनचन्द्र हुए पुनः उनके पद पर पाँच नाम की धारण करने वाले पद्मनन्दी मुनि हुए^२ ।”

श्री श्रुतसागर सूरि ने भी षट्प्राभूत की टीका में प्रत्येक प्राभूत की समाप्ति में विदेहगमन की बात कही है। यथा—“श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामों से विराजित चतुरंगुल आकाशगामी ऋद्धिधारी, पूर्वविदेह की पुंडरीकिणी नगरी में सीमंघर स्वामी अपरनाम स्वयंप्रभजिनदेव की वंदना करने वाले, उनके द्वारा श्रुतज्ञान से भारतवर्ष के भव्यजनों को सम्बोधित करने वाले श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के आभरण स्वरूप और कलिकाल सर्वज्ञ^३..... इत्यादि ।

इस प्रकार देवसेनाचार्य, जयसेनाचार्य और श्रुतसागरसूरि इन तीन आचार्यों ने श्री कुन्दकुन्द देव के विदेहगमन की बात कही है ।

चारणऋद्धि के विषय में देखिये—

तस्यान्वये^४भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दी प्रथमाभिधानः ।

श्री कुन्दकुन्दादिमुनीश्वराख्यः सत्संघमाद्गुदगतचारणऋद्धिः ॥५॥

श्री श्रुतसागर सूरि ने षट्प्राभूत ग्रन्थ के प्रत्येक पाहुड़ की टीका की समाप्ति में कहा ही है—
ऐसा प्रसिद्ध है कि “श्री कुन्दकुन्द स्वामी संघ सहित यात्रा हेतु गिरनार पहुँचे ॥ वहीं पर

१. अथ श्री कुमारनन्दिसंखान्तिकदेवशिष्यः प्रसिद्धकथान्वायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमंघरस्वामि-
तीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा च तन्मुखकमलविनिर्गतदिग्गवर्णश्रवणादवधारितपदार्थाच्छ्रुत्वात्मतत्त्वादिसारांशं
सुहीत्या पुनरुत्थागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्धपरनामधेयैः.....।

२. श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।

तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाधनन्दी नरदेवर्ष्यः ॥

पदे तदीये मुनिमान्यवसौ जिनाधिचन्द्रः समभूवतन्द्रः ।

ततोऽभवत्पंचसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥ (नन्दिसंघ पट्टावली)

३. इति श्री पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यऐलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाश-
गमनऋद्धिना पूर्वविदेहपुंडरीकिणीनगरवन्दितसीमंघरापरनामकस्वयंजिनेन तच्छ्रुतसंतबोधिभरतवर्षभव्यजनेन
श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन इत्यादि । (षट्प्राभूत टीका पृ० ३७६)

४. श्रवणेबलगोला के ६५वें शिलालेख में

श्वेतांबर साधुओं का भी संध पहुँचा । पहले वंदना कौन करे इस पर विवाद होने पर कुन्दकुन्ददेव ने वहाँ पर स्थित सरस्वती देवी की मूर्ति को मंत्र के बल पर बुलवा दिया^१ ।”

यथा—“बलात्कारगण के अग्रणी श्री पद्मनन्दिगुरु हुए हैं, जिन्होंने पाषाण से निर्मित श्री सरस्वती को बुलवा दिया^२ ।”

“जिन्होंने इस कलिकाल में ऊर्जयंत गिरि के ऊपर पाषाण से घटित ब्राह्मी देवी को बुलवा दिया, वे कुन्दकुन्दगणी हमारी रक्षा करें^३ ।”

बहुत सौ प्रशस्तियों में भी श्री कुन्दकुन्द देव की ऋद्धि आदि का वर्णन आता है । यथा—

“श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यगणवोत्तरकोण्डकुन्दः ।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्छारित्रसंजातसुचारणद्धिः^४ ॥ ४ ॥

“वंद्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः

कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः ॥

यश्चारुचारणकराम्बुजचंचरीकण-

चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्^५ ॥ ५ ॥”

“श्री कौण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुदगतचारणद्धिः^६ ॥ ४ ॥”

“तद्वंशाकाशदिनमणिसीमंधरवचनामृत—

संतुष्टचित्तश्री कुन्दकुन्दाचार्याणाम्^७ ॥ ५ ॥

“तत्पट्टोदयाद्रिदिवाकर श्रीएलाचार्यगृध्रपिच्छ—

वक्रग्रीवपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवर्याणाम्^८ ॥ २ ॥

१. संधसहित श्री कुन्दकुन्दगुरु वंदन हेतु गये गिरनार ।

वाद परयो जहाँ संशयमति सो साक्षी वदी अम्बिकाकार ॥

“सत्य पंथ निर्गन्ध दिगंबर” कही सुरी तहं प्रगट पुकार ।

सो गुरुदेव बसो उर मेरे विधन हरण मंगल करतार ॥ (कवि वृन्दावन)

२. पद्मनन्दीगुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी ।

पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥ (गुर्जावली)

३. कुन्दकुन्दगणी येनोर्जयन्तगिरिमस्तके ।

सोवदातादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥ १४ ॥ (पंडित पु० पृ० २)

४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पु० ४, पृ० ३६८) ।

५. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पु० ४, पृ० ३७३) ।

६. जैन शिलालेख, अभिलेख सं० ४० ।

७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पु० ४, पृ० ४०४) ।

८. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, (पु० ४, पृ० ४६१) ।

इन सब प्रमाणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि श्री कुन्दकुन्द स्वामी महान् तपस्वी, गणनायक और मन्त्रों के विशेष ज्ञाता थे तथा विदेह क्षेत्र में जाकर सीमन्धर भगवान का साक्षात् दर्शन करके आये थे।

शंका—चन्द्रगुप्त के स्वप्न के फल में पंचम काल में ऋद्धिधारी के आने का निषेध है। यथा—

“देवताओं के विमान को वापस जाता हुआ देखने से पंचमकाल में देवता विद्याधर तथा चारणमुनि नहीं आयेंगे।”

समाधान—इस कथन से ऋद्धि होने का सर्वथा निषेध नहीं है। अतः पंचम काल के प्रारम्भ में श्री कुन्दकुन्द देव को चारण ऋद्धि मानना बाधित नहीं है।

इन महिमाशाली आचार्यों की अनेकों रचनायें आज हमें सर्वज्ञ भगवान् के वचनों का अमृत-पान करा रही हैं। चूंकि वीरसेन, विद्यानन्द आदि आचार्यों ने सूत्रकारों को सर्वज्ञवचन तुल्य प्रमाणीक कहा है।

श्री कुन्दकुन्द की रचनायें—

चौरासी पाहुड़,^१ षट्खंडागम टीका, दशभक्ति, अष्टपाहुड़, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, रयणसार, बारसअणुपेक्खा, समयसार, मूलाचार और कुरलकाव्य।

मूलाचार को कुछ विद्वान कुन्दकुन्द की कृति नहीं मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों ने इसके बारे में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

“मूलाचार की एक टीका श्री मेघवन्द्राचार्य कृत “मुनिजनचिन्तामणि” नाम की है जो कि कर्नाटक भाषा में है, जिसमें प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में इसे “श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत” लिखा है तथा कर्नाटक टीका के प्रारम्भ में भी श्लोक के अन्तर गद्य में—“कोण्डकुन्दाचार्य” नाम दिया है।”

“दूसरी टीका संस्कृत में है जो कि सिद्धान्तधक्कवर्ती श्रीवसुनन्दी आचार्य द्वारा बनाई हुई है।” इसके प्रारम्भ में टीकाकार ने “श्री वट्टकेराचार्यः” ऐसा कहा है और टीका के अन्त में “इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्री श्रमणस्य।” ऐसा उल्लेख है, अतः इन्हीं कुन्दकुन्दाचार्य को ही “वट्टकेराचार्य” नाम से वसुनन्दि आचार्य ने कहा है ऐसा स्पष्ट है। चूंकि इन्होंने षट्खंडागम के तीन खंडों पर “परिकर्म”

१. षट्पाहुड्यमानं गीर्वाणविमानं धीक्षितं ततः।

कालेऽस्मिन्नागमिष्यन्ति सुरखेचरचारणाः ॥३६॥ (अष्टपाहु व० परि० २)

२. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृ० १२३।

३. ———मप्य श्रीकोण्डकुन्दाचार्य सं०————— ॥

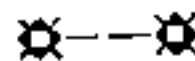
(मूलाचार प्रस्तावना, मूलाचार हिन्दी, फलटण से प्रकाशित)

४. मुद्रित हो चुकी है। (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला)

नाम की वृत्ति लिखी है। मालूम होता है, इसी हेतु से इनका "वृत्तिकार"—वदृत्केर नाम प्रसिद्ध हो गया है। कुछ भी हो, यह मूलाचारकृति श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत ही है।

वर्तमान युग में इन आचार्यों के ये ग्रन्थ ही हम लोगों के लिये मोक्षमार्ग प्रदर्शक हैं। कहा भी है—

इस कलिकाल में भरत क्षेत्र में सर्वज्ञ देव नहीं हैं किन्तु इनकी वाणी मौजूद है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाले सच्चे दिगम्बर साधु भी मौजूद हैं जो कि मोक्षमार्ग को प्रशस्त किये हुए हैं।^१



श्री अमृतचन्द्र सूरि

—गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

आध्यात्मिक ग्रन्थों के टीकाकारों में श्री अमृतचंद्र सूरि का सर्वप्रथम स्थान है। यदि अमृतचंद्र सूरि न होते तो आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव के रहस्य को समझना कठिन हो जाता। अतः कुन्दकुन्ददेव के व्याख्याता के रूप में अमृतचंद्र सूरि का महत्वपूर्ण स्थान है। इनके मौलिक ग्रन्थ भी अपने आप में अतीव विशेषता लिये हुए हैं। निश्चयतः इन आचार्य की विद्वत्ता, वाग्मिता और प्रांजल शैली अप्रतिम है। आध्यात्मिक विद्वानों में कुन्दकुन्द देव के पश्चात् यदि आदरपूर्वक किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे अमृतचंद्र सूरि हैं।

इनका जीवन परिचय, समय और इनकी रचनाओं पर यहाँ किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है।

जीवन परिचय—इनका परिचय किसी भी कृति में प्राप्त नहीं होता है, परन्तु कुछ ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे इनके व्यक्तित्व का निश्चय किया जा सकता है। पं० आशाधर ने इनका उल्लेख "ठक्कुर पद" के साथ किया है—'ऐतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचंद्र सूरि विदित समयसारटीकायां दृष्टव्यम्।'^२

१. संप्रत्यस्ति न केवमी किल कली त्रैलोक्यभूडामणिः ।
तद्वाचः परमासत्तेषु भरतक्षेत्रे जगद्योतिकाः ।
सद्गुरुनम्रधारिणी पतिवरास्तासां समालम्बनं ।
तत्पूजा जिनवाचि पूजनमतः साक्षाज्जिनः पूजितः ॥
२. अनगार धर्माभूत टीका, पृष्ठ ५८८ ।

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका, पृ० ३०)

यहाँ “ठक्कुर” शब्द विचारणीय है। “ठक्कुर” शब्द का प्रयोग प्रायः जागीरदार या जमींदार के लिये प्रयुक्त होता है। यह पद क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दोनों के लिये समान रूप से प्रयुक्त होता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमृतचंद्रसूरि क्षत्रिय थे या ब्राह्मण। पर इतना निश्चय अवश्य है कि वे किसी सम्माननीय कुल के व्यक्ति रहे थे। संस्कृत और प्राकृत इन दोनों ही भाषाओं पर इनका पूर्ण अधिकार था। ये मूलसंघ के आचार्य्य थे।

समय विचार—डा० ए० एन० उपाध्ये ने इनका समय ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी के लगभग माना है। पट्टावली में अमृतचंद्र के पट्टारोहण का समय वि० सं० ६६२ दिया है, जो ठीक प्रतीत होता है। डा० नेमिचंद्र ज्योतिषाचार्य भी इनका समय ई० सन् की १०वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही मानते हैं।

रचनायें—

टीका ग्रन्थ—१. समयसार टीका २. प्रवचनसार टीका ३. पंचास्तिकाय टीका।

मौलिक ग्रन्थ—१. पुरुषार्थसिध्दुपाय २. तत्त्वार्थसार ३. समयसार कलश।

१. समयसार टीका—इस टीका का नाम “आत्मख्याति” है। इस टीका में आचार्य्यश्री ने गाथा के शब्दों का व्याख्यान न कर उसके अभिप्राय को अपनी परिष्कृत गद्यशैली में व्यक्त किया है। गाथा की टीका के अन्त में, कहीं-कहीं मध्य में भी कुछ पद्य काव्य दिये हैं जो सरल और मधुर हैं, इन्हीं काव्यों का “समयसार कलश” नाम से पृथक् अस्तित्व भी है। टीका को नाटक के समान अंकों में विभाजित किया है। प्रारंभिक भाग को पूर्वरंग कहा है। नाटक में पात्रों के प्रवेश-निष्क्रमणवत् यहाँ भी प्रवेश और निष्क्रमण दिखाया है। यथा—“जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।” अर्थात् जीवा-जीवाधिकार के प्रारम्भ में “जीव-अजीव पृथक्-पृथक् होकर चले गये।” इसी तरह प्रत्येक अधिकार में वर्णन है। वस्तुतः यह संसार एक रंगमंच है जिस पर जीव-अजीव नानारूप धारण करके अभिनय करते हैं।

शुद्धनय को प्राप्त करने के अधिकारी कौन हैं? व्यवहारनय कहीं तक उपयोगी है? स्थल-स्थल पर टीका में अच्छा प्रकाश मिलता है। यथा—ये खलु पर्यंकपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमभावमनुभवन्ति, तेषां सुनयं एव प्रयोजनवान्। जो अंतिम पाक से उत्तीर्ण अर्थात् सोलह ताव को प्राप्त हुए सुवर्ण के सदृश परम भाव का अनुभव करते हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजनवान् है और जो एक-दो भादि ताव से शुद्ध हुए ऐसे अशुद्ध स्वर्ण सदृश अपरमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। यहाँ स्पष्ट हो जाता है ऐसे शुद्ध भाव का अनुभव शुद्धो-पयोगी मुनि को ही होगा न कि श्रावक को या सरागचर्या वाले मुनि को। अतः संयमासंयमी और सरागसंयमी के लिये व्यवहारनय ही प्रयोजनीभूत है। श्री जयसेनस्वामी ने इसी अभिप्राय को अपने अतीव सरल शब्दों में कहा है “अपरम्-अशुद्ध असंयत् सम्यग्दृष्टि, श्रावक, प्रमत्तमुनि तथा भेदरत्नत्रय में स्थित शुभोपयोगी अप्रमत्त मुनि अपरम भाव का अनुभव करते हैं अतः उनके लिये व्यवहारनय

प्रयोजनीभूत है । तथा अमेदरत्नत्रय रूप परम समाधि के काल में शुद्धोपयोगी मुक्तियों को शुद्ध प्रयोजनीभूत है ।^१

आगे व्यवहारनय का महत्व दिखलाते हुये ४६वीं गाथा की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि—

“व्यवहारो हि...परमार्थं प्रतिपादकत्वात् अपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्ति निमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव ।” व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपरमार्थ होते हुये भी तीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसका वर्णन करना न्याय संगत ही है । “चूँकि यदि व्यवहारनय का उपदेश न दिया जाय तो निश्चय से तो जीव और शरीर भिन्न हो हैं पुनः उन त्रस स्थावर जीवों का राख के समान निःशंक होकर मर्दन कर डालने पर भी हिंसा नहीं होनी चाहिये । और हिंसा के अभाव में उसे पाप बंध भी नहीं होना चाहिये । तथा च.....परमार्थ से जीव के राग, द्वेष, मोह भी नहीं हैं पुनः उनसे छूटने के लिये—मोक्ष के लिये उपायभूत रत्नत्रय को भी ग्रहण नहीं करना चाहिये, और इस तरह तो मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा ।^२”

तात्पर्य यही हुआ कि व्यवहारनय के आश्रय से ही संसार से छूटने का मार्ग ग्रहण किया जाता है ।

इसी तरह श्रीअमृतचन्द्र सूरि द्वारा रचित प्रवचनसार और पंचास्तिकाय की टीकायें भी स्याद्वादमय भाषा से परिपूर्ण होने से स्थल-स्थल पर एकांत दुराग्रही निष्कयाभाषी की कठोर भर्त्सना करती हैं और व्यवहाराभाषी को भी निश्चय का भान कराने में समर्थ हैं ।

पुरुषार्थसिद्धि उपाय—यह मुख्य रूप से श्रावकाचार ग्रन्थ है इसमें आठ अंगों के वर्णन में निश्चय-व्यवहार नयों का अच्छा विवेचन है । अहिंसाणुव्रत का वर्णन करते हुये आचार्यश्री मद्य, मांस, मद्य और पंच उदुम्बर फलों के त्याग का आदेश देते हुये कहते हैं—

“अष्टावनिष्टदुस्तर-दुरितायतनान्यमूति परिवर्ज्य ।

जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥

ये आठ अनिष्ट हैं, दुस्तर पाप के स्थान हैं । जो इनका त्याग कर देते हैं वे ही शुद्धबुद्धि वाले मनुष्य जिनधर्म की देशना के लिये पात्र होते हैं ।

समयसार की टीका, कलश काव्य आदि के रचयिता श्री अमृतचन्द्रसूरि के उपर्युक्त शब्द ध्यान देने योग्य हैं । वास्तव में आज पात्रता न देखकर ही जो उपदेश दे देते हैं वह उनके लिये व शिष्यों के लिये भी हानिप्रद अर्थात् विपरीत हो जाता है । ऐसे ही इस पुरुषार्थसिद्धि उपाय ग्रन्थ का और भी एक श्लोक बहुत ही महत्वशाली है—

“निरतः कात्स्न्येतिवृत्ती भवति मतिः समयसारभूतोऽयम् ।

या त्वेकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

१. समयसार गाथा १२, पृष्ठ २४-२५-२६ ।

२. समयसार गाथा ४६, पृ० ८४ ।

ऊपर में पाँच पाप के त्याग को चारित्र्य कहा है। पुनः इस श्लोक में कहते हैं कि जो इन पाँचों पापों से पूर्णतया विरत हो चुके हैं—त्याग कर चुके हैं वे यति समयसारभूत होते हैं और जो इन पाँच पापों का एक देश त्याग करते हैं वे उनके उपासक होते हैं।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भुनि ही समयसार रूप हैं और श्रावक उपासक कहलाते हैं। समयसार अवस्था को प्राप्त करने में वे समर्थ नहीं हैं।

इस पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में अहिंसा का जितना सुन्दर विवेचन है वैसा प्रायः अन्यत्र देखने में नहीं आता है अतः यह ग्रन्थ प्रत्येक श्रावक-श्राविकाओं के लिये विशेषतया पठनीय है। ऐसे ही सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का वर्णन भी इसमें बहुत ही मार्मिक है।

तत्त्वार्थसार—यों तो यह तत्त्वार्थसार ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र का व्याख्यान अथवा सार है फिर भी इसके विषय स्रोत गृद्धपिष्ठाचार्य के तत्त्वार्थसूत्र के अतिरिक्त पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव का तत्त्वार्थवातिक, प्राकृत पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ हैं। अतः इसे “तत्त्वार्थसूत्र” ग्रन्थ के अभिप्राय को स्पष्ट करने वाला पद्यात्मक ग्रन्थ कहा जाय तो कोई बाधा नहीं है।

समयसार कलश—यद्यपि ये सभी कलश काव्य समयसार की “आत्मख्याति व्याख्या” टीका के अन्तर्गत ही हैं, फिर भी काव्य के रसास्वादी साधु इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ के रूप में लेकर उन पर टीका भी रच चुके हैं। ये काव्य कुल २७८ हैं। जैसे मन्दिर के ऊपर मणिमयी कलश चढ़ाने पर ही मन्दिर शोभित होता है, वैसे ही समयसार टीकारूपी मन्दिर पर ये काव्य मणिमयी कलश के समान सुन्दर मनोहर होने से सार्थक नाम वाले होते हैं। उदाहरण के लिये देखिये—

आत्मा का अनुभव करने वाले शुद्धोपयोगी मुनियों की कैसी अद्वैत अवस्था होती है ?—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं ।
क्वचिदपि न च विद्यो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमविदधमो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्-
ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥

उस समय नयों का उदय ही नहीं होता है, प्रमाण भी अस्त हो जाते हैं और पता ही नहीं कि निक्षेपसमूह कहां चले जाते हैं ? अधिक तो क्या कहें सभी को समाप्त करने वाले इस अनुभव रूप तेज के प्रगट हो जाने पर कुछ भी “द्वैत” प्रतिभासित नहीं होता है। उस समय मात्र आत्मानुभव रूप एक अद्वैत ही प्रतिभासित होता है।

इस प्रकार से श्री अमृतचन्द्रसूरि अपने नाम के अनुसार ही आत्मानुभव रूपी अमृत का स्वयं तो पान करते ही होंगे किन्तु उनकी वाणी आज भी अगणित भव्य-जीवों को जिनधर्मरूपी अमृत का और अध्यात्मरूपी अमृत का पान करा रही है और आगे भी पता नहीं कितने जीवों को इस मधुर अमृत का पान कराती ही रहेगी।

श्री जयसेनाचार्य

—आर्यिका चन्दनामती

श्री कुन्दकुन्ददेव के समयसार आदि ग्रन्थों के द्वितीय टीकाकार श्रीजयसेनाचार्य भी एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने समयसार की टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि के नाम का भी उल्लेख किया है और उनकी टीका के कई एक कलश काव्यों को भी यथास्थान उद्धृत किया है अतः यह पूर्णतया निश्चित है कि श्री जयसेनाचार्य के सामने श्री अमृतचन्द्र सूरि की आत्मख्याति टीका आदि टीकाएँ विद्यमान थीं फिर भी शैली और अर्थ की दृष्टि से इनकी तात्पर्यवृत्ति टीका श्री अमृतचन्द्र सूरि की अपेक्षा भिन्न है।

श्री जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय ग्रन्थ की टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि—

“अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा दीतरागसर्वज्ञ-
श्रीमंदरस्वामितीर्थकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थान्छुद्धात्म-
तत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्दाद्यपराभिघ्नेरन्तस्तत्त्वबहिस्त-
त्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं, अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचा-
स्तिकायप्राभूतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।”

श्री जयसेनाचार्य के इन शब्दों से यह बात स्पष्ट है कि “श्री कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य देव जिनके पद्मनन्दि, एलाचार्य, बक्रग्रीव नाम भी प्रसिद्ध हैं वे विदेहक्षेत्र में गये थे। वहाँ सर्वज्ञदेव सीमन्धरस्वामी के श्रीमुख से शुद्धात्मतत्त्व का सार ग्रहण करके वापस भरतक्षेत्र में आकर शिवकुमार नामक किन्हीं भव्य शिष्य आदि को लेकर अन्य शिष्यों को समझाने के लिए इस पंचास्तिकाय प्राभूत शास्त्र की रचना की है। उस ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति टीका मैं लिख रहा हूँ।”

आचार्य जयसेन स्वामी श्री अमृतचन्द्र सूरि के समान कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के टीकाकार हुए हैं। समयसार की टीका में इन्होंने अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख किया है इससे यह ज्ञात होता है कि जयसेन स्वामी ने अमृतचन्द्र सूरि की टीका का आधार लेकर ही किया है।

प्रवचनसार टीका के अन्त में प्रशस्ति में आचार्यश्री जयसेन स्वामी ने गुरुपरम्परा का परिचय निम्न प्रकार लिखा है—

ततः श्रीसोमसेनोद्भूद् गणी गुणगणाश्रयः ।
तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभूते ॥
शीघ्रं बभूव मालुसाधुः सदा धर्मरतो वदान्यः ।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनुजः ॥
यः संततं सर्वविदः सपर्यमार्थक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभूतनामग्रन्थपुण्ड्रात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ॥

अर्थात् मूलसंघ के निर्ग्रन्थ तपस्वी वीरसेनाचार्य हुए। उनके शिष्य अनेक गुणों के धारी आचार्य सोमसेन हुए और उनके शिष्य आचार्य जयसेन हुए। सदा धर्म में रत प्रसिद्ध मालु नाम के साधु हुए हैं। उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उनसे यह चारुभट नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ है जो सर्वज्ञ की पूजा तथा गुरुचरणों की सदा सेवा करता है। उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्य ने अपने पिता की भक्ति के विलोप होने से भयभीत हो इस प्राप्त नामक ग्रन्थ की टीका की है।

इसके आगे भी उन्होंने कहा है—

श्रीमान त्रिभुवनचन्द्र गुरु को नमस्कार करता हूँ जो आत्मा के भावरूपी जल को बढ़ाने के लिये चन्द्रमा के तुल्य हैं और कामदेव नामक प्रबल महापर्वत के सैकड़ों टुकड़े करते वाले हैं।

इस प्रशस्ति में श्री जयसेनाचार्य ने स्वयं अपने शब्दों में यह स्पष्ट किया है कि उनके गुरु का नाम सोमसेन तथा दादा गुरु का नाम वीरसेन था। इन्होंने त्रिभुवनचन्द्र गुरु को भी नमस्कार किया है किन्तु प्रशस्ति से यह ज्ञात नहीं हो पाता है कि ये त्रिभुवनचन्द्र कौन हैं। इतना स्पष्ट है कि जयसेनाचार्य सेनगण के हैं। अन्य किसी टीका में जयसेनाचार्य ने अपना कोई परिचय नहीं दिया है।

ग्रन्थ रचना—

जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीनों ग्रन्थों पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की टीका से भिन्न शैली में अपनी टीकाएँ लिखी हैं। इनकी टीकाओं की विशेषता यह है कि प्रत्येक गाथा के पदों का शब्दार्थ पहले स्पष्ट करते हैं, उसके पश्चात् "अयमश्रुतिप्रायः" लिखकर उसका विशेष अर्थ खोलते हैं। सभी ग्रन्थों में इन्होंने अपनी टीका का नाम "तात्पर्यवृत्ति" रखा है। अमृतचन्द्रजी के विलुप्त शब्दों को ही सरल शब्दों में बतलाना इनका प्रमुख लक्ष्य रहा है। कहीं पर भी अमृतचन्द्र जी के विपरीत इनका अर्थ नहीं देखने में आता है। यह आज के मन्दबुद्धि शिष्यों के लिये अनुकरणीय आदर्श है कि पूर्वाचार्यों के शब्दों में निजी स्वार्थवश तोड़-मरोड़ करना एक नैतिक अपराध भी है और नरक निगोद का द्वार तो खुल ही जाता है।

भगवान कुन्दकुन्द के भावों को तय शैली में और गुणस्थानों में खोलना जयसेन जी की प्रमुख विशेषता रही है। कोई भी प्राणी समयसार जैसे ग्रन्थों को पढ़कर बहक न जाये इसके लिये जयसेनाचार्य की टीका पढ़ना अति आवश्यक है। इन्होंने अपनी टीका में अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये हैं जो कि पूर्वाचार्यों के प्रति उनकी श्रद्धा, आस्था और अध्ययनशीलता का परिचायक है।

समयसार में श्री अमृतचन्द्र सूरि ने जहाँ ४१५ गाथाओं पर आत्मख्याति टीका लिखी है, वहाँ जयसेनाचार्य ने ४४५ गाथाओं पर तात्पर्यवृत्ति टीका लिखी है। ये टीका करने से पूर्व प्रत्येक अधिकार की भूमिका में गाथाओं की संख्या खोल देते हैं। जैसे कि प्रवचनसार के प्रारम्भ में ही इन्होंने बताया है कि "मध्यमरुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए मुख्य तथा गौण रूप से अन्तरंगतत्त्व और बाह्यतत्त्व के वर्णन करने के लिये १०१ गाथाओं में ज्ञानाधिकार कहेंगे"—इत्यादि।

प्रवचनसार की भूमिका में श्री जयसेनाचार्य ने यह भी बताया है कि किसी निकटभव्य शिवकुमार को सम्बोधित करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यह ग्रन्थ लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि महामुनिराज कुन्दकुन्द भी शिष्यपरिकर रखते थे और शिष्यों का हितचिन्तन भी करते थे।

प्रवचनसार में नौवीं गाथा की टीका में श्री जयसेनस्वामी लिखते हैं—

“यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन.....”

अर्थात् जिस प्रकार स्फटिक मणि का पत्थर निर्मल होने पर भी जपाकुसुम आदि रक्त, कृष्ण, श्वेत उपाधि के वश से लाल, काला, श्वेत रंगरूप परिणमन करता है, उसी तरह यह जीव स्वभाव से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहारमय की अपेक्षा गृहस्थ के रागसहित सम्यक्त्व पूर्वक दान-पूजा आदि शुभ कार्यों को करता है तथा मुनिधर्म के मूलगुण और उत्तरगुणों का अच्छी तरह पालन करता हुआ परिणामों को शुभ करता है।

इस प्रकार जयसेनाचार्य ने व्यवहार और निश्चय दोनों ही नयों का आलम्बन लेकर कुन्दकुन्द के तीनों प्राभूत ग्रंथों की व्याख्या की है।

समयसार ग्रंथ के निर्जरा अधिकार में सबसे प्रथम गाथा में कहा है कि “सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के निमित्त हैं।” उसकी टीका में श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं कि—

शिष्य ने प्रश्न किया कि “राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने पर निर्जरा के निमित्त हैं, ऐसा आपने कहा किन्तु सम्यग्दृष्टि के तो रागादि हैं। पुनः किसी वस्तु का उपभोग करके निर्जरा का कारण कैसे होगा ?

आचार्य कहते हैं कि—

“अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टिर्ग्रहणं, यस्तुचतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं ।”

इस ग्रंथ में वास्तव में वीतरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण है, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो गौणरूप से है। तथा मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अविरतसम्यग्दृष्टि के भी अनंतानुबंधी कषायचतुष्क और मिथ्यात्वजनित रागादि नहीं हैं अतः उतने अंश में उसके भी निर्जरा है।

आगे भी कहा है—

“अत्र तु ग्रन्थे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्त्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं ।”

इस ग्रंथ में पंचम गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थान वाले वीतराग सम्यग्दृष्टियों का ही मुख्य रूप से ग्रहण है, सरागसम्यग्दृष्टियों का तो गौण रूप से ग्रहण है। सम्यग्दृष्टि के व्याख्यान के समय सर्वत्र ऐसा ही तात्पर्य समझना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्रसूरि द्वारा भी इसी अर्थ की पुष्टि हो रही है। देखिये—

श्री कुन्दकुन्ददेव ने गाथा १७० में कहा है कि “अबंधोत्ति नाणी दु” ज्ञानी तो अवंधक ही है। पुनः आगे १७१ वीं गाथा में कहते हैं कि—

“जिस कारण ज्ञानगुण पुनरपि जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप परिणमन करता है इसी कारण वह ज्ञानगुण बंध करने वाला कहा गया है।” इसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

“स तु यथाख्यातचारित्र्यावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात् ।”
यह (ज्ञानगुण) यथाख्यात चारित्र्य के नीचे अवश्यंभावी रागपरिणाम का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है ।

श्री अमृतचन्द्रसूरि की इस एक पंक्ति से ही सारे समयसार का अभिप्राय समझा जा सकता है कि ग्यारहवें गुणस्थान के पहले-पहले राग का सद्भाव रहने से अवश्यमेव बन्ध होता ही होता है । अतः चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ यदि अपने को वीतरागी और अबंधक मान रहे हैं तो कोरी असत् कल्पना ही है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समयसार में वीतराग सम्यग्दृष्टि को लक्ष्य करके ही सब कथन है । अतः इस ग्रन्थ का विषय भी साधुवर्गों के लिये ही है न कि श्रावकों के लिये । यही समयसार ग्रन्थ का रहस्य है ।

श्री जयसेनाचार्य का काल—

इनकी टीकाओं में उद्धृत श्लोकों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने द्रव्यसंग्रह, तत्त्वानुशासन, चारित्र्यसार, त्रिलोकसार और लोकविभाग आदि ग्रंथों का हवाला देकर अपनी टीकाओं में प्रयुक्त किया है । चारित्र्यसार के रचयिता चामुण्डराय हैं और इन्हीं के समकालीन आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने त्रिलोकसार की रचना की है । चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण शक संवत् ६०० (ई० सन् ६७८) में समाप्त किया है । अतः निश्चित है कि जयसेन ईसवी सन् ६७८ के पश्चात् ही हुए हैं । उनके समय की यह सीमा पूर्वार्द्ध सीमा के रूप में मानी जा सकती है ।

जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका (पृष्ठ ८) में वीरनन्दि के “आचारसार” ग्रंथ के दो पद्य उद्धृत किये हैं । कर्नाटक कवि चरिते के अनुसार इन वीरनन्दि ने अपने आचारसार पर एक कन्नड़ टीका शक संवत् १०७६ (ईसवी सन् ११५४) में लिखी है । अतः जयसेन ईस्वी सन् ११५४ के पश्चात् ही हुए होंगे ।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने लिखा है कि नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द के तीनों प्राभूतों पर कन्नड़ में टीका लिखी है और उनकी टीका का मूल आधार जयसेन की टीकाएँ हैं । इनकी टीका का रचनाकाल ईसवी सन् की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध या १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है ।

कुल मिलाकर श्री जयसेन स्वामी ने साहित्य जगत् में अपना अपूर्व योगदान दिया है और आज की दिग्भ्रमित जनता का सन्मार्ग निर्देशन किया है । ऐसे श्रीगुरु के चरणों में सिद्ध, श्रुत, आचार्य भक्तिपूर्वक शत शत नमोस्तु ।



सम्पादकीय

—३० एवीन्द्र शुक्लार जैन

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणौ,
मंगलं कुन्दकुन्दाखौ जैनधर्मोस्तु मंगलं ॥

आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व सन् १९७४ में भगवान् महावीर स्वामी का २५००वां निर्वाण महोत्सव सारे भारतवर्ष में राष्ट्रीय स्तर पर धूमधाम से मनाया गया। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का समय माना जा रहा है। उपरोक्त मंगलाचरण से यह स्पष्ट है कि विगत २५०० वर्ष में भगवान् महावीर के बाद गणधरों में शीतम स्वामी एवं आचार्यों में आ० श्री कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि रहा है। उन्हीं आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव का इस समय द्विसहस्राब्दि महामहोत्सव मनाया जा रहा है। जैन परम्परा में समयसार ग्रन्थ व आ० श्री कुन्दकुन्द देव का नाम दोनों पर्यायवाची से हो गये हैं। आज जो गृहस्थ व मूलगुण के नाम भी नहीं जानते हैं वे भी समयसार ग्रंथ के नाम से परिचित हो चुके हैं। स्थान-स्थान पर समयसार के व्याख्यान व समयसार का स्वाध्याय वर्तमान शताब्दी में बहुचर्चित हुआ है। समयसार ग्रन्थ का प्रकाशन भी वर्तमान शताब्दी में जितनी बहुलता से हुआ है उतना विगत दो हजार वर्षों में कभी नहीं हुआ होगा। इससे यह स्पष्ट है कि आध्यात्म के प्रति लोगों का झुकाव बढ़ा है।

समयसार का हृद्य :

समयसार ग्रंथ को आ० श्री कुन्दकुन्द देव ने गाथाओं में निबद्ध किया, पश्चात् आ० श्री अमृतचन्द्रसूरि ने आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका लिखी। उसके पश्चात् आ० श्री जयसेन स्वामी ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखी। पिछली कुछ शताब्दियों से प्राकृत व संस्कृत भाषा जनसामान्य की भाषा न होकर विद्वत् समाज की भाषा बनकर रह गई है अतः सामान्य जनो के लिये हिन्दी भाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओं का प्रचलन अधिकता से चल रहा है। इसी कारण से समयसार ग्रंथ के ऊपर पिछले वर्षों में हिन्दी टीकाएँ सामने आईं। लेकिन एक कमी यह महसूस हो रही थी कि अभी तक जितने समयसार प्रकाशित हुये उनमें से कुछ प्रकाशकों ने आ० श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका के साथ ग्रंथ को प्रकाशित किया और कुछ प्रकाशकों ने आ० श्री जयसेन की टीका के साथ ग्रंथ को प्रकाशित किया। दोनों टीकाएँ एक साथ उपलब्ध हों एवं दोनों आचार्यों की हिन्दी टीका भी एक साथ उपलब्ध हो ऐसा ग्रंथ अभी तक प्रकाश में नहीं आया। इस कमी की पूर्ति की ओर पू० गणिनी आर्थिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी का ध्यान गया और उन्होंने उपरोक्त दोनों आचार्यों की संस्कृत टीकाओं पर हिन्दी टीका लिखना प्रारम्भ किया। इस टीका में अक्षरशः हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ भावार्थ, विशेषार्थ एवं गुणस्थानों को रखकर पूज्य माताजी जी ने आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव के मनोभावों को पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता :

प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ में एक साथ आचार्यश्री कुन्दकुन्द देव की गाथायें, आ० श्री अमृतचन्द्र जी की संस्कृत टीका, आ० श्री जयसेन जी की संस्कृत टीका पूज्य गणिनी आधिकाररत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा दोनों आचार्यों की हिन्दी टीका तो है ही, साथ ही गाथाओं का पद्यानुवाद पू० आदिका श्री चंदनामती माताजी द्वारा किया गया है तथा आ० श्री अमृतचन्द्र जी ने जो अपनी टीकाओं में स्थान-स्थान पर कलश रचें हैं उन्हें 'अमृत कलश' संज्ञा दी गई है। उन अमृत कलश का हिन्दी पद्यानुवाद पू० आदिका श्री अभयमती माताजी ने बनाकर दिया है। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ सर्वांगीण सामग्री से भरपूर सहित समाज के सामने दिया जा रहा है।

आशा है उपरोक्त समस्त आचार्यों एवं आदिकाओं के द्वारा समाहित यह ग्रन्थ विद्वानों के लिये एवं स्वाध्यायाधियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

संस्थान का परिचय

जिस संस्थान द्वारा उपरोक्त ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है उसकी संक्षिप्त जानकारी पाठकों को देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

संस्थान का जन्म :

पू० गणिनी आधिकाररत्न श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान का जन्म सन् १९७२ में हुआ। इस संस्थान का रजिस्ट्रेशन दिल्ली सोसायटी एक्ट के अन्तर्गत सन् १९७२ में ही करा लिया गया।

संस्थान की कार्यकारिणी :

संस्थान के नियमानुसार प्रत्येक तीन वर्ष में संस्थान की कार्यकारिणी का गठन पू० माताजी की आज्ञा से होता आ रहा है। डा० कैलाशचन्द्र जैन (राजा टायज), दिल्ली संस्थान के सर्वप्रथम अध्यक्ष मनोनित किये गये थे। महामन्त्री श्री वैद्य शांतिप्रसाद जैन (दिल्ली), कोषाध्यक्ष ब्र० श्री मोतीचन्द जैन, मन्त्री श्री कैलाशचन्द्र जैन, (करोल बाग) नई दिल्ली, एवं उपमन्त्री ब्र० रवीन्द्र कुमार जैन आदि पदाधिकारी मनोनित किये गये थे। उसके बाद संस्थान के अध्यक्ष पद पर श्री मदनलाल जी चांदवाड, रामगंज मंडी (राज०) ६ वर्ष तक रहे, पश्चात् ६ वर्ष तक श्री अमरचंद जी पहाड़िया (कलकत्ता) संस्थान के अध्यक्ष पद पर रहे। महामन्त्री स्व० श्री कैलाशचन्द्र जैन, सरधना (उ० प्र०) तथा उनके बाद श्री गणेशीलाल जी रानीवाला (कोटा) को महामन्त्री पद पर मनोनित किया गया। वर्तमान त्रिवर्षीय कार्यकारिणी में लगभग ६० सदस्य सारे भारतवर्ष के मनोनित हैं, जिसमें श्री अमरचन्द जी पहाड़िया व श्री निर्मलकुमार जी सेठी संरक्षक पद पर, ब्र० श्री रवीन्द्र कुमार जैन, (मै० हस्तिनापुर—अध्यक्ष, श्री जितेन्द्र प्रसाद जैन ठेकेदार दिल्ली—कार्याध्यक्ष, श्री गणेशीलाल जी रानीवाला कोटा—महामन्त्री एवं श्री अनंतवीर्य जैन, हस्तिनापुर—मन्त्री तथा श्री कैलाशचन्द्र जैन (करोल बाग) नई दिल्ली—कोषाध्यक्ष पद पर मनोनित हैं।

हिस्साब एवं धन की व्यवस्था :

संस्थान का आय-व्यय प्रतिवर्ष आडिटर से आडिट कराया जाता है एवं कार्यकारिणी की

बैठक में हिसाब पास किया जाता है। धन के साबन्दा में संस्थान की सम्पूर्ण आय रसीद अथवा कूपन से प्राप्त होती है तथा स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया, हस्तिनापुर, न्यू बैंक ऑफ इण्डिया, हस्तिनापुर एवं बैंक ऑफ बड़ौदा, दिल्ली में संस्थान के नाम से खाते हैं, जिसका संचालन संस्थान के अध्यक्ष, कार्याध्यक्ष, कोषाध्यक्ष एवं मन्त्री उपरोक्त चार में से किन्हीं दो हस्ताक्षरों से होता है।

निर्माण :

सन् १९७४ से हस्तिनापुर में निर्माण कार्य प्रारम्भ किया गया। अब तक जम्बूद्वीप स्थल पर जम्बूद्वीप की रचना के निर्माण के साथ ही यात्रियों, शोधार्थियों एवं पर्यटकों के लिये लगभग २०० कमरे व ग्लेट बन चुके हैं। तीन मूर्ति मंदिर का निर्माण हुआ है, जिसमें तीन वेदियां हैं। मुख्य वेदी में भगवान् आदिनाथ, भरत व बाहुबली की मूर्ति विराजमान हैं तथा अगल-बगल की वेदी में भगवान् पार्श्वनाथ, भगवान् नेमीनाथ की प्रतिमा विराजमान हैं भगवान् महावीर स्वामी का नया कमल मंदिर बन रहा है, जिसका कलशारोहण व वेदी प्रतिष्ठा महोत्सव मई १९६० में होने जा रहा है। इसके अलावा साधुओं के रहने के लिये रत्नत्रय निलय, कार्य संचालन के लिये कार्यालय एवं पानों की सुविधा के लिये टंकी भी बनाई जा चुकी है। अन्य निर्माण कार्य भी योजना-नुसार चल रहे हैं, जिनका वर्णन भविष्य में समाज के समक्ष प्रस्तुत होगा।

शैक्षणिक गतिविधियाँ :

निर्माण के अतिरिक्त संस्थान के द्वारा शिक्षा एवं धर्म प्रचार का कार्य भी समय-र पर होता रहा है। शिक्षणप्रशिक्षण शिविर, सेमिनार, अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार आदि के आयोजन भी कई बार किये जा चुके हैं।

सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन :

पू० गणिनी आयिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित चारों अनुयोगों से युक्त एवं धर्म प्रभावता के समाचारों से सहित सम्यग्ज्ञान मासिक पत्रिका का प्रकाशन जुलाई १९७४ से इसी संस्थान के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया था, जिसका विमोचन पू० आचार्यश्री धर्मसागरजी महाराज के करकमलों से ऐतिहासिक दिगम्बर जैन लाल मन्दिर दिल्ली में १ जुलाई १९७४ को किया गया था। भारतवर्ष के प्रत्येक प्रांत में लगभग सभी नगरों में इस पत्रिका के सदस्य हैं तथा पिछले १६ वर्षों से मासिक पत्रिका का प्रकाशन निराबाध चल रहा है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला :

संस्थान के अन्तर्गत वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला की स्थापना सन् १९७४ में की गई, जिसमें प्रथम पुष्प के रूप में अष्टसहस्री के एक भाग का प्रकाशन १९७४ में हुआ था। उसके बाद पू० ज्ञानमती माताजी द्वारा लिखित लगभग १०० से अधिक ग्रंथों का प्रकाशन अब तक हो चुका है। बच्चों के लिये बाल विकास (चार भाग) एवं इन्द्रध्वज मण्डल, कल्पद्रुम मण्डल विधान आदि अनेक प्रकाशन अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। इसी ग्रन्थमाला से यह समयसार ग्रन्थ भी प्रकाशित करने का हमें गौरव प्राप्त हुआ है।

आचार्य श्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ :

सन् १९७६ में पू० माताजी की प्रेरणा से जम्बूद्वीप स्थल पर आचार्यश्री वीरसागर संस्कृत विद्यापीठ का शुभारम्भ हुआ, जिसके अन्तर्गत धार्मिक अध्ययन के साथ-साथ लौकिक अध्ययन की सुविधा भी प्रदान की गई है। अब तक इस विद्यापीठ से पढ़कर कई विद्वान् समाज सेवा में संलग्न हो चुके हैं।

जम्बूद्वीप पारमार्थिक औषधालय :

नवम्बर १९८५ से जम्बूद्वीप स्थल पर निशुल्क आयुर्वेदिक औषधालय भी प्रारम्भ किया गया है, जिसमें राजवंश शीतलप्रसाद एण्ड सन्स के सौजन्य से औषधि प्राप्त होती रहती है।

जम्बूद्वीप पुस्तकालय :

संस्थान के अन्तर्गत एक विशाल पुस्तकालय की योजना रखी गई है, जिसका नाम जम्बूद्वीप पुस्तकालय के नाम से रखा गया है। इस पुस्तकालय में विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों के अनुसार ही पुस्तकों को संचित किया जा रहा है।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें :

प्रथम पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सन् १९७५ में भगवान् महावीर स्वामी की सर्वा नौ फुट ऊंची प्रतिमा की हुई थी। इसके लिये उस समय समय कम होने से एक छोटे से कमरे का ही निर्माण हो सका था। इसी कमरे को हटाकर वर्तमान में भव्य कमल मन्दिर का निर्माण कार्य सम्पन्न हो रहा है। इस पंचकल्याणक में चारित्र्य चक्रवर्ती १०८ आचार्यश्री शांतिसागर जी महाराज के तृतीय पट्टाचार्य श्री धर्मसागर जी महाराज विशाल संघ सहित एवं एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी व गणिनी आर्थिकारत्न श्री जानमती माताजी का सानिध्य प्राप्त हुआ। प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर निवासी थे।

द्वितीय पंचकल्याणक ८४ फुट ऊंचे सुमेरु पर्वत के १६ जिन बिम्बों का २६ अप्रैल से ३ मई १९७६ तक आयोजित किया गया। इस पंचकल्याणक महोत्सव में आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज के शिष्य आचार्यकल्प श्री ध्रुवांस सागर जी महाराज का सानिध्य एवं गणिनी आर्थिकारत्न श्री जानमती माताजी का सानिध्य प्राप्त हुआ था। इस आयोजन के प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमल जी निवाड़ी थे।

तृतीय पंचकल्याणक प्रतिष्ठा २८ अप्रैल १९८५ से २ मई १९८५ तक सम्पन्न हुई। यह आयोजन जम्बूद्वीप के समस्त जिनबिम्बों के पंचकल्याणक का आयोजन था। यह समारोह राष्ट्रीय स्तर पर सम्पन्न हुआ। इसमें सानिध्य प्राप्त हुआ आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज के संघस्थ सधु-गणों का एवं आ० श्री सुबाहुसागर जी तथा गणिनी आर्थिकारत्न श्री जानमती माताजी के संघ का। प्रतिष्ठाचार्य ब्र० सूरजमल जी थे। समारोह में भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से धर्मानुरागी बन्धुओं ने भाग लिया तथा उ० प्र० सरकार का भी प्रशासन की ओर से अच्छा सहयोग रहा। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्री नारायण दत्त जी तिवारी ने जम्बूद्वीप का उद्घाटन किया था। अन्य

केन्द्रीय व उत्तर प्रदेश के मंत्रीगण व सांसद भी समारोह में उपस्थित हुये थे । रक्षामंत्री श्री पी० बी० नरसिंह राव भी आयोजन में सम्मिलित हुए ।

चतुर्थ पंचकल्याणक ६ मार्च से ११ मार्च १९८७ तक सम्पन्न हुआ । इस महोत्सव में भगवान् पाश्वनाथ व भगवान् नेमीनाथ की दो विशाल पद्मासन प्रतिमाओं का पंचकल्याणक महोत्सव हुआ । इस कार्यक्रम में आचार्यश्री विमलसागर जी महाराज के विशाल संघ का सानिध्य तथा गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के संघ का सानिध्य प्राप्त हुआ । इस प्रतिष्ठा के प्रतिष्ठाचार्य पं० श्री शिखरचन्द जी भिण्ड थे । इसी शुभ अवसर पर सुमेरु पर्वत पर स्वर्ण कलाशारोहण भी किया गया । मुख्य अतिथि के रूप में माधवराव सिधिया, केन्द्रीय रेल मन्त्री तथा श्री जे० के० जैन पूर्वसांसद भी आये ।

ज्ञानज्योति प्रवर्तन :

४ जून १९८२ को लाल किला मैदान, दिल्ली से जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति का प्रवर्तन तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी के कर-कमलों से हुआ था । निरन्तर १०४५ दिनों तक इस ज्ञानज्योति का प्रवर्तन सम्पूर्ण भारतवर्ष के नगर-नगर में हुआ जिससे अहिंसा, चरित्र-निर्माण एवं विश्व-बन्धुत्व का व्यापक प्रचार-प्रसार किया गया । इस प्रवर्तन में अनेक प्रान्तों के राज्यपाल, मुख्य मन्त्री, सांसद, कमिश्नर, डी० एम०, एस० डी० एम० आदि अनेक राजकीय अधिकारियों का सानिध्य प्राप्त हुआ । दिगम्बर जैन आचार्यों, मुनियों, आधिकाओं और भट्टारकों का भी स्थान-स्थान पर आशीर्वाद व सानिध्य प्राप्त हुआ । प्रवर्तन में तत्कालीन सांसद श्री जे० के० जैन का सराहनीय सहयोग समय-समय पर प्राप्त होता रहा ।

ज्ञानज्योति की हस्तिनापुर में अखण्ड स्थापना :

१०४५ दिनों तक सारे भारतवर्ष में प्रवर्तन के बाद ज्ञानज्योति की अखण्ड स्थापना २८ अप्रैल १९८५ को जम्बूद्वीप में गेट के ठीक सामने स्थाई तीर पर हस्तिनापुर में कर दी गई है । यह स्थापना श्री जे० के० जैन, सांसद की अध्यक्षता में तत्कालीन रक्षा मन्त्री, भारत सरकार श्री पी० बी० नरसिंह राव के कर-कमलों से हुई थी ।

जम्बूद्वीप स्थल पर भक्ष्य दीक्षाएँ :

पू० गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के शिष्य एवं शिष्याओं के दीक्षा समारोह भी जम्बूद्वीप स्थल पर समय-समय पर आयोजित किये गये हैं । सर्वप्रथम संवत् २००० श्री मोतीचन्द जैन, सनावद (म०प्र०) को क्षुल्लक दीक्षा का कार्यक्रम ८ मार्च १९८७ को सम्पन्न हुआ । यह दीक्षा आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज के कर-कमलों से सम्पन्न हुई थी । दीक्षा के उपरान्त उनका नाम क्षुल्लक श्री मोतीसागर जी रखा गया ।

द्वितीय दीक्षा समारोह कु० माधुरी शास्त्री, जो कि पू० ज्ञानमती माताजी की शिष्या एवं गृहस्थावस्था की लघु भगिनी हैं, उनकी दीक्षा १३ अगस्त १९८६ को विशाल स्तर पर सम्पन्न हुई । गणिनी आधिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी के कर-कमलों से दीक्षा प्राप्त करके आधिका श्री चंदनामती नाम रखा गया ।

तृतीय द्रीक्षा क्र० श्यामाबाई की १५ अक्टूबर १९८६ को सम्पन्न हुई। पू० गणिनी आधिकारतन श्री ज्ञानमती माताजी के कर कगलों से उन्हें धुलिका दीक्षा प्रदान करके धुलिका श्रद्धामती नाम रखा गया।

इस प्रकार दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान में विभिन्न बहुमुखी योजनायें चल रही हैं, जिनमें भारतवर्ष के समस्त दिगम्बर जैन समाज का सहयोग प्राप्त होता रहता है।

हस्तिनापुर का संक्षिप्त परिचय :

जैन पुराणों के आधार से हस्तिनापुर बहुत प्राचीन एवं ऐतिहासिक नगरी है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का प्रथम आहार इसी भूमि पर हुआ। उसी दिन से एक प्रकार से यह दानतीर्थ प्रवर्तन भूमि हो गई है। उसके बाद भगवान् शांतिनाथ, कुन्धुनाथ, अरहनाथ तीन तीर्थंकरों का गर्भ, जन्म, तप एवं केवलज्ञान चार-चार कल्याण इसी भूमि पर सम्पन्न हुये हैं। तीनों महापुरुष तीर्थंकर की पदवी के साथ-साथ चक्रवर्ती व कामदेव भी थे। यही हस्तिनापुर कौरव-पांडवों की राजधानी रही है। रक्षाबन्धन का पर्व इसी हस्तिनापुर से प्रारम्भ हुआ है, जहाँ पर ७०० मुनियों के विशाल संघ पर बलि मंत्री ने उपसर्ग किया था और विष्णुकुमार महामुनि ने बामन का रूप धारण करके उस उपसर्ग का निवारण किया था। इसके अलावा जैन पुराणों में अनेक कथानक इस हस्तिनापुर भूमि से जुड़े हुए हैं। अतः उत्तर भारत का यह एक प्रसिद्ध और ऐतिहासिक स्थल है, लेकिन प्रचार की कमी से यह तीर्थ बहुत पिछड़ा हुआ था। जम्बूद्वीप निर्माण के बाद इस स्थल का प्रचार देश-विदेश में बराबर हो रहा है, जिससे आने वाले जैन-अजैन यात्रियों की संख्या में विगत वर्षों में दस गुनी वृद्धि हुई है।

ग्रंथ को प्रकाशित करने के लिये श्री सुमन प्रिंटर्स मेरठ के मालिक श्री हरीश जैन ने सुन्दर मुद्रण के साथ इसे प्रकाशित करने में हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके लिये हम हृदय से आभारी हैं तथा उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं।

ग्रन्थ संपादन के साथ ही प्रूफ रीडिंग में हमने स्वयं अधिक परिश्रम किया है, फिर भी त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। पाठकगणों को जो भी अशुद्धि मिले उसे हमें सूचित करें, जिससे अगले संस्करण में उन अशुद्धियों को शुद्ध किया जा सकेगा।

अन्त में हम उन समस्त दानी महानुभावों को भी धन्यवाद देना चाहते हैं जिन्होंने ग्रंथ के प्रकाशन में हमें आर्थिक सहयोग प्रदान करके ग्रंथ का मूल्य कम करने में हमें सहयोग प्रदान किया है।

हस्तिनापुर

“इत्यलम्”

१८-१-८०

❖ आभार ❖

सम्पादक—ड० रवीन्द्रकुमार जैन

जैन आगम में चार प्रकार के दान बतलाए हैं :—

आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान ।

शास्त्रदान के महत्त्व को समझने वाले निम्न महानुभावों ने इस अछयात्म ग्रन्थ समयसार पूर्वार्ध के प्रकाशन में अपना आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, एतदर्थ दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान समस्त सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करता है—

१. श्री शिखरचन्द्र जी जैन, राजा बाजार—नई-दिल्ली	५००१/-
२. श्री राजेन्द्रकुमार जैन, बंगाली मार्केट—नई-दिल्ली	५००१/-
३. श्री देवकुमार जैन, राजा बाजार—नई-दिल्ली	५००१/-
४. श्री रमेशचन्द्र जैन, राजा बाजार—नई-दिल्ली	५००१/-
५. श्री भदरलाल, ताराचन्द्र जैन, स्टेशन रोड डीमापुर [नागालैंड]	५००१/-
६. श्रीमती दर्शनमाला जैन, न्यू रोहतक रोड—नई-दिल्ली	५००१/-
७. श्री नरेशचन्द्र जैन, रोशनपुरा, नई सड़क—दिल्ली	२१००/-
८. श्रीमती प्रेमदेवी जैन धर्म-पत्नी श्री सुरेशचन्द्र जैन, विवेक विहार—दिल्ली	२१००/-
९. श्रीमती निर्मला जैन, प्रीतमपुरा—नई-दिल्ली	१५०१/-
१०. श्री अरुणकुमार जैन, गोलमार्केट—नई-दिल्ली	११११/-
११. श्री दुलीचन्द्र, विमलप्रसाद जैन, न्यू रोहतक रोड—नई-दिल्ली	१००१/-
१२. श्रीमती सत्यदेवी जैन, लक्ष्मीनगर—दिल्ली	१००१/-
१३. श्री करमवीर जैन, करोलबाग—नई-दिल्ली	१००१/-
१४. श्री महेन्द्रकुमार दोषी, हैदराबाद [आन्ध्र-प्रदेश]	१००१/-
१५. श्री पवनकुमार जैन, जैननगर—जगाधरी [हरियाणा]	१००१/-
१६. श्री बी० आर० जैन, कालकाजी मेनबाजार—नई-दिल्ली	१०००/-
१७. श्रीमती जैन, बंगाली मार्केट—नई-दिल्ली	१००१/-
१८. श्रीमती संजूदेवी जैन, बिरला मन्दिर—नई-दिल्ली	१००१/-
१९. श्री प्रेमचन्द्र जी जैन, पञ्चकुइया रोड—नई-दिल्ली	१००१/-
२०. श्री महेन्द्रकुमार गोधा, नई-दिल्ली	१००१/-
२१. श्री द्वारिकाप्रसाद जैन, नई-दिल्ली	१००१/-
२२. श्रीमती जैन धर्म-पत्नी उमेशचन्द्र जैन, गणेशपुर [बाराबंकी]	१००१/-



स्वाध्याय प्रारम्भ एवं समापन की विधि

अथ^१ पौर्वाण्हिक स्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं ॥

चत्तारि मंगलं - अरहंत मंगलं सिद्ध मंगलं साहू मंगलं केवलपण्णत्तो-धम्मो मंगलं । चत्तारि लोगुत्तमा-अरहंत लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा । चत्तारि सरणं पव्वज्जामि-अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्ध सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं-पव्वज्जामि । केवलपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि ।

जाव अरहंताणं भयवंताणं पज्जुवासं करेमि तावकालं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ।

(६ बार णमोकार मन्त्र जपना—सत्ताईस एवासोच्छवास में ।)

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवलअणंतजिणे । णरपवर लोयमहिंए विहुयरयमले महप्पण्णे ॥१॥

लोयस्सुज्जोययरे धम्मं तित्थंकरे जिणे वन्दे । अरहंते कित्तिस्से चीवीसं चेव केवललो ॥२॥

श्रुतभक्ति—

श्रुतमपि जिनवरविहितं गणधररचित्तं द्व्यनेकभेदस्थम् ।

अंगागबाह्यभाषितमनन्तविषयं

नमस्यामि ॥१॥

इच्छामि भते । सुदभक्तिकाउस्सगो कओ तस्सालोचेउं अंगोवगपइण्णए पाहुडयपरियम्म-सुत्तपदमाणिओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइ-धम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचमि, पूजमि, वंदामि णमंसांमि दुक्खवखओ कम्मवखओ बोहिलाहो सुगइगमणं, समाहिमरण जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

अथ पौर्वाण्हिकस्वाध्यायप्रतिष्ठापनक्रियायां आचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(णमो अरहंताणं से लेकर ऊपर का पूरा पाठ पढ़कर ६ बार णमोकार मन्त्र जपकर 'थोस्सामि' स्तव पढ़कर भक्ति पढ़ें ।)

आचार्यभक्ति—

गुरुभक्त्या वयं सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः ।

वंदामहे त्रिसंख्योत-नवकोटिमुनीश्वरान् ॥१॥

इच्छामि भंते ! आयरियभक्तिकाउस्सगो कओ तस्सालोचेउं सम्मणाण-सम्मदंसणम्म-चारित्त-जुत्ताणं पंचविहाचाराणं आयरियाणं आयारादिमुइणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण-पालणरयाणं सव्वसाहूणं णिच्चकालं अंचमि, पूजमि, वंदामि, णमंसांमि दुक्खवखओ कम्मवखओ, बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरण जिनगुणसम्पत्ति होउ मज्झं ।

पुनः स्वाध्याय समापन करते समय—

णमोऽस्तु पौर्वाण्हिक स्वाध्यायनिष्ठापनक्रियायां श्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं ।

(पूर्ववत् णमो अरहंताणं आदि पढ़कर ६ बार महामन्त्र जपकर 'थोस्सामि' पढ़कर श्रुत-

भक्ति पढ़ें ।

1. मध्यरात्रि में स्वाध्याय करते समय 'अपराण्हिक' बोलें । रात्रि में स्वाध्याय के प्रारम्भ के समय 'पूर्वरात्रिक' बोलें ।

समयसार स्वाध्याय से पूर्व इन उद्धरणों को हृदय पटल पर अंकित कर लेना चाहिए

मुद्धो मुद्धादेसो णावब्बो परमभाववरिसोहि ।

व्यवहारवेसिदो पुण जे तु अपरमे ठिवा भावे ॥ १२ अ०, १४ अ० ॥

श्रीजयसेनाचार्य गते टीका का अंग—“व्यवहारत्वात्—प्रयोजकत्वात् भवति—ये “अपरमे’—अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया धावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्त-संयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः” ।

गाथा ४६ अ०, ५१ अ०—“व्यवहारोहि व्यवहारिणां—तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् तस्यैवावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद् भवत्येव बंधस्याभावः—मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।’ (श्रीअमृतचंद्रसूरि) ।

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।

पक्खातिस्सकंतो पुण भण्णवि जो सो समयसारो ॥ १४२ अ०, १५२ अ० ॥

“सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । (अमृतचंद्रसूरि) ।

श्रीजयसेनाचार्य के सरल शब्द—‘गणधरदेवादि’ छव्यस्थजनः—निर्विकल्पसमाधिकामे नय-विकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रान्तः”

निर्जराअधिकार में (गाथा १६३ अ०, २०३ अ०) कहते हैं—

अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं ।”

आगे भी कहा है—“अत्र तु ग्रंथे पंचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्या गृह्णं ।”

सम्यग्दृष्टि अबंधक है इसे (गाथा १७१ अ०, १७६ अ०) में श्रीअमृतचंद्रसूरि कहते हैं—
“स तु यथाख्यातचारित्र्यावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ।”

यथाख्यात चारित्र्य की अवस्था के पहले-पहले अवश्य ही राग का सद्भाव होने से वह ज्ञानगु-बंध का हेतु ही है । यह यथाख्यात चारित्र्य ग्यारहवें गुणस्थान से होता है अतः दसवें गुणस्थान तक रागभाव का उदय रहने से कर्मबंध अवश्य होता है । सिद्धांत की भाषा में यहाँ तक का चारित्र्य भी सराग चारित्र्य कहलाता है ।

मंगलाचरण
(श्री कुन्दकुन्ददेव कृत)

वंदितु सव्वसिद्धे, धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

卐 卐

मंगलाचरण
(श्री अमृतचंद्रसूरि कृत)

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

卐 卐

मंगलाचरण
(श्री जयसेनाचार्य कृत)

धीतरागं जिनं नत्वा, ज्ञानानंदकसंपदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य, वृत्ति तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥

卐 卐

मंगलाचरण
(आर्यिका ज्ञानमतो कृत)

सिद्धान् नत्वा स्वयंसिद्ध—स्वात्म-तत्त्वस्य सिद्धये ।
ज्ञानज्योतिर्मयी विद्या, तस्यै प्रीत्या नमोऽस्तु मे ॥१॥

卐 卐



ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमद्भगवत्कुन्वकुन्दाचार्यविरचित :

समयसारः

(टीकात्रय सहित)

श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत-आत्मख्याति टीका

श्रीजयसेनाचार्यकृत-तात्पर्यवृत्तिटीका

श्रीज्ञानमतीआयिकाकृत-ज्ञानज्योति भाषाटीका

मंगलाचरणम्

(भाषाटीकाकर्त्रीकृतम्)

सिद्धान् नत्वा स्वयंसिद्ध-स्वात्मतत्त्वस्य सिद्धये । ज्ञानज्योतिर्मयी विद्या, तस्यै प्रीत्या नमोऽस्तु मे ॥१॥

सिद्धार्थस्यात्मजो वीरः, तस्मै नित्यं नमो नमः । वर्तते शासनं यस्य, कलौ संप्रति भारते ॥२॥

इंद्रभूतिगणेशाय, नमः स्यात् सर्वसाधवे । सरस्वति । नमस्तुभ्यं, हे मातः ! तिष्ठ मे हृदि ॥३॥

ज्ञानज्योति टीका का मंगलाचरण

सिद्धों को नमस्कार करके स्वयंसिद्ध जो अपना आत्मतत्त्व है उसकी सिद्धि के लिये ज्ञानज्योति स्वरूप जो विद्या है उसको प्रीतिपूर्वक मेरा नमस्कार होवे । सिद्धार्थ महाराज के पुत्र जो भगवान् महावीर हैं उनको मेरा नित्य ही नमस्कार हो, नमस्कार हो, कि जिनका शासन इस भरतक्षेत्र में कलिकाल में आजकल वर्तन कर रहा है । इंद्रभूति नाम के गौतम गणधर को एवं सर्वसाधुओं को मेरा नमस्कार हो । हे सरस्वती मातः ! तुम्हें मेरा नमस्कार हो, तुम सदा मेरे हृदय में विराजमान होवो ॥१-२-३॥

अनुष्टुप् छन्द

श्रीकुंदकुंदयोगीन्द्र ! भुवि त्वं भाति सूर्यवत् । मनःकुंदप्रसूनं मे, तत्क्षणं प्रस्फुटीकुरु ॥४॥
 चंद्रवत् ह्लादयत्यन्तः, सूरिश्चामृतचंद्रमाः । काव्यैश्चिमिश्रिता यस्य, ज्योत्स्नेवात्र चकास्ति गीः ॥५॥
 जयसेनयतिर्जोयात्, नयविज्ञेन येन यत् । गाथाटीकाद्वयोर्गुर्वोः रहस्यं प्रकटीकृतः ॥६॥
 आत्मख्यातिः सदा भूयात्, आत्मतत्त्वप्रतीतये । तात्पर्यवृत्तिटीकापि, स्यान्नः सत्यार्थबोधये ॥७॥
 चारित्र्यचक्रवर्ती यः, सूरिः श्रीशान्तिसागरः । कलिप्रभावहर्ताऽभूत्, तस्मै गुरवे नमोऽस्तु मे ॥८॥
 तत्पट्टाचार्यवर्योऽभूत् गुरुः श्रीवीरसागरः । महाव्रतप्रदाता मे, नमस्तस्मै स्वसिद्धये ॥९॥
 ये सर्वे सिद्धिकर्तारः, राजन्तां मे हृदि त्वमीः । दद्युः स्वान्यप्रबोधाय, सत्यां बुद्धिं च सद्गिरम् ॥१०॥

हे श्रीकुंदकुंदयोगीन्द्र ! आप इस पृथ्वीतल पर सूर्य के समान प्रकाशित हो रहे हो । मेरे मनरूपी कुंदपुष्प को शीघ्र ही विकसित करो । अमृतमयी चंद्रमा के समान जो अमृतचंद्र नाम के आचार्य हैं वे चंद्रमा के समान भव्यों के चित्त को आल्हादित करते हैं । कलश काव्यों से मिश्रित जिनकी वाणी—टीका चंद्रमा की चांदनी के समान यहाँ शोभायमान हो रही है । श्रीजयसेनाचार्य यति जयशील होवें, कि नयों के ज्ञाता जिन्होंने गाथा और टीका के कर्ता “श्रीकुंदकुंददेव” और “अमृतचंद्रसूरि” इन दोनों गुरुओं के रहस्य को—मर्म को प्रगट कर दिया है ॥४-५-६॥

श्रीअमृतचंद्रसूरि के द्वारा की गई “आत्मख्याति” नाम की टीका है वह सदा मुझे आत्मतत्त्व के अनुभव के लिये होवे । श्रीजयसेनाचार्यकृत “तात्पर्यवृत्ति” नाम की टीका भी हम लोगों को सत्यार्थ बोधि के लिये होवे । जो चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर महाराज हुये हैं वे इस कलिकाल के प्रभाव को दूर करने वाले थे उन गुरुदेव को मेरा नमस्कार होवे । उनके पट्ट पर विराजमान हुये प्रथम पट्टाचार्य गुरुदेव श्रीवीरसागर हुये हैं वे मुझे महाव्रतों को प्रदान करने वाले मेरे दीक्षागुरु हैं । अपनी आत्मसिद्धि के लिये उन्हें मेरा नमस्कार होवे । उन सिद्ध परमेष्ठी से लेकर यहाँ तक सभी आचार्यवर्य नित्य ही मेरे अंतःकरण में विराजमान रहें तथा स्वयं के प्रबोध के लिये वे मुझे समीचीन बुद्धि प्रदान करें और अन्य के प्रबोध के लिये वे मुझे समीचीन वाणी प्रदान करें ॥७-८-९-१०॥

अनुष्टुप्छन्द

कार्यसमयसारो यो-ऽनंतानंतगुणाप्तिमान् । कारणं समयः सारः शुद्धात्मध्यानजो भवेत् ॥११॥
 कार्यकारणरूपाय, समयसाराय मे नमः । स्वात्मोपलब्धिसिद्ध्यर्थं, नित्यं मेऽन्तो विराजताम् ॥१२॥
 टीकाद्वयं समासस्थं, गाथासमयसारजं । ज्ञानज्योतिर्मयी भाषा-टीकेयं रच्यते मया ॥१३॥

मन्दाक्रान्ता छंद

ज्ञानज्योतिर्धवलमनघं ध्वस्तमोहान्धकारं । स्वात्माधीनं सुखमनुपमं चिच्चमत्कारमात्रम् ॥
 ज्ञानानंदामृतमनर्वाधं शीघ्रमाविष्करोति । तस्मै रुच्या समरसमयं ज्ञानपूर्त्यै नमोऽस्तु ॥१४॥
 इति पीठिकाबंधः

कार्य समयसार जो है वह अनंत-अनंत गुणों की प्राप्तिरूप है और जो शुद्धात्मा के ध्यान से उत्पन्न होता है वह कारण समयसार कहलाता है । इन कारण समयसार और कार्यसमयसार-रूप दोनों "समयसार" को मेरा नमस्कार होवे । वह समयसार अपने आत्मा की प्राप्ति की सिद्धि के लिये नित्य ही मेरे हृदय में विराजमान रहे । समयसार की गाथाएँ एवं उस पर की गई आत्मख्याति तथा तात्पर्यवृत्ति इन दोनों टीकाओं का अवलंबन लेकर "ज्ञानज्योति" इस नाम से यह भाषा टीका मेरे द्वारा रची जा रही है ॥११-१२-१३॥

यह ज्ञानज्योति उज्ज्वल है, निर्दोष है और इसने मोहरूपी अंधकार को नष्ट कर दिया है । यह आत्मा के आधीन, चित्चमत्कार मात्र, ज्ञान और आनंद अमृतरूप, अनंत और उपमारहित ऐसे सुख को शीघ्र प्रगट करने वाली है । परम समरसमय इस ज्ञानज्योति को अपने ज्ञान को पूर्ण करने के लिये मेरा हृत्विपूर्वक नमस्कार होवे ॥१४॥

विशेषार्थ—इस ग्रंथ में कार्यसमयसाररूप परमात्मपद को प्राप्त करने के लिये कारणसमयसार का ही वर्णन किया गया है । इस कारणसमयसार के भी दो भेद हैं—व्यवहार कारणसमयसार और निश्चय कारणसमयसार । कहा भी है—“भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपा भेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवलज्ञानादिचतुष्टयध्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निश्चयकारणसमयसारेण” ।
 भेदरत्नत्रयरूप व्यवहारमोक्षमार्ग नामक व्यवहारकारण समयसार है, यह साधन है । इसके द्वारा साध्य निश्चय कारणसमयसार है यह विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाववाले शुद्ध आत्मतत्त्व

का सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और उसी में आचरण—स्थिरतारूप अभेदरत्नत्रयस्वरूप निर्विकल्पसमाधिमय है इसी का निश्चयमोक्षमार्ग यह नाम है यह अनंतकेवलज्ञानावि चतुष्टय की प्रगट अवस्थारूप कार्यसमयसार को उत्पन्न करनेवाला है। इस ग्रंथ में निश्चय कारणसमयसार की प्रमुखता है और चारित्रपाहुड़ तथा मूलाचार ग्रंथ में स्वयं श्रीकंदकंददेव ने व्यवहार कारणसमयसाररूप व्यवहाररत्नत्रय को मुख्यरूप से कहा है।

इस ग्रंथ के प्रारंभ में ही दूसरी गाथा में आचार्यदेव ने दर्शनज्ञानचारित्र में स्थित जीव को स्वसमय कहा है। पुनः छठी गाथा में जिस जायकभाव को कहा है वह प्रमत्त-अप्रमत्तरूप चौदह गुणस्थानों से परे शुद्धज्ञानभावरूप ही है। इसे ही सातवीं गाथा में कह दिया है कि व्यवहार से ही ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीन भेद हैं किन्तु परमार्थ से ये भेद नहीं हैं प्रत्युत यह आत्मा मात्र जायक भावरूप शुद्ध ही है। आगे चलकर गाथा १२वीं (गाथा १४वीं) में कह दिया है कि “जो अपरमभाव में स्थित हैं—उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। इसे ही श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि “व्यवहार-नयो.....तदात्वे प्रयोजनवान् तीर्थ-तीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्।” व्यवहारनय भी तत्काल के लिये प्रयोजनीभूत है क्योंकि तीर्थ और तीर्थ का फल—मोक्षमार्ग और उसके फल की ऐसी ही व्यवस्था है। श्रीजयसेनाचार्य ने भी कह दिया है कि चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक अपरमभाव है वहाँ तक व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। तात्पर्य यही है कि इस ग्रंथ में रत्नत्रयधारी मुनियों के लिये ही निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त करने का उपदेश है जो कि स्थान-स्थान पर स्पष्ट किया जावेगा।

इस ग्रंथ में “श्रीअमृतचंद्रसूरि” ने चारसौ पंद्रह गाथायें मानी हैं उन पर टीका करते हुये दो सौ अठत्तर कलशकाव्य रचे हैं। श्रीजयसेनाचार्य ने चार सौ उनतालीस गाथायें मानी हैं और उन पर तात्पर्यवृत्ति टीका रची है। यहाँ मेरे द्वारा भी गाथाओं के साथ ही इन दोनों टीकाओं का हिंदी अनुवाद करते हुये अर्थ, भावार्थ, विशेषार्थ के द्वारा अपनी आत्मा में सम्यग्ज्ञानज्योति को प्रगट करने के लिये जो यह “ज्ञानज्योति” नाम से भाषा टीका लिखने का स्वल्प प्रयास किया जा रहा है, श्रीजिनेंद्रदेव की कृपा प्रसाद से वह सफल हो—शीघ्र ही पूर्ण हो ऐसी मंगलकामना है।

इस प्रकार भाषा टीकाकर्त्री के द्वारा मंगलाचरण सहित यह भूमिका प्रस्तुत की गई है।

श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः टीका

मंगलाचरणं

अनुष्टुप् छंद

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते । चित्स्वभावाय भावाय सर्वभाषान्तरच्छिदे ॥१॥

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः । अनेकांतमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

आत्मख्याति टीका का मंगलाचरण

काव्यार्थ—स्वानुभूति से प्रकाशमान् चैतन्यस्वभावमय, शुद्धसत्तास्वरूप, सर्वपदार्थों को जानने वाले अथवा अपने शुद्धात्म पदार्थ से अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों को अपने से पृथक् करने वाले ऐसे समयसार (परमात्मा या शुद्धात्मा) के लिये मेरा नमस्कार होवे ।१।

काव्यार्थ—अनन्तधर्मत्मक आत्मा के भिन्न स्वरूप का अवलोकन करती हुई अनेकांतमयी मूर्तिस्वरूप सरस्वती नित्य ही प्रकाशमान होवे ।२।

भावार्थ—यहाँ 'प्रत्यगात्मनः' परब्रह्मों से भिन्न ऐसा परमात्मा अथवा "आत्मनः प्रत्यक्तत्त्वं" चित्स्वरूप आत्मा का भिन्न स्वरूप ऐसे परमाध्यात्मतरंगिणी टीका में श्री शुभचन्द्राचार्य ने दो अर्थ किये हैं ।

मुक्तक छन्द (मात्रिक) —निज में ही निज आत्मानुभूति से, सदा प्रकाशित रहता है ।

चेतन स्वभाव में रम कर ही, जो सत्त्व रूप में फलता है ॥

गुण पर्यय युत सब द्रव्यों को अपने से पृथक्त्व करता है ।

उस 'समयसार' को तमन करूँ, जो मूल तत्त्व को कहता है ॥१॥

मुक्तक छन्द (मात्रिक) —अनन्तधर्म संयुत चेतन को निज में अवलोकन करती ।

है पर पदार्थ से भिन्नरूप जो निज गुण का अनुभव करती ॥

स्याद्वाद सिद्धान्त विभूषित, शुभ चिह्न निराला है इसमें ।

ये अनेकान्त मूर्ति ऐसी, जो सदा प्रकाशित हो जग में ॥२॥

मालिनी छंद

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-वविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥

श्रीजयसेनाचार्यकृता तात्पर्यवृत्तिः टीका

मंगलाचरणं

बीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानंदकसंपदम् । वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥

अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुंदकुंदा-
चार्यदेवनिर्मिते समयसारप्राभृतग्रंथे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यानं क्रियते ।

काव्यार्थ—शुद्ध चिन्मात्र की मूर्ति स्वरूप जो मेरी अनुभूति है वह परपरिणति-
विभावपरिणति का कारणभूत ऐसा जो मोहनीय कर्म उसके प्रभाव से निरन्तर ही रागादि-
परिणामरूप व्याप्ति से मलिन हो रही है । वह मेरी अनुभूति इस समयसार की व्याख्या
(टीका) के द्वारा ही परमविशुद्धि को प्राप्त होवे ॥३॥

भावार्थ—यद्यपि मेरी आत्मा शुद्ध चिन्मात्र की मूर्ति है—शुद्धज्ञान दर्शन से ही
निर्मित है । फिर भी व्यवहारनय की अपेक्षा से वह विषयकषायों की बहुलता से मलिन हो
रही है । वह आत्मा इस समयसार की व्याख्या से परम निर्मलता को प्राप्त हो जावे ।

तात्पर्यवृत्ति टीका का मंगलाचरण

ज्ञान और आनंदरूप अद्वितीय संपत्ति के धारक, बीतराग जिनेंद्रदेव को नमस्कार
करके मैं (जयसेनाचार्य) समयसार ग्रन्थ की तात्पर्य नामक वृत्ति (टीका) को कहूँगा ।

“अथ” यह शब्द मंगलवाचक और प्रारंभसूचक है । अब शुद्ध परमात्मतत्त्व के
प्रतिपादन की मुख्यता से विस्तार में रुचि रखने वाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये

मुक्तक छन्द (मात्रिक)—पर परिणति का कारण जिसमें, है कर्म मोह अनुभाग जहाँ ।

जिसके प्रताप से व्याप्त हुई, कल्मष-कुबुद्धि रागादि महा ॥

चैतन्य मात्र है शुद्ध मूर्ति जो, समयसार व्याख्या न्यायी ।

जिससे मेरी अनुभूति रसिक, हो परमविशुद्ध बशा भारी ॥२॥

तत्रादौ “वंदितु सव्वसिद्धे” इति नमस्कारगाथामादि कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाषट्कं भवति । तदनंतरं द्वितीय स्थले भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादनरूपेण “ववहारेणुवदिस्सदि” इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलि व्याख्यानमुख्यत्वेन “जो हि सुदेण” इत्यादि भाषासूत्रद्वयम् । अतः चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनार्थं तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च “णाणम्हि भावणा” इत्यादि सूत्रद्वयम् । तदनंतरं पंचमस्थले निश्चयव्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण “ववहारोऽभूदत्थो” इत्यादिसूत्रद्वयम् । एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलयंचकेन समयसारपीठिकाव्याख्याने समुदायपातनिका ।

श्रीकुंदकुंदाचार्य देव के द्वारा निमित्त इस समयसार नामक प्राप्त ग्रन्थ में अधिकार की शुद्धिपूर्वक पातनिका-पीठिका सहित व्याख्यान किया जा रहा है । उसमें सबसे प्रथम “वंदितु सव्वसिद्धे” इस प्रकार से नमस्कार गाथा को आदि में लेकर सूत्रपाठ के क्रम से प्रथम स्थल में छह स्वतंत्र गाथायें हैं । इसके बाद द्वितीय स्थल में भेदाभेद रत्नत्रय के प्रतिपादनरूप से “ववहारेणुवदिस्सदि” इत्यादि दो गाथायें हैं । पुनः तृतीयस्थल में निश्चय व्यवहार श्रुतकेवली के व्याख्यान की मुख्यता से “जो हि सुदेण” इत्यादि दो सूत्र हैं । इसके अनंतर चतुर्थ स्थल में भेदाभेद रत्नत्रय की भावना के लिये और उसी प्रकार उस भावना के फल का प्रतिपादन करने के लिये “णाणम्हि भावणा” इत्यादि दो सूत्र हैं । इसके पश्चात् पंचम स्थल में निश्चय और व्यवहार इन दो नयों के व्याख्यानरूप से “ववहारोऽभूदत्थो” इत्यादि दो सूत्र हैं । इस प्रकार चौदह गाथाओं के द्वारा पांच स्थल से इस समयसार की पीठिका का व्याख्यान करने में यह समुदाय पातनिका है ।



(१) अथ जीवाजीवाधिकारः

अथ सूत्रावतारः—

(१) वंदितु सर्वसिद्धे ध्रुवमचलमणोवमं गदं पते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवमचलमनुपम्यां गतिं प्राप्तान् ।

वक्ष्यामि समयप्राभूतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥१॥

आत्मख्यातिः—“वंदितु” इत्यादि । अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामना-
दिभावांतरपरपरिवृत्तिविश्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमा-

उत्थानिका—अब सूत्र का अवतार होता है—

अन्वयार्थ—मैं (ध्रुवां अचलां अनुपमां गतिं प्राप्तान्) ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त हुये (सर्वसिद्धान् वंदित्वा) सर्वसिद्धों की वंदना करके (अहो) हे भव्यों ! (श्रुतकेव-
लिभणितं) श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित (इदं समयप्राभूतं वक्ष्यामि) इस समयसार नामक
प्राभूत ग्रन्थ को कहूँगा ॥१॥

आत्मख्याति—“वंदितु” इत्यादि गाथा का पदखंडना रूप से व्याख्यान किया जावेगा । “अथ” शब्द यहाँ मंगलवाची है । सर्वप्रथम इस गाथा की टीका में सिद्धगति के विशेषणों को बताते हैं—वह सिद्धगति स्वभावभावरूप होने से ध्रुवदशा का अवलंबन लिये हुये हैं अतः ध्रुव है । अनादिकाल से अन्य भाव के निमित्त से पर में परिभ्रमण के विश्राम विराम (अभाव) के वश से अचलपने को प्राप्त है अतः अचल है । संपूर्ण उपमा योग्य पदार्थों से विलक्षणरूप अद्भुत माहात्म्य के होने से जिसकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती अतः अनुपम है । ऐसी “अपवर्ग” नामक गति को जो प्राप्त हुये हैं वे सर्वसिद्ध

समयसार—पद्यानुवाद—छंद शेर

(१) सिद्धों की कलं वंदना जो शुद्ध हुए हैं , अनुपम अचल व ध्रुव गती को प्राप्त हुए हैं ।

श्रुतकेवली प्रणीत समयसार कहूँगा , हे भव्य ! सुनी आत्मा का सार कहूँगा ॥१॥

नीपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छन्दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च^१ निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवदिभरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समय-प्रकाशकस्थ प्राभूताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥१॥

भगवान् सिद्धरूप से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्दस्थानीय हैं—प्रतिकृतिरूप हैं—आदर्श हैं । ऐसे सर्वसिद्धों को भावस्तवन और द्रव्यस्तवन के द्वारा अपनी आत्मा में और पर की आत्मा में विराजमान करके मैं भाववचन और द्रव्यवचन के द्वारा समयसार ग्रन्थ का परिभाषण अर्थात् टीका रूप से व्याख्यान करूँगा । यह समयप्राभूत कैसा है ? सो ही बताते हैं—अनादि निधन जो श्रुत—आगम उसके द्वारा जो प्रकाशित है । पुनः अखिल पदार्थ समूह को साक्षात् करने वाले केवली भगवान् के द्वारा प्रणीत होने से और स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त है । समय अर्थात् आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला है । अर्हन्त भगवान् के प्रवचन का अंशरूप है और “प्राभूत” जिसका नाम है ऐसे इस “समयप्राभूत” ग्रंथ को अपने और पर के मोह का नाश करने के लिये भाववचन और द्रव्यवचनरूप से मेरे द्वारा व्याख्या की जा रही है ॥१॥

विशेषार्थ—यहाँ पर श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि “भावस्तवन और द्रव्यस्तवन के द्वारा सर्वसिद्धों को अपने आत्मा में और पर में स्थापित करके मैं समयसार को कहूँगा” । सो यहाँ भावस्तवन का अर्थ क्या है ? वंद्य-सिद्ध भगवान्, वंदना करने वाला मैं और वंदना, अथवा स्तुत्य सिद्ध भगवान्, स्तोता मैं तथा स्तुति, इनका भेद जब तक रहता है तब तक द्रव्यस्तवन होता है उसके आगे अभेद दशा में निर्विकल्प ध्यान में यह भावस्तवन होता है । इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य अपनी वृत्ति टीका में कह रहे हैं । अतः द्रव्यस्तवन छठे गुणस्थान तक होता है और सातवें से भावस्तवन प्रारम्भ होता है । “सिद्धरूप से साध्य आत्मा के लिये सिद्ध भगवान् आदर्श रूप हैं ।” ऐसा वाक्य होने से संसारी जीवों की आत्मा सिद्धपने से साध्य हो गई है । इस कथन से सिद्धों की उपासना का महत्त्व प्रकट किया गया है । पुनः समयसार ग्रन्थ को अर्हत्प्रणीत और श्रुतकेवली द्वारा कथित कहने से ग्रन्थकार श्री कुंदकुंददेव ने ग्रन्थ के स्वकर्तृत्व का निराकरण करके इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध कर दी है । इस ग्रन्थ की व्याख्या भी अपने और पर के मोह का नाश करने के लिये की गई है ऐसा श्री व्याख्याकार का अभिप्राय है ।

१. ‘निधाय’ यह भी पाठ है ।

तद्यथा—अथ प्रथमतस्तत्तावद्गाथायाः पूर्वार्धेन मंगलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्तरार्धेन तु समयसारग्रन्थव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयतिः—

तात्पर्यवृत्तिः—‘वंदितु’ इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । वंदितु निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वंदित्वा । कान् । सव्वसिद्धे स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान् । किंविशिष्टान् । पत्ते प्राप्तान् । कां ? गतिं सिद्धगतिं सिद्धपरिणतिं । कथंभूतां । ध्रुवं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वरां । अमलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलां । अथवा अचलं इति पाठांतरे द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसार-

उत्थानिका—अब इसी में सबसे पहले ‘गाथा’ के पूर्वार्ध से मंगल के लिये इष्ट देवता के नमस्कार को और उत्तरार्ध से समयसार के व्याख्यान को मैं कहूंगा ।’ ऐसा अभिप्राय मन में धारण कर श्री कुंदकुंदाचार्य इस प्रथम सूत्र का प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—अब ‘वंदितु’ इत्यादि पदच्छेदरूप से व्याख्यान किया जाता है । निश्चयनय से अपने में ही आराध्य-आराधक भावरूप जो निर्विकल्प समाधि है उस लक्षण रूप भाव नमस्कार के द्वारा और व्यवहारनय से वचनरूप द्रव्य नमस्कार के द्वारा वंदना करके । किनकी वंदना करके ? स्वात्मा की उपलब्धिरूप जो सिद्धि है उस लक्षण वाले सर्व सिद्धों की वंदना करके । वे सिद्ध कैसे हैं ? जो सिद्धगति को सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं । वह सिद्ध गति कैसी है ? टांकी से उकेरे हुये के समान ज्ञायक एकस्वभावरूप से वह ध्रुव अर्थात् अविनश्वर है । भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मरूप मल से रहित होने से तथा शुद्ध स्वभाव से सहित होने से वह अमल-निर्मल है । अथवा ‘अचलं’ ऐसा भिन्न पाठ मानने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार के भ्रमण से रहित होने से और स्वस्वरूप में निश्चल होने से वह गति चलन रहित अचल है । संपूर्ण उपमाओं से रहित होने से निरुपम है और स्वभाव से सहित होने से अनुपम है । ऐसी सिद्ध अवस्था को जो प्राप्त हो गये हैं ।

इस प्रकार गाथा के पूर्वार्ध से नमस्कार करके गाथा के उत्तरार्ध से संबंध, अभिधेय और प्रयोजन की सूचना के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—मैं कहूंगा । क्या ? समयप्राप्त ग्रन्थ को, सम्यक्-समीचीन, अय-बोध ज्ञान है जिसके वह समय अर्थात् आत्मा । अथवा

भ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलां । अणोवर्मं निखिलोपमानरहित-
त्वेन निरूपमामद्भुतस्वस्वभावसहितत्वेन अनुपमां । एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्धेन
संबंधाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति । वोच्छामि वक्ष्यामि । किं समयपाहुडं समय-
प्राभृतं सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं
समयः । प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव
प्राभृतं समयप्राभृतं । इणं इदं प्रत्यक्षीभूतं ओ अहो भव्याः । कथंभूतं । सुदकेवलीभणिदं

सम-एकीभाव से, अयन-गमन करना—प्राप्त करना सो समय है । यह 'समय' शब्द का
अर्थ हुआ । प्राभृत-सार । सार-शुद्धावस्था । इस प्रकार समय अर्थात् आत्मा की प्राभृत
अर्थात् शुद्ध अवस्था को समयप्राभृत कहते हैं । अथवा समय ही प्राभृत अर्थात् आत्मा ही
शुद्ध अवस्था रूप है । हे भव्यों ! इस प्रत्यक्षीभूत अर्थात् प्रत्यक्ष में विद्यमान इस समय
प्राभृत आत्मा की शुद्धावस्था या शुद्धात्मा को मैं कहूँगा । यह समयप्राभृत कैसा है ?
श्रुत अर्थात् परमागम में केवली अर्थात् सर्वज्ञ देवों के द्वारा कहा गया है । अथवा श्रुत-
केवलियों के द्वारा अर्थात् गणधर देवों के द्वारा कथित है । यहाँ पर प्राकृत व्याकरण के
बल से गाथा में केवली शब्द को दीर्घ हो गया है ।

अब संबंध अभिधेय और प्रयोजन को कहते हैं—

यहाँ पर व्याख्यान तो वृत्ति-टीका ग्रन्थ है, व्याख्येय-व्याख्यान करने योग्य उसके
प्रतिपादक सूत्र हैं । उन दोनों का संबंध 'व्याख्यानव्याख्येयसंबंध' है । सूत्र तो अभिधान-
वाचक हैं और सूत्र का अर्थ अभिधेय-वाक्य है । इन दोनों का संबंध अभिधान अभिधेय
संबंध है । तथा निर्विकार स्वसंवेदज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा को जानना अथवा उसको प्राप्त
कर लेना सो यहाँ प्रयोजन है ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना ॥१॥

भावार्थ—श्री जयसेनाचार्य ने नमस्कार के भाव और द्रव्य ऐसे दो भेद करके अपने
में ही आराध्य आराधक भावरूप निधिकल्प समाधि को भावनमस्कार कहा है । तथा वचनों
से स्तुति करने को द्रव्य नमस्कार कहा है । 'श्रुतकेवली' पद का एक बार श्रुत अर्थात्
परमागम में जो केवली भगवान् के द्वारा कहा गया है वह श्रुतकेवली कथित है । और
दूसरी बार श्रुतकेवली अर्थात् गणधरदेव आदि द्वादशांग श्रुत के वेत्ताओं को लिया है ।
'समयसार' का आत्मा की शुद्ध अवस्था अथवा शुद्धात्मा ऐसा अर्थ किया है ।

प्राकृतलक्षणबलात्केवलीशब्ददीर्घत्वं । श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं । अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति । संबंधाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यते—व्याख्यानं वृत्तिग्रन्थः व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति तयोस्संबन्धो व्याख्यानव्याख्येयसंबन्धः । सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयः तयोः संबन्धोऽभिधानाभिधेयसंबन्धः । निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥१॥

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते—

(२) जीवो चरित्तदं सण्णाणट्ठितं तं हि स्वसमयं जाण ।

पुद्गलकम्मपदेसट्ठितं च तं जाण परसमयं ॥२॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।

पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥२॥

यह भावनमस्कार छठे गुणस्थान के अनंतर शुद्धोपयोग अवस्था में होता है । अमृत-चंद्रसूरि के शब्दों से यद्यपि गुणस्थान व्यवस्था स्पष्ट नहीं होती है तो भी उन्हीं के शब्दों के आधार से ही श्री जयसेनाचार्य ने सर्वत्र गुणस्थान की व्यवस्था को स्पष्ट कर दिया है । निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान सातवें गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है उसके पहले सविकल्प अवस्था है । इस बात को सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये ।

यहाँ मूलगाथा में श्री अमृतचंद्रसूरि ने 'ध्रुवमचलमणोवमं' पाठ लिया है । और उसी के अनुसार टीका में 'अचलत्वमुपगतां' अर्थ किया है । श्रीजयसेनाचार्य ने मूल गाथा में 'ध्रुवममलमणोवमं' पाठ लिया है । टीका में पहले 'अमल' का अर्थ किया है । अनंतर 'अचलं इति पाठांतरे' कहकर इस अचल पद का भी अर्थ किया है । इससे इन आचार्य देव की पापभीरुता प्रगट हो रही है और इनके समय भी दो पाठ उपलब्ध थे यह बात स्पष्ट हो जाती है । पापभीरुता का मतलब यही है कि इन्होंने 'अमल' की सही कहकर 'अचल' पाठ को गलत नहीं कहा है । यह आज के विद्वानों के लिये अनुकरणीय है ।

उत्थानिका—अब सर्वप्रथम समय शब्द का ही अर्थ कहा जाता है—

अन्वयार्थ—(जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि) जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित है उसको ही तुम स्वसमय जानो (च पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं तं परसमयं जानीहि) और जो पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है उसे तुम परसमय जानो ।

(२) दर्शन सुज्ञान चरित में सुस्थिर जो हो रहे । वे ही स्वसमय जीव शुद्ध नय से हैं कहे ॥

पुद्गलमयी कर्मों के साथ जो चिपक रहे । वे जीव परसमय में सदा लीन ही रहे ॥२॥

आत्मख्याति—योज्यं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्य-
क्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविज्ञददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढक-
धर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभास-
नसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधा-
रणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपाद-

आत्मख्याति—जो जीवनामा पदार्थ है वह ही समय है क्योंकि समय शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ इस प्रकार है कि 'सम्' अर्थात् एकरूप से युगपत् जो 'अयते' अर्थात् जानता है परिणामन जानता है वह समय है । वह 'समय' शब्दक पदार्थ नित्य ही परिणामन स्वभाव में स्थित रहने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकरूप अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी सत्ता से अनुस्यूत-समन्वित है । चैतन्यस्वरूप होने से निरन्तर उदयरूप निर्मल दर्शन-ज्ञान की ज्योति-स्वरूप है । अनंतधर्मों में रहने वाला जो एक धर्म उस रूप से उसका द्रव्यत्व प्रकट हुआ है । क्रम और अक्रम से होने वाले अनेकों भाव उन स्वभावरूप से गुण और पर्यायों को स्वीकार किये हुये है । स्व और परद्रव्यों के आकार को प्रकाशन करने में समर्थ होने से अखिलरूप को झलकाने वाली एकरूपता प्राप्त कर ली है । पृथक्-पृथक् अवगाहन, गति, स्थिति और वर्तना के लिये निमित्तमूल एवं रूप, रस, गंध, स्पर्श गुणों के अभाव से तथा असाधारण चैतन्यरूप स्वभाव के सद्भाव से यह जीवद्रव्य आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है । अनंत अन्य द्रव्यों के साथ अत्यंत संकर-एकक्षेत्रावगाह संबंध होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत न होने से टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभाव वाला है । ऐसा जो जीवनामक पदार्थ है वही 'समय' कहलाता है ।

जब यह निश्चित रूप से संपूर्ण पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदविज्ञानरूपी ज्योति के प्रकट हो जाने से समस्त परद्रव्यों से च्युत होकर श्रद्धान करना, जानना और अपने स्वभाव में स्थिरता रूप आचरण करना, इन तीन रूप आत्म तरफ में एकत्वरूप से वर्तन करता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चारित्र में ऐक्य परिणति होने से निश्चयरत्नत्रयरूप से परिणत होता है, उस समय दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित होने से अपने आपको एकत्वरूप से एक साथ जानता हुआ और उसरूप परिणामन करता हुआ 'स्वसमय' कहलाता है और जब अनादिकालीन अविद्या है मूल जिसका ऐसे कंद के समान मोहकर्म के उदय से उसके आधीन होने से दर्शन, ज्ञान

प्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः । अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शन-ज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति । यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूल-कंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोह-रागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते । एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति ॥२॥

और स्वभाव में स्थिर आचरणरूप आत्मतत्त्व से (निश्चयरत्नत्रय से) च्युत होकर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न हुये मोह, राग, द्वेष आदि भावों में एकत्वरूप से वर्तन करता है तब पुद्गलकर्मों के प्रदेशों में स्थित होने से एक साथ परद्रव्य को अपने से एकत्वरूप जानता हुआ और उसी रूप से परिणमन करता हुआ 'परसमय' है, ऐसा प्रतीति में आता है । इस प्रकार इस 'समय' नामक जीव पदार्थ के दो भेद हो जाते हैं ॥२॥

भावार्थ—यहाँ पर पहले सामान्य लक्षण के द्वारा जीव पदार्थ का स्वरूप बतलाकर उसे 'समय' यह नाम दिया है । पुनः उस समय के दो भेद कर दिये हैं—स्वसमय और परसमय । जो केवलज्ञान को प्रकट करने वाले ऐसे विशेष भेदविज्ञान के बल से रत्नत्रय की एकाग्र परिणति से परिणत होता है वह उसी काल में स्वसमय है । यह स्वसमय का लक्षण बारहवें गुणस्थान में स्थित मुनि के ही पूर्णतया घटित होता है क्योंकि उनका ही भेद-ज्ञान केवलज्ञान को प्रकट करने में समर्थ है । तथा परसमय के लक्षण में मोह शब्द से दर्शन-मोह को ले लेने से और परद्रव्यों को अपने से अभिन्न मान लेने से इस जीव का 'परसमय' यह लक्षण मिथ्यात्व गुणस्थान में ही पूर्ण रूप से घटित होता है । अथवा सातवें गुणस्थान से लेकर दशवें तक भी बुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि का अभाव होने से निश्चयरत्नत्रय माना गया है । वहाँ पर भी स्वसमय का लक्षण घटित हो जाता है किन्तु परसमय का लक्षण तो 'दर्शनमोह' के निमित्त से मिथ्यात्व में ही घटित होता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि पुनः चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती स्वसमय हैं या परसमय ? इस प्रश्न के उत्तर के पहले आप जयसेनाचार्य की टीका पढ़ लीजिये ।

अथ गाथापूर्वाद्धेन स्वसमयमपराद्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधायं सूत्रमिदं निरूपयति—

तात्पर्यवृत्ति—‘जीवो चरित्त’ इत्यादि जीवो शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चय-प्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्य-

उत्थानिका—अब गाथा के पूर्वार्ध से स्वसमय और गाथा के उत्तरार्ध से परसमय को कहूँगा, ऐसा अभिप्राय मन में रखकर आचार्यदेव अगले सूत्र का निरूपण करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध बुद्ध एकस्वभावरूप निश्चय-प्राण के द्वारा, अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिकरूप (मतिज्ञानादिरूप) अशुद्धभाव प्राणों के द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय से अपने-अपने योग्य द्रव्यप्राणों के द्वारा जो जी रहा है, जीवेगा और पूर्व में जीवित था वह जीव है। वह जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है उस काल में तुम उस जीव को निश्चितरूप से स्वसमय समझो।

उसी का स्पष्टीकरण—विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाववाले निज परमात्मा में जो रुचि-रूप है वह सम्यग्दर्शन है, उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना सम्यग्ज्ञान है और वैसे ही उसी निज परमात्मतत्त्व में निश्चल अनुभूति का होना वीतरागचारित्र है। इस कहे गये लक्षण वाले निश्चयरत्नत्रय से परिणत हुये जीव-पदार्थ को तुम हे शिष्य। ‘स्वसमय’ जानो और जो पुद्गल कर्मोपदेश में स्थित है उसी को तुम परसमय जानो अर्थात् पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न हुये जो नारक आदि उपदेश—संज्ञायें हैं, पूर्व-कथित निश्चय-रत्नत्रय के अभाव से जब यह जीव उन पर्यायों में स्थित है तब तुम उसे ‘परसमय’ जानो। इस प्रकार स्वसमय और परसमय का लक्षण जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहाँ पर स्पष्टरूप से निश्चयरत्नत्रय से परिणत महामुनि को ‘स्वसमय’ और नर नारकादि पर्यायों से परिणत जीव को ‘परसमय’ कहा है। अब पहले जो प्रश्न हुआ था कि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में स्वसमय है या परसमय? सो ही देखिये—

पंचास्तिकाय की गाथा १६५ की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा है कि—

“कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मा की भावनालक्षण परमोपेक्षासंयम में स्थित होना चाहता है किन्तु उसमें स्थित होने में असमर्थ होता हुआ काम, क्रोधादि अशुद्ध परिणाम को दूर करने के लिये अथवा संसार की स्थिति को घटाने के लिये वह जब पंचपरमेष्ठी में

प्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः । चरित्तदंसणणाणट्ठद तं हि ससमयं

गुणस्तवन आदि भक्ति को करता है तब वह 'सूक्ष्मपरसमय' से परिणत होता हुआ सराग-सम्यग्दृष्टि होता है । यदि पुनः शुद्धात्मभावना में समर्थ होते हुये भी उसको छोड़कर 'शुभोपयोग से ही मोक्ष होगा' ऐसा एकांत से मान लेता है तब वह 'स्थूलपरसमय' रूप परिमाण से परिणत होने से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हो जाता है^१ ।"

आगे श्री अमृतचन्द्रसूरि भी कहते हैं—

"इसलिये सर्वत्र ही राग की कणिका मात्र भी छोड़ने योग्य है क्योंकि वह 'पर-समय' की प्रवृत्ति में निमित्त है^२ ।" इसी प्रकार से—

"जिसके हृदय में रागरेणु की कणिका भी जीवित है वह भले ही समस्त सिद्धांत सागर का पारंगत हो तथापि रागरहित शुद्धस्वरूप का अनुभव वह नहीं कर सकता है इसलिये जीव को स्वसमय की सिद्धि के लिये धुनकी में चिपकी हुयी रुई को दूर करने वाले न्याय के समान अर्हंत आदि के विषय में होने वाली रागरेणु भी क्रम से दूर करने योग्य है^३ ।"

अर्हंतादि में होने वाला राग कब छूटता है सो ही जयसेनाचार्य स्पष्ट करते हैं—

"पूर्व विषयों के अनुराग को छोड़कर अनंतर गुणस्थान की सीढ़ियों के क्रम से रागादि रहित निज शुद्धात्मा में स्थित होकर अर्हंत आदि के विषय में भी राग का त्याग कर देना चाहिये^४ ।"

१. "कश्चित् पुरुषो निर्विकार शुद्धात्म भावनालक्षणे परमोपेक्षासंयमे स्थातुमीहते, तथाशक्तः सन् काम-क्रोधाद्यशुद्धपरिणामबन्धनार्थं संसारस्थितिच्छेदनार्थं वा यदा पंचपरमेष्ठिषु गुणस्तवनादि भवितं करोति तदा सूक्ष्मपरसमयपरिणतः सन् सरागसम्यग्दृष्टिर्भवतीति, यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थोऽपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगादेव मोक्षो भवतीति एकांतेन मन्यते तदा स्थूलपरसमयपरिणामेनाज्ञानी मिथ्यादृष्टिर्भवति ।

[पंचास्तिकाय गाथा १६५, पृ० ३८१]

२. "ततः सर्वत्र रागकणिकाऽपि परिहरणीया परसमय प्रवृत्ति निवन्धनत्वात् ।"

[पंचास्ति० गाथा १६६, टीका आत्म०]

३. "यस्य खलु रागरेणुकाऽपि जीवति हृदये, न नाम स समस्तसिद्धांतसिन्धुपारगोऽपि निरुपरागशुद्धस्वरूपं स्वसमयं चेतयते । ततः स्वसमयप्रसिद्धार्थं पिञ्जनत्वरनतूलन्यासग्यायमभिदधताऽर्हंदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीयः ।"

[पंचास्ति० गा० १६७, टी० आत्मव्याप्ति]

४. "पूर्व विषयानुरागं त्यक्त्वा तदनंतरं गुणस्थानसोपानक्रमेण रागादिरहितनिजशुद्धात्मनि स्थित्वा चार्हंदादि-विषयेऽपि रागस्त्याज्यः ।"

ज्ञाण स च जीवश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि । तथाहि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि । पुद्गलकम्मुवदेसट्ठवं च तं ज्ञाण परसमयं पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयं । तद्यथा—पुद्गलकर्मो-
दयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यं ॥२॥

आगे और भी कहते हैं कि—

“जो मोक्ष के इच्छुक, बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित और निर्मम हुये मुनि हैं वे जब शुद्धात्मा में विश्रान्तिरूप परमार्थभूत सिद्धभक्ति करते हैं अर्थात् शुद्धात्मा में लीन हो जाते हैं तभी उनके स्वसमय की सिद्धि होती है^१ ।”

पुनः प्रश्न यह हो सकता है कि तब तो अर्हत आदि की भक्ति क्यों करना ?

उसी का उत्तर देते हुये कहते हैं कि—

“जो मुनि मोक्ष के लिये उद्यमशील है, अचिन्त्य संयम और तप के भार को धारण किये हुये हैं, फिर भी यदि वह परमवैराग्य की भूमि के आरोहण में समर्थ नहीं हैं और धुनकी में लगी हुई रुई के न्याय से नवपदार्थों के साथ-साथ अर्हत आदि में रुचि-भक्तिरूप परसमय की प्रवृत्ति को छोड़ने में उत्साहित नहीं हो पाता है, वह जीव वास्तव में साक्षात् मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता किन्तु सुरलोक के क्लेश आदि की प्राप्तिरूप परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करता है^२ ।”

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महामुनि भी जब तक निर्विकल्प-ध्यान में स्थित होने में असमर्थ हैं तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति आदिरूप षट् आवश्यक क्रियाओं का पालन करते हैं तब तक वे ‘परसमय’ ही कहलाते हैं । अतः श्रावक व असंयत सम्यग्दृष्टि तो परसमय हैं ही हैं । हाँ, मिथ्यादृष्टि सहश ‘परसमय’ नहीं हैं क्योंकि इनके अनंतसंसार के लिये कारणभूत ऐसा दर्शनमोह नहीं है ।

अब इसी स्वसमय और परसमय की व्याख्या श्रीकुंवकुंददेवकृत ही रयणसार में देखिये—

1. पंचास्तिकाय गा० १६६, टीका आत्मव्याप्ति । 2. पंचास्तिकाय गाथा १७०, टीका आत्मव्याप्ति ।

बहिरंतरणभेयं परसमयं भण्णए जिणिदेहि ।

परमप्पा सगसमयं तव्भेयं जाण गुणट्ठाणे ॥१२८॥

मिस्सोत्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरणजह्णणा ।

सत्तोत्तिमज्झिमंतर खीणुत्तर परमजिणसिद्धा ॥१२९॥

“बहिरात्मा और अंतरात्मा के भेद से परसमय की दो भेदरूप श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है और परमात्मा स्वसमय हैं। अब इन्हें गुणस्थानों में समझो। मिश्रगुणस्थानपर्यंत तरतमता से बहिरात्मा हैं, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जघन्य अन्तरात्मा हैं, पाँचवे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ऐसे ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ ये सात गुणस्थान वाले मध्यम अंतरात्मा हैं, १२ वें गुणस्थानवर्ती क्षीणकषायी उत्तम अंतरात्मा हैं और परमजिन अर्हंत तथा सिद्ध ये परमात्मा हैं।”

इस कथन से तो अर्हंत और सिद्धपरमेष्ठी ही स्वसमयी हैं अन्य सभी अंतरात्मा व बहिरात्मा परसमयी ही हैं तथा पूर्वोक्त टीका में श्री अमृतचन्द्र सूरि व जयसेनाचार्य के अभिप्राय से शुद्धोपयोग में स्थित अप्रमत्त मुनि स्वसमयी हैं एवं उसके नीचे सरागधर्मा वाले मुनि, भ्रातृक व सम्यग्दृष्टि जीव परसमयी हैं तथा पंचास्तिकाय की टीका के आधार से दोनों ही आचार्यों के अभिप्राय से प्रमत्तमुनि आदि सूक्ष्म परसमयी हैं। मिथ्यादृष्टि जीव स्थूलपरसमयी हैं। अभिप्रायः यही हुआ कि सराग सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थ आदि गुणस्थान में रहते हुये स्वसमय की श्रद्धा करते हैं। उसरूप परिणति उनकी अप्रमत्तवशा में ही होती है।

यहाँ इस द्वितीय गाथा में श्री अमृतचंद्रसूरि ने “पुद्गलकम्मपदेट्ठियं” का अर्थ किया है, “पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्त्वान्” किन्तु जयसेनाचार्य ने पाठ रखा है “पुद्गलकम्मपदेसट्ठिवं च” इसका अर्थ किया है कि “पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्त-निश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवति ।” पुद्गलकर्मों के उदय से उत्पन्न हुई जो नारक, मनुष्य आदि उपदेश-व्यपदेश-संज्ञायें हैं उसमें पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रय के अभाव से यह जीव जब तक स्थित है तब तक परसमय है।

यह समयप्राप्त अथवा समयसार नाम का ग्रंथ है, इसमें मंगलाचरण के अनंतर सर्वप्रथम आचार्यश्री कुंदकुंददेव ने समय शब्द का अर्थ आत्मा मानकर उसके दो भेद किये हैं—स्वसमय और परसमय। विचार करके देखा जाये तो इनके शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा

अर्थतद् बाध्यते—

(३) एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।

बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥३॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके ।

बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥३॥

ऐसे भी दो अर्थ कर सकते हैं । पुनः शुद्धात्मा—स्वसमय के दो भेद किये जा सकते हैं—
एक शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी और दूसरा शुद्धोपयोगी महामुनि । जैसा कि अगली गाथा की टीका
में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है—‘एयत्तणिच्छयगओ’ “स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेद-
रत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः समय शब्देनात्मा ।” अपने शुद्धगुण, शुद्धपर्याय से
परिणत हुआ समय शब्द से कहा गया आत्मा एकत्वनिश्चयगत कहलाता है, यह लक्षण
सिद्धों में ही घटेगा । पुनः कहते हैं कि—अथवा अभेदरत्नत्रय से परिणत आत्मा भी
एकत्वनिश्चय अवस्था को प्राप्त समय-स्वसमय है । यह लक्षण शुद्धोपयोगी महामुनि में
घटेगा ।

ऐसे अशुद्धात्मा-परसमय से, मिथ्यात्व के साथ एकत्व को प्राप्त मिथ्यादृष्टि सर्वथा
परसमय है । राग द्वेष से परिणत सम्यग्दृष्टी और श्रावक तथा प्रमत्तमुनि भी परसमय हैं
ऐसा समझना चाहिये । इस तरह इस ग्रन्थ में स्वसमय का वर्णन ही प्रधान है । जैसे कि
नियमसार में आचार्यश्री ने ‘नियम’ का अर्थ रत्नत्रय किया है और विपरीत के परिहार
हेतु ‘सार’ शब्द को माना है । उस ग्रन्थ में व्यवहार और निश्चयरत्नत्रय का ही वर्णन
किया है । वहाँ भी निश्चयरत्नत्रय प्रधान है । वैसे ही इस ग्रन्थ में ‘समय’ शब्द से कही
गई शुद्ध आत्मा का कथन ही प्रधान है ।

उत्थानिका—अब यह समय की द्विविधता बाधित की जाती है—

अन्वयार्थ—(एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र लोके सुन्दरः) एकत्व के निश्चय को प्राप्त
हुआ समयनामक जीव पदार्थ ही सर्व लोक में सुन्दर है (तेन एकत्वे बंधकथा विसंवादिनी
भवति) इसलिये एकत्व में बंध की कथा विसंवाद कराने वाली है ।

एकत्व के निश्चय को प्राप्त समय शब्द है । सब लोक में सुन्दर तथा चिन्मात्र शुद्ध है ॥

एकत्व में बंधन की कथा विसंवादिनी । होती है अवस्था यही संसारकारिणी ॥३॥

आत्मख्याति—समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुण-पर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्ता-वपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्य-मापद्यन्ते । प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तिः । एवमेकत्वे सर्वाधिनां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः । कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयोत्पादितमे-तस्य द्विविध्यं । अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ॥३॥

आत्मख्याति—यहाँ 'समय' शब्द से सामान्यरूप से सर्व ही पदार्थ कहे जाते हैं क्योंकि 'सम् अयते' जो एकरूप से अपने गुण पर्यायों को प्राप्त करता है—उसरूप परिणमन करता है वह समय है समय शब्द का ऐसा निरुक्ति अर्थ है अतः सर्व ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवद्रव्यस्वरूप इस लोक में जो और जितने कुछ भी पदार्थ हैं, वे सभी अपने द्रव्य के भीतर निमग्न हुए अपने अनन्त धर्मों का स्पर्श करते हुये भी परस्पर में एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते हैं और एक-दूसरे के अत्यन्त निकट एक क्षेत्राव-गाह रूप होते हुए भी नित्य ही अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, पररूप से परिणमन न करने से तथा अनन्त व्यक्तित्व—विशेष धर्मों के न विनष्ट होने से टङ्कोत्कीर्ण के समान ही स्थित हैं ।

समस्त विरुद्ध कार्य और अविरुद्ध कार्य में हेतु रूप से सदा ही विश्व का उपकार करते हुये निश्चितरूप से एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से ही सुंदरता को प्राप्त होते हैं । अन्य प्रकार से मानने पर तो संकर आदि सर्व दोषों का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा । इस प्रकार से एकत्व में—अपने-अपने ही स्वभाव में सभी पदार्थों के प्रतिष्ठित हो जाने पर जीव नामक समय में बंध के कथन से ही विसंवाद को आपत्ति आती है । ऐसा क्यों ? क्योंकि बंध कथा का मूल कारण पुद्गलकर्म है उसके प्रदेशों में स्थित होने के निमित्त से ही पर-समयता हुई है और उस कारण से ही समय के दो भेद हो गये हैं इसलिये समय का एकत्व ही व्यवस्थित होता है ॥३॥

भावार्थ—यहाँ पर इस बात को सिद्ध किया गया है कि सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में स्थित होने से 'समय' इस नाम को प्राप्त होते हैं । वास्तव में विचार करके देखा

उत्थानिका—अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेयः कर्मबंधेन सहैकत्वगतो हेय इति, अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं न पुनः परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानंतरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयति—इति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं ।

तात्पर्यवृत्ति—एयत्तणिच्छयगदो स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः समओ समयशब्देनात्मा, कस्माद्धेतोः । सम्यगयते गच्छति परिणमति । कान् ? स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्तेः । सध्वत्थसुन्दरो सर्वत्र समीचीनः । क्व ? लोमे लोके

जाये तो जीव और पुद्गल का ही परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हो रहा है । इसी कारण से जीव का कर्म के साथ सम्बन्ध होने से परसमयपना हो जाता है । निश्चयनय की अपेक्षा से या स्वभावदृष्टि से देखा जाये तो जीव में पुद्गल कर्मों का स्पर्श है ही नहीं अतः यह बंध का कथन जीव में सही नहीं है ।

इस लोक में सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में रहने से ही शोभा को प्राप्त होते हैं । अतः जीव द्रव्य भी अपने स्वभाव में स्थित होने से स्वसमय कहलाता है और तभी वह शोभा को प्राप्त होता है । यह अवस्था शुद्ध जीव की है अथवा शुद्धोपयोग में स्थित जीव की है अथवा शुद्धनय की अपेक्षा से सर्व जीवों की भी है । इसी बात को श्रीजयसेनस्वामी अपने सरल शब्दों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं ।

उत्थानिका—अब अपने गुणों के साथ एकत्व और निश्चय को प्राप्त शुद्धात्मा ही उपादेय है तथा कर्मबंध के साथ एकत्व को प्राप्त आत्मा हेय है अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, न कि परसमय, ऐसा अभिप्राय मन में धरकर अथवा इस सूत्र के अनंतर यह सूत्र उचित है ऐसा निश्चय करके विवक्षित गाथासूत्र को कहते हैं । ऐसा ही पातनिका का लक्षण सर्वत्र जानना चाहिये ।

तात्पर्यवृत्ति—अपने शुद्धगुण और शुद्धपर्यायों से परिणत हुआ आत्मा अथवा अभेदरत्नत्रय से परिणत हुआ आत्मा एकता के निश्चय को प्राप्त हुआ है, वही एकत्व-निश्चयमत्त को प्राप्त आत्मा समय कहलाता है । यहाँ पर समय शब्द से आत्मा को ही लिया है । क्यों ? क्योंकि जो सम्-सम्यक् प्रकार से 'अयते' अपने गुणपर्यायों को प्राप्त करता है—उसरूप परिणमन करता है वह समय है ऐसी व्युत्पत्ति होती है । ऐसा समय-आत्मा

अथवा सर्वत्रैकेंद्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेन सुन्दर उपादेय इति । बंधकथा कर्मबंधजनितगुणस्थानादिपर्यायाः एतत्ते एकत्वे तन्मयत्वे या बंधकथा प्रवर्तते तेण तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा विसंवादिणी विसंवादी कोऽर्थः ? विसंवादिनीकथा । प्राकृतलक्षणबलात् पुंल्लिङ्गे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । विसंवादिनी असत्या होदि भवति । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थः । ततः स्थितं स्वसमय एवात्मनः स्वरूपमिति ॥३॥

सर्वलोक में सुंदर है अथवा एकेंद्रिय आदि सर्व अवस्थाओं में शुद्ध निश्चयनय से वह शुद्ध आत्मा ही सुंदर है उपादेय है । किन्तु कर्मबंध से होने वाली जो गुणस्थान आदि अवस्थायें हैं उनमें एकत्व को—तन्मयता को प्राप्त होने पर जो बंध का कथन प्रवृत्त होता है वह उस पूर्वोक्त शुद्ध जीवपदार्थ के साथ विसंवादी अर्थात् असत्य होता है क्योंकि वह शुद्धनय से शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है यह अभिप्राय है । इससे यह स्थित हुआ कि 'स्वसमय' ही आत्मा का स्वरूप है । यहाँ पर गाथा में जो 'विसंवादिणी' शब्द है सो प्राकृत व्याकरण के बल से पुंल्लिङ्ग में स्त्रीलिङ्ग का निर्देश हुआ है । इससे ऐसा मालूम होता है कि विसंवादिणी' ऐसा पाठ पुंल्लिङ्ग में चलता है ॥३॥

विशेषार्थ—यहाँ पर एकत्वनिश्चय को प्राप्त आत्मा के दो अर्थ किये हैं । १. अपने शुद्ध गुणपर्यायों से परिणत होना २. अभेदरत्नत्रय से परिणत होना । पहला लक्षण तो सिद्धों में ही घटित होगा क्योंकि शुद्धज्ञानदर्शन गुण और शुद्ध सिद्धपर्याय रूप से परिणमन वहीं घटता है । दूसरा लक्षण सातवें गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि निष्कल्पसमाधि से परिणत आत्मा अभेदरत्नत्रय से परिणत हो रहा है । चतुर्थगुणस्थान, पंचमगुणस्थान और छठेगुणस्थानवर्ती मुनियों के अभेदरत्नत्रय नहीं है, चौथे में तो भेदरत्नत्रय भी नहीं है मात्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, पाँचवें गुणस्थान में एक देशव्रत होने से विकल चारित्र्य है और छठे में भेद रत्नत्रय होता है ।

इस कथन से जो सिद्ध अवस्था को प्राप्त है अथवा शुद्धोपयोग से परिणत है वह आत्मा समय है । संसार में एकेंद्रिय आदि समस्त पर्यायों में भी शुद्धनय से वह आत्मा शुद्ध ही है, वही सुंदर है और ग्रहण करने योग्य है । उसमें कर्मबंध का कथन अवास्तविक है क्योंकि वह कर्मोपाधि से प्रकट होता है इसलिये बंधकथा सर्वथा असत्य न होकर शुद्धनिश्चयनय से असत्य है क्योंकि जीव के साथ शुद्धनय से बंध ही नहीं है पुनः बंध की कथा सत्य कैसे हो सकती है ?

समयसार

तथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते—

(४) सुदपरिचिदानुभूया सख्यस्स वि कामभोगबन्धकथा ।

एयत्तस्सुलभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा ।

एकत्वस्योपलभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

अप्युक्तमिति इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रीडाधिरोपितस्याध्यातमनंतद्रव्यक्षेत्र-
कालभवभावपरावर्तः समुपक्रांतभ्रांतरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव बाह्यमानस्य
प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातन्त्रत्वेन व्यक्तांतर्माथस्योत्तम्योत्तम्य^१ मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य
परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यंत-

उत्थानिका—वह एकत्वस्वरूप आत्मा सुलभ नहीं है इस बात को सूचित करते हैं—

अन्वयार्थ—(कामभोगबन्धकथा सर्वस्य अपि श्रुतपरिचितानुभूता) काम भोग सम्बन्धी कथायें सभी जीवों को सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई हैं (नवरि) केवल (विभक्तस्य एकत्वस्य) पर से भिन्न एकरूप आत्मा की (उपलभः सुलभः न) उपलब्धि सुलभ नहीं है ।

आत्मख्याति—इस संसार में ये सभी संसारी जीव संसारचक्र के मध्य में स्थित हैं, अनंतों बार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पञ्च परावर्तनों के द्वारा सतत ही परिभ्रमण कर रहे हैं । जिसने सर्वजगत् को अपने एक छत्र शासन से वश में किया हुआ है ऐसे महान् मोहरूपी पिशाच के द्वारा बेल के सदृश जोते जा रहे हैं । अतिशयरूप से वृद्धिगत हुई जो तृष्णा उसके संताप से जिनका अंतरंग संतप्त हो रहा है, उस त्रास से संतप्त हो-होकर मृगतृष्णा के समान आचरण करते हुये इंद्रियों के विषयों की ओर दौड़ लगा रहे हैं । और तो क्या ? परस्पर में एक-दूसरे के प्रति आचार्यत्व को कर रहे हैं अर्थात् सभी एक-दूसरे को भी इंद्रिय विषयों में फँसने का ही उपदेश देते रहते हैं ।

त्रैलोक में जो काम भोगबन्ध की कथा । श्रुतपरिचितानुभूत प्राणिमात्र की व्यथा ॥

इनसे रहित एकत्व प्राप्ति सुलभ नहीं है । यदि पा लिया एकत्व जन्म सफल वही है ॥४॥

१, समस्त प्राचीन लिखित प्रतियों में 'व्यकान्तर्माथस्य' ऐसा पाठ है; किन्तु समस्तमुद्रित प्रतियों में 'व्यकान्तराधे' यह पाठ है । दोनों के अर्थ समान हैं ।

विसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकी-
क्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं
न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं । अतः
एकत्वस्य न सुलभत्वम् ॥४॥

इसीलिये इन संसारी जीवों ने काम, भोग से सम्बन्धित कथा को पहले अनंतों बार सुना हुआ है, अनंतों बार उसका परिचय किया हुआ है और पूर्व में अनंतों बार ही उसका अनुभव भी किया हुआ है । यद्यपि यह कथा एकत्वस्वरूप अपने आत्मा से विरुद्ध होने से विसंवाद को करने वाली है फिर भी अनादिकाल से हमेशा ही श्रुत, परिचित और अनुभूत होने से सभी जनों को सुलभ ही है दुर्लभ नहीं है किन्तु जो एकत्वस्वरूप आत्मतत्त्व है और केवल एकत्वरूप है, यद्यपि यह निर्मल भेदज्ञान ज्योति स्वरूप होने से पर से भिन्न नित्य ही प्रकटरूप होने से अंतरंग में प्रकाशमान है । फिर भी कषायों के साथ एकमेकरूप सवृक्ष किया गया होने से अत्यंत तिरोभूत-आच्छादित हो रहा है अतः अपने उस आत्मतत्त्व का ज्ञान न होने से और अन्य जो आत्मज्ञानी परमगुरुजन हैं उनकी उपासना न करने से संसारी जीवों ने पूर्व में कदाचित् भी इस आत्मतत्त्वस्वरूप एकत्व को न तो सुना ही है, न पूर्व में कदाचित् इसका परिचय किया है और न ही कभी पूर्व में इसका अनुभव ही किया है अतः यह एकत्वस्वरूप आत्मतत्त्व सुलभ नहीं है ॥४॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार अरहट के घटोयंत्र में जोते गये बेल उसी में घूमा ही करते हैं, उन्हें किसान जोते रहता है उन्हें श्रम से प्यास की बाधा भी होती है और उसकी शांति के लिये पानी की तरफ बौड़ने की कोशिश भी करते हैं । उसी प्रकार से ये सभी संसारी प्राणी संसाररूपी चक्र में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पांच परावर्तनों को अनादि काल से लेकर अब तक अनंतों बार कर चुके हैं । मोहरूपी पिशाच के द्वारा प्रेरित हुये या बांधे गये होने से पराधीन हैं, विषयों की चाहरूपी बाह उत्पन्न होती रहती है उसको बुझाने के लिये विषयों की ओर ही बौड़ लगाते रहते हैं फिर भी इनकी प्यास बुझती नहीं है ।

इतना होने पर भी ये जीव परस्पर में एक-दूसरे को इन विषयों का ही उपदेश देते रहते हैं । यही कारण है कि इन सभी संसारी जीवों के लिये ये काम भोग से संबंधित कथायें नवीन नहीं हैं । इन जीवों ने हमेशा ही इनको सुना है, इनका परिचय किया है और अच्छी तरह से इनका अनुभव भी किया है फिर भी आज तक कभी भी इनसे

उत्थानिका—अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति—

तात्पर्यवृत्तिः—“सुदपरिचिदाणुभूदा” इत्यादि । सुदा श्रुता अनंतशो भवति । परिचिदा परिचिता सा पूर्वमनंतशो भवति । अणुभूदा अनुभूतानंतशो भवति । कस्य । सब्बस्सवि

किसी जीव को तृप्ति नहीं मिली है । किन्तु एकत्वस्वरूप जो शुद्ध आत्मतत्त्व है वह यद्यपि प्रकाशमान ज्योतिस्वरूप है फिर भी कषायों के निमित्त से वह अत्यंत तिरोभूत हो रहा है । यही कारण है कि उसका ज्ञान नहीं हो पा रहा है । जिन्होंने उस आत्मतत्त्व को जाना है ऐसे अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुगण उनकी उपासना न करने से इन जीवों ने उस आत्मतत्त्व के स्वरूप को न कभी सुना है, न परिचय किया है और न अनुभव ही किया है इसीलिये वह सुलभ नहीं है किन्तु अतीव दुर्लभ है ।

इसमें जो यह पद है कि ‘परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च’ पर जो आत्मज्ञानी जन उनकी उपासना न करने से । इस पद से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पर जो आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्मज्ञानी हैं, गुरु परमेष्ठी हैं उनकी उपासना से ही आत्मतत्त्व का बोध होता है अन्यथा नहीं । इस कथन से बाह्य निमित्त की महत्ता भी सूचित हो जाती है ।

यहाँ कोई कहे कि कामभोग से अनुबद्ध-सम्बन्धित कथा से पाँचों इन्द्रियों के विषय लिये जाते हैं । उसमें जिनप्रतिमा का दर्शन, उपदेश श्रवण, आदि भी तो चक्षु इन्द्रिय व कर्णेन्द्रिय के विषय हैं । ये भी श्रुत, परिचित, अनुभूत हैं किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि मूल में ‘सब्बस्स वि’ पाठ है ये सभी के लिये सुलभ नहीं हैं हजारों लाखों में किन्हीं को ही प्राप्त होते हैं । दूसरी बात यह है कि मूलाचार में आचार्यदेव ने पञ्चेन्द्रियनिरोध नाम के पाँच मूलगुणों के बाव ही छह आवश्यक मूलगुणों में देवदर्शन, उपदेशश्रवण आदि को लिया है अतः ये इन्द्रियों के विषय नहीं हैं । ये कामभोग कथा में कथमपि गमित नहीं किये जा सकते ।

उत्थानिका—अब एकत्व से परिणत शुद्ध आत्मा का स्वरूप सुलभ नहीं है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—सभी संसारी जीवों को काम, भोग, बंध की कथा अनंतबार सुनने में आई है, अनंतबार परिचय में आई है और पूर्व में अनंतबार अनुभव में आई है । यह कथा

सर्वस्यापि जीवलोकस्य । कासौ ? कामभोगबंधकहा कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा काम-
शब्देन स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वयं भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बंधः संबंधस्तस्य
कथा । अथवा बंधशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधास्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भण्यते । काम-
भोगबन्धानां कथा कामभोगबंधकथा, यतः पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न
दुर्लभा किन्तु सुलभैव । एतत्तस्स एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्प-
समाधिवलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य उवलंभो उपलंभः प्राप्तिर्लाभः णवरि केवलं
अथवा नवरि किंतु ण सुलभो नैव सुलभः । कथंभूतस्यैकत्वस्य । विभक्तस्स विभक्तस्य रागा-
दिरहितस्य । कथं न सुलभ इति चेत्, श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥४॥

कौनो है ? काम स्वरूप भोगों को कामभोग कहते हैं । अथवा 'काम' शब्द से स्पर्शन और
रसना इन्द्रिय के विषय तथा 'भोग' शब्द से घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय के विषय लेना
चाहिये ।

उन काम, भोगों के बंध अर्थात् संबंध की कथा कामभोग बंधकथा है । अथवा
'बंध' शब्द से प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध तथा उनके फल जो कि नर, नारक
आदि रूप हैं वे कहे जाते हैं । जिस कारण पूर्वोक्त प्रकार से काम, भोग और बंध की
कथा सुनने में, परिचय में और अनुभव में आई हुई है इसीलिये वह दुर्लभ नहीं है किन्तु
सुलभ ही है ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र इन तीनों की ऐक्य परिणतिरूप जो निर्विकल्प-
समाधि उसके बल से अपने द्वारा ही स्वयं को अनुभव में आने योग्य ऐसे शुद्ध आत्मा का
जो स्वरूप है उसका नाम एकत्व है । वही एकत्व विभक्त अर्थात् रागादि से रहित है ।
मात्र उस एकत्व की उपलब्धि-प्राप्ति का होना ही सुलभ नहीं है । क्यों सुलभ नहीं है ?
क्योंकि न कभी उसको सुना ही है, न उसका परिचय ही किया है और न उसका अनुभव
ही किया है, इसी कारण से वह एकत्वरूप आत्मतत्त्व दुर्लभ ही है ॥४॥

विशेषार्थ—यहाँ पर कामभोग शब्द से पाँचों इन्द्रियों के विषय लिये गये हैं । एक
बार तो टीकाकार श्रीअमृतचन्द्रसूरि के अनुसार बंध का अर्थ उनसे संबंधित ऐसा किया है ।
पुनः दूसरी बार तीनों पदों को अलग करके काम, भोग और बंध की कथा ऐसा अर्थ
किया है ।

प्रश्न यह उठता है कि पुनः तो बंध को कहने वाले गोष्मटसार कर्मकांड आदि ग्रन्थ व उनके फलरूप नर-नारकादि गतियों के निरूपण करने वाले षट्खंडागम, जीवकाण्ड आदि ग्रन्थ भी बंध कथा से संबंधित माने जायेंगे ? किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है क्योंकि जीव के कर्मबंध को निरूपित करने वाले ग्रन्थ और उनके फल का वर्णन करने वाले ग्रन्थ ये सभी द्वादशांग के अन्तर्गत हैं । कर्मप्रवादपूर्व में कर्मों का विस्तृत विवेचन है और आत्म-प्रवादपूर्व में अशुद्ध आत्मा का भी विवेचन है । ये सब पूर्व आदि ग्रन्थ भी न कभी सुनने में आये हैं, न परिचय में आये हैं और न अनुभव में ही आये हैं इसलिये उनका ज्ञान भी दुर्लभ ही है सुलभ नहीं है । तथा अपायविचय धर्मध्यान में अशुद्ध आत्माओं के लिये ही संसार से निकालने का उपाय चिंतन किया जाता है और विपाकविचय धर्मध्यान में भी कर्मों के उदय, सत्त्व, बंध आदि की दशाओं का चिंतन किया जाता है ।

ये धर्मध्यान भी चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें तक पाये जाते हैं अतः यहाँ पर इन ग्रन्थों के स्वाध्याय को सुलभ व हेय नहीं समझना चाहिये और न ही इन कथाओं के सुनने आदि को ही सुलभ व निषेध समझना चाहिये किन्तु कर्मबंध को कराने वाली और उनके फलस्वरूप नर-नारकादि पर्यायों में ले जाने वाली जो कथाएँ हैं उनको सुलभ समझ कर उनका निषेध समझना चाहिये । अथवा यहाँ पर श्रीजयसेनाचार्य ने निर्विकल्प अवस्थारूप परमसमाधि में ही निश्चयरत्नत्रय से परिणत आत्मतत्त्व को 'एकत्व' कहा है और उसकी दुर्लभता बतलाई है जो कि शुक्लध्यानरूप है अतः उस ध्यान में यह उपर्युक्तबंध कथा भी छूट जाती है और उस अपूर्व अवस्था के आने पर अपूर्व आदि गुणस्थानों में जाकर यह जीव उस शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेता है कि जिसको पहले कभी भी नहीं पाया था । इस दृष्टि से भी यह कर्मबंध कथा कथंचित् सुलभ है किन्तु उस एकत्वरूप आत्मतत्त्व को उपलब्धि दुर्लभ ही है क्योंकि तात्पर्यवृत्तिकार ने 'उपलंभ' का अर्थ प्राप्ति ऐसा किया है ।

सार यह निकलता है कि यह एकत्वस्वरूप आत्मतत्त्व अतीव दुर्लभ है इसका अनुभव निर्विकल्पध्यान में अप्रमत्तमुनि ही करते हैं । चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती सराग सम्यग्दृष्टि उसकी श्रद्धा करते हुये उसके अनुभव करने का और प्राप्त करने का पुरुषार्थ ही करते रहते हैं ।

अत एवैतदुपदर्शयते—

(५) तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।

जदि दाएज्ज पमाणं चुविकज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।

यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्वलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥५॥

आत्मख्याति—इह किल सकलोद्भासिस्थात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोद-
धमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतनिमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासन-
जन्मा अनवरतस्थदिमुन्दरानन्दमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो

उत्थानिका—अब इसीलिये इस एकत्वविभक्त को दिखलाऊंगा—

अन्वयार्थ—(अहं स्वविभवेन तं एकत्वविभक्तं दर्शये) मैं अपने वैभव द्वारा उस एकत्वविभक्त आत्मा को दिखलाता हूँ (यदि दर्शयेयं प्रमाणं) यदि दिखलाऊँ तो उसे प्रमाणी-
भूत करना (स्वलेयं छलं न गृहीतव्यं) और यदि कहीं पर कुछ चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण नहीं करना ।

आत्मख्याति—इस संसार में संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करने वाला और स्थात् कथंचित् पद से चिन्हित ऐसा ओ शब्दब्रह्म—सर्वज्ञदेव का परमागम है उसकी उपासना से जिसका जन्म हुआ है । समस्त एकांतवादियों के पक्षों को खण्डित करने में समर्थ ऐसी स्पष्ट व निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से जो उत्पन्न हुआ है । निर्मल विज्ञानघनरूप अन्तर में निमग्न पर गुरु-अरिहंत देव और अपर गुरु-गणधर देव आदि उनसे लेकर हमारे गुरु पर्यंत जो पर अपर गुरु हैं उनके प्रसाद से प्राप्त हुआ जो शुद्धात्म तत्त्व का उपदेश उससे जो प्रकट हुआ है और सतत् शरता हुआ जो सुन्दर आनन्द उससे प्रकट हुआ जो अतिशय वृद्धिगत ज्ञान-स्वरूप स्वसंवेदन, उससे जिसका जन्म हुआ है ऐसा जिनागम का अभ्यास, अबाधिततर्कज्ञान, गुरु का उपदेश और स्वयं के द्वारा अनुभव इन चार रूप जो कुछ भी मेरी आत्मा का

आत्मीक विभव द्वारा दिखलाऊँ मैं जो कुछ । एकत्व पर से भिन्न आत्म और नहीं कुछ ॥

यदि प्राप्त हो जावे तो स्वीकार करो तुम । यदि चूक जाऊँ मैं तो नहीं ग्रहण करो तुम ॥५॥

विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि । किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं । यदि तु स्वलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भ-
वितव्यम् ॥५॥

अपना वैभव है, उस समस्त ही वैभव के द्वारा मैं उस एकत्व विभक्त रूप आत्मा को दिख-
लाने के लिये उद्यत हुआ हूँ किन्तु यदि दिखला दूँ तो स्वयमेव अपने स्वानुभव प्रत्यक्ष से
परीक्षा करके प्रमाणभूत करना और यदि मैं कुछ स्वलित हो जाऊँ तो बोध ग्रहण करने में
जागरूक नहीं होना ॥५॥

भावार्थ—इस गाथा में उस एकत्वविभक्तरूप शुद्धात्मा के स्वरूप को कहने की
प्रतिज्ञा की है । उसमें कहा है कि मैं अपनी आत्मा के स्वविभव से उसको कहूँगा । उस स्व-
विभव के श्रीटीकाकार ने चार भेद किये हैं—१. जिनागम का अभ्यास २. तर्कशास्त्रों का
ज्ञान ३. गुरुजनों का उपदेश ४. स्वयं का अनुभव । इस कथन से यह निर्णय हो जाता है
कि इन चार प्रकार के ज्ञान के बिना किसी को भी ग्रन्थ रचना करने का अधिकार नहीं
है । श्रीअमृतचन्द्रसूरि के द्वितीय विभव से न्यायग्रन्थों की उपेक्षा करने वालों को सोचना
चाहिये कि अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि जैसे न्याय के ग्रन्थों के अभ्यास के बिना
अध्यात्म ग्रन्थों के पढ़ने से समीचीन बोध का होना कठिन है अथवा असंभव ही है । चूँकि
स्वयं अमृतचंद्रसूरि न्यायशास्त्रों के प्रकांड विद्वान् थे यह बात उनके शब्दों से ही स्पष्ट हो
जाती है । तथा जो श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि मैं यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं
करना ।

इसका मतलब यह नहीं है कि हम और आप जैसे साधारणजन भी उनकी कृतियों
में चूक पकड़ सकते हैं, बल्कि यही अभिप्राय है कि आप लोग इस आत्म स्वरूप का स्वयं
स्वसंवेदन द्वारा अनुभव करो । यहाँ पर सारभूत बात यह भी है कि स्वयं श्रीकुंदकुंद
देव और अमृतचंद्रसूरि भी ग्रन्थ रचते समय शुभोपयोग में थे न कि शुद्धोपयोग में । हाँ,
मध्य-मध्य में जब उनका सातवाँ गुणस्थान होता होगा उस समय उन्हें अनिवर्चनीय आनंद
भी प्राप्त होता होगा ।

उत्थानिका—अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यतेः—

तात्पर्यवृत्तिः—तं तत्पूर्वोक्तं एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्या-
त्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः । दाएहं दर्शयेहं । केन अप्पणो सविह्वेण आत्मनः
स्वकीयमतिविभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति । जदि दाएज्ज यदि दर्शयेयं
तदा पमाणं स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं भवद्भिः । चुक्किज्ज यदि च्युतो भवामि
छलं ण घेसब्बं तहि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ॥५॥

उत्थानिका—जिस कारण वह सुलभ नहीं है इसी कारण अब उसका कथन करते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—उक्त पूर्वोक्त एकत्वविभक्त को मैं बिखलाऊँगा । वह क्या है ? अभेद-
रत्नत्रय के साथ एकमेकरूप से परिणत, मिथ्यात्व रागादि से रहित जो परमात्मा का स्वरूप
है वही एकत्वविभक्त है । उसको मैं अपने स्वकीय बंधव से कहूँगा, आगम ज्ञान, तर्क-न्याय-
ज्ञान, परमगुरु का उपदेश और स्वसंवेदन ज्ञान से होने वाला प्रत्यक्ष-अनुभव, इनके द्वारा
मैंने उस एकत्वविभक्त तत्त्व को स्वयं समझा हुआ है उसी को मैं उस अपने बंधव से कहूँगा ।
यदि मैं बिखला सकूँ तो आप अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा परीक्षा करके—अनुभव करके
प्रमाण करना और यदि मैं उसमें कुछ झूक जाऊँ तो दुर्जन के समान उल्टा अभिप्राय नहीं
ग्रहण करना ।

भावार्थ—श्रीजयसेनाचार्य का स्पष्ट कथन है कि अभेदरत्नत्रय से परिणत जो
आत्मा है वह एकत्वविभक्त है । यह लक्षण सप्तम गुणस्थान से लेकर बारहवें तक घटित
होता है । पुनः आगे कहते हैं कि मिथ्यात्व रागादि से रहित जो परमात्मा का स्वरूप है
वह एकत्वविभक्त है । इससे तो यह एकत्व विभक्तरूप आत्मा का स्वरूप परमात्म अवस्था में
अरहंत और सिद्धों के ही घटित होता है । इसका सार यही हुआ कि इस ग्रन्थ में शुद्ध
आत्मा का स्वरूप कहा जावेगा जो कि शुद्धनिश्चयनय से ही संसारी आत्मा में घटित होता
है । अतः चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव भी निश्चयनय से अपनी आत्मा को एकत्वविभक्त अर्थात्
शुद्ध-परमात्मस्वरूप समझता है, श्रद्धा करता है, न कि उसका अनुभव । हाँ, निर्विकल्प-
समाधि में अभेद दशा होने से उस समय स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा परोक्षभूत भी आत्मा का
अनुभव आता है किंतु वह अनुभव प्रत्यक्षज्ञानी सर्वज्ञ जैसा नहीं है ॥५॥

कोऽसी शुद्ध आत्मेति चेत्—

(६) णवि होदि अप्रमत्तो ण प्रमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

नापि अवश्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।

एव भणति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चेव ॥६॥

आत्मख्याति—यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विणदज्योतिर्जायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां

उत्थानिका—वह एकत्वविभक्तरूप शुद्ध आत्मा कौन है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तु यः ज्ञायकः भावः अप्रमत्तः अपि प्रमत्तः न भवति) अहो । जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है (एवं शुद्धं भणंति) इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं (च यः ज्ञातः सः स एव तु) और जो इस प्रकार से जाना गया है वह वही है, अन्य कुछ नहीं है ।

आत्मख्याति—जो स्वतः सिद्ध होने से अनादि अनंत, नित्य ही उद्योतरूप, स्पष्ट ज्योतिस्वरूप एक 'ज्ञायक' नाम का भाव है । वह यद्यपि संसार अवस्था में अनादिकालीन बंध पर्याय की अपेक्षा से क्षीर और नीर की तरह कर्म पुद्गलों के साथ एकरूप अवस्था को प्राप्त हो रहा है फिर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से शुभ और अशुभ भावों के स्वभाव से परिणमन न करने से वह प्रमत्त और अप्रमत्त रूप नहीं है । ये शुभ-अशुभ भाव कैसे हैं ? जिसको दूर करना अत्यंत कठिन है ऐसे दुरन्त कषायों के उदय की विचित्रता के वश से वे उत्पन्न होते हैं, पुण्य और पाप को बनाने वाले हैं तथा विश्वरूप—अनेकों अवस्थाओं को प्राप्त करने वाले हैं ।

द्रव्य के स्वभाव पर दृष्टि डालने से वह ज्ञायक भाव इन शुभ-अशुभ भावों रूप परिणत न होने से प्रमत्त व अप्रमत्तरूप भी नहीं है । ऐसा यह ज्ञायक भाव ही संपूर्ण अन्य

ज्ञायक जो भाव जीव का नहि अप्रमत्त है । नहि है प्रमत्त वह तो सदा स्वयंशुद्ध है ॥

चैतन्यभाव शुद्ध नय से एक कहाता । वह सर्वगुणस्थान से अतीत है भाता ॥६॥

शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्न-
त्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलष्येत । न चास्य ज्ञेयानिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रासङ्गेः दाह्यनिष्कनिष्ठदहनस्ये-
वाशुद्धत्वं यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्म-
णोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ॥६॥

द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित किया गया 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है । यह आत्मा ज्ञेयपदार्थों में निष्ठ अर्थात् ज्ञेयाकार होने से ज्ञायकरूप से प्रसिद्ध है तो भी इसमें अशुद्धता नहीं है जैसे कि जलने योग्य ईंधन आदि पदार्थों में रहने वाली अग्नि अपने स्वभाव से ईंधन आदिरूप न होने से अशुद्ध नहीं है । अतः उस अवस्था में ज्ञायकरूप से जो जाना गया है वह स्वरूप के प्रकाशन की दशा में दीपक के समान कर्ता और कर्म के साथ अभिन्नरूप होने से ज्ञायक ही है ॥६॥

विशेषार्थ—ज्ञायक अर्थात् जानने वाला, वह कौन है ? तो वह आत्मा ही है अन्य कोई नहीं हो सकता है । यहाँ पर इस ज्ञायकभाव को ऐसा कहा है कि वह किसी के द्वारा निर्मित नहीं है अतः स्वयं अपने आप सिद्ध होने से अनादि और अनंत है । पुनः नित्य ही उद्योतमान है । विशद अर्थात् स्वच्छ—स्पष्ट रूप जो उद्योति अर्थात् प्रकाश उस रूप है । ऐसा कौन हो सकता है ? तो वह शुद्ध आत्मा ही हो सकता है क्योंकि आगे स्वयं भूतचंद्र-सूरि कहते हैं कि यह ज्ञायकभावरूप आत्मा यद्यपि संसार दशा में अनादि कर्मबंध के निमित्त से पुद्गलकर्मों के साथ एकमेक हो रहा है तो भी द्रव्य का जो स्वभाव है उस स्वभाव दृष्टि का अवलंबन लेने से अर्थात् शुद्धनय की अपेक्षा से, क्योंकि शुद्धनय वस्तु के स्वभाव मात्र को ही विषय करता है । इस शुद्धनय से वह शुभ अशुभ परिणामों से कभी भी परिणत नहीं हो सकता है अतः उस दृष्टि से वह न प्रमत्त है न अप्रमत्त है । वह अन्य द्रव्यों के संपर्क से रहित होने से मात्र शुद्ध ही है ।

पुनः प्रश्न यह होता है कि ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला होने से ही तो यह ज्ञायक होता है तो फिर उन ज्ञेय पदार्थों के आकार को धारण करने से यह अशुद्ध क्यों नहीं होगा ? इस पर भी आचार्य कहते हैं कि यद्यपि ज्ञेय रूप पर पदार्थों को जानने से ही यह ज्ञायक रूप है फिर भी वह अशुद्ध नहीं है क्योंकि यह उन ज्ञेयरूप से परिणत नहीं होता है । दूसरी बात यह है कि जब हम मात्र इसे एक शुद्ध ही देखते हैं तब यह ज्ञायक न कहलावे ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि यह स्वयं अपने आपको तो जानता ही है अतः अपने को जानने की

अपेक्षा से भी यह ज्ञायक है। इस दृष्टि से यही कर्ता है और यही कर्म है। तब कर्ता और कर्म में भेद न रहने से यह मात्र ज्ञायक रूप ही रह जाता है। पर से इसका अनुमात्र भी संबंध नहीं रहता है।

यहाँ पर कोई यह प्रश्न कर देता है कि जैसे निगोदिया जीव का 'लब्ध्यक्षर' नामक श्रुतज्ञान सबसे सूक्ष्म (अल्प) ज्ञान है वह 'णिचचुग्धाडं निरावरणं' इस नियम के अनुसार नित्य ही उद्घाटी है—प्रकट है और निरावरण है यदि उस पर आवरण आ जाये तो ज्ञान गुण के अभाव में उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाये वैसे ही यह ज्ञायकभाव भी पारिणामिक होने से संसार अवस्था में भी जीव में सतत विद्यमान रहता है। अनादि अनंत, नित्योद्योती और प्रकाशरूप है। इस ज्ञायकभाव पर संसार अवस्था में भी कभी आवरण नहीं है इस पर ऐसा समाधान है कि आपके इसी कथन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि इस एक 'लब्ध्यक्षर' नामक ज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञानों पर आवरण चढ़ा हुआ है और जैसे-जैसे उसका क्षयोपशम होता है वैसे-वैसे ही ज्ञान प्रकट होता चला जाता है और जब बिल्कुल आवरण का क्षय हो जाता है तब पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है। इसलिये प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्था से रहित यह ज्ञायकभाव सिद्धों में तो पूर्ण रूप से प्रकट हो चुका है किन्तु संसारी जीवों में शुद्धनय से ही घटता है न कि व्यवहारनय से भी। क्योंकि 'द्रव्यस्वभावनिरूपणया' इस पद से यह स्पष्ट है कि द्रव्य के स्वभाव को कहने वाले शुद्धनय के अवलंबन से ही यह भाव शुभ-अशुभ भावों से परिणमन नहीं करता है अर्थात् त्रिकाल शुद्ध ही रहता है।

अनादिकर्म बंध की अपेक्षा से वह ज्ञायकभावरूप जीव ही दूध और पानी के सदृश कर्मों के साथ एकमेक हो रहा है। यह सर्व कथन अमृतचंद्रसूरि के शब्दों से ही स्पष्ट हो रहा है। अतः यह ज्ञायकभाव जीवत्व के चेतनत्व गुण की अपेक्षा यद्यपि पारिणामिक है फिर भी जीव का उपयोग यह लक्षण ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की अपेक्षा दो भेद रूप हो जाता है। वहाँ पर ज्ञानोपयोग के ८ भेद और दर्शनोपयोग के ४ भेद माने गये हैं

(उत्थानिका)—अथ कोऽयं शुद्धात्मेति पृष्ठे प्रत्युत्तरं ददातिः—

तात्पर्यवृत्ति—णवि होदि अप्रमत्तो ण प्रमत्तो शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिण-
मनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि,
अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यतान्यष्टगुणस्थागानि गृह्यन्ते । स कः कर्त्ता । जाणगो दु जो
भावो जायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भावः पदार्थः शुद्धात्मा । एवं भणंति सुद्धा शुद्धनयाव-
लंबिनः, तर्हि किं भवति णादा जो सो दु सो चेव ज्ञाता शुद्धात्मा यः कथ्यते स तु स चैव
ज्ञातैवेत्यर्थः । इति स्वतंत्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतं ॥६॥

और सभी पर आवरण होने से ही ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म माने गये हैं । उनमें भी अक्षर
अक्षरसमास आदि रूप से श्रुतज्ञान के जितने भेद हैं या मतिज्ञान आदि के जितने भेद हैं
उतने ही आवरण के भी भेद हैं । एकमात्र सूक्ष्मनिगोदिया जीव का सूक्ष्मज्ञान ही निरावरण
माना गया है । क्योंकि ज्ञायकभाव पर आवरण “स अनादिबंधपर्यायनिरूपणया” इस पद के
द्वारा स्वयं अमृतचंद्रसूरि ही घोषित कर रहे हैं । इसी बात को ही श्रीजयसेनस्वामी अपने
सरल शब्दों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं ।

उत्थानिका—अब वह शुद्धात्मा कौन है ? ऐसा पूछने पर आचार्य प्रत्युत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शुभ-अशुभ भावरूप परिणमन करने का अभाव
होने से जो न अप्रमत्त है और न प्रमत्त ही है । वह कौन है ? ज्ञायक अर्थात् ज्ञानस्वरूप जो
भाव अर्थात् पदार्थ है—शुद्धात्मा है, वही है । ऐसा शुद्धनय का अवलंबन लेने वाले कहते हैं ।
तो फिर वह क्या है ? जो ज्ञाता अर्थात् शुद्धात्मा कहा जाता है वह तो वह ही है अर्थात्
वह जानने वाला ही है ऐसा अभिप्राय है । यहाँ पर ‘प्रमत्त’ शब्द से मिथ्यादृष्टि से लेकर
प्रमत्त नामक छठे तक छह गुणस्थान लिये जाते हैं और ‘अप्रमत्त’ शब्द से अप्रमत्त नामक
सातवें गुणस्थान से लेकर अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थान पर्यंत ऐसे आठ गुणस्थान
लिये जाते हैं ॥६॥

विशेषार्थ—यहाँ पर गाथा का उत्तरार्ध बदल गया है । जयसेन आचार्य को ‘शुद्ध’
इस कर्म पद के स्थान में ‘शुद्धा’ ऐसा कर्तृपद प्राप्त हुआ है । यथा—

ण वि होदि अप्रमत्तो, ण प्रमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धा, णादा जो सो दु सो चेव ॥६॥

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत् :—

(७ ज०) व्यवहारेणुपदिश्यते णाणिरस चरित्त दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणमो सुद्धो ॥७ अ०॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।

नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

जो प्रमत्त और अप्रमत्त इन दोनों अवस्थाओं से ऊपर जाकर केवल ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण किये हुये है वह शुद्धात्मा है ऐसा शुद्धजन अर्थात् शुद्धनय का अवलंबन लेने वाले महामुनि कहते हैं और जो वह ज्ञाता है वह ज्ञाता ही है ।

इस तरह अन्वय अर्थ करके श्रीजयसेनाचार्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि प्रमत्त शब्द से जहाँ तक प्रमाद है ऐसे छोटे गुणस्थानवर्ती मुनियों तक लेना और अप्रमत्त शब्द से सातवें गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनियों से लेकर अयोगकेवली तक लेना । आत्मा इन चौबह गुणस्थानरूप नहीं है क्योंकि शुद्धनय से वह सदा शुद्ध ही है कर्मबंध के संबंध से रहित है पुनः सिद्ध ही है तब संसार अवस्था व गुणस्थान व्यवस्था उसमें कैसे आ सकती है ? यहाँ पर इस ज्ञायकभाव से जीव के शुद्ध एक ज्ञातृत्वभाव—ज्ञानरूप, ज्ञानमात्र स्वरूप को ही विवक्षित करके कहा गया है । इसी बात को आगे की गाथा से स्वयं श्री-कुंदकुंदवेव स्पष्ट कर रहे हैं कि जीव में जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनंत गुण हैं यह कथन भी व्यवहार ही है क्योंकि उन्हें यहाँ पर अभेदमात्र को विषय करने वाला एक शुद्ध ब्रह्माधिकनय ही विवक्षित है ।

उत्थानिका—सब तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों भावों से भी आत्मा में अशुद्धता हो जावेगी ? ऐसा प्रश्न होने पर—

अन्वयार्थ—(ज्ञानिनः चारित्रं दर्शनं ज्ञानं व्यवहारेण उपदिश्यते) ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है । (अपि ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं न) किन्तु निश्चयनय से उसके ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है । (शुद्धः ज्ञायकः) वह शुद्ध ज्ञायकमात्र ही है ।

(७ ज०) चारित्र ज्ञान दर्शन ज्ञानी सुजीव में । व्यवहारनय से कहते गणधर मुनी इन्हें ॥

पर शुद्धनय से दर्शनज्ञान चरण नहीं हैं । ज्ञानी है मात्र ज्ञायक ये भेद नहीं है ॥७ अ०॥

आत्मख्याति—आस्तां तावद् बंधप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्र्याण्येव न विद्यन्ते; यतो ह्यनंतधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यमित्युपदेशः । परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानंतपर्यायतयंकं किञ्चिन्मलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतां न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्र्यं ज्ञायक एवैकः शुद्धः ॥७॥

आत्मख्याति—इस ज्ञायकस्वरूप आत्मा में बंध के कारणों से जो अशुद्धता है उसकी बात तो दूर ही रहे, इसमें तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ही नहीं हैं क्योंकि अनंत-धर्मत्मक जो एक धर्मो आत्मा है उसको नहीं जानने वाले शिष्यों को उस धर्मों का ज्ञान कराने वाले ऐसे कुछ धर्मों के द्वारा कहते हुये आचार्यों का ऐसा उपदेश है कि धर्म और धर्मों के स्वभाव से भेद न होने पर भी नामरूप से भेद को उत्पन्न करके व्यवहारमात्र से ही ज्ञानो के दर्शन है, ज्ञान है और चारित्र्य है परन्तु परमार्थ से तो एक द्रव्य के द्वारा दिये गये—समाविष्ट हो गये अनन्त पर्याय की एकरूपता से किञ्चित् मेलरूप है आस्वाद जिसका ऐसे अभेदरूप एकस्वभाव का अनुभव करते हुये महापुरुषों के अनुभव में न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र्य ही है किन्तु एक शुद्ध ज्ञायकभाव मात्र ही है ॥७॥

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में यह स्पष्ट किया है कि आत्मा प्रमत्त या अप्रमत्त आदि नहीं है मात्र ज्ञायकभावरूप ही है । यह कथन शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से ही था । तब प्रश्न यह उठ जाता है कि फिर उस आत्मा के जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र्यगुण हैं वे भी आत्मा को अशुद्ध बना देंगे ? इसी पर आचार्यदेव ने समाधान देते हुये कहा है कि बात सही ही है । कर्मबन्ध के कारण जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं उनसे जीव में अशुद्धता आती है यह तो बात बहुत ही दूर रही किन्तु वास्तव में यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाये तो आत्मा में दर्शनज्ञानचारित्र्य आदि गुण भी नहीं हैं क्योंकि आत्मा तो अखण्ड एक ही है वह मात्र ज्ञायक भावरूप ही है । यहाँ पर जीव के अनन्तगुणों की अपेक्षा न करके मात्र एक ज्ञानस्वरूप को ही ग्रहण करने वाले ऐसे परमभावग्राहक द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से ही यह कथन है । जैसे कि आचार्य श्रीदेवसेन ने कहा भी है—

“परमभावग्राहकद्रव्याधिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्यः परमस्वभावो गृहीतः” ॥५६॥

(उत्थानिका)—अथानंतरं यथा प्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यन्ते शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयनयेन न विद्यन्ते तथा दर्शनज्ञानचारित्र्यविकल्पोपीत्युपदिशति—

और जो गाथा के पूर्वार्ध में जीव के दर्शन, ज्ञान आदि व्यवहारनय से माने हैं वह व्यवहारनय औपाधिक को ग्रहण करने वाला न होकर शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय है यह शुद्धगुण और शुद्धगुणी में भेद का कथन करता है जैसे कि—

‘शुद्धसद्भूतव्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनोः शुद्धपर्यायशुद्धपर्यायिणोर्भेद-
कथनम्’ ॥८२॥

इस बात को वृत्तिकार अपने सरल शब्दों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। यहाँ एक बात मुख्यरूप से विचार करने की है कि इस ग्रन्थ में श्रीकुंदकुंददेव ने दूसरी गाथा में ही स्वसमय-परसमय का लक्षण करते हुये कहा है कि जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य में स्थित है वह स्वसमय है। इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य के धारक मुनि ही होते हैं न कि श्रावक। यदि हम भेदरत्नत्रय को भी यहाँ कदाचित् लेवें तो छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों से ही प्रारम्भ होगी अतः यह ग्रन्थ तो मुनियों के लिये ही है। यहाँ इस गाथा में आप स्वयं सोचें कि जब दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन तीनों का उपदेश भी व्यवहारनय से है निश्चयनय से तो आत्मा में ये तीन भेद भी नहीं हैं। अतः यह अवस्था तो निर्विकल्पध्यान में स्थित मुनि की ही है न कि व्यवहारक्रिया में परिणत मुनि की। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जो मुनि निर्दोष चर्या को पालने में तत्पर हैं उन्हें अभेदरूप निर्विकल्पध्यान में पहुँचाने के लिये ही यह समयसार ग्रन्थ है न कि अविरत सम्यग्दृष्टि के लिये, ऐसा समझना।

उत्थानिका—जिस प्रकार से प्रमत्तगुणस्थान आदि विकल्प—भेद जीव में व्यवहारनय से हैं शुद्धद्रव्यार्थिकनय से नहीं हैं वैसे ही दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का विकल्प भी व्यवहारनय से ही है निश्चयनय से नहीं है अब आचार्य ऐसा उपदेश देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारेण सद्भूतव्यवहारनयेन उच्यते इति उपदिश्यते कथ्यते । कस्य ।
 णाणिस्स ज्ञानिनो जीवस्य । किं । चरित्तं दंसणं णाणं चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूपं । णवि णाणं
 ण चरित्तं ण दंसणं शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं । तर्हि किमस्तीति चेत् ।
 जाणगो ज्ञायकः शुद्धचैतन्यस्वभावः । सुद्धो शुद्ध एव रागादिरहित इति । अयमत्रार्थः । यथा
 निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति
 पाचकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते । तथा जीवोपि
 निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं
 चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥७॥

तात्पर्यवृत्ति—सद्भूत व्यवहारनय से कहा जाता है कि ज्ञानी जीव के चारित्र, दर्शन और ज्ञान ये स्वरूप हैं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय से न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है । तो फिर क्या है ? वह ज्ञायकमात्र है अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वभाव है और शुद्ध ही है अर्थात् रागादि रहित है । यहाँ अभिप्राय यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेदरूप व्यवहारनय से वह दहती है—जलाती है इसलिये दाहक है, पकाती है अतः पाचक है और प्रकाश करती है इसलिये प्रकाशक है इस तरह व्युत्पत्ति के द्वारा विषय के भेद से वह एक रूप भी अग्नि तीन भेदरूप हो जाती है । वैसे ही यह जीव भी अभेदरूप निश्चयनय से शुद्धचैतन्यमात्र रूप होते हुये भी भेदरूप व्यवहारनय से जानता है अतः ज्ञान है, श्रद्धान करता है इसलिये दर्शन है और आचरण करता है इसलिये चारित्र है इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय के भेद से यह जीव तीन भेदरूप हो जाता है ॥७॥

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय मात्र शुद्धद्रव्य को ही विषय करता है । उस द्रव्य में होने वाले शुद्धगुण और शुद्धपर्यायों को भी विषय नहीं करता है चूँकि उसका विषय द्रव्यमात्र ही है अतः इस नय की अपेक्षा से जीव एक ज्ञायकभाव मात्र ही है उसमें दर्शन, ज्ञान आदि नानागुण नहीं हैं किन्तु यह नय अपने विषय को ग्रहण करते हुये अपने से विरोधी दूसरे नय की उपेक्षा न करके अपेक्षा रखता है तभी सम्यक् कहलाता है अतः शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से जीव के दर्शनज्ञानचारित्र आदि शुद्धगुण पाये जाते हैं क्योंकि शुद्धगुण और गुणी (द्रव्य) में भेद करना ही इस नय का काम है । अभिप्राय यह है कि इस ग्रन्थ में ज्ञानगुण से अभिन्न ज्ञायकमात्र एक शुद्ध जीवद्रव्य का ही मुख्यता से कथन किया जावेगा ।

तर्हि परमार्थ एवेको वक्तव्य इति चेत् :—

(८ ज०) जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।

तह व्यवहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥८ अ०॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।

तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥८॥

आत्मख्याति—यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधब-
हिष्कृतत्वान्न किंचदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदतद्भा-
षासंबंधकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवती भवत्वित्यभिधेयं
प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुजलज्जललोचनपावस्तत्प्रतिपद्यत एव । तथा किल
लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचदपि प्रतिपद्यमानो मेष

उत्थानिका—भेद को कहने वाला व्यवहार है ऐसा बतलाने पर शिष्य प्रश्न करता है कि 'तब तो परमार्थ ही एक कहना चाहिये।' ऐसा कहने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा अनार्यः अनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुं न अपि शक्यः) जैसे म्लेच्छ पुरुष को म्लेच्छ भाषा के बिना तो उपदेश का ग्रहण कराना शक्य नहीं है (तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनं अशक्यं) वैसे ही व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना भी अशक्य है ।

आत्मख्याति—जैसे कोई म्लेच्छ पुरुष है उसको किसी ब्राह्मण ने 'स्वस्ति हो' ऐसा कहा तब वह 'स्वस्ति' शब्द के वाच्य-वाचक संबंध के ज्ञान से शून्य होने से उसका कुछ भी अर्थ न समझता हुआ मेढ़े की तरह टकटकी लगाकर देखता हो रहा कि इसने क्या कहा है ? तब उस ब्राह्मण की भाषा और म्लेच्छ की भाषा इन दोनों भाषा के संबंध के एक अर्थ को जानने वाले ऐसे उसी ब्राह्मण ने या अन्य किसी ने उसे म्लेच्छ भाषा के आश्रय से समझाया कि 'स्वस्ति' इस पद का यह अर्थ है कि 'तुम्हारा कल्याण हो' । उस समय उसके आँखों में आनंद अश्रु आ गये और वह उस अर्थ को समझकर अतिशय प्रसन्न हो गया । उसी प्रकार से ये सभी संसारीजन भी 'आत्मा' ऐसा कहने पर वास्तविकरूप

(८ ज०) जैसे अनार्य को अनार्य भाषा के बिना । समझाना शक्य है नहीं व्यवहार के बिना ॥

वैसे बिना व्यवहार के परमार्थ का कथन । प्राणी नहीं समझें अतः व्यवहार ही प्रथम ॥८ अ०॥

इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथर-
थिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्र्याण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते
तदा सद्य एवोद्बोधमार्गमाप्नोति सुखं धर्मस्तत्प्रतिपद्यत एव । एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो
व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽयं च ब्राह्मणो न
म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः ॥ ८ ॥

जो आत्मा का स्वरूप है उसके ज्ञान से शून्य होने से उसके अर्थ को कुछ भी न समझते
हुये मेढ़े के समान ही टकटकी लगाकर देखते ही रह जाते हैं । जब कोई महापुरुष जो कि
व्यवहार और परमार्थ के पथ पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलाने वाले हैं ऐसे कोई
महारथी आचार्य कि जिन्होंने 'आत्मा' यह शब्द कहा था अथवा अन्य कोई महापुरुष जब
उन संसारी जीवों को व्यवहार पथ का अवलंबन लेकर जो 'दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य को
सतत प्राप्त करता है उस रूप से परिणत होता रहता है वह आत्मा है' ऐसे 'आत्मा' इस
शब्द का अर्थ समझा देते हैं । उस समय जिनके अंतःकरण में अतिशय सुंदर वृद्धिगत
ऐसी आनंद की तरंगें उछल रही हैं ऐसे वे संसारी लोग उस आत्मा शब्द के अर्थ को
समझ ही लेते हैं । यहाँ पर म्लेच्छ के स्थान पर जगत् के जीवों को समझना तथा व्यव-
हारनय को म्लेच्छभाषा के स्थान पर समझना । इस प्रकार से म्लेच्छ के स्थानीय जगत्
के जीवों को म्लेच्छभाषा के स्थानीय होने से व्यवहारनय भी परमार्थ का प्रतिपादक
होने से उपदेश ग्रहण करने योग्य है किन्तु ब्राह्मण को म्लेच्छ के समान आचरण करना
योग्य नहीं है इस कथन से व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं भी है ॥८॥

विशेषार्थ—प्रश्न यह होता है कि जब व्यवहारनय बंधपर्याय का या भेद का
कथन करने वाला है तब उसका उपदेश क्यों देना ? उपदेश तो सदा सर्वोत्कृष्ट ही
होना चाहिये इसलिये आप एक परमार्थरूप निश्चयनय का ही उपदेश दीजिये ? इस
पर आचार्य कहते हैं कि हे शिष्य ! व्यवहारनय के बिना निश्चयनय के विषयभूत परमार्थ
का उपदेश ही असंभव है । ऐसा कैसे ? तब उदाहरण देते हैं कि जैसे किसी म्लेच्छ
मनुष्य को उसकी भाषा में ही उसे अच्छी बात समझायी जाती है वैसे ही संसारीजीव
अशुद्ध हो रहे हैं इनको भी अशुद्ध अवस्था को या भेद अवस्था को ग्रहण करने वाले
ऐसे व्यवहारनय के द्वारा ही शुद्ध आत्मा के दर्शन, ज्ञान आदि गुणों में भेद करके बतलाया
जाता है और गुणस्थान आदि का भेद करके भी बतलाया जाता है कि आत्मा इन गुण-
स्थानादिरूप है या दर्शन, ज्ञान आदि रूप है । जब वह इस बात को समझ लेता है तब

(उत्थानिका)—अथ यदि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचरित्राणि न संति तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न—

वह आगे बढ़कर शुद्ध तथा अभेद अवस्था को समझने के लिये निश्चयनय का अवलंबन लेता है तभी भेदरूप व्यवहार उसका स्वतः छूट जाता है तब वह म्लेच्छ के समान आचरण नहीं करता है अर्थात् अभेदरूप आत्मा को समझ लेता है। यहाँ पर टीका में जो यह पद है कि 'ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्यः' उसका अभिप्राय यही है कि जब शुद्ध एक अभेदरूप आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं तब व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिये। उसको कौन प्राप्त करते हैं? उनका वर्णन आगे गाथा नं० १४ में स्वयं ग्रन्थ-कार करेंगे अतः सातवें गुणस्थान तक भेदरत्नत्रय होने से व्यवहारनय का अनुसरण लेना होता है, उसके ऊपर निश्चयनय का ही अवलंबन रहता है।

यहाँ आत्मख्याति टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने अंत में कहा है कि "इति वचनाद् व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः।" इस कथन से व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है। आगे ११ वीं गाथा की टीका के अंत में कहते हैं—“अथ च केषांचित् कदाचित् सोऽपि प्रयोजनवान्।” अब किन्हीं लोगों को कदाचित् वह व्यवहारनय भी प्रयोजनीभूत है पुनः १२ वीं गाथा की टीका में स्वयं श्रीअमृतचंद्रसूरि कह रहे हैं कि—“जो सोलह ताव से तपे शुद्धस्वर्ण के समान परमभाव का अनुभव करते हैं उनके लिये निश्चयनय प्रयोजनीभूत है उसके पहले एक दो आदि से लेकर पंद्रह ताव तक शुद्ध होते हुये सुवर्ण के समान जनों को व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि पूर्ण शुद्ध हुये बारहवें गुणस्थानवर्ती के लिये अथवा जिनके बुद्धिपूर्वक राग का अभाव है ऐसे शुद्धोपयोगी निर्विकल्प ध्यानी मुनि के लिये ही निश्चयनय प्रयोजनीभूत है बाकी एक, दो, तीन ताव आदि से शुद्ध होने वाले चतुर्थ, पंचम, छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती जनों के लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। आगे आप स्वयं पढ़ेंगे।

उत्थानिका—अब यदि शुद्ध निश्चयनय से जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य नहीं हैं तो एक परमार्थनय ही कहना चाहिये, व्यवहार को नहीं? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जह णवि सक्कं यथा न शक्यः । कोसौ । अणज्जो अनार्यो म्लेच्छः । किं कर्तुं । गाहेदुं अर्थग्रहणरूपेण संबोधयितुं । कथं ? अणज्जभासं विणा अनार्यभाषा म्लेच्छ-भाषा तां विना । दृष्टान्तो गतः । इदानीं दाष्टातिमाह—तह तथा व्यवहारेण विणा व्यवहार-नयेन विना परमत्थुदेवसणमसदकं परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यं इति । अयमत्राभिप्रायः । यथा कश्चिद्ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपत्न्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्तिप्रश्नविनाश्वरत्वभजानन्सन् निरीक्षते मेष इव । तथायमज्ञानिजनोप्या-त्मेतिभणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रांत्या निरीक्षत एव । यदा पुनर्निश्चयव्यवहार-नयज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिजीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा संतुष्टो भूत्वा जाना-तीति । एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतं ॥८॥

तात्पर्यवृत्ति—जिस प्रकार से किसी म्लेच्छ को म्लेच्छभाषा के बिना अर्थ को ग्रहण करानेरूप से समझाना शक्य नहीं है । यह दृष्टान्त हुआ । अब दाष्टाति बताते हैं कि उसी प्रकार से व्यवहारनय के बिना परमार्थ का उपदेश करना अशक्य है । यहाँ अभिप्राय यह है कि जैसे कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छों की बस्ती में चला गया वहाँ किसी एक म्लेच्छ के द्वारा नमस्कार करने पर उस ब्राह्मण अथवा यति ने 'स्वस्ति हो' ऐसा आशीर्वाद दिया । तब 'स्वस्ति' इस पद का अर्थ अविनश्यर है ऐसा नहीं समझता हुआ वह म्लेच्छ मेढ़े के समान देखता ही रहता है । उसी प्रकार से यह अज्ञानीजन भी 'आत्मा' ऐसा कहने पर 'आत्मा' शब्द के अर्थ को नहीं जानता हुआ भ्रांति से देखता ही रहता है और जब निश्चय और व्यवहारनय को जानने वाले महापुरुष के द्वारा 'सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह जीव शब्द का अर्थ है' ऐसा कहा जाता है तब वह संतुष्ट होकर जान लेता है । इस प्रकार से यहाँ पर भेदाभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से दो गाथाओं द्वारा द्वितीयस्थल पूर्ण हुआ ॥८॥

भावार्थ—यहाँ पर भेदरत्नत्रय को व्यवहार कहा है और अभेदरत्नत्रय को परमार्थ या निश्चय । तथा भेद का कथन करने वाला जो व्यवहारनय है, वह ऐसा ही है कि जैसे म्लेच्छ को समझाने समय उसकी म्लेच्छभाषा का प्रयोग । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ तक सन्निकल्प अवस्था है भेदरत्नत्रय का पालन हो रहा है, सरागचारित्र है वहाँ तक-सरागसंयमी मुनियों के लिये भी व्यवहारनय का उपदेश होता है और वह उपदेश उन्हें परमार्थरूप एक अभेदरत्नत्रय को प्राप्त कराने वाला है किन्तु जो अभेद अवस्था में—निर्वि-

कथं व्यवहारस्य [परमार्थ] प्रतिपादकत्वमिति चेत् :—

(६ ज०) जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं शुद्धं ।

तं सुयणेअलिज्जिणिणे भणंति लोयप्पईवयरा ॥६ अ०॥

(१० ज०) जो सुयणाणं सच्चं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।

णाणं अप्पा सच्चं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥१० अ०॥ (जुम्मं)

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।

तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥६॥

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुजिनाः ।

ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥१०॥

कल्पसमाधि में पहुँच चुके हैं ऐसे परमोपेक्षा संयमी मुनियों के लिये ही परमार्थ का उपदेश है । इसी बात को आगे श्रीकुंदकुंददेव स्वयं कहेंगे व टीकाकार श्रीअमृतचन्द्रसूरि भी अपनी टीका में स्पष्ट करेंगे ।

उत्थानिका—अब प्रश्न यह होता है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है ? उसका उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः हि श्रुतेन तु इमं केवलं शुद्धं आत्मानं अभिगच्छति) जो जीव निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा इस केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं (लोकप्रदीपकराः ऋषयः तं श्रुतकेवलिनं भणन्ति) लोक को प्रकाशित करने वाले ऋषिगण उनको श्रुतकेवली कहते हैं । (यः सर्वं श्रुतज्ञानं जानाति जिनाः तं श्रुतकेवलिनं आहुः) और जो संपूर्ण श्रुतज्ञान को जानते हैं जिनेन्द्रदेव उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं (यस्मात् सर्वं ज्ञानं आत्मा तस्मात् श्रुतकेवली) क्योंकि सर्वज्ञान आत्मा ही है इसलिये वह श्रुतकेवली है ।

(६ ज०) निज शुद्ध आत्मा को जो श्रुतज्ञान से जानें । उनको ही ऋषी निश्चय श्रुतकेवली मानें ॥

तहि निश्चय श्रुतकेवली व्यवहार श्रुत बिना । इस युग में श्रुत केवली नहि हो सकें सुना ॥६ अ०॥

(१० ज०) सब द्वादशांग श्रुत को जो जान रहे हैं । जिनवर कचित श्रुतकेवली व्यवहार वो ही हैं ॥

वयोंकि सकल श्रुतज्ञान आत्मा में ही कहा । अतएव वही आत्मा श्रुतकेवली कहा ॥१० अ०॥

आत्मख्याति—यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति य आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनी भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किञ्चिदप्यतिरिक्तं । अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाच्चः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ॥ ६ ॥ १० ॥

आत्मख्याति—जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, इस प्रकार का कथन तो परमार्थ है और जो संपूर्ण श्रुतज्ञान (द्वादशांग) को जानता है वह श्रुतकेवली है इस प्रकार का कथन व्यवहार है । प्रश्न यह होता है कि यहाँ पर निरूपित किया जाने वाला सर्व ही ज्ञान आत्मा है या अनात्मा ? अनात्मा तो कह नहीं सकते क्योंकि पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँचों द्रव्य अचेतन होने से ये सर्व अनात्मा ही हैं अतः इनका ज्ञान के साथ तादात्म्य हो नहीं सकता है । इस कारण अन्य प्रकार का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है ऐसा सिद्ध हो जाता है पुनः श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है यह बात भी निश्चित हो जाती है और ऐसा सिद्ध हो जाने पर जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है जो यह कथन है सो परमार्थ ही है । इस प्रकार से ज्ञान और ज्ञानी को भेद से कहने वाला जो व्यवहारनय है उसके द्वारा भी परमार्थमात्र ही कहा जाता है किन्तु उससे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहा जाता । दूसरी बात यह है कि 'जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है' इस प्रकार से परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से 'जो संपूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है' इस प्रकार का व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपने स्वरूप को प्रतिष्ठित कराता है ॥ ६-१० ॥

भावार्थ—यह बात तो निश्चित ही है कि व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है किन्तु निश्चयपूर्वक व्यवहार नहीं होता है अतएव यहाँ पर जो टीकाकार ने ऐसा कहा है कि 'जो श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह परमार्थ से अर्थात् निश्चय श्रुतकेवली है । जो संपूर्ण श्रुत को जानता है वह व्यवहार से श्रुतकेवली है । आज इस पंचम काल में द्वादशांग श्रुतज्ञान उपलब्ध नहीं है उसका अंशरूप ही श्रुतज्ञान उपलब्ध है अतः जब कोई व्यवहार श्रुतकेवली ही नहीं हो सकते हैं तो पुनः निश्चय श्रुतकेवली कैसे हो सकते

(उत्थानिका)—अथ पूर्वगाथायां भणितं व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति—

तात्पर्यवृत्ति—जो य कर्ता हि स्फुटं सुदेण भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्प-
समाधिना करणभूतेन अभिगच्छति अभि समंताज्जानात्यनुभवति । कं । अप्पाणं आत्मानं
इणं इमं प्रत्यक्षीभूतं तु पुनः । किंविशिष्टं । केवलं असहायं सुद्धं रागादिरहितं तं पुरुषं

हैं ? द्वादशांग के वैसे श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी अन्तिम श्रुतकेवली माने गये हैं । उनके बाद में संपूर्ण श्रुत के धारक 'श्रुतकेवली' कोई नहीं हुये हैं । स्वयं श्रीकुंडकुंददेव भी श्रुतकेवली नहीं थे । इस कथन से जो यहाँ पर ऐसा कहा है कि 'आत्मा को जानने वाले निश्चय श्रुत-
केवली हैं ।' उसका अभिप्राय यही है कि जो आत्मा का अनुभव करने वाले हैं, निर्विकल्प
ध्यान में स्थित होकर जानने वाले हैं, वे ही परमार्थ श्रुतकेवली हो सकते हैं अन्य सामान्य
मुनि या श्रावक आदि नहीं । आगे स्वयं टीकाकार कह रहे हैं कि 'जो शुद्ध आत्मा को
जानता है वह श्रुतकेवली है' इस परमार्थ का अर्थात् निश्चय का प्रतिपादन करना अशक्य ही
है इसीलिये जो संपूर्ण श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहारनय ही उस
परमार्थ श्रुतकेवली का प्रतिपादक होने से आत्मा को प्रतिष्ठापित करता है । इस कथन से
भी स्पष्ट है कि जिसका प्रतिपादन करना अशक्य है वह निर्विकल्प ध्यान में ही अनुभूत
होता है ।

सार यह है कि छोटे गुणस्थान में व्यवहारश्रुतकेवली होते हैं क्योंकि द्रव्यलिङ्गी
मुनि को द्वादशांग का ज्ञान असंभव है । मात्र ग्यारह अंग तक का ज्ञान ही उन्हें हो सकता
है अतः वे पूर्ण श्रुतज्ञान के अभाव में व्यवहार श्रुतकेवली नहीं हैं । श्रावक के व असंयत
सम्यग्दृष्टी मनुष्य के अंग-पूर्वरूप श्रुतज्ञान होता ही नहीं है अतः वे जब व्यवहारश्रुतकेवली
ही नहीं हो सकते हैं तब निश्चय की बात तो बहुत ही दूर है । निश्चयश्रुतकेवली तो सातवें
या आठवें गुणस्थान से माने जाते हैं चूँकि उन्हीं के शुक्लध्यानरूप भावश्रुतज्ञान होता है ।
इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य अपनी तात्पर्यवृत्ति में स्पष्ट कर रहे हैं ।

उत्थानिका—अब पूर्व गाथा में जो कहा है कि व्यवहारनय से परमार्थ जाना
जाता है उसी अर्थ को यहाँ दृढ़ करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो जीव करणपने को प्राप्त निर्विकल्पसमाधिरूप स्वसंवेदन ज्ञानात्मक
भावश्रुत के द्वारा इस प्रत्यक्षीभूत अपनी आत्मा को जानता है अर्थात् उसका अनुभव करता

सुदकेर्वाल निश्चयश्रुतकेवलिनं इसिणो परमऋषयः भणन्ति कथयन्ति लोग्णदीवयरा लोक-
प्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम् । अथ
'सुदणाण' मित्यादि—जो यः कर्त्ता सुदणाणं द्वादशांगं द्रव्यश्रुतं सत्त्वं सर्वं परिपूर्णं ज्ञाणादि,
जानाति सुदकेर्वाल व्यवहारश्रुतकेवलिनं तमाहुजिणा तं पुरुषं आहुः ब्रुवन्ति । के ते । जिनाः
सर्वज्ञाः । कस्मादिति चेत् । जह्या यस्मात्कारणात् सुदणाणं द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुत-
ज्ञानं आदा आत्मा भवति । कथंभूतं सत्त्वं सर्वमात्मसंवित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषयं वा
तस्या तस्मात्कारणात् सुदकेवली द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति । अयमत्रार्थः यो भावश्रुतरूपेण
स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति । यस्तु स्वशुद्धात्मानं न
संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति । ननु
तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवली भवति ? तन्न यादृशं पूर्वपुरुषाणां

है । कौसी आत्मा का अनुभव करता है ? केवल असहृद और शुद्ध—रागादिरहित आत्मा
का अनुभव करता है । उस पुरुष-मुनि को लोक के प्रकाशक परम ऋषिगण निश्चयश्रुतकेवली
कहते हैं । इस प्रकार इस गाथा के द्वारा निश्चयश्रुतकेवली का लक्षण कहा है किन्तु जो मुनि
परिपूर्ण द्वादशांगरूप द्रव्यश्रुत को जानता है सर्वज्ञदेव उस महापुरुष को व्यवहारश्रुतकेवली
कहते हैं । क्यों ? क्योंकि द्रव्यश्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भावश्रुतज्ञान है वह आत्मा
ही है । वह कौसा है ? वह आत्मा की संवित्ति-अनुभूति को विषय करने वाला है अथवा पर
की परिच्छित्ति (जानने) को विषय करने वाला है इसीलिये वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है ।
यहाँ यह अर्थ हुआ कि जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञान के द्वारा अपनी शुद्ध आत्मा को
जानता है वह निश्चयश्रुतकेवली होता है और जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता
है, न उसको भावित ही करता है, केवल बाह्य विषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थों को
ही जानता है, वह व्यवहारश्रुतकेवली होता है ।

शंका—तब तो स्वसंवेदनज्ञान के बल से इस पंचम काल में भी श्रुतकेवली हो
सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना क्योंकि जैसा पूर्वपुरुषों के शुद्धध्यानरूप स्वसंवेदन-
ज्ञान होता था वैसे इस समय नहीं है किन्तु यथायोग्य धर्मध्यान आज के मुनियों के होता
ही है ।

शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानी नास्ति किन्तु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः । एवं निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतं ॥६-१०॥

इस प्रकार से निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली के व्याख्यानरूप से दो गाथाओं द्वारा तृतीयस्थल पूर्ण हुआ ॥६-१०॥

विशेषार्थ—इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार के बिना निश्चय का होना असम्भव है और वर्तमान युग में जब द्रव्यश्रुत के पूर्णवेत्ता श्रुतकेवली नहीं हैं तब निश्चयकेवली भी कैसे हो सकते हैं ? इसी प्रकार से सर्वत्र भी समझ लेना चाहिये कि आजकल के मुनियों के अभेदरत्नत्रयरूप निश्चयचारित्र या वीतरागचारित्र नहीं है मात्र भेदरत्नत्रयरूप व्यवहारचारित्र या सरागचारित्र ही होता है ।

यहाँ दो बातें विशेष जानने योग्य हैं, एक तो उत्थानिका में कहा है कि “कथं व्यवहारस्य परमार्थप्रतिपादकत्वमिति चेत्” व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर इन दो गाथाओं का अवतार हुआ है । इससे यह समझ में आता है कि द्रव्यश्रुत के आधार के बिना भावश्रुत नहीं हो सकता है । व्याकरण में भी द्रव्य शब्द के ही भाव अर्थ में ‘त्व’ या ‘ता’ प्रत्यय लगता है जैसे सुवर्णस्य भावः ‘सुवर्णत्वं’ या ‘सुवर्णता’ जब सुवर्ण होगा तभी उसका सुवर्णपना कहा जा सकेगा । श्रीजयसेनाचार्य ने तो स्पष्ट कह दिया है कि “सुवर्णानां” “द्रव्यभूताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानं आदा आत्मा भवति ।” द्रव्यश्रुत-ज्ञान के आधार से उत्पन्न हुआ भावश्रुतज्ञान ही आत्मा है । इसलिये द्वावशांग के ज्ञाता द्रव्यश्रुतकेवली हुये बिना कोई भावश्रुतकेवली नहीं हो सकते हैं । महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है “शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः” आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्वविद्—ग्यारह अंग और चौदहपूर्व के ज्ञानी श्रुतकेवली के ही होते हैं ।

दूसरी बात यह विशेष है कि यहाँ “यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदन-ज्ञानं तादृशमिदानी नास्ति किन्तु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः ।” जैसा पूर्वपुरुष-मुनियों को शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान था वैसे इस समय नहीं है किन्तु योग्य-यथायोग्य धर्मध्यान है । इससे यह स्पष्ट है कि इस पंचमकाल में धर्मध्यान के ध्याता साधु होते ही हैं उनका निषेध नहीं किया जा सकता है ।

(११ ज०) जाणहि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।

ते पुण तिण्णिवि आदा तस्मा कुण भावणं आदे ॥

जाने भावना खलु कर्तव्या दर्शने चारित्रे च ।

तानि पुनस्त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावनामात्मनि ॥११॥

(उत्थानिका)—अथ गाथायाः पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति—

तात्पर्यवृत्ति—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यत्रयेभावना खलु स्फुटं कर्तव्या भवति । तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यतः कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ॥११॥

अन्वयार्थ—(जाने दर्शने च चारित्रे खलु भावना कर्तव्या) ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में दृढ़ता से भावना करनी चाहिये (पुनः तानि त्रीणि अपि आत्मा तस्मात् आत्मनि भावनां कुरु) पुनः ये तीनों भी आत्मा ही हैं अतः आत्मा में भावना को करनी चाहिये ॥११॥

उत्थानिका—अब गाथा के पूर्वार्ध से भेदरत्नत्रय की भावना को और उत्तरार्द्ध से अभेदरत्नत्रय की भावना को प्रतिपादित करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों की भावना स्पष्टतया करनी चाहिये । पुनः ये तीनों भी निश्चयनय से आत्मा ही हैं । अतः इसीलिये अपने शुद्ध आत्मा की भावना करो ॥११॥

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पुनः-पुनः अनुचितन करना भेदरत्नत्रय है पुनः उसके बल से इन तीनों स्वरूप एक शुद्ध आत्मा की भावना करना और उसमें तन्मय होना सो यह अभेदरत्नत्रय है । यह गाथा श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत टीका में नहीं है ।

(११ ज०) सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन चारित्र भावना । करते रहो रत्नत्रय की अडिग साधना ॥

निश्चय से ये तीनों ही आत्मस्वरूप हैं । अतएव आत्मभावना निश्चय का रूप है ॥

(उत्थानिका)—अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति:—

(१२ ज०) जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।

सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

५. आत्मभावनाभिमा नित्योद्यतः मुनिः समाचरति ।

सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥

तात्पर्यवृत्ति—यः कर्ता आत्मभावनाभिमां नित्योद्यतः सन् मुनिस्तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः । इति निश्चय-व्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतं ॥१२॥

उत्थानिका—अब भेदाभेदरत्नत्रय की भावना के फल को दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(यः मुनिः नित्योद्यतः इमां आत्मभावनां समाचरति) जो मुनि नित्य ही उद्यत होते हुये इस आत्मा की भावना को करते हैं । (सः अचिरेण कालेन सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोति) वे थोड़े ही काल में सर्वदुःख से छुटकारा पा लेते हैं ॥१२॥

तात्पर्यवृत्ति—नित्य ही उद्यमशील होते हुये जो तपोधन मुनि इस उपर्युक्त भेदाभेदरत्नत्रय स्वरूप आत्मा की भावना को सम्यक् प्रकार से करते हैं, उसको भाते रहते हैं वे थोड़े ही समय में सम्पूर्ण दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं । इस प्रकार से निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय की भावना व उस भावना का फल इन दोनों के व्याख्यानरूप से दो गाथाओं द्वारा चतुर्थस्थल पूर्ण हुआ ॥१२॥

भावार्थ—जो मुनि भेदाभेदरत्नत्रय की भावना करते हैं वे ही मुक्ति को प्राप्त करते हैं । इसमें जो 'मुनि' शब्द है उससे स्पष्ट हो जाता है कि भेदाभेदरत्नत्रय भावक या असंयत सम्यग्दृष्टि के नहीं होता है । श्री जयसेनाचार्य ने सबसे प्रथम भूमिका में ही कह दिया है कि चौदह गाथाओं द्वारा पीठिका का व्याख्यान किया जायेगा अतः ये दोनों गाथायें श्रीकुंदकुंददेवकृत ही हैं ऐसा समझना । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने इनकी टीका नहीं की है सो ये अतीव सरल हैं यह भी हेतु हो सकता है ।

(१२ ज०) इस विधि जो मुनी आत्मभावना को भा रहे । निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय को ध्या रहे ॥

वे सब दुखों से छूट शीघ्र मुक्ति वरेंगे । इस काल में लौकान्तिकादि पद को सहेंगे ॥

* ये दो गाथायें श्री अमृतचंद्रसूरि की टीका में नहीं हैं ।

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्तव्य इति चेत् ?—

(१३ ज०) व्यवहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देशितो दु शुद्धनयो ।

भूयत्थमस्मिदो खलु सम्यग्दृष्टी हवइ जीवो ॥११ अ०॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।

भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

आत्मख्याति—व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति । शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतमर्थं प्रद्योतयति । तथाहि—यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोविवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवन्ति । केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयसोविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवन्ति । तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकस्यात्मनोजुभवितारः पुरुषा आत्मकर्म-

उत्थानिका—पूर्व में कहा था कि व्यवहारनय को स्वीकार नहीं करना चाहिये पुनः आपने यह बतलाया कि व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है । तो फिर व्यवहारनय का अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिये ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यवहारः अभूतार्थः तु शुद्धनयः भूतार्थः देशितः) व्यवहारनय अभूतार्थ और निश्चयनय भूतार्थ कहा गया है (भूतार्थ आश्रितः जीवः खलु सम्यग्दृष्टिः भवति) अतः भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव वास्तव में सम्यग्दृष्टि होता है ।

आत्मख्याति—सभी व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत-असत्य अर्थ को प्रकाशित करते हैं, और केवल एक शुद्धनय ही भूतार्थ होने से भूत-सत्यार्थ अर्थ को प्रकाशित करता है । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—जैसे बहुत सी कीचड़ के मिश्रण से जिसका सहज एक स्वच्छ स्वभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे मलिन जल को पीने वाले बहुत से पुरुष कीचड़ और जल को पृथक्-पृथक् न करते हुये उसी मँले जल को ही पीते रहते हैं किंतु कोई पुरुष उसी गंदे जल में अपने हाथ से कतकफल-निर्मली औषधि को डालकर कीचड़ और जल को पृथक्-पृथक् करने के द्वारा अपने पुरुषार्थ से जल के सहज एक स्वच्छ भाव को प्रकट करके उस स्वच्छ जल को ही पीते हैं । उसी प्रकार से प्रबल कर्मों

(१३ ज०) व्यवहार नय भूतार्थ अभूतार्थरूप है । निश्चय के भी भूतार्थ अभूतार्थ भेद हैं ॥

भूतार्थ के आश्रय से जो सम्यक्त्व प्राप्ति है । वह जीव कहा सम्यग्दृष्टि वीतराग है ॥११ अ०॥

णोविवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवन्ति । भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिमिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वाच्छुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयोनानुसर्तव्यः । अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान् ॥ ११ ॥

के संपर्क से जिसका सहज एक ज्ञायक स्वभाव भाग्यछादित हो रहा है ऐसी आत्मा का अनुभव करने वाले जो पुरुष हैं वे आत्मा और कर्म में भेद न करके व्यवहार में विमोहितचित्त होते हुये, प्रकाशमान अनेक स्वरूप उस शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं किन्तु भूतार्थदर्शी-शुद्धनय का आश्रय लेने वाले पुरुष अपनी बुद्धि से प्रयुक्त जो शुद्धनय उसके अनुसार प्राप्त हुये ज्ञानमात्र से उत्पन्न हुये आत्मा और कर्म के भेदज्ञान के द्वारा अपने पुरुषार्थ से सहज एक ज्ञायक स्वभाव को प्रकट कर लेने से प्रकाशमान एक ज्ञायक भावस्वरूप उस शुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं अतः यहाँ पर जो पुरुष भूतार्थरूप शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन या श्रद्धान करते हुये सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं, न कि अन्य पुरुष क्योंकि यहाँ पर शुद्धनय कतकफल के सदृश है इसलिये प्रत्यक् आत्मदर्शियों को—पुद्गल कर्मों से पृथक् अपनी आत्मा के अनुभव करने वालों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिये ॥११॥

विशेषार्थ—भूत का अर्थ है सत्-विद्यमान और अभूत का अर्थ है असत्-अविद्यमान । अथवा भूत का अर्थ है सत्य-वास्तविक और अभूत का अर्थ है असत्य-अवास्तविक । ऐसे सत्-विद्यमान और सत्य पदार्थ भूतार्थ हैं उनको जानने वाला नय भी भूतार्थ है । उसी प्रकार से असत्-अविद्यमान अथवा असत्य पदार्थ अभूतार्थ हैं उनको ग्रहण करने वाला नय भी अभूतार्थ है यहाँ पर ऐसा शब्दार्थ समझना । अब सत्-विद्यमान या सत्य क्या है ? इस पर विचार करना है । पहले गाथा नं० ७ में स्वयं श्रीकुंदकुंददेव ने ही कहा है कि जीव के दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं यह व्यवहार से कहा गया है और ये कुछ नहीं हैं मात्र जीव एक ज्ञायक भावरूप ही है यह निश्चयनय से कहा जाता है । इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुद्ध गुण और गुणी में भी भेद करने वाला व्यवहार ही है और मात्र अभेद का ग्राहक निश्चय है । यहाँ पर भी जहाँ तक गुण-गुणी में भेद है वहाँ तक अभूतार्थ संज्ञा है और जहाँ से अभेद दशा प्रकट होती है वहीं पर

भूतार्थ है क्योंकि शुद्धनय तो अभेद मात्र को ही विषय करता है अतः उसकी दृष्टि में शुद्धगुणों के भेद भी असत्-अविद्यमान या असत्य ही हैं ।

अथवा टीकाकार के अभिप्राय से विचार करने पर 'कर्म के संयोग से होने वाले औपाधिक भाव अभूतार्थ-असत्यार्थ हैं और कर्म की उपाधि से रहित शुद्धभाव ही भूतार्थ-सत्यार्थ हैं' । व्यवहारनय औपाधिक भावों को ग्रहण करता है अतः वह अभूतार्थ है किन्तु शुद्धनय वस्तु के सहज स्वाभाविक एक शुद्धभाव को ही ग्रहण करता है अतः वह भूतार्थ-सत्यार्थ है । यद्यपि संसार अवस्था में जीव कर्मों से संबंधित होने से अशुद्ध है तो भी शुद्धनय उन संयोगी भावों को न देखकर मात्र जीव के शुद्ध स्वभाव को ही देखता है तभी वह कर्मों से पृथग्भूत आत्मा का अवलोकन कर लेता है किन्तु व्यवहारनय जीव को नर नारक आदि नाना पर्यायरूप अथवा गुणस्थान आदि भावरूप देखता रहता है । दोनों का अपना-अपना विषय है और अपने-अपने विषय में दोनों ही सत्यार्थ हैं फिर भी औपाधिक भावों का ग्राहक होने से व्यवहारनय कथंचित् असत्यार्थ भी है । चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीव दोनों नयों के विषय को समझकर शुद्धनय से अपने को शुद्ध समझते हैं और उस पर दृढ़ श्रद्धा रखते हैं । आगे निर्विकल्प अवस्था में पहुँचने वाले महामुनि शुद्धनय का अवलंबन लेकर अपनी आत्मा के ध्यान में तन्मय हो जाते हैं । उस समय उनके उस शुद्धनय का भी अवलंबन छूट कर नयातीत अवस्था हो जाती है अतः यहाँ पर जो शुद्धनय के आश्रय लेने वाले को सम्यग्दृष्टि कहा है सो निश्चय सम्यक्त्व की अपेक्षा से ही है ।

निश्चयनय का या शुद्धनय का अवलंबन लेना उत्तम है यह बात अच्छी तो है ही है । एक उदाहरण स्मृति में आ जाता है कि बादाम का हलुआ बढ़िया है, पौष्टिक है वह किसके लिये ? जो स्वस्थ हैं, उसे पचा सकते हैं । यदि किसी को मोतीझरा ज्वर चालीस दिन का हो गया है उसके बाद उसका लीवर खराब हो गया है उस समय तो कुशल वद्य उसे पुष्टि के लिये बादाम का हलुआ न देकर मूंग की दाल का पानी मात्र देते हैं । कई दिनों तक पथ्य संभालना पड़ता है अनंतर कहीं वह हलुआ खाने-पचाने के योग्य होता है । वैसे ही सामान्य अनगार मुनि-स्थविरकल्पी मुनि तक पुरुष इस ज्वर के रोगी के समान हैं उनके लिये पथ्यरूप में अध्यात्म भावना का चिंतन ही उपयोगी है बल्कि ज्वरनाशक-जिनभक्ति, गुरु उपासना ही औषधि है । पश्चात् जिनकल्पी मुनि होने पर—उत्तमसंहनन को प्राप्ति होने पर निर्विकल्प ध्यानरूप शुक्लध्यान में स्थिर होने की सामर्थ्य आ जाने से वे 'बादाम के

(उत्थानिका)—अथ यथा कोपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानी पुरुषोप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले । कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति :—

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारो व्यवहारनयः अभूदर्थो अभूतार्थः असत्यार्थो भवति भूदर्थो भूतार्थः सत्यार्थः देसिदो देशितः कथितः दु पुनः कोसौ सुद्धणओ शुद्धनयः निश्चयनयः । तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत् । भूदर्थं भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयं अस्सिदो आश्रितो गतः स्थितः खलु स्फुटं सम्मादिट्ठी हवदि जीवो सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानं । द्वितीयव्याख्यानेन पुनः व्यवहारो अभूदर्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदर्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्धनिश्चयनयोपि । दु शब्दादयं शुद्धनिश्चय-

हलुआ' के समान इस शुद्धनय का आश्रय लेकर धीतरागसम्यग्दृष्टि बन जाते हैं । ऐसा समझना ।

अतः जो अखिरत सम्यग्दृष्टि के लिये ही व्यवहारनय को छोड़ने योग्य कहकर निश्चय-शुद्धनयावलंबी कह देते हैं । वे इन गाथाओं व टीकाकारों के अर्थ का अनर्थ करने वाले होने से स्वपरधाती, निश्चयाभासी ही हैं ।

अब देखिये श्रीजयसेनाचार्य क्या कहते हैं—

उत्थानिका—जैसे कोई ब्राह्मण आदि विशेष पुरुष म्लेच्छ को समझाने समय ही म्लेच्छ भाषा को बोलते हैं अन्य समय नहीं, उसी प्रकार से ज्ञानी पुरुष-महामुनि भी अज्ञानीजनों को समझाने के समय ही व्यवहारनय का आश्रय लेते हैं अन्य समय में नहीं । ऐसा क्यों ? क्योंकि वह व्यवहारनय अभूतार्थ है । अब इसी पर प्रकाश डालते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारनय अभूतार्थ-असत्यार्थ है और शुद्धनय-निश्चयनय भूतार्थ-सत्यार्थ कहा गया है । तो फिर किस नय के आश्रय से सम्यग्दृष्टि होता है ? भूतार्थ-सत्यार्थ-निश्चयनय का आश्रय लेने वाला—निश्चयनय में स्थित हुआ जीव ही वास्तव में सम्यग्दृष्टि होता है इस प्रकार से टीकाकार का व्याख्यान है अर्थात् अमृतचंद्रसूरि का अस्ति-प्राय है किन्तु द्वितीय व्याख्यान से व्यवहारनय अभूतार्थ और भूतार्थ ऐसे दो प्रकार से कहा गया है । केवल व्यवहार ही नहीं ऐसा कहा गया है किन्तु शुद्ध निश्चयनय भी अभूतार्थ और भूतार्थ ऐसा दो प्रकार से कहा गया है । यह कथन गाथा में आये 'दु' शब्द का 'अपि' अर्थ

नयोपीतिव्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चय-
नयोपि द्विधा इति नयचतुष्टयं । इदमत्र तात्पर्यं यथा कोपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति,
नागरिकः पुनः विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति । तथा स्वसंवेदनरूप-
भेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरगादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सदृष्टिजनः
पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मान-
मनुभवतीत्यर्थः ॥१३॥

लेने से घटित हो जाता है । इस प्रकार के व्याख्यान से भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से
व्यवहार भी दो प्रकार का है, और शुद्ध निश्चयनय व अशुद्ध निश्चयनय के भेद से निश्चय-
नय भी दो प्रकार का है ऐसे चार भेद हो जाते हैं ।

यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष कीचड़ सहित जल पी लेता है
किन्तु कोई नागरिक-विवेकी पुरुष उस गन्दे जल में कतकफल को डालकर उसे शुद्ध करके
स्वच्छ जल को पीता है । उसी प्रकार स्वसंवेदनरूप भेदभावना से शून्य कोई मनुष्य
मिथ्यात्व रागादिरूप, विभाव परिणामों से सहित आत्मा का अनुभव करता है, किन्तु
सम्यग्दृष्टि मनुष्य (महामुनि) अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतकफल
के सदृश निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, यह अभि-
प्राय है ॥१३॥

भावार्थ—यहाँ पर तात्पर्यवृत्तिकार ने एक बार तो आत्मख्यातिकार के अभिप्राय से
गाथा का अर्थ किया है, पुनः दूसरा अर्थ करके नय के चार भेद कर दिये हैं ।

उन्होंने गाथा के पूर्वार्द्ध का अन्वय निम्न प्रकार से किया है—

(व्यवहारो अभूयत्थो भूयत्थो देसिवो) व्यवहारनय अभूतार्थ और भूतार्थ ऐसे दो
भेदरूप कहा गया है (शुद्धनयौ दु) और शुद्धनय भी उसी प्रकार से दो भेदरूप कहा गया
है । अभिप्राय यह हुआ कि शुद्धनय-निश्चयनय के भूतार्थ-अभूतार्थ—शुद्धनिश्चयनय और
अशुद्धनिश्चयनय ये दो भेद हो जाते हैं ।

पुनः जयसेनाचार्य कहते हैं कि स्वसंवेदनरूप भेदभावना से शून्य जो जीव है वे
मिथ्यात्व रागादिविभावभावसहित आत्मा का अनुभव करते हैं अतः वे मिथ्यादृष्टि हैं । तथा
अभेदरत्नत्रयलक्षण निर्विकल्प समाधि में स्थित हुये महापुरुष शुद्धनय का अवलंबन लेकर

अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं । सो ये सम्यग्दृष्टि निश्चय-सम्यग्दृष्टि ही समझने चाहिये क्योंकि अभेदरत्नत्रयलक्षण, निर्विकल्पध्यान सातवें आठवें आवि गुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी बुद्धि के ही होता है । यही बात आगे स्वयं श्रीजयसेनाचार्य गाथा नं० १५ अ० की उत्थानिका में कह रहे हैं कि बीतरागचारित्र से अविनाभूत जो सम्यक्त्व है वह निश्चयसम्यक्त्व या बीतरागसम्यक्त्व कहलाता है ।

शंका—यदि शुद्धनय का आश्रय लेने वाले सम्यग्दृष्टि हैं तो अर्थापत्ति से अपने आप सिद्ध हो जाता है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है उसका आश्रय लेने वाले जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जब शुद्धनय का आश्रय लेने वाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि अर्थात् निश्चयसम्यग्दृष्टि हैं तो व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले व्यवहारसम्यग्दृष्टि या सरागसम्यग्दृष्टि हैं, ऐसी अर्थापत्ति निकालनी चाहिये । इसी बात को अगली गाथा में स्वयं श्रीकुंदकुंददेव कह रहे हैं । उसी की टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि भी व्यवहारनय को प्राथमिकशिष्यों के लिये प्रयोजनीभूत कह रहे हैं । ये प्राथमिकशिष्य सम्यग्दृष्टि ही हैं न कि मिथ्यादृष्टि, बल्कि चतुर्थ, पंचम, छठे और सातवें गुणस्थानवर्ती भी व्यवहारनय का ही अवलंबन लेने वाले हैं । यही बात अगली गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य भी स्पष्ट कर रहे हैं ।

निष्कर्ष यह निकला कि असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर छठे गुणस्थानवर्ती जीव इन दोनों या चारों नयों के द्वारा वस्तु का स्वरूप समझकर व्यवहारनय का अवलंबन लेकर शुभ प्रवृत्ति करते हैं और इसके आगे के महामुनि निश्चयनय के विषयभूत शुद्ध आत्मा का आश्रय लेकर शुद्धोपयोग में स्थित हो जाते हैं इसलिये व्यवहारनय मिथ्यादृष्टि के नहीं होता है किन्तु वहाँ व्यवहाराभास ही रहता है अतः वह व्यवहारनय हम और आप के लिये प्रयोजनीभूत ही है । इसी बात को अगले सूत्र में स्पष्ट कर रहे हैं ।

(१४ ज०) शुद्धो शुद्धादेशो णायव्वो परमभावदरिसीहि ।

व्यवहारदेशिता पुण जे दु अपरमे टिठदा भावे ॥१२ अ०॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।

व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१२॥

आत्मख्याति—ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवन्ति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावंकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान् । ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवन्ति

उत्थानिका—अब कहते हैं कि किन्हीं-किन्हीं जीवों को कभी-कभी वह व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है । क्योंकि—

अन्वयार्थ—(परमभावदर्शिभिः शुद्धादेशः शुद्धः ज्ञातव्यः) जो परमभाव के दर्शी हैं उनको शुद्ध आत्मा का कथन करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है (पुनः ये तु अपरमे भावे स्थिताः व्यवहारदेशिताः) किन्तु जो अशुद्धभाव में स्थित हैं उनको व्यवहारनय का उपदेश देना योग्य है ।

आत्मख्याति—जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुये शुद्ध सुवर्ण के सदृश परम भाव का अनुभव करते हैं वे प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि पाकों की परंपरा से पकाये जाते हुये अशुद्ध सुवर्ण के सदृश अपरमभाव के अनुभव से शून्य होते हैं अतः उनके लिये शुद्ध द्रव्य का ही कथन करने वाला होने से जिसने अस्खलित एक स्वभावरूप एक अद्वितीय भाव को प्रकट किया है ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्णावस्था के सदृश जाना गया प्रयोजनवान् है किन्तु जो प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परंपरा से पकाये जाते हुये अशुद्ध सुवर्ण के सदृश अपरमभाव का अनुभव करते हैं वे अन्तिम पाक से उत्तीर्ण शुद्ध सुवर्ण के सदृश परमभाव के अनुभव से शून्य हैं अतः उनके लिये अशुद्ध द्रव्य को कहने वाला होने से प्रतिविशिष्ट—भिन्न-भिन्न एक भावस्वरूप अनेक भावों को दिखलाने वाला ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक पाकों की परंपरा के समान रूप से जाना जाता हुआ

(१४ ज०) जो परमशुद्ध भावना को प्राप्त हुये हैं । उनके लिये ही उपादेय शुद्धनय कहें ॥

श्रावक व मुनी जो सराग भाव में स्थित । इन सबके अपरमभाव में व्यवहारनय कथित ॥१२अ०॥

१. प्राचीन प्रतियों में उपरितनैक पाठ मिला है, किन्तु पं० जयचन्द्र जी को उपरितानेक पाठ मिला था, जिसका अर्थ दूर हुए अनेक वर्णों वाला है ।

तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रति-
विशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजन-
वान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् । उक्तं च—जइ जिणमयं पवज्जह ता मा व्यवहारणिच्छए
मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्च ॥ १२ ॥

उसकाल में प्रयोजनवान् हैं क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था इसी प्रकार से होती है।
कहा भी है—

यदि तुम जिनमत में प्रवृत्ति करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों
नयों को मत छोड़ो क्योंकि एक-व्यवहार के बिना तीर्थ का नाश हो जायेगा और अन्य-
निश्चय के बिना तत्त्व का नाश हो जायेगा । अर्थात् व्यवहारनय से चौथे गुणस्थान से
लेकर चौदहवें गुणस्थान तक धर्मतीर्थ चलता है और निश्चयनय से यह आत्मा शुद्ध है ऐसा
भान होने से आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है । यह उपलब्धि चौथे से छठे तक श्रद्धा से,
सातवें से बारहवें तक उपयोग में और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में पूर्णरूप से हो
जाती है ॥१२॥

विशेषार्थ—यहाँ पर श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने सोलह तावों से शुद्ध हुये असली सुवर्ण के
सहस्र 'परम भाव' को कहा है । जिस प्रकार से इस शुद्ध सुवर्ण में अब अंशमात्र भी पर-
द्रव्य का मिश्रण शेष नहीं रहा है उसी प्रकार से जहाँ पर अंशमात्र भी परद्रव्य के मिश्रण
सहित अवस्था का अनुभव नहीं हो रहा है वही अवस्था परमभाव है । विचार करके देखा
जाये तो उपयोग की यह शुद्ध अवस्था बारहवें गुणस्थान में ही घटेगी । अथवा जहाँ पर
बुद्धिपूर्वक पचप्परमेष्ठी आदि संबंधी शुभ राग भी नहीं है ऐसी सप्तम, अष्टम आदि गुण-
स्थान की दशा में भी शुद्धोपयोग कहा जाता है । उस अवस्था में भी परमभाव का अनुभव
कहा जा सकता है किन्तु उसके पहले जहाँ पर बुद्धिपूर्वक ही राग-द्वेष प्रवृत्तियाँ हो रही हैं
ऐसे चतुर्थ, पंचम व छठे गुणस्थान में 'परम भाव' का अनुभव असंभव ही है । हाँ, यहाँ पर
एक, दो, तीन आदि ताव से शुद्ध हुआ जैसा मिश्रित सुवर्ण होता है उसी प्रकार से सम्यग्-
दर्शन से सहित भी शुभराग से युक्त भाव जो कि 'अपरम भाव' कहलाता है उसका अनुभव
होता है । इसलिये छठे गुणस्थान तक कथंचित् भेदरत्नत्रय की अपेक्षा और सातवें गुण-
स्थान तक भी व्यवहारनय प्रयोजनवान् है । यह बात श्रीअमृतचन्द्रसूरि के शब्दों से स्पष्ट
ही है । कोई भी बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता है कि असंयतसम्यग्दृष्टि
जो कि सतत ही विषय कषायों में संलग्न हो रहा है उसको शुद्ध परमभाव का अनुभव आ

मालिनीछन्द—उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरमवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

रहा है । हाँ, श्रद्धा में उसके यह बात अवश्य है कि मेरी आत्मा शुद्धनिश्चयनय से पूर्ण शुद्ध है, सिद्ध सदृश है उसमें पुद्गल कर्मों का मिश्रण नहीं है, अणुमात्र भी पुद्गल द्रव्य का मेरे साथ संबंध नहीं है ऐसी श्रद्धा रहती है किन्तु उसके उपयोग में तो विषय, कषायों के पोषण के समय अशुभ उपयोग भी हो जाता है और दान, पूजन, सामायिक, स्वाध्याय आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होने से शुभराग मिश्रित उपयोग रहता है क्योंकि सातवें गुणस्थान तक भी शुभोपयोग माना है । सबस्त्र अवस्था में तो क्या निर्वस्त्र मुनि के भी आवश्यक आदि क्रियाओं के समय निर्विकल्प ध्यान नहीं होता है और निर्विकल्प ध्यान के बिना शुद्धोपयोग कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह भी है कि स्वयं अमृतचन्द्रसूरि भी कह रहे हैं कि तीर्थ और तीर्थफल की व्यवस्था व्यवहारनय से ही होती है । जहाँ तक सरागचारित्र है वहाँ तक तीर्थ की प्रवृत्तिरूप व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है । क्षायोपशमिक भावों के सराग संयम को छोटे, सातवें गुणस्थान तक माना है । आगे उपशम श्रेणी में उपशमचारित्र और क्षपक श्रेणी में क्षायिकचारित्र माना है अतः सरागसंयम में शुद्धोपयोग न होने से परमभाव का अनुभव नहीं है ।

अब इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—जिन्होंने स्वयं वशंतमोह का वसन कर दिया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के विरोध को दूर करने वाले, स्यात्पद से चिह्नित ऐसे जिनेन्द्रदेव के वचन में रमण करते हैं—प्रीति करते हैं वे शीघ्र ही समयसार को—शुद्ध आत्मा को देख ही लेते हैं । कैसा है यह समयसार ? जो उत्कृष्ट परमज्योतिस्वरूप है, नूतन नहीं है—अकृत्रिम है और एकांतवादियों के कुतय पक्षों से खंडित नहीं हो सकता है । ऐसे समयसार को देख लेते हैं—प्राप्त कर लेते हैं ॥४॥

सुक्तक छन्द (मात्रिक)—दो नय विरोध का पक्ष दूर कर स्यात् पद से चिह्नित भी हो ।

ऐसे जिन प्रभु के वचनामृत में मोह वसन कर रमते जो ॥

वे संत शीघ्र ही समयसार, निज में अवलोकन करते हैं ।

एकान्त पक्ष से रहित नित्य जो परमज्योति अतिशय से हैं ॥४॥

मालिनीछन्द—व्यवहारनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥५॥

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि जीव स्याद्वादमय जिनवचनों का अभ्यास करते हैं वे बहुत ही थोड़े समय में अपने शुद्ध आत्मतत्त्व का अवलोकन कर लेते हैं उसका साक्षात्कार कर लेते हैं । जिनवचनों का अभ्यास तो चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे तक चलता है किन्तु उसके फलस्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान में ही आता है । हाँ, श्रद्धा से होने वाला अनुभव तो सम्यग्दृष्टि को भी होता है किन्तु शुद्धोपयोग में तन्मय होने से होने वाला शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव महामुनियों को ही होता है ।

काव्यार्थ—यद्यपि इस प्रथम पदवी में पैर रखने वाले शिष्यों के लिये आश्चर्य की बात है कि यह व्यवहारनय हाथ का सहारा है फिर भी चिच्चमत्कारमात्र, पर से शून्य, ऐसे परम अर्थ को अन्तरंग में देखने वालों के लिये यह कुछ भी नहीं है ॥५॥

भावार्थ—अपने अन्तरंग में चैतन्यचमत्कारमात्र परम पदार्थ का अवलोकन निर्विकल्प ध्यान में ही होता है अतः वहाँ पर यह व्यवहारनय कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं क्योंकि वहाँ पर अभेद अवस्था है और व्यवहारनय भेद या औपाधिक अवस्था को ग्रहण करने वाला है । इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस निर्विकल्प ध्यान को प्राप्त करने के पहले चौथे से छठे गुणस्थान तक की अवस्था मोक्ष को प्राप्त करने के लिये प्राथमिक अवस्था है क्योंकि शुद्धचिद्रूप की प्राप्ति तो सातवें आठवें गुणस्थान में परमध्यान में ही होती है अतः उसके पहले पहले तक व्यवहारनय हाथ के लिये सहारा के समान है । इस श्लोक में जो 'हंत' पद है उसको टीकाकार श्रीशुभचन्द्राचार्य ने मात्र वाक्य के अलंकार अर्थ में ही कहा है । अतः उसका खेद यह अर्थ नहीं है । तथा कोश के आधार से इस 'हंत' शब्द का 'हर्ष' अर्थ भी किया जा सकता है ।

मुक्तक छन्द—प्रारम्भ अवस्था में यद्यपि, जो भी अपना पग धरता है ।

कुछ खेद सहित व्यवहार जु नय का हस्तालम्बन लेता है ॥

फिर भी पर से पर भिन्न मात्र है चमत्कार चैतन्य जहाँ ।

अन्तर्दर्शन होते ही नय व्यवहार न किञ्चित् कार्य वहाँ ॥५॥

शार्ङ्गलविक्रीडितं—एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
 पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ॥
 सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।
 तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥

अनुष्टुप्छंद—अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति सत् ।
 नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

काव्यार्थ—शुद्धनय से एकत्वस्वरूप में निश्चित, अपने गुणपर्यायों में व्यापक, पूर्ण-ज्ञानघन, अन्य द्रव्यों से पृथक् इस आत्मा का जो दर्शन-श्रद्धान है । नियम से वह ही सम्यग्दर्शन है और यह आत्मा भी उतने मात्र ही है । इसलिये इस नव तत्त्व की संतति को छोड़ कर हमें यह एक आत्मा ही प्राप्त होवे । ६।

भावार्थ—इस आत्मा को अन्य द्रव्य से पृथक् देखना ही सम्यग्दर्शन है जब ऐसा अर्थ करेंगे तब यह लक्षण निर्विकल्प ध्यान में ही घटित होगा । हाँ, शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा का वंसा श्रद्धान करना वह सविकल्परूप चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में भी घटित हो जायेगा । तथा जो नवतत्त्वों से भिन्न एक आत्मा का अनुभव है वह परम-ध्यान में महामुनियों को ही होता है किन्तु यहाँ तो टीकाकार ने शुद्ध आत्मतत्त्व मुझे प्राप्त हो यह भावना भायी है ।

काव्यार्थ—अतः शुद्धनय के आश्रित, अन्य द्रव्यों से भिन्न ऐसी आत्मज्योति शोभित होती है जो कि नव तत्त्वों को प्राप्त होने पर भी अपने एकत्वस्वरूप को नहीं छोड़ती है । ७।

विशेषार्थ—शुद्धनय की अपेक्षा से आत्मज्योति शुद्ध ही है । यद्यपि वह व्यवहारनय से नवतत्त्वों में चली गई है तो भी यह अपने एकत्वरूप शुद्धस्वरूप को नहीं छोड़ती है । यह कथन भी निश्चयनय की अपेक्षा से ही है ।

मुक्तक छन्द—एकत्व नियत आत्मा यथार्थ, से गुण पर्यय में व्याप्त रहा ।
 है पूर्णज्ञान घनरूप सर्व, द्रव्यों से भिन्न स्व देख रहा ॥
 ये ही सम्यग्दर्शन निश्चित, आत्मा को तावन्मात्र कहो ।
 नव तत्त्व संतति को तजकर मम शुद्ध आत्म की प्राप्ती हो ॥ ६ ॥

मुक्तक छन्द—अतः शुद्धनय के जो आश्रित प्रत्यग् ज्योति विकास हुआ ।
 निज के स्वभाव में रम कर ही, पर से निज गुण को पृथक् किया ॥
 जो आत्मज्योति पर के कारण, नव तत्त्व संग में मिली रही ।
 तो भी चेतन लक्षण स्वरूप एकत्वपने को तजे नहीं ॥ ७ ॥

(उत्थानिका)—अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयमाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति । किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभत्र-

धर्मतीर्थ तो तेरहवें गुणस्थानवर्ती भगवान् अर्हतदेव ही चलाते हैं उनकी बिना इच्छा के भी जो विहार करना, समयसरण में विराजना, दिव्यध्वनि खिरना आदि क्रियायें हैं वे सब व्यवहारनय की अपेक्षा से ही हैं न कि निश्चयनय से, वैसे ही तीर्थ का फल जो मोक्ष की प्राप्ति है वह भी व्यवहारनय की अपेक्षा से ही है क्योंकि संसार और मोक्ष की व्यवस्था; जीव, अजीव आदि नवपदार्थों की व्यवस्था व्यवहारनय से ही होती है । शुद्धनय से तो मात्र जीव त्रैकालिक एक ज्ञायकभावरूप है । इसी प्रकार पाँचवें कलश काव्य में जो अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि “प्राक्पदव्यां निहितपदानां व्यवहरणनयः स्यात् ।” यहाँ पहली सीढ़ी से समयसार में प्रारम्भावस्था लेनी, यह प्रारम्भावस्था छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों की है चूँकि यह ग्रंथ ही मुनियों को लक्ष्य करके लिखा गया है इसमें मात्र एकत्व और निश्चय को प्राप्त ऐसा ‘समय’ ही सर्वत्र कहा गया है । वह ‘समय’ अर्थात् स्वसमय महामुनियों को ही संभव है । श्रीजयसेनाचार्य ने भी इस गाथा १२/१४ की टीका में “निर्विकल्पसमाधिरहितानां” प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां” ऐसा कहा है कि जो निर्विकल्प समाधिरूप ध्यान से रहित प्राथमिक शिष्य हैं—छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि हैं उन्हीं के कदाचित् सविकल्प अवस्था में यह व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है । आगे पुनः इन्होंने ‘अपरमे’ पद की टीका करते हुये चौथे से सातवें गुणस्थान तक व्यवहारनय को प्रयोजनीभूत कहा है । अतः आप ‘प्राक्पदव्यां’ से कथंचित् चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को भी ले सकते हैं चूँकि यह भी “मोक्षमहल की परधमसीढ़ी” है । किन्तु आप व्यवहारनय को झूठा कहकर उसे ‘प्राक्पदव्यां’ से मिथ्यादृष्टि में तो नहीं ले सकते हैं अतः व्यवहारनय को सर्वथा असत्यार्थ कहना और उसके अनुसरण करने वाले को मिथ्यादृष्टि कहना संभव नहीं है ।

उत्थानिका—पूर्व गाथा में कहा था कि भूतार्थनय का आश्रय लेने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है । अब यहाँ पर कहते हैं कि निर्विकल्प समाधि में तन्मय हुये महा-मुनियों को केवल भूतार्थस्वरूप निश्चयनय प्रयोजनवान् ही, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जैसे किसी को सोलह ताव वाले सुवर्ण का लाभ न होने पर नीचे के पंद्रह, चौदह आदि ताव वाला सुवर्ण भी उसके लिये प्रयोजनीभूत है । वैसे ही निर्विकल्प समाधि से रहित

त्केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थाया मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति—

तात्पर्यवृत्ति—शुद्धो शुद्धनयः निश्चयनयः कथंभूतः शुद्धादेशो शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः । णादब्बो ज्ञातव्यो भावयितव्यः । कैः । परमभावदरसीहिं शुद्धात्मभावदर्शिभिः । कस्मादिति चेत् । यतः षोडशवर्णिकाकार्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधि काले सप्रयोजनो भवति । निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः । व्यवहारदेशितो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः पुन पुनः अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति । केषां ? जे ये पुरुषाः दु पुनः अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः, कस्मिन् स्थिताः । भावे जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः । एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पंचमं स्थलं गतं । इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता ॥१४॥

ऐसे प्राथमिकशिष्यों के लिये सविकल्प अवस्था में कदाचित् मिथ्यात्व, विषय, कषायरूप दुर्ध्यान को वंचना के लिये व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् होता है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—शुद्धनय अर्थात् निश्चयनय शुद्धद्रव्य का आदेश अर्थात् कथन करने वाला है । शुद्ध आत्मभाव का अनुभव करने वाले ऐसे आत्मदर्शियों को वह शुद्धनय ही जानने योग्य है, भावना करने योग्य है—अनुभव करने योग्य है । क्यों ? क्योंकि सोलह ताव वाले सुवर्ण के लाभ के समान अभेदरत्नत्रयस्वरूप समाधि के समय प्रयोजनसहित होता है अर्थात् निःप्रयोजन नहीं होता है किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद या पर्याय के द्वारा कहा गया जो व्यवहारनय है वह पुनः नीचे के पंद्रह, चौदह आदि ताव वाले सुवर्ण लाभ के समान प्रयोजनवान् होता है । किनके लिये ? जो पुरुष अपरम-अशुद्धभाव में स्थित हैं अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि और श्रावक की अपेक्षा से सरागसम्यग्दृष्टि वाले शुभोपयोग में जो स्थित हैं और प्रमत्तसंयत तथा अप्रमत्तसंयत की अपेक्षा से जो भेदरत्नत्रय लक्षण वाले जीव पदार्थ में स्थित हैं उनके लिये यह व्यवहारनय प्रयोजनवान् होता है ।

इस प्रकार से निश्चयनय और व्यवहारनय के व्याख्यान के प्रतिपादनरूप से दो गाथाओं द्वारा पंचमस्थल पूर्ण हुआ ॥१४॥

(१५ ज०) भूतार्थेणाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।

आस्रवसंवरणिज्जरा बंधो मोक्षश्च सम्पत्तम् ॥१३ अ०॥

भूतार्थेणाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।

आस्रवसंवरनिज्जरा बंधो मोक्षश्च सम्पत्तम् ॥१३॥

विशेषार्थ—श्रीजयसेनाचार्य ने सोलह ताव से शुद्ध सृवर्ण के सदृश अभेदरत्नत्रयस्वरूप समाधि अवस्था को कहा है एवं अपरमभाव को अशुद्ध कहकर उसके भेद चतुर्थ, पंचम, छठे और सातवें गुणस्थान तक कर दिये हैं । अब इतना स्पष्टीकरण होने पर भी जो लोग चतुर्थ गुणस्थान में ही निश्चयनय के अवलंबन से 'परमभाव' का अनुभव मानते हैं और व्यवहारचारित्र्य पालन करने वाले—भावक व मुनियों को मिथ्यादृष्टी कहते रहते हैं । उनके पक्ष दुराग्रह या मिथ्यात्व कर्म का उदय ही है इसके सिवाय और क्या कहा जा सकता है ? हाँ, सम्यग्दृष्टि जीव दोनों नयों द्वारा वस्तुस्वरूप को समझकर उसका श्रद्धा करता है और व्यवहारनय के अवलंबन से पंचम गुणस्थान के योग्य या छठे गुणस्थान के योग्य चारित्र्य को पालन करना चाहता है या चारित्र्य ग्रहण कर लेता है । पुनः निधिकल्प अवस्था में शुद्धनय के आश्रयभूत ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव कब होवे ? ऐसी भावना भाता है । और व्यवहार चारित्र्यधारी मुनियों की उपासना करके उनसे चारित्र्य को प्राप्त करने का अभ्यास करता है ।

यहाँ पर यह बात निश्चित ध्यान देने योग्य है कि श्रीजयसेनाचार्य स्वयं अपना अभिप्राय मात्र नहीं रखते हैं किन्तु टीकाकार के अभिप्राय से ही गुणस्थान की व्यवस्था स्पष्ट करते हैं ।

इस प्रकार चौदह गाय्याओं द्वारा पांच स्थलों से यह पीठिका पूर्ण हुई । (श्रीजयसेनाचार्य ने यहाँ १४ गाय्याओं में पीठिका बनाई है ।)

उत्थानिका—शुद्धनय से जानना ही सम्यक्त्व है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—

अन्वयार्थ—(भूतार्थेन अभिगताः जीवाजीवौ च पुण्यपापं च आस्रवसंवरणिज्जराः बंधः च मोक्षः सम्पत्तम्) भूतार्थ से जाने हुये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निज्जरा, बंध और मोक्ष ये नवतत्त्व ही सम्यक्त्व हैं ।

(१५ ज०) भूतार्थ से जाने गए जो जीवाजीव हैं । जो पुण्यपाप आस्रव संवर भी तत्त्व हैं ॥

निज्जर व बंध मोक्ष ये सम्यक्त्व कहे हैं । व्यवहार से ये मुक्ति के साधक भी हुए हैं ॥१२ अ०॥

आत्मख्याति—अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एवामीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिष्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्त्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्ष-लक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूते-रात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापं । आस्त्राव्या-

आत्मख्याति—ये जीव आदि नवतत्त्व भूतार्थनय से जाने हुये सम्यग्दर्शन ही हो जाते हैं क्योंकि तीर्थ प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थनय से कहे गये जो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष लक्षणवाले ये नवतत्त्व हैं उन तत्त्वों में एकत्व को प्रकट करने वाले, भूतार्थनय से एकत्व को प्राप्त कर शुद्धनय से व्यवस्थापित जो आत्मा है उसकी आत्मख्याति लक्षणवाली अनुभूति उत्पन्न हो जाती है अर्थात् शुद्धनय से नवतत्त्वों को जानने से आत्मा की ही अनुभूति होती है । उनमें विकार्य और विकारक अर्थात् विकारी होने योग्य और विकार को करने वाला ऐसा दोनोंरूप पुण्य है तथा इन दोनोंरूप ही पाप भी है । आस्त्रव होने योग्य और आस्त्रव करने वाला ऐसे आस्त्राव्य और आस्त्रावक ये दोनों रूप आस्त्रव तत्त्व हैं । संवर होने योग्य और संवर करने वाला ऐसे संवार्य और संवारक इन दोनोंरूप संवर तत्त्व हैं । निर्जरा होने योग्य और निर्जरा करने वाला ऐसे निर्जर्य और निर्जरक इन दोनोंरूप निर्जरा तत्त्व हैं । बंध होने योग्य और बंध करने वाला ऐसे बंध्य और बंधक इन दोनोंरूप बंध तत्त्व हैं । मुक्त होने योग्य और मुक्त होने वाला ऐसे मोच्य और मोचक इन दोनोंरूप मोक्ष तत्त्व हैं । स्वयं एक में पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये सात तत्त्व बन नहीं सकते हैं उभयशब्द से जीव अजीव ये दो तत्त्व कहे जाते हैं अर्थात् पुण्य, पाप आदि सात पदार्थ जीवरूप भी हैं और अजीवरूप भी हैं । इनमें से विकार्य, आस्त्राव्य, संवार्य, निर्जर्य, बंध्य और मोच्य इनरूप जीव परिणत होता है तथा विकारक, आस्त्रावक, संवारक, निर्जरक, बंधक और मोचक इन रूप अजीव (पुद्गल) परिणत होता है ।

बाह्यदृष्टि से विचार करने पर जीव और पुद्गल की अनादिबंधपर्याय को प्राप्त कर एकत्वरूप से इन नवतत्त्वों का अनुभव करने पर ये भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव को प्राप्त कर उनका अनुभव करने पर वे अभूतार्थ—असत्यार्थ हैं इस लिये इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रद्योतित शोभित हो रहा है । उसी प्रकार

सात्रकोभयमाश्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोक्ष्यमोक्षकोभयं मोक्षः । स्वयमेकस्य पुण्यपापाश्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च जीवाजीवाविति । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिवंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीषु

अन्तर्दृष्टि से देखा जाये तो एक ज्ञायकभाव ही जीव है, उस जीव में विकार का कारण अजीव है ।

पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष लक्षणवाले ये सात पदार्थ केवल जीव के विकार हैं अर्थात् पर निमित्त से ही निर्मित हुये हैं । पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये केवल जीव के विकार में हेतु हैं । जीव द्रव्य के स्वभाव को छोड़ कर स्वपरनिमित्तक एक द्रव्य पर्यायरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भी भूतार्थ हैं । तथा सर्वकाल में ही अस्थलित—नहीं खिगते हुये एक जीव के स्वभाव को प्राप्त कर उसका अनुभव करने पर ये नवतत्त्व अभूतार्थ हैं इसलिये इन्हीं नवतत्त्वों में भूतार्थनय की अपेक्षा से एक जीव ही प्रकाशमान हो रहा है । इस प्रकार से यह एकरूप से प्रकाशमान होता हुआ शुद्धनय के द्वारा ही अनुभव में आता है । जो यह अनुभूति है वह आत्मख्याति ही है और जो आत्मख्याति है वही सम्यग्दर्शन है । इस तरह यह सभी कथन निर्दोष है ।

विशेषार्थ—यहाँ पर ऐसा कहा गया है कि भूतार्थ से जाने गये नव पदार्थ ही सम्यक्त्व हैं । अब यहाँ पहले प्रश्न यह होता है कि यह भूतार्थ क्या है ? गाथा ११वीं में श्रीकुंदकुंदवेव ने स्वयं ही शुद्धनय को भूतार्थ कहा है और शुद्धनय से तो जीव के साथ कर्म का संबंध ही नहीं है पुनः जीव और पुद्गल के शुद्ध, पृथक्-पृथक् ही रहने पर आगे के पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ भला कैसे बन सकेंगे ? अर्थात् नहीं बन सकते हैं । तो फिर आखिर यहाँ भूतार्थ से क्या अर्थ लेना ? यह विचारणीय विषय हो जाता है । इसी गाथा की तात्पर्यवृत्ति में श्रीजयसेनाचार्य ने व्यवहार के भूतार्थ-अभूतार्थ और शुद्धनय-निश्चय के भूतार्थ-अभूतार्थ ऐसे चार भेद कर दिये हैं अतः निश्चयनय अर्थात् भूतार्थनय के शुद्धनिश्चय और अशुद्धनिश्चय दो भेद हो गये हैं । इनमें शुद्धनिश्चयनय से तो नवतत्त्व व्यवस्था बन नहीं सकती हैं किन्तु अशुद्धनिश्चयनय से ही नवतत्त्व की व्यवस्था होती है अतः यहाँ पर 'भूतार्थ' शब्द से अशुद्धनिश्चयनयरूप भूतार्थ को लेना संगत प्रतीत होता है ।

नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनको जीव एव प्रद्योतते । तथातर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकार-
हेतुरजीवः । केवला जीवविकाराश्च पुण्यपापास्त्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवला जीवविकार-
हेतवः पुण्यपापास्त्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति । नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपर-

अथवा भूतार्थ के सत्यार्थ, यथार्थ, वास्तविक और प्रयोजनीभूत ये अर्थ करने चाहिये ।
तभी तो ये नवतत्त्व यथार्थ—जैसे के तैसे जाने गये 'सम्यक्त्व' हो जाते हैं ।

प्रश्न—नवतत्त्व सम्यक्त्व कैसे होंगे ? क्योंकि आत्मा का श्रद्धानरूप भाव सम्य-
ग्दर्शन होता है ?

उत्तर—आपका कथन ठीक है, फिर भी वहाँ कारण में कार्य का उपचार करके
अभेदोपचार से इन नवतत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है । चूँकि ये नवतत्त्व जो
श्रद्धानरूप सम्यक्त्व हैं उसके लिये कारण हैं अथवा उसके विषय हैं इस दृष्टि से भी
विषय, नवतत्त्व और विषयीसम्यक्त्व इनमें अभेद करके अभेदोपचार से इन्हें ही
सम्यक्त्व कह दिया है । इसी बात को श्रीजयसेनस्वामी ने तात्पर्यवृत्ति में स्पष्ट कर
दिया है ।

अब आप 'भूतार्थ' के विषय में श्रीअमृतचंद्रसूरि का अभिप्राय देखिये—ये नव-
तत्त्व भूतार्थ से जाने गये सम्यग्दर्शन हो जाते हैं । ये अभूतार्थनय से कहे गये नवतत्त्व
तीर्थ प्रवृत्ति के लिये हैं फिर भी इन नवतत्त्वों में एकत्व को प्रकट करने वाला जो
भूतार्थनय है उसके द्वारा एकत्व का आश्रय लेकर शुद्धनय से व्यवस्थापित जो एक
आत्मतत्त्व है उसी की अनुभूति होती है । इस कथन से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि
यहाँ पर नवतत्त्वों को कहने वाला जो भूतार्थ है उसका यथार्थ अर्थ ही विवक्षित है ।
चूँकि आगे वे स्वयं कहते हैं कि ये पुण्य, पाप, आस्रव आदि तत्त्व केवल एक जीव से या
केवल एक अजीव से उत्पन्न नहीं हुये हैं किन्तु ये जीव अजीव के मेल से बने हुये हैं अतः
जब हम बाह्यदृष्टि से देखते हैं तब ये अनादिकालीन बंध की अपेक्षा से भूतार्थ हैं किन्तु
अंतर्दृष्टि से देखने पर एक जीव द्रव्य के स्वभाव को मात्र विवक्षा रहती है तब ये
अभूतार्थ हो जाते हैं । अब यहाँ बाह्यदृष्टि और अंतर्दृष्टि का भी क्या अभिप्राय है ?
बाह्यदृष्टि अर्थात् औपाधिक भावों को ग्रहण करने वाला अशुद्ध निश्चयनय या व्यवहार-
नय उसकी अपेक्षा से ये नवतत्त्व भूतार्थ अर्थात् यथार्थ हैं प्रयोजनीभूत हैं किन्तु अंतर्दृष्टि
अर्थात् शुद्धनिश्चयनय, उसकी अपेक्षा से मात्र जीव द्रव्य के शुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव को

प्रत्ययेकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्वलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभाव-
मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीदृषि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते ।
एवमसाधेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । यात्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु
सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेव निरवद्यं ।

देखने पर ये नवतत्त्व स्वयं अभूतार्थ, अयथार्थ, अप्रयोजनीभूत हो जाते हैं । चूंकि इस अंत-
र्दृष्टि से अर्थात् स्वभावदृष्टि से देखने पर एक जायक भावमात्र ही जीव है पुनः व्यवहार-
से विचार करने पर जीव को विकारी-संसारो बनाने वाला अजीव द्रव्य है अतः भावपुण्य,
भावपाप, भावआस्रव आदि सात पदार्थ केवल जीव के विकार हैं और द्रव्य-पुण्य,
द्रव्यपाप, द्रव्यआस्रव आदि जां पौद्गलिक सात पदार्थ हैं वे केवल जीव के विकार
में हेतु हैं । इस कथन से भी आचार्य श्रीअमृतचंद्रसूरि जीव अजीव के परस्पर में निमित्त
नैमित्तिक संबंध से ही सात पदार्थों की व्यवस्था मानकर उसे यथार्थ कह रहे हैं न कि
सर्वथा अयथार्थ, क्योंकि आगे वे स्वयं कहते हैं कि जब जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर
मात्र स्वपरनिमित्तक जो एकद्रव्य की पर्यायें हैं उनकी अपेक्षा से अनुभव होता है तो ये
सभी नव पदार्थ भूतार्थ हैं किन्तु जब मात्र जीवद्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से अर्थात्
परमभावग्राहक पारिणामिक भाव की अपेक्षा के देखने पर ये सब नवतत्त्व अभूतार्थ ही हैं
इसलिये इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से मात्र एक जीवतत्त्व ही
प्रकाशित होता है उसी का महामुनिगण शुद्धनय से निर्विकल्पध्यान में अनुभव करते हैं
और उनका जो अनुभव है वही आत्मख्याति है, वही सम्यग्दर्शन है । यहाँ पर भी जो
सम्यग्दर्शन लिया है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है जो कि वीतरागचारित्र के साथ अविना-
भूत है ।

तात्पर्य यही हुआ कि अशुद्धनिश्चयनय से ये नव पदार्थ होते हैं उनको जैसे का
तैसा जानना ही सम्यक्त्व है । सातवें, आठवें आदि गुणस्थानों में आरोहण करने पर
निर्विकल्प परमसमाधिरूप शुद्धोपयोग में इनका अनुभव नहीं होता है अतः ये वहाँ पर
अभूतार्थ हो जाते हैं किन्तु उसके पहले-पहले अशुद्धनिश्चयनय से ये भूतार्थ हैं, यथार्थ हैं ।
शुद्ध निश्चयनय से चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानों तक 'इनमें एक शुद्ध जीव ही भूतार्थ-
यथार्थ हैं, ऐसा श्रद्धान्त होता है । आगे निर्विकल्पध्यान में मात्र उसी शुद्ध जीव का अनुभव
रह जाने से ये अभूतार्थ हो जाते हैं, अप्रयोजनीभूत हो जाते हैं । उसके पहले-पहले

मालिनीछन्द—चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।

अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

प्रयोजनीभूत हैं क्योंकि सारा द्वादशांग इन्हीं नवतत्त्वों पर ही आधारित है । इसे ही काव्य द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—इस आत्मज्योति को आप लोग देखिये—अनुभव कीजिये । यह कौसी है ? जैसे अनेक तावों से तपाने पर सुवर्ण उन तावों में छिप जाता है उसी प्रकार से यह चिरकाल से नवतत्त्वों में छिपी हुई है, शुद्धनय से प्रकट करने योग्य है, हमेशा पर द्रव्यों से भिन्न है, एकरूप है और पद-पद पर प्रकाशमान हो रही है । ८।

भावार्थ—यह आत्मज्योति अनाविकाल से नवतत्त्वों में छिपी हुई है और नय प्रमाण आदि के द्वारा उसमें से अलग करने योग्य है । जैसे कि दो, तीन आदि अनेक तावों से तपाने पर सुवर्ण उसी में छिपा रहता है उसका दूसरों के द्वारा बताये जाने पर ही निश्चय होता है उसी प्रकार से इस आत्मज्योति को भी नयों के प्रयोग से निश्चित करना चाहिये । यहाँ पर भव्यजीवों को संबोधन कर कहा गया है कि हे भव्यजीवों ! तुम लोग निश्चयनय के आश्रय से इस शुद्ध आत्म तत्त्व का अनुभव करो, उसको अंतरंग में देखो । यह अवस्था सप्तम आदि गुणस्थानों में ही होती है । उसके पहले श्रद्धान होता है अतः इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये व्यवहारचारित्र्य प्रयोजनीभूत हो जाता है ।

इसी प्रकार से एकरूप से प्रकाशमान इस आत्मा के जानने के उपायभूत जो ये प्रमाण, नय और निपेक्ष हैं, वे भी वास्तव में अभूतार्थ ही हैं क्योंकि उनमें भी यह एक जीव ही भूतार्थ है । उनमें से प्रमाण के दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । उपात्त—इंद्रिय, अनुपात्त—प्रकाश, पुस्तक, गुरु आदि इन पर के निमित्त से होने वाला ज्ञान परोक्ष है, और केवल आत्मा के प्रति नियत रूप से—आत्मा के अवलंबन से ही प्रकट होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है । ये दोनों भी प्रमाता-आत्मा, प्रमाण-ज्ञान, और प्रमेय-ज्ञेय, इन भेदरूप से अनुभव में आने पर भूतार्थ हैं और समस्त भेदों को दूर कर मात्र एक जीव के स्वभाव

मुक्तक छन्द—जिस तरह वर्णमाला कलाप में स्वर्ण निमग्न रहा जानो ।

यह आत्मज्योति वैसे ही नव, तत्त्वों के मध्य छिपी जानो ॥

सब द्रव्यों से जो भिन्न सदा, है एक रूप चेतन देखो ।

हर पर्यायों में आत्मज्योति, विच्चमत्कार भासित लेखो ॥८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च । तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्तमानं परोक्षं, केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं च, तदुभयमपि प्रमानृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थमथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थः । नयस्तु द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च । तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्याधिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायाधिकः, तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थः । अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थः । निक्षेपस्तु नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावश्च । तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम । सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना । वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, वर्तमानतत्पर्यायो भावस्तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्ष्येनानुभूयमानतायां भूतार्थः । अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थः । अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते ॥ १३ ॥

का अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं । नय के भी दो भेद हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक । द्रव्य पर्यायस्वरूप वस्तु में जो मुख्यता से द्रव्य का अनुभव कराता है वह द्रव्याधिक नय है, और जो उसी द्रव्यपर्यायरूप वस्तु में पर्याय का मुख्यता से अनुभव कराता है वह पर्यायाधिक नय है । द्रव्य और पर्याय का भेदरूप से अनुभव होने पर ये दोनों भी नय भूतार्थ हैं, किन्तु द्रव्य और पर्यायरूप भेद का स्पर्श न करते हुये शुद्ध वस्तुमात्र एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर ये दोनों नय अभूतार्थ हैं । निक्षेप के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार भेद हैं । उनमें से उस गुण से रहित वस्तु में वह 'संज्ञा' करना नाम निक्षेप है । 'यह वही है' इस प्रकार से अन्य वस्तु में उसके प्रतिनिधि की व्यवस्था करना स्थापना निक्षेप है । वर्तमान की उस पर्याय से भिन्न को द्रव्य निक्षेप कहते हैं और वर्तमान में उसी पर्याय से सहित को भाव निक्षेप कहते हैं । ये चारों ही अपने-अपने लक्षण की भिन्नता से अनुभव में आने पर भूतार्थ हैं किन्तु जब भेद रहित और अपने एक लक्षण से लक्षित ऐसे जीव के स्वभाव का अनुभव आता है तब ये निक्षेप अभूतार्थ कहलाते हैं । इस तरह से इन प्रमाण, नय और निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान होता है ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—एकस्वरूप जो शुद्धात्मा है उसके जानने के लिये ये प्रमाण, नय और निक्षेप हैं क्योंकि श्रुतज्ञानरूप प्रमाण के बिना न उस आत्मतत्त्व का ज्ञान ही होगा न अनुभव । नयों में शुद्धनय का अवलंबन लिये बिना आत्मा को शुद्ध कैसे समझेंगे ? ऐसे ही निक्षेपों में भी द्रव्य निक्षेप आदि के आश्रय से ही जीव को वर्तमान में भी शुद्ध कह देते हैं । इन

प्रमाण आदि के बिना आत्मतत्त्व का समीचीन ज्ञान ही असंभव है इसलिये ये सब भूतार्थ हैं किन्तु जब शुद्ध एक आत्मतत्त्व का ही अनुभव आ रहा है ऐसी अभेदपरिणति में—शुद्धोपयोग में—निर्विकल्पध्यान में एकाग्र हो जाने पर ये सब अभूतार्थ—अप्रयोजनीभूत हो जाते हैं। इसी कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान तक इनकी आवश्यकता है अतः वहाँ तक वे प्रयोजनीभूत हैं आगे परमसमाधि की दशा में ये स्वयं छूट जाते हैं इनका अवलंबन ही नहीं रहता है, क्योंकि सीढ़ियों का अवलंबन मंजिल पर पहुँचने तक ही रहता है जबकि स्वयं छूट जाता है। हाँ, जब उतरना होता है तो फिर सीढ़ियों पर पैर रखना होता है वैसे ही सविकल्प अवस्था में आने पर पुनः मुनिगण इन्हीं का अवलंबन ले लेते हैं अतएव स्वाध्याय से ध्यान और ध्यान से स्वाध्याय यह महामुनियों का क्रम चलता रहता है। जब अपक श्रेणी में चढ़ जाते हैं तब इनका अवलंबन सर्वथा छूट जाता है।

प्रश्न—गाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि भूतार्थ का आश्रय लेने वाला सम्यग्दृष्टी है पुनः यहाँ नवतत्त्व, प्रमाण, नय, निक्षेप, आदि को जानने वाला मिथ्यादृष्टी माना जाये, पर्यायबुद्धिवाला माना जाये तो क्या बाधा है? तथा भूतार्थ का आश्रय अविरत सम्यग्दृष्टि के माना जाये इसमें भी क्या बाधा है?

उत्तर—टीकाकार श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि बाह्यदृष्टि से जीव और पुद्गल की अनाविच्छेद पर्याय की अपेक्षा से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा एक जीव द्रव्य के स्वभाव-भाव जायकभाव की दृष्टि से अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं। आगे वे स्वयं कहते हैं कि आत्मा के जानने के उपाय होने से ये प्रमाण, नय, निक्षेप भूतार्थ हैं। इन सब विषयों पर विचार करके देखा जाये तो चारज्ञान के धारी एवं सर्वश्रद्धि से समन्वित श्रीगीतमस्वामी जो कि भगवान् महावीरस्वामी के प्रथम गणधर थे। उन्होंने द्वादशांगरूप श्रुत-शास्त्रों की रचना की उसमें नवतत्त्व और प्रमाण, नय, निक्षेप आदि का ही तो वर्णन है। सभी श्रुतकेवली श्रुतज्ञान से संपूर्ण विश्व को जानते हैं ऐसा कहा जाता है अतः यह सब व्यवहाररूप और अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ही कथन होता है। इनका आश्रय लेने वाले मिथ्यादृष्टि माने जायें तो गीतम गणधर आदि भला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकेंगे? अतः छठे, सातवें गुणस्थान तक भेदविवक्षा से कथन किया जाता है और उन महामुनियों की चर्या भी भेदरत्नत्रयमय होती है। यही कारण है कि यह सब

विषय सरागसम्यग्बुद्धि की अपेक्षा से होता है । आगे अभेदरत्नत्रय में वीतरागसम्यग्बुद्धि के ये सब विकल्प छूट जाते हैं तब वही एक ज्ञायक भावमात्र शुद्ध आत्मा अनुभव में आता है ।

आगे स्वयं श्रीकुंदकुंददेव कहेंगे कि—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि व्यवहारणय भणिदं ।
सुद्धणयस्स द्र जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥
कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं दु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥
दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचि वि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

दोनों नय पक्षों से रहित यह अवस्था जहाँ होती है वही पर भूतार्थ—परमार्थनय का आश्रय होता है । वह किनके होता है ? सो ही देखिये—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं व्यवहारे ण विदुसा पट्ठंति ।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१४६॥

निश्चय के विषय को छोड़कर विद्वान्-ज्ञानी मुनि व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं करते हैं चूंकि परमार्थ का आश्रय लेने वाले यत्तिनों के ही कर्मों का क्षय होता है ।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि आचार्य श्रीकुंदकुंददेव ने समयसार में श्रावक शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं किया है वे अपने शब्दों में ही 'यत्ति, मुनि, संयत आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं । यहाँ भी यत्ति ही परमार्थ का आश्रय ले सकते हैं यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

इसी प्रकरण से यह जाना जाता है कि यहाँ दोनों नयों से जानना व भेद जान करना चौथे गुणस्थानवर्ती से लेकर छठे, सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों तक है । आगे भूतार्थ का आश्रय लेकर निर्विकल्पध्यान में स्थित हुये मुनियों के ही नयपक्षातीत अवस्था होती है तभी उनके कर्मों का क्षय हो जाता है ।

यह नयों के विकल्प से रहित सर्वथा निर्विकल्प अवस्था श्रीकुंदकुंददेव की स्वयं ही नहीं थी । अन्यथा वे ग्रंथ कैसे लिखते ? हाँ, सातवें गुणस्थान के योग्य ध्यानावस्था अवश्य

होती थी तभी वे शुद्धात्मा के अनुभव का आनंद लेते रहते थे और छठे गुणस्थान में आकर आवश्यक क्रियारूप प्रवृत्ति करते थे । क्योंकि इन्होंने ही अपने मूलाचार में छह आवश्यक क्रियाओं में नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपों को लगाने का आदेश दिया है ।

अतः तब पदार्थ व प्रमाण, तब, निक्षेपों का पढ़ना-पढ़ाना मिथ्यात्व नहीं है और निश्चयनय के आश्रय से होने वाली निर्विकल्प अवस्था चौथे गुणस्थान में नहीं है ऐसा समझना ।

यह गाथा श्रीकुंदकुंददेव ने अपने मूलाचार ग्रंथ में पंचाचार अधिकार में रखी है । वहां श्रीवसुनंदि आचार्य ने आचारग्रंथ में अपनी टीका में क्या कहा है । सो देखिये—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपापं च ।

आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मतं ॥२०३॥

अवयवार्थपूर्विका वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति कृत्वा तावदवयवार्थो व्याख्यायते । भूद-
त्थेण—भूतश्चासावर्थश्च भूतार्थस्तेन । यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाचजीवसत्यपृथिव्याद्यनेकार्ये
वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते, तथार्थशब्दो यद्यपि पदार्थप्रयोजनस्वरूपाद्यर्थे वर्तते
तथापि स्वरूपार्थे वर्तमानः परिगृहीतो न्यार्थवाचकेन प्रयोजनाभावात्, भूतार्थेन सत्यस्वरूपेण
याथात्म्येन । अभिगदा—अभिगताः अधिगताः स्वेन-स्वेन स्वरूपेण प्रतिपन्ताः जीवाश्चेतन-
लक्षणा ज्ञानदर्शनमुखदुःस्नानुभवनशीलाः । तद्व्यतिरिक्ता अजीवाश्च पुद्गलधर्माधर्मा-
स्तिकायाकाशकालाः रूपादिगतिस्थित्यवकाशवर्तनालक्षणाः । पुण्यं-शुभप्रकृतिस्वरूपपरिणत-
पुद्गलपिंडो जीवाह्लादननिमित्तः । पावं-पां चाशुभकर्मस्वरूपपरिणतपुद्गलप्रचयो जीवस्या-
सुखहेतुः । आसव-आसमन्तात् स्ववत्पुपढौकते कमनिनास्त्रवः । संवर-कर्मागमनद्वारं संवृणो-
तीति संवरणमात्रं वा संवरो पूर्वकर्मागमननिरोधः । णिज्जर निर्जरणं निर्जरयत्यनया वा
निर्जरा जीवलगतकर्मप्रदेशहानिः । बंधो-बध्यते नेन बन्धनमात्रं वा बन्धो जीवकर्मप्रदेशान्यो-
न्यसंश्लेषो स्वतंत्रीकरणं । मोक्खो-मुच्यते नेन मुक्तिर्वा मोक्षो जीवप्रदेशानां कर्मरहितत्वं
स्वतंत्रीभावः । चशब्दः समुच्चयार्थः । सम्मतं-सम्यक्त्वं । एतेषां यथाक्रम एव न्यायः,
जीवस्य प्राधान्यादुत्तरोत्तराणां पूर्वपूर्वोपकाराय प्रवृत्तत्वाद्वा । न चैतेषामभावो ज्ञानरूप-
मुपचारो वा धर्मार्थकाममोक्षाणामभावादाश्रयाभावात्मुल्याभावाच्च प्रमाणप्रमेयव्यवहाराभावा-
त्लोकव्यवहाराभावाच्च । जीवाजीवा भूतार्थनाधिगताः सम्यक्त्वं । तथा पुण्यपापं चाधिगतं

सम्यक्त्वं । तथा आस्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षाश्चाधिगताः सन्तः सम्यक्त्वं भवति । ननु कथमेते-
 अधिगताः सम्यक्त्वं यावत्तेषामधिगतानां यत्प्रधानं तत् सम्यक्त्वमित्युक्तं, नैष दोषः, श्रद्धानरूप-
 धेयमधिगतिरन्यथा परमार्थाधिगतेरभावात् कारणे कार्योपचाराद्वा जीवादयोधिगताः सम्यक्त्व-
 मित्युक्तं । जीवादीनां परमार्थानां यच्छ्रद्धानं तत्सम्यक्त्वं । अनेन न्यायेनाधिगमलक्षणं
 दर्शनमुक्तं भवति ॥२०३॥

गाथार्थ—सत्यार्थरूप से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर,
 निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये ही सम्यक्त्व हैं ॥२०३॥

आचारवृत्ति—अवयवों के अर्थपूर्वक ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, इसलिए
 पहले अवयव के अर्थ का व्याख्यान करते हैं । अर्थात् पदों से वाक्य रचना होती है इसलिए
 प्रत्येक पद का अर्थ पहले कहते हैं जिससे वाक्यों का ज्ञान हो सकेगा ।

भूत और अर्थ इन दो पदों से भूतार्थ बना है । उसमें से यद्यपि भूत शब्द
 पिशाच, जीव, सत्य, पृथ्वी आदि अनेक अर्थों में विद्यमान है फिर भी यहाँ पर सत्य अर्थ
 में होना चाहिये । उसी प्रकार से अर्थ शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन और स्वरूप आदि
 अनेक अर्थों का वाचक है फिर भी यहाँ पर स्वरूप अर्थ में लिखा गया है क्योंकि यहाँ पर
 अन्य अर्थ का प्रयोजन नहीं है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से व्यवस्थित है
 वे अपने-अपने स्वरूप से ही जाने गये ही सम्यक्त्व हैं ।

जीव का लक्षण चेतना है । वह चेतना ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख के अनुभव
 स्वभाव वाली है, उससे व्यतिरिक्त पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और
 काल ये अजीव द्रव्य हैं । रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणवाला पुद्गल है । धर्मद्रव्य जीव-
 पुद्गलों की गति में सहायक होने से गति लक्षणवाला है । अधर्मद्रव्य इनकी स्थिति में
 सहायक होने से स्थिति लक्षणवाला है । आकाश द्रव्य सभी द्रव्यों को अवकाश देने वाला
 होने से अवकाश लक्षणवाला है और काल द्रव्य वर्तना लक्षणवाला है । शुभ प्रकृति
 स्वरूप परिणत हुआ पुद्गलपिण्ड पुण्य कहलाता है जो कि जीवों में आह्लादरूप सुख
 का निमित्त है । अशुभ कर्मस्वरूप परिणत हुआ पुद्गलपिण्ड पापरूप है जो कि जीव के
 दुःख का हेतु है । जिससे कर्म आ-सब तरफ से, खवति-आते हैं वह आस्रव है अर्थात् कर्मों
 का आना आस्रव है । कर्म के आगमन-द्वार को जो रोकता है अथवा कर्मों का रुकना मात्र
 ही संवर है अर्थात् आने वाले कर्मों का आना रुक जाना संवर है । कर्मों का निर्जीर्ण

होना अथवा जिसके द्वारा कर्म निर्जोर्ण होते हैं, झड़ते हैं, वह निर्जरा है अर्थात् जीव में लगे हुए कर्म प्रदेशों की हानि होना निर्जरा है। यहाँ व्याकरण के लक्षण की व्युत्पत्ति से “निर्जरणं अनया निर्जरयति वा” इस प्रकार से भाव अर्थ में और करण-साधन में विवक्षित है, जिसका ऐसा अर्थ है कि कर्मों का झड़ना यह तो द्रव्य निर्जरा है और जिन परिणामों से कर्म झड़ते हैं वे परिणाम ही भाव निर्जरा हैं।

जिसके द्वारा कर्म बँधते हैं अथवा बँधना मात्र ही बन्ध का लक्षण है बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी भावबन्ध और द्रव्यबन्ध विवक्षित हैं। जीव के प्रदेश और कर्म प्रदेश-परमाणुओं का परस्पर में संश्लेष हो जाना-एकमेक हो जाना बन्ध है, जो जीव और पुद्गलवर्गणा दोनों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर उन्हें परतन्त्र कर देता है।

जिसके द्वारा जीव मुक्त होवे, छूट जाये अथवा छूटना मात्र ही मोक्ष है। इसमें भी व्युत्पत्ति मुच्यते नेन मुक्तिर्वा के लक्षण से भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष विवक्षित है अर्थात् जिन परिणामों से आत्मा कर्म से छूटता है वह भावमोक्ष है और कर्मों से छूटना ही द्रव्य-मोक्ष है सो ही कहते हैं कि जीव के प्रदेशों का कर्म से रहित हो जाना, जीव की परतन्त्र अवस्था समाप्त होकर उसका पूर्ण स्वतन्त्र भाव प्रकट हो जाना ही मोक्ष है।

इन नव पदार्थों का जो यहाँ क्रम लिया है वही न्यायपूर्ण है, क्योंकि जीव द्रव्य ही प्रधान है अथवा आगे-आगे के पदार्थ पूर्व-पूर्व के उपकार के लिये प्रवृत्त होते हैं।

शंका—इन पदार्थों का अभाव है अथवा ये पदार्थ ज्ञानरूप ही हैं या ये उपचाररूप ही हैं? अर्थात् शून्यवादी किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं मानते हैं सो वे ही सबका अभाव कहते हैं। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध सभी चर-अचर जगत् को एक ज्ञानरूप ही मानते हैं। तथा सामान्य बौद्ध या ब्रह्माद्वैतवादी सभी वस्तुओं को उपचार अर्थात् कल्पनारूप ही मानते हैं। उनका कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व अविद्या का ही विलास है। इन सम्प्रदाय-वादियों की अपेक्षा से ये तीन शंकाएँ उठाई गई हैं।

समाधान—आप ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि जीव पदार्थों को या मात्र जीव को ही न माना जाये तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का अभाव हो जायेगा। अथवा यदि जीव को ज्ञानरूप ही मान लीये तो ज्ञान तो एक गुण है और जीव गुणी है, ज्ञान गुण के ही मानने से उसके आश्रय का अभाव हो जायेगा अर्थात् आश्रयभूत

मालिनीछंव—उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्यो याति निक्षेपचक्रं ।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ६ ॥

जीव पदार्थ नहीं सिद्ध हो सकेगा । यदि जीवादि को उपचार से कहोगे तो मुख्य का अभाव हो जायेगा और मुख्य के बिना उपचार की प्रवृत्ति भी कैसे हो सकेगी ? तथा इन एकांत मान्यताओं से प्रमाण और प्रमेय अर्थात् ज्ञान और ज्ञेयरूप व्यवहार का भी अभाव हो जायेगा । और तो और, लोक व्यवहार का ही अभाव हो जाता है अर्थात् जो कुछ भी लोकव्यवहार चल रहा है वह सब समाप्त हो जावेगा ।

सत्यार्थस्वरूप से जाने गये ये जीव-अजीव सम्यक्त्व हैं । उसी प्रकार से सत्यार्थ-स्वरूप से जाने गये पुण्य और पाप ही सम्यक्त्व हैं । तथैव सत्यार्थस्वरूप से जाने गये आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ही सम्यक्त्व हैं ।

शंका—ये जाने गये सभी सम्यक्त्व कैसे हैं ? सत्यार्थरूप से जाने गये इनमें से जो प्रधान है वह सम्यक्त्व है ऐसा कहना तो युक्त हो भी सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो यह अधिगति-ज्ञान है वह श्रद्धानरूप ही है अन्यथा—यदि ऐसा नहीं मानोगे, तो परमार्थरूप से जानने का अभाव हो जायेगा । अथवा कारण में कार्य का उपचार होने से जाने गये जीवादि पदार्थों को ही सम्यक्त्व कह दिया है किन्तु वास्तव में परमार्थरूप जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान है वह सम्यक्त्व है । इस न्याय से यहाँ पर अधिगमलक्षण सम्यग्दर्शन को कहा गया है—ऐसा समझना ।

यह एकत्व का अनुभव अभेददशा में ही होता है सो कैसे ? आगे स्वयं कलशकाव्य में श्रीअमृतचन्द्रसूरि कह रहे हैं । सो ही देखिये—

काव्यार्थ—नयों की लक्ष्मी उदित नहीं होती है, प्रमाण अस्त को प्राप्त हो जाता है और हमें पता ही नहीं चलता कि यह निक्षेपसमूह कहाँ चला जाता है ? इससे अधिक और क्या कहें ? जब सभी भेदों को समाप्त करने वाले, तेजपुंज, ऐसे आत्मा का अनुभव आ जाता है उस समय द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता है । ६।

भावार्थ—यह अवस्था परमसमाधिरूप निर्विकल्पध्यान में प्रकट होती है । वहाँ पर जब ध्यान, ध्याता और ध्येय का ही विकल्प नहीं रह जाता है तब प्रमाण, नय, निक्षेप का

वसन्ततिलका छन्द — ज्यों सूर्य का उदय ही तम पुञ्ज नाशो, त्यों आत्मतेज परभाव सभी बिनाशो ।

निक्षेप चक्र नयश्री न प्रभाकहार्द, आत्मानुभूति परद्वैत प्रकाश नाहीं ॥ ६ ॥

उपजातिछंद—आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।

विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥ १० ॥

विकल्प क्या रहेगा ? अतः जब तक वह अवस्था प्राप्त न हो सके तब तक शुभोपयोग में रहते हुये इनका अवलंबन लेना ही श्रेयस्कर है क्योंकि ये प्रमाण, नय आदि सम्यग्ज्ञान के लिये साधन है अर्थात् जीवादि तत्त्वों का समीचीन ज्ञान इनके बिना नहीं हो सकता है अतः ये छठे गुणस्थान तक उपादेय ही हैं । आगे स्वतः छूट जाते हैं छोड़े नहीं जाते हैं । यही बात इस कलशकाव्य से स्पष्ट हो रही है कि उनका उदय ही उस अभेदध्यान में नहीं होता है ।

काव्यार्थ—आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ यह शुद्धनय उदय को प्राप्त हो रहा है । कैसा है यह आत्मा का स्वभाव ? यह पर भावों से भिन्न है, परिपूर्ण भरा हुआ है, आदि और अन्त से रहित है, एकस्वरूप है और समस्त संकल्प विकल्पों से शून्य है ॥१०॥

विशेषार्थ—इस शुद्धनय के द्वारा आत्मा का सम्यक् श्रद्धान्त तो असंयत सम्यग्दृष्टि को भी हो जाता है किन्तु इस आत्मस्वभाव का प्रकाश शुद्धोपयोग में ही प्रलकता है ।

प्रश्न—समस्त संकल्प विकल्पों से शून्य अभेद अवस्था सातवें गुणस्थान में ही हो ऐसा क्यों ? चतुर्थ गुणस्थान में भी मान लेने से क्या हानि है ?

उत्तर—चूंकि नियमसार में स्वयं श्रीकृष्णकुंददेव ने चतुर्थ अधिकार में व्यवहार-चारित्र के अन्तर्गत तेरह प्रकार का चारित्र और पंचपरमेष्ठी की भक्ति कही है । पुनः अन्तिम सूत्र में कहा है कि—

“णिच्छयणयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पववखामि ।”

व्यवहारचारित्र का कथन करके अब निश्चयनय के चारित्र को इसके आगे अधिकारों में कहूंगा । तथा प्रवचनसार में भी संघमो महामुनि के ही शुद्धोपयोग माना है अतः चौथे गुणस्थान आवि में सविकल्प अवस्था ही रहती है वह भैवदशा ही है । छठे में भी भेद चारित्र ही है, आगे ही अभेदचारित्र होता है ।

वसन्ततिलका छन्द—आत्म स्वभाव परभाव सु-भिन्न ही है, जो पूर्ण रूप सु अनादि अनन्त भी है ।

है निविकल्प इकरूप विकल्प नाशे, वो शुद्धदृष्टि परमात्म को प्रकाशे ॥१०॥

(भूमिका)—अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति । विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति । तद्यथा—विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते ।

(उत्थानिका)—तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्तरीद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामा-
यिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनु-
भूतिस्त देव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते ।
तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका । अथवा नवपदार्था
भूतार्थेन ज्ञाताः संतस्त एवाभेदोपचारेण¹ सम्यक्त्वविषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवन्ति,

यहाँ से श्रीजयसेनाचार्य ने जीवाधिकार प्रारम्भ किया है—

भूमिका—कोई आसन्न भव्य जीव इस पीठिका के व्याख्यानमात्र से ही हेय-उपादेय तत्त्वों को जानकर विशुद्धज्ञानदर्शन स्वभाव वाले अपने स्वरूप की भावना करता है उसका अनुभव करता है किन्तु पुनः विस्तररुचिवात्सा कोई शिष्य आगे कहे जाने वाले नव अधि-
कारों के द्वारा समयसारस्वरूप-अपनी शुद्ध आत्मा को समझकर अनंतर उसकी भावना करता है । उसी विस्तर- रुचिवाले शिष्य के प्रति जीवादि नव पदार्थ के नव अधिकारों से इस समयसार का व्याख्यान किया जा रहा है ।

उत्थानिका—उनमें सर्वप्रथम नवपदार्थ के अधिकाररूप गाथा में आर्त, रौद्रध्यान के परित्याग लक्षण, निर्विकल्पसामायिक में जो स्थित हैं ऐसे मुनियों के जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है और अनुभूति है वही निश्चयनय से निश्चयचारित्र के साथ अविनाभाव संबंध रखने वाला ऐसा निश्चयसम्यक्त्व या वीतरागसम्यक्त्व कहलाता है और वही सम्यक्त्व गुण-गुणी में अभेद को कहने वाले ऐसे निश्चयनय से शुद्धात्मा का स्वरूप है । इस प्रकार से यह एक पातनिका अर्थात् उत्थानिका हुई ।

अथवा भूतार्थ से जाने गये ओ जीवादिनव पदार्थ हैं वे ही अभेदोपचार से सम्यक्त्व का विषय होने से व्यवहारसम्यक्त्व के निमित्त होते हैं, किन्तु निश्चयनय से अपनी आत्मा

निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति:—

तात्पर्यवृत्ति—भूवस्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः संतः । के ते । जीवाजीवा य पुण्यपापं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्षो य जीवाजीवपुण्यपापासवसंवरनिर्जराबंधमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः सम्मत्तं त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवन्ति । निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति । नव पदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः संतः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्ठे प्रत्युत्तरमाह । यद्यपि नव पदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः

का शुद्ध परिणाम ही सम्यक्त्व है, इस प्रकार से यह दूसरी उत्थानिका हुई । इस तरह इन दोनों उत्थानिकाओं को मन में रखकर आगे का सूत्र प्ररूपित करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय या शुद्धनय, इस शुद्धनय के द्वारा निर्णय किये गये—निश्चित किये गये—जाने गये जो जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आसव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव पदार्थ हैं, वे ही अभेद के उपचार के द्वारा सम्यक्त्व होते हैं क्योंकि ये नव पदार्थ ही सम्यक्त्व के विषय हैं और सम्यक्त्व के लिये कारण हैं । निश्चयनय से आत्मा का श्रद्धानरूप परिणाम ही सम्यक्त्व है ।

प्रश्न—नवपदार्थ भूतार्थ से जाने गये सम्यक्त्व होते हैं ऐसा आपने कहा है तो वह भूतार्थ परिज्ञान कैसा होता है ?

उत्तर—यद्यपि तीर्थप्रवृत्ति के लिये प्राथमिकशिष्यों की अपेक्षा से ये नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं फिर भी अभेदरत्नत्रयलक्षण निर्विकल्पसमाधि के काल में अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ हैं क्योंकि ये शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं हैं । उस परमसमाधि के काल में इन नव पदार्थों में से शुद्धनिश्चयनय से एक शुद्ध आत्मा ही प्रद्योतित होता है—प्रकाशित होता है प्रतीत में आता है और अनुभव में आता है । जो यह अनुभूति है, प्रतीति है, शुद्धात्मा की उपलब्धि है वह ही निश्चयसम्यक्त्व है । इस प्रकार वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद की विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है यह अभिप्राय हुआ ।

शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति । तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति । या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिगुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्म-स्वरूपमिति तात्पर्यम् । किं च, ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमान्णद्वितत्त्वविचारकाले सहकारि-कारणभूतास्तेपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः । परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते । इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता ॥१५॥

(१६ ज०) जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणणयं णियदं ।

अविसेसमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४ अ०॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं ।

अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४॥

उसी प्रकार से जो प्रमाण, नय और निपेक्ष हैं वे भी परमात्मा आदि तत्त्वों के विचार के समय सहकारी कारणभूत हैं अतः वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं किन्तु वे परमसमाधि के काल में अभूतार्थ हैं उन सब में भूतार्थ से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है । इस प्रकार नव पदार्थ के अधिकार की गाथा हुई ॥१५॥

भावार्थ—यहाँ पर तो स्पष्टरूप से जयसेनाचार्य ने कह दिया है कि ये नव पदार्थ अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्पध्यान में अभूतार्थ हैं इसके पहले तक भूतार्थ हैं । इससे इस भूतार्थ का प्रयोजनीभूत यह अर्थ सुघटित हो जाता है और इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि शुद्धोपयोग के पहले-पहले यह निश्चयसम्यक्त्व भी नहीं होता है । यहाँ पर भी जो भूतार्थ को निश्चयनय कहा है उससे अशुद्धनिश्चयनय ही ठीक लगता है क्योंकि शुद्धनिश्चयनय से तो जीव त्रिकाल शुद्ध सिद्ध ही है । ऐसे ही प्रमाण, नय आदि भी छठे गुणस्थान तक प्रयोजनीभूत ही हैं ।

उत्थानिका—शुद्धनय का लक्षण क्या है ?

अन्वयार्थ—(यः आत्मानं अबद्धस्पृष्टं अनन्यकं नियतं, अविशेषं असंयुक्तं पश्यति) जो आत्मा को कर्मबंध से रहित, पर के स्पर्श से रहित, अनन्य, अवस्थित, विशेषरहित और अन्य के संयोग से रहित देखता है (तं शुद्धनयं विजानीहि) तुम उसे ही शुद्धनय जानो ।

(१६ ज०) जो जीव निजात्मा को सदा देख रहे हैं । स्पर्श बंध अन्यत्व रहित जान रहे हैं ॥

अविशेष असंयोगि की वह शुद्धनय ही है । इन सबसे सहित जीव स्वयं शुद्धनय ही है ॥१४अ०॥

आत्मख्याति—या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः सात्त्विकानुभूतिरात्मवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोऽनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्तथाहि—यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । तथात्मनोनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्थूलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं ।

आत्मख्याति—जो वास्तव में अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे आत्मा की अनुभूति है वह शुद्धनय है । वह अनुभूति आत्मा ही है इस प्रकार से आत्मा एकरूप ही प्रकाशमान होता है ।

प्रश्न—ऊपर कथित आत्मा की अनुभूति कैसे होती है ?

उत्तर—क्योंकि आत्मा के बद्धस्पृष्ट आदि भाव अभूतार्थ है अर्थात् जो बद्धस्पृष्ट आदि भाव आत्मा के दिख रहे हैं वे असत्यार्थ हैं यही कारण है कि उनसे विपरीत जो अबद्धस्पृष्ट आदिरूप आत्मा है उसी का अनुभव होना यह शुद्धनय है । उसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—जैसे जल में डूबा हुआ जो कमलिनीपत्र है उसका जल से स्पर्शरूप पर्याय से—अवस्था से अनुभव करने पर कमल का जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है फिर भी एकांत से—एकदृष्टि से—स्वभावदृष्टि से वह कमलपत्र जल के स्पर्श योग्य नहीं है ऐसा उस कमलपत्र के स्वभाव का आश्रय लेकर अनुभव करने पर वह जल की स्पर्श दशा अभूतार्थ है । वैसे ही आत्मा की अनादि कर्मबंध से सहित जो बद्ध और उन्हीं कर्मों से स्पर्शितरूप जो अवस्था है उसका अनुभव करने पर आत्मा की बंधनबद्ध और स्पृष्ट दशा भूतार्थ है फिर भी एक अपेक्षा से—स्वभावदृष्टि से पुद्गल से स्पर्श के लिये अयोग्य ऐसे आत्मस्वभाव का आश्रय लेकर अनुभव करने पर वह बद्धस्पृष्ट दशा अभूतार्थ है । जैसे मिट्टी के कुण्डिका, घड़ा, कलशी, कपाल आदि पर्यायों से अनुभव करने पर आत्मा का यह अन्यत्व भाव भूतार्थ है फिर भी सब ओर से अस्थूलित एक मिट्टी का जो स्वभाव है उसका आश्रय लेकर अनुभव करने पर मिट्टी की वह अन्यत्व दशा अभूतार्थ है । उसी प्रकार से नारक आदि पर्यायों से आत्मा का अनुभव करने पर उसकी अन्यत्व दशा भूतार्थ है फिर भी सब ओर से अस्थूलित—सर्व पर्यायों में अविचलरूप ऐसा एक आत्मस्वभाव का आश्रय लेकर अनुभव करने पर आत्मा की वह अन्यत्वदशा अभूतार्थ है । जिस प्रकार समुद्र का वृद्धि-हानि के रूप से अनुभव करने पर उसकी अनियत-अनवस्थित दशा भूतार्थ

तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभाव-मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा चापां सप्ताचिः-प्रत्ययौष्ण्यसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयंबोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्^१ ॥ १४ ॥

है फिर भी उस समुद्र के नित्य ही अवस्थित स्वभाव की अपेक्षा से अनुभव किया जाने पर उसकी वह अनियत अवस्था अभूतार्थ है । उसी प्रकार से आत्मा का वृद्धि-हानि पर्याय से अनुभव किया जाने पर उसकी अनियत-अवस्थितदशा भूतार्थ है फिर भी आत्मा के नित्य ही अवस्थित स्वभाव का आश्रय लेकर उसका अनुभव करने पर वह अनियत-दशा अभूतार्थ है । जैसे सुवर्ण के स्निग्ध, पीत, गुरुत्व आदि अवस्थाओं से उसका अनुभव करने पर उसका विशेषत्व भूतार्थ है फिर भी जहाँ समस्त विशेषधर्म अस्तंगत हो चुके हैं ऐसे एक सुवर्ण के स्वभावमात्र कर आश्रय लेकर उसका अनुभव करने पर वह विशेषत्व अभूतार्थ है । उसी प्रकार से आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि भेदों से उसका अनुभव किया जाने पर यद्यपि यह उसका विशेषत्व भूतार्थ है तो भी जिस अवस्था में समस्त ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद अस्त को प्राप्त हो गये हैं ऐसे उस आत्मस्वभावमात्र का आश्रय लेकर—शुद्धोपयोग में स्थित होकर उसका अनुभव करने पर वहाँ पर वह विशेष दशा अभूतार्थ है । जैसे जल की अग्नि के निमित्त से होने वाली उष्ण दशा का अनुभव करने पर वह संयुक्तभाव-संयोगभाव भूतार्थ है फिर भी एकदृष्टि से जल का अपने शीत स्वभाव का आश्रय लेकर उसका अनुभव करने पर वह संयुक्तपना अभूतार्थ है । वैसे ही आत्मा का कर्म के निमित्त से होने वाला जो मोह है उस मोह से संयुक्त पर्यायों से उस आत्मा का अनुभव किया जाने पर वह संयुक्तदशा भूतार्थ है तो भी एकदृष्टि से स्वयं ज्ञान का बीज-भूत ऐसे आत्मस्वभाव का अनुभव किया जाने पर वह संयुक्तदशा अभूतार्थ है ॥१४॥

विशेषार्थ—यह आत्मा अनादिकाल से कर्म के संबंध से सहित ही है अतः वह कर्म से बद्धस्पृष्ट है। नानापर्यायों को धारण करने से भिन्न-भिन्नरूप है अर्थात् जो देव है वह मनुष्य नहीं है इत्यादि भेदों से भिन्नरूप हो रहा है। छोटे बड़े शरीर आदि में संकोच-विस्तार को प्राप्त होने से अथवा अपने में ही नाना परिणमन होने से यह एकरूप से व्यवस्थित नहीं है अतः अनवस्थित है। ज्ञान, दर्शन आदि विशेष अर्थात् भेदरूप गुणों से सहित होने से विशेष रूप है और मोह आदि कर्मों से संयोग भाव को प्राप्त हो रहा है। ये पाँचों अवस्थायें व्यवहारनय एवं अशुद्धनिश्चयनय से सत्य हैं काल्पनिक नहीं हैं तभी तो यह आत्मा संसारी कहलाता है। फिर भी शुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा कर्म से बद्धस्पृष्ट नहीं है, द्रव्यरूप से अभिन्न है, एकरूप से अवस्थित है, नानागुणों के भेदों से शून्य होने से अविशेष है और कर्म के संयोग से रहित होने से असंयुक्त है। इस रूप आत्मतत्त्व का श्रद्धान तो चतुर्थ गुणस्थान से शुरू हो जाता है किन्तु इस रूप आत्मा का अनुभव शुद्धोपयोग में ही होता है अतः वह अनुभूति ही शुद्धनय है क्योंकि वहाँ पर एक आत्मा ही प्रतिभासित होता है। बल्कि वहाँ पर शुद्धनय का अवलम्बन होते हुये भी उस नय का विकल्प नहीं है अन्यथा यदि एक नय का विकल्प भी है तो फिर शुद्ध आत्मा का एकरूप ही उपयोग कहाँ रहा? जयसेनस्वामी ने तो स्पष्ट कह दिया है कि शुद्धनय से परिणत इस आत्मा को ही तुम अभेदनय से शुद्धनय समझो अतः वहाँ पर भेद-विकल्प अवस्था नहीं है। यह स्थिति सप्तमगुणस्थान से ही शुरू होती है। चूँकि छोटे गुणस्थान तक तो व्यवहारनय के अवलम्बन से सरागधारित्र पाया जाता है। तथा अमृतचन्द्रसूरि ने भी पहले इस बात को कहा है कि 'धिलीतसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।' संकल्प-विकल्प के समूह से रहित ऐसे आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदित होता है। तथा इसके पहले कहा है कि जहाँ नयों का उदय ही नहीं होता है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि शुद्धनय ऐसे आत्मतत्त्व का बोध कराता है और उसको एकरूप आत्मा जब अनुभव में आता है तब वह पलायमान हो जाता है। इसलिये शुद्धोपयोग में स्थित होने के पहले-पहले ये बद्धस्पृष्ट आदि अवस्थायें भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं, प्रयोजनीभूत हैं। इसके आगे स्वयं उनका अनुभव न आने से वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं—अप्रयोजनीभूत हैं। यह अवस्था शुद्धोपयोग में ही संभव है यही बात आगे के कलश काव्यों से भी स्पष्ट हो रही है।

मालिनी छंद—न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽभी, स्फुटमुपरि तरंतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां ।

अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात्, जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥ ११ ॥

शार्दूलविक्रीडितं—भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निभिद्य बंधं सुधी-

यं दंतः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् ।

काव्यार्थ—जहाँ पर ये बद्धस्पृष्ट आदि भाव स्पष्टतया ऊपर तरंते हुये भी स्थिति को प्राप्त नहीं हो रहे हैं, हे जगत् के निवासी ! तुम जोग मोह रहित होकर सब तरफ से प्रकाशमान उस सम्यक् स्वभाव का ही अनुभव करो । ११।

भावार्थ—यहाँ 'जगत्' शब्द से जगत् के निवासी लोगों को लिया है क्योंकि जैसे किसी ने कहा कि मारवाड़ देश आ गया तो वह देश न आकर वहाँ के निवासी लोग ही आये हैं ऐसा अर्थ स्पष्ट होता है । यहाँ 'बद्ध' शब्द से कर्म और नोकर्म के साथ जो जीव का संश्लेष संबंध है उसको लेना तथा 'स्पृष्ट' शब्द से विलसोपचयपरमाणु आदि के साथ जो आत्मा का स्पर्श हो रहा है उसको लेना चाहिये । ये बद्धस्पृष्ट आदि भाव यद्यपि इस संसार में सब प्रकार से उत्कृष्ट हैं, व्यवहारदृष्टि से दिख रहे हैं और व्यवहारी लोगों के द्वारा कहे भी गये हैं फिर भी ये निश्चयनय से आत्मा में नहीं हैं अतः यहाँ आचार्य ने संसारी जीवों को संबोधन करते हुये कहा है कि तुम लोग उस एक शुद्धस्वभाव आत्मा का ही अनुभव करो कि जिसमें ये बद्ध आदि भाव होते हुये भी निर्विकल्प अवस्था होने से अनुभव में नहीं आ पाते हैं ।

काव्यार्थ—यदि कोई बुद्धिमान् भूत, वर्तमान और भविष्यत् संबंधी कर्मों का शीघ्र ही भेदन करके और बलपूर्वक मोह का नाश करके अपने अंतरंग में अपनी आत्मा का अनुभव करता है तो यह आत्मा अपने स्वरूप के अनुभव से ही जिसकी महिमा जानी जाती है ऐसे स्पष्ट रूप, ध्रुव, शाश्वत और कर्मकलंक के पंक से रहित नित्य ही स्वयं देवस्वरूप हो जाता है । १२।

वसन्ततिलका छंद—रागादि भाव परमात्म में तिरे हैं सम्मान प्राप्त नहि हो फिर भी मिले हैं ।

मोही जगत् तज विमोह प्रकाश में हो ये आत्म भाव घर ले जल तेल सम हो ॥ ११ ॥

हरिगीतिका छन्द, मायिका—जो शीघ्र विज्ञ विकल सम्बन्धी जु बन्धन भेदता ।

बल पूर्व मोह विनष्ट कर निज में हि निज को देखता ॥

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा, व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

वसंततिलका—आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।

आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंपमेकोस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥ १३ ॥

भावार्थ—जब यह जीव तपश्चरण ध्यान आदि के द्वारा मोह कर्म का नाशकर पुनः शुक्लध्यान के बल से प्रकृति आदि चार प्रसार के बंधों का भेदन करके अपने शुद्ध-स्वरूप का अनुभव करता है । तब अतीतकालीन बंध का निर्जरा से भेदन समझना, वर्तमान के बंध का संवर द्वारा भेदन समझना और भविष्यत् बंध का बंध के कारणभूत कषाय योग आदि के अभाव से भेदन समझना । इस प्रकार जो जीव पुरुषार्थ के बल से मोह का नाश करके त्रैकालिक बंध से अपने को छुटाकर अपने स्वरूप का अनुभव करता है वह अनंतचतुष्टय को व्यक्त कर सर्वकर्मों से छूटकर परमदेव-सिद्ध परमात्मा हो जाता है । यह अवस्था निर्विकल्पध्यान द्वारा कर्मों के नाश के अनंतर प्रकट हुई अर्हंत-सिद्ध अवस्था ही है । अथवा शुद्ध निश्चयनय से जो सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को मोह और बंध से रहित समझता है वह नित्य शाश्वत, सिद्ध और कर्मपंक से रहित ही है । यह श्रद्धा चौथे से शुरू होकर उस रूप परिणति निर्विकल्पध्यान से परे परमात्मपद में ही होती है । वही यह जीव कर्मपंक से छूटता है ।

काव्यार्थ—जो शुद्धनय के आश्रित होने वाली आत्मा की अनुभूति है वही ज्ञान की अनुभूति है ऐसा निश्चय से समझ करके अपनी आत्मा में ही अपने को अविचल स्थापित करके नित्य ही सब तरफ से यह आत्मा एक ज्ञानघनस्वरूप है ऐसा अनुभव करना चाहिये ॥१३॥

नित आत्म, अनुभव गम्य महिमा, व्यक्त शाश्वत धीर है ।

ऐसा जु कर्म कलंक रूपी पंक रहित स्व देव है ॥१२॥

हरिगीतिका छन्द—जो शुद्ध नय से आत्म अनुभव ज्ञान वैभव है यही ।

है गुण गुणी में भेद संज्ञा वस्तु भेद कभी नहीं ॥

जो विश्व जन निज में हि निज को धार निश्चल ध्यावते ।

सब ओर से नित ज्ञान-घन इक शुद्धरूप हि भासते ॥१३॥

(भूमिका)—तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंतं जीवाधिकारः कथ्यते । तथाहि-सहजानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया जो पस्सवि अप्पाण मित्यादि सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयं । तदनंतरं दृष्टान्तदाष्टान्तिद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावना-मुख्यतया दंसणणाणचरित्ताणि इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयं । ततः परं जीवस्याप्रतिबुद्ध-त्वकथनेन प्रथमगाथा, बंधमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरि-णामानामेव कर्तेति तृतीया चेत्येवं कस्मे णोकम्मम्हि य इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसम्बन्ध-निरपेक्षस्वतन्त्रं गाथात्रयं । तदनंतरमिन्धनाग्निदृष्टान्तिनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थं अहमेद-मित्यादि चतुर्थस्थले सूत्रत्रयं । अतः परं शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानजानानुभूतिलक्षणाभेदरत्न-

भावार्थ—शुद्धनय के अवलम्बन से जो आत्मा का अनुभव होता है वह निर्विकल्प समाधिमय ध्यान में ही होता है अतः वहाँ अन्य ज्ञान का ही एक अनुभव रह जाता है चूंकि वहाँ अमेव अवस्था है । ऐसा समझकर जो भव्यजीव अपनी आत्मा में ही अपने को निश्चल स्थापित कर लेते हैं वे केवलज्ञानस्वरूप हो जाते हैं । यह श्रद्धा यद्यपि चौथे में प्रकट हो जाती है परन्तु उस रूप आत्मानुभव श्रेण्यारोहण में ही होता है पुनः उस स्थिर शुक्लध्यान के बल से सर्व घातिकर्मों का नाश होकर यह आत्मा स्वयं केवलज्ञानमय ही रह जाता है ।

भूमिका—(श्रीजयसेनाचार्यकृत)

इत नव अधिकारों में से सर्वप्रथम अष्टाद्विस गाथा पर्यंत जीवाधिकार कहा जाता है । उसका स्पष्टीकरण यह है कि सहजानंद एक स्वभाव जो शुद्धात्मा है उसकी भावना की मुख्यता से 'जो पस्सवि अप्पाण' इत्यादि सूत्र पाठ के क्रम से प्रथमस्थल में तीन गाथायें हैं । इसके बाद दृष्टान्त और दाष्टान्त के द्वारा भेदाभेदरत्नत्रय की भावना की मुख्यता से 'दंसणणाणचरित्ताणि' इत्यादि रूप से द्वितीयस्थल में तीन गाथायें हैं । इसके अनंतर जीव के अप्रतिबुद्धपने की कहने के लिये एक गाथा है, बंध-मोक्ष के योग्य परिणाम की कहने वाली दूसरी गाथा है, जीव निश्चयनय से रागादि परिणामों का ही कर्ता है ऐसा कहने वाली तीसरी गाथा है, इस तरह 'कस्मे णोकम्मम्हि य' इत्यादि रूप से तृतीयस्थल में परस्पर के संबंध से निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप तीन गाथायें हैं । इसके पश्चात् ईधन और अग्नि के दृष्टान्त से अप्रतिबुद्ध जीव का लक्षण बतलाने के लिये 'अहमेव' इत्यादि रूप से चतुर्थस्थल में तीन सूत्र हैं, पुनः शुद्धात्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, उसी का ज्ञान और उसी

त्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं अण्णाणमोहिदमदी इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रयं । अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देह एवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं यदि जीवो इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका । तदनंतरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन व्यवहारणओ भासदि इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयं । अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंविन्निरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन जो इंदिए जिगित्ता इत्यादि सूत्रत्रयं । एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं । ततः परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन णाणं सव्वे भावा इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयं । तदनंतरमनंतज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धान-
ज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया अहमेवको खलु मुद्धो इत्यादि सूत्रमेकं । एवं दंडकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरंतर-
स्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका ।

की अनुभूति रूप आचरण ऐसे अभेदरत्नत्रय की भावना के विषय में जो जीव अज्ञानी है उसकी समझाने के लिये 'अण्णाणमोहिदमदी' इत्यादि रूप से पंचमस्थल में तीन सूत्र हैं पुनः निश्चयरत्नत्रयलक्षण शुद्धात्मतत्त्व को नहीं जानता हुआ जो जीव शरीर ही आत्मा है ऐसा पूर्वपक्ष रखता है, उसके लिये उसका स्वरूप कहने हेतु 'यदि जीवो' इत्यादिरूप से पूर्वपक्षरूप एक गाथा है, तदनंतर व्यवहार से देह का स्तवन होता है और निश्चय से शुद्ध आत्मा का स्तवन होता है, इस तरह दो नयों के विभाग के प्रतिपादन की मुख्यता से 'व्यवहारणओ भासदि' इत्यादिरूप से परिहार करने वाले चार सूत्र हैं, इसके बाद पर-
मोपेक्षा लक्षण जो शुद्धात्मा का संवेदन है उस रूप जो निश्चय स्तुति है उसके कथन की मुख्यता से 'जो इंदिए जिगित्ता' इत्यादिरूप से तीन गाथायें हैं । इस तरह आठ गाथाओं द्वारा छठास्थल होता है । इसके बाद निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान ही विषयकषाय आदि पर-
द्रव्यों का प्रत्याख्यान है ऐसे कथनपूर्वक 'णाणं सव्वे भावा' इत्यादिरूप से सप्तमस्थल में चार गाथायें हैं, उसके अनंतर अनंतज्ञान आदि लक्षण जो शुद्धात्मा है उसका सम्यक्-
श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण रूप जो अभेदरत्नत्रयलक्षण वाला स्वसंवेदन है वही भावित-
शुद्धात्मा का स्वरूप है इस प्रकार उपसंहार की मुख्यता से 'अहमेवको खलु मुद्धो' इत्यादि-
रूप से एक सूत्र है । इस प्रकार से दंडक सूत्रों को छोड़कर अट्ठाईस सूत्रों द्वारा सात-
अंतरस्थलों से जीवाधिकार में समुदायपातनिका होती है ।

(उत्थानिका)—तद्यथा-अथ प्रथमगाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिकावाद्धिसुवर्णौष्ण्यरहितजलवत्पञ्चविशेषण-विशिष्टं शुद्धात्मानं कथयतिः—

तात्पर्यवृत्तिः—जो पस्सवि यः कर्त्ता पश्यति जानाति । कं । अप्पाणं शुद्धात्मानं । कथंभूतं । अबद्धपुट्ठं द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत् । अण्णणयं अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् नियतं नियतमवस्थितं निस्तरंगोत्तरंगावस्थासु समुद्रवत् अविसेसं अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादि-भेदरहितं गुस्त्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् असंयुक्तं असंयुक्तमसंबद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति तं मुद्धणयं वियाणीहि तं पुरुषमेवाभेद-

उत्थानिका—संसार अवस्था में भी जीव शुद्धनय से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त इन पांच विशेषणों से सहित है, जैसे कि कमलपत्र, मृत्तिका, समुद्र, सुवर्ण और उष्णता रहित जल होते हैं इस तरह अगली गाथा द्वारा शुद्धात्मा का स्वरूप कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो पुरुष शुद्धात्मा को जानता है तुम उस पुरुष को ही अभेदनय से शुद्धनय समझो क्योंकि वह शुद्धनय का विषय है, शुद्धात्मा का साधक है और शुद्ध अभि-प्राय से परिणत है । वह शुद्धात्मा कंसा है ? अबद्धस्पृष्ट है अर्थात् द्रव्यकर्म और नोकर्म से अस्पर्शित है जैसे कि जल में रहते हुये भी कमलपत्र जल का स्पर्श नहीं करता है । अनन्य है अर्थात् नर-नारक आदि पर्यायों में द्रव्यरूप से वही है जैसे कि स्थास, कोश, कुशूल और घट आदि पर्यायों में मृत्तिकाद्रव्य बना ही रहता है । नियत है अर्थात् सब अवस्थाओं में अवस्थित रहने वाला है जैसे कि निस्तरंग और उत्तरंग (ज्वारभाटा) की अवस्था में परिणमता हुआ समुद्र समुद्र ही रहता है । अविशेष है अर्थात् अभिन्न है, ज्ञान-दर्शन आदि जो भेद हैं उन भेदों से रहित है-अभेद रूप है, जैसे कि भारीपन, चिकनाई और पीलापन आदि धर्मों में भी सुवर्ण अभेदरूप है । असंयुक्त है अर्थात् असंबद्ध है, निश्चयनय से रागादि विकल्परूप भावकर्मों से रहित है जैसे कि जल अपने स्वभाव से उष्णता रहित

नयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः ॥१६॥

(१७ ज०) जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणणमविसेसं ।

अपदेससुत्तमज्झं^१ पस्सदि जिणसासनं सत्त्वं ॥१५ अ०॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।

अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

आत्मख्याति - येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाद्विभक्तिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्बलुब्धानां न स्वदते । तथाहि— यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषातिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानाम-

होता है । इस प्रकार से यह शुद्धात्मा अबद्ध आदि पांच विशेषणों से विशिष्ट है और कमलपत्र आदि उदाहरणों से स्पष्टतया जाना जाता है, ऐसा अभिप्राय हुआ ॥१६॥

उत्थानिका—अब इसी प्रकरण को और भी स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—(यः आत्मानं अबद्धस्पृष्टं अनन्यं अविशेषं पश्यति) जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट अनन्य और अविशेष रूप देखता है (अपदेशसूत्रमध्यं सर्वं जिनशासनं पश्यति) वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप संपूर्ण जिनशासन को देखता है ।

आत्मख्याति—जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसी आत्मा की अनुभूति है वह ही वास्तव में संपूर्ण जिनशासन की अनुभूति है क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मस्वरूप है इसलिये ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है किन्तु फिर भी सामान्य के प्रगट होने से और विशेष के आच्छादित—अप्रगट रहने से अनुभव में आया हुआ भी ज्ञान अज्ञानी जनों को नहीं रुचता है । उसी का स्पष्टीकरण देखिये—जैसे अनेक प्रकार के शाक आदि भोजनों के संबंध से उत्पन्न हुआ सामान्य लवण का तिरोभाव और विशेष लवण का आविर्भाव उसरूप से अनुभव में आया हुआ जो लवण है वह भोजन में लुब्ध हुये

(१७ ज०) जो जीव निजात्मा को सदा देख रहे हैं । स्पर्श बंध अन्य ओ विशेष रहित से ॥ वे द्रव्यभाव श्रुत से वाच्य द्वादशांग को । हैं देख रहे जान रहे भी निजात्म को ॥१५ अ०॥

1. 'अपदेशसंतमज्झं' इत्यपि पाठः दिल्ली नयामन्दिरप्रती । न प्रदेशभिन्नं न सान्तं न मध्यं अप्रदेश-सान्तमध्यं । जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि वह जिन शासन आदि, मध्य और अन्त रहित है ।

बुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां । अथ च यदेव विशेषाविर्भावितानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावितानि । तथा विचित्रज्ञेयाकारकर-
बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावितानुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां । अथ च यदेव विशेषाविर्भावितानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावितानुलुब्धबुद्धानां । यथा संधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ॥ १५ ॥

अज्ञानी लोगों को स्वादिष्ट लगता है किन्तु अन्य पदार्थ के संयोग से शून्य ऐसा उस सामान्य लवण का आविर्भाव और विशेष लवण का तिरोभावरूप से उसका स्वाद नहीं आता है । फिर भी जो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आया हुआ लवण है वही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आया हुआ लवण है अर्थात् जो नमक अन्य भोजन में मिश्र होकर स्वाद में आ रहा है वही अन्य में मिश्रित न होकर भी स्वयं स्वाद में आ रहा है । वैसे ही नाना प्रकार के ज्ञेयों के आकार से मिश्रित होने से उत्पन्न हुआ जो सामान्य का तिरोभाव—अप्रगटता और विशेष का आविर्भाव—प्रगटता उसरूप से अनुभव में आया हुआ ज्ञान ज्ञेय में आसक्त हुये ऐसे अज्ञानी जीवों को अनुभव में आता है किन्तु पुनः अन्य पदार्थ के संयोग की शून्यता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आने वाले ज्ञान का अनुभव नहीं आता है । फिर भी जो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आया हुआ ज्ञान है वही ज्ञेय में अनासक्त हुये ऐसे ज्ञानी जनों को वही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है ।

जैसे लवण की उली अन्य द्रव्यों के संयोग के अभाव से केवल लवणमात्र ही अनुभव किये जाने पर एक लवण रस सब प्रकार से—सब तरफ से एक तमकीनरूप ही—धाररूप ही स्वाद में आता है, वैसे ही यह आत्मा भी परद्रव्य के संयोग को दूर करके केवल एक भाव से ही अनुभव किया जाने पर सब तरफ से एक विज्ञानघनस्वभाव होने से ज्ञानरूप से ही अनुभव में आता है ॥ १५ ॥

पृथ्वी छंद—अखंडितमनाकुलं ज्वलदमंतमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।

चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—यहाँ 'जो आत्मा की अनुभूति है वही ज्ञान की अनुभूति है' ऐसा कहा है क्योंकि आत्मा के अनंतगुणों में एक ज्ञानगुण ही ऐसा गुण है जो आत्मा के सर्वगुणों का अनुभव कराता है और आनन्द को बढ़ाता है । यदि आत्मा में ज्ञान गुण न हो तो सुख का अनुभव ही नहीं आ सकता है । यही ज्ञान गुण संसार में क्षयोपशम ज्ञानरूप है अतः भिन्न-भिन्न पदार्थों को जानते समय उनरूप से उनका अनुभव लेता रहता है । इसके लिये ही ग्रंथकार ने एक नमक की डली का उदाहरण दिया है । यह नमक जब किसी साग-सब्जी में डाला जाता है तब उसका मात्र निजी स्वाद नहीं आता है मिश्रित स्वाद आता है वैसे ही यह आत्मा भीसंसार अवस्था में मिश्रित ज्ञेय पदार्थों का अनुभव करता रहता है । जैसे कि मनुष्य, देव आदि पर्यायों में, मति-श्रुत आदि ज्ञानों में या पंचेंद्रियों के विषयों से ग्रहण किये गये पदार्थों में भिन्न-भिन्नरूप से आत्मा का अनुभव कर रहा है । एक मात्र जायकभाव आत्मा का नहीं । किन्तु जब निर्विकल्पध्यान में शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है तब निराकुल ज्ञान ही आत्मा कहलाता है वही निर्विकल्पध्यान में केन्द्रित होकर ध्यान मास पा लेता है ।

काव्यार्थ—यह जो परम—उत्कृष्ट तेज है वह अखंडित है—ज्ञेयों के आकार से खंडित नहीं होता है, जो अनाकुल है—कर्मों के निमित्त से उत्पन्न रागादि भावों से आकुलता रहित है, जो अनंत—अविनाशीरूप से अंतरंग और बहिरंग में वेदीप्यमान है, जो सहज है—स्वभावरूप है, जिसका विलास सदा उदयरूप है—जो सदा एकरूप से प्रतिभासमान है और जो सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है, जैसे नमक की डली एक खारेपन की लीला का अवलंबन लेती है उसी प्रकार जो तेज एक ज्ञानरस स्वरूप का अवलंबन लेता है वह उत्कृष्ट आत्मा का तेज हमें प्राप्त होवे । १४ ।

हरिगीतिका छन्द—जो मुकुरवत् सब ज्ञेय के आकार से खंडित नहीं ।

अतिशय अनाकुल जो अनंतहि ज्योति अन्तर बाह्य भी ॥

अरु लक्षण डलि सम पूर्ण निज रस, नित्य जो आलम्बनो ।

विज्ञान शोभित वह सहज मन, परम तेज प्रकाशनो ॥१४॥

अनुष्टुप्—एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।

साध्यसाधकभावेन द्विधकः समुपास्यतां ॥ १५ ॥

(उत्थानिका)—अथ द्वितीयगाथायां या पूर्व भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयतिः—

काव्यार्थ—यह पूर्व कथित ज्ञानस्वरूप आत्मा एक-अद्वितीय है फिर भी सिद्धि-स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों-मुनियों को साध्य-साधक के भेद से दो प्रकार से सेवा ही उसकी उपासना करनी चाहिये । १५ ।

विशेषार्थ—यद्यपि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा एक अखंड है फिर भी यही ध्येयरूप से साध्य है और ध्यायक रूप से साधक है अतः दो रूप से उपासना के योग्य है । अथवा सिद्धस्वरूप से साध्य है और निश्चय-व्यवहार रत्नत्रयस्वरूप से परिणमन करने से स्वयं ही साधक भी है । या निश्चयरत्नत्रय रूप से साध्य है और व्यवहाररत्नत्रयरूप से साधक है क्योंकि आचार्यश्री ने कई जगह निश्चयरत्नत्रय को साध्य तथा व्यवहार रत्नत्रय को साधन कहा है इसलिये इस आत्मा की ही दो प्रकार से उपासना करनी चाहिये अथवा सेवन करना चाहिये । चूँकि आगे स्वयं ग्रंथकार १६वीं गाथा में कहेंगे कि साधुओं को नित्य ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य का सेवन करना चाहिये पुनः निश्चय से इन तीनों रूप ही आत्मा का सेवन करना चाहिये । इस कथन से निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय में साध्य साधन भाव घटित हो जाता है ।

श्रीशुभचंद्राचार्य ने कलश की टीका में 'एकोऽद्वितीयः' आत्मा को साध्य-साधक भेद से दो प्रकार से सेवन करना चाहिये—उसका ध्यान करना चाहिये, ऐसा अर्थ किया है ।

उत्थानिका—द्वितीयगाथा में जो पूर्व में शुद्धात्मा की अनुभूति को कहा है वह ही निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान की अनुभूति है, अब इसी बात को कहते हैं—

वसन्ततिलका छन्द—जो भी भुवभुवन पूर्ण सु शान्ति चाहें वो आत्म ज्ञानघन को नित खूब ध्यावें ।

जो साध्य-साधक द्विभेद सदा कहा है वो शुद्धदृष्टि इक आत्म को लहा है ॥१५॥

बोहा—सिद्ध अवस्था जो लहे, साध्य उसे ही जान ।

रत्नत्रय की साधना, साधक वही महान ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति । कं अप्पाणं शुद्धात्मानं । किंविशिष्टं । अबद्धपुटं अबद्धस्पृष्टं । अत्र बद्धशब्देन संश्लेषरूपबंधो ग्राह्यः । स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत् । अण्णं अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत् । अविसेसं अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत् नियतमवस्थितं समुद्रवत् असंयुक्तं परद्रव्य संयोगरहितं निश्चयनयेर्नाप्यरहितजलवादिभिः । नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति । कथं लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात् । तदपि कथं, श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः

तात्पर्यवृत्ति—जो शुद्धात्मा को देखता है, जानता है, अनुभव करता है वह पुरुष सर्व द्वादशांग से परिपूर्ण जिनशासन को देखता है, जानता है ऐसा समझना । कंसा है वह शुद्धात्मा ? अबद्धस्पृष्ट है, यहाँ पर 'बंध' शब्द से संश्लेषरूप बंध को और 'स्पृष्ट' शब्द से संयोगमात्र को लेना चाहिये अर्थात् यह शुद्धात्मा द्रव्यकर्म और नोकर्म के स्पर्श से रहित है जैसे जल में रहते हुये भी कमलपत्र जल के स्पर्श से रहित है । अनन्य है—मृत्तिका द्रव्य जैसे अपने सर्वपर्यायस्थास आदि में व्याप्त है उसी तरह यह शुद्धात्मा भी अपनी सर्वपर्यायों में व्याप्त है । अविशेष-सुवर्ण के समान अपने गुणों से अभिन्न है । नियत—समुद्रवत् अवस्थित है और असंयुक्त अर्थात् परद्रव्य के संयोग से रहित है जैसे कि उष्णता रहित जल है । ये सर्व विशेषण निश्चयनय की अपेक्षा से ही हैं ।

प्रश्न—नियत और असंयुक्त विशेषण सूत्र में नहीं हैं पुनः आपने यहाँ उन्हें कैसे लिया ?

उत्तर—सामर्थ्य से लिया है ।

प्रश्न—सो भी कैसे ?

उत्तर—क्योंकि श्रुत और प्रकृत की सामर्थ्य से युक्त ही सूत्र का अर्थ किया जाता है अर्थात् आगम व प्रकरण के अनुसार ही सूत्रार्थ होता है । पूर्व की गाथा में पाँच विशेषणों में ये दोनों विशेषण आये हैं अतः यहाँ पर भी उनको लिया गया है ।

ये तो शुद्धात्मा की विशेषतायें हुई अब जिनशासन की विशेषता को कहते हैं कि वह सर्व जिनशासन क्या है ? अर्थसमयरूप—अर्थात्मक जिनमत है और द्वादशांग से परिपूर्ण है । पुनः वह कंसा है ? अपदेशसूत्रमध्य है 'अपदियते अर्थो येन' जिसके द्वारा अर्थ कहा जाता है वह अपदेश शब्द है । यहाँ 'अपदेश' शब्द से द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना । तथा

इति वचनात् । स पुरुषः परस्मिन् पश्यति जानाति । किं तत् जिणसासनं जिनशासनं अर्थ-
समयरूपं जिनमतं सर्व्वं सर्व्वं द्वादशांगपरिपूर्णं । कथंभूतं । अपदेशसूत्रमध्यं अपदेशसूत्रमध्यं
अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं
ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति ।
अयमत्र भावः । यथा लवणखिल्य एकरसोपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्ना-
स्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां । ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथात्मात्सखंडज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्श-
रसगंधशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खंडखंड-
ज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखंडकेवलज्ञानस्वरूप एव इति हेतोरखंडज्ञानरूपे शुद्धात्मनि
ज्ञाते सति सर्व्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धा-
त्मनि भावना कर्त्तव्येति । किंच मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति
सर्वत्र ज्ञातव्यं ॥१७॥

‘सूत्र’ शब्द से परिच्छित्तिरूप भावश्रुत को लेना जो कि ज्ञानात्मक है । इस प्रकार उस
शब्दसमय-द्रव्यश्रुत से वाच्य कहे जाने योग्य और ज्ञानसमय-भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य
जानने योग्य को ‘अपदेशसूत्रमध्य’ कहते हैं ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार से नमक की डली एक रसवाली है तो भी
वह फल, शाक, पत्रशाक^१ आदि में डाली जाने पर उन पर द्रव्यों के संयोग से अज्ञानी जनों
को भिन्न-भिन्न स्वादवाली मालूम पड़ती है किन्तु ज्ञानीजनों को वह एक अपने नमक के
ही स्वादवाली अनुभव में आती है । उसी प्रकार से यह आत्मा भी यद्यपि अखंड एक ज्ञान
स्वभाववाला है फिर भी निर्विकल्प समाधि से च्युत हुये ऐसे अज्ञानी जीवों को (छठे गुण-
स्थानवर्ती तक को) स्पर्श, रस, गंध, शब्द और नीले, पीले आदि वर्णरूप जो ज्ञेय पदार्थ हैं
उनके विषय भेद से खंड-खंडरूप प्रतिभासित होता है, किन्तु पुनः ज्ञानी (निर्विकल्पध्यान
स्थित) जीवों को अखंड केवलज्ञानस्वरूप ही प्रतिभासित होता है । इस हेतु से अखंडज्ञानरूप
एक शुद्धात्मा के ज्ञान लेने पर सम्पूर्ण ही जिनशासन ज्ञान लिया जाता है ऐसा समझकर
समस्त मिथ्यात्व, रागादि का परिहार करके उसी शुद्धात्मा की ही भावना करनी चाहिये ।
यहाँ मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादिशब्द से चारित्रमोह को लिया गया है, ऐसा
ही सर्वत्र समझना चाहिये ॥१७॥

१. फलशाक—परवल, मिठी आदि का साग । पत्रशाक—मेथी, पालक आदि का पत्तियों का साग ।

(उत्थानिका)—अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति—

(१८ ज०) आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।

आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे योगे ॥*

आत्मा स्फुटं मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।

आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥

तात्पर्यवृत्तिः—आदा शुद्धात्मा खु स्फुटं मज्झ मम भवति । क्व विषये । णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे योगे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यान-

भावार्थ—यह अवस्था भी श्रद्धान और ज्ञानरूप से चौथे गुणस्थान से शुरू होती है पुनः निर्विकल्पध्यान में अनुभव में आती है । व्यवहार में समस्त द्वादशांगश्रुत का ज्ञान भी भार्वालिगी छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि के ही होता है । ग्यारह प्रतिमाधारी क्षुल्लक ऐलक तक भी जो श्रावक हैं उन्हें अंग-पूर्व श्रुत के पढ़ने का अधिकार नहीं है । हाँ, श्री-सुलोचना आर्यिका के ग्यारह अंग तक ज्ञान माना है । द्रव्यलिगी मुनि कदाचित् ग्यारह अंग तक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं लेकिन मुनि हुये बिना एक अंग का ज्ञान भी असंभव है । ऐसे ही उत्कृष्ट श्रावक भी सोलह स्वर्ग तक ही जा सकते हैं किंतु मुनि कदाचित् भार्वालिगी नहीं है द्रव्यलिगी ही है तो भी निर्वस्त्र दिगंबर मुनिवेष और निर्दोष चारित्र के प्रभाव से नव ग्रंथेयक तक भी जा सकते हैं । यहाँ यह समझना कि बिना मुनि हुये शुद्धात्मा का अनुभव एवं संपूर्ण जिनशासन का ज्ञान असंभव है ।

उत्थानिका—अब तीसरी गाथा में शुद्धात्मा की भावना होने पर सम्यग्ज्ञान आदि सभी प्राप्त हो जाते हैं ऐसा निरूपित करते हैं—

अन्वयार्थ—(मम आत्मा खलु ज्ञाने) मेरी आत्मा निश्चय से ज्ञान में है (मे आत्मा दर्शने च चरित्रे) मेरी आत्मा दर्शन और चारित्र में है (आत्मा प्रत्याख्याने) मेरी आत्मा प्रत्याख्यान में है (मे आत्मा संवरे योगे) मेरी आत्मा संवर और योग में है ।

तात्पर्यवृत्ति—मेरी आत्मा स्पष्टतया शुद्धात्मा है । सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, त्याग, संवर और योग इन सब भावनाओं में मेरी एक आत्मा ही है । योग शब्द का क्या

(१८ ज०) मेरे चरित्र ज्ञान ओ दर्शन में सर्वदा । आत्मा ही मुझे दिखता प्रत्याख्यान में सदा ॥

संवर तथा ध्यानस्थ योग में भी आत्मा । निश्चय से मैं विचारता हूँ शुद्ध आत्मा ॥ अ० ॥

* यह गाथा श्रीअमृतचंद्रसुरिकृत टीका में नहीं है ।

संवरयोगभावनाविषये । योगे कोऽर्थः ? निर्विकल्पसमाधौ परमसामाधिके परमध्याने चेत्येको भावः भोगाकांक्षानिदानबंधशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यते इत्यर्थः । एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतं ॥१८॥

(१६ ज०) दंसणणाणचरित्ताणि सेविदब्बाणि साहुणा णिच्चं ।

ताणि पुण जाण तिणिावि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६ अ०॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं ।

तानि पुनर्जानीहि त्रीष्यथात्मानमेव निश्चयतः ॥१६॥

अर्थ है ? यहाँ योग शब्द से निर्विकल्पसमाधि को लिया है, इसे ही परमसामाधिक और परमध्यान भी कहते हैं । भोगों की आकांक्षा, निदान बंध, शल्य आदि से रहित इस परम समाधिरूप शुद्धात्मा का ध्यान करने पर सभी सम्यग्ज्ञान आदि प्राप्त हो जाते हैं यहाँ ऐसा समझना । इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथमस्थल में तीन गाथायें हुईं । इसके आगे भेद-अभेदरत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथायें कहेंगे ॥१८॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा में शुद्धात्मा की परिणति का कथन है । इसका श्रद्धान तो अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर छठे गुणस्थान तक तरतमता से रहता है । सातवें गुणस्थान से आगे दशवें तक बुद्धिपूर्वक रागादि का अभाव होने से शुद्धोपयोगरूप से परिणति रहती है पुनः ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में सर्वथा रागादि का अभाव हो जाने से आत्मा इन रत्नत्रयस्वरूप से निर्विकल्पध्यान में परिणत हो जाता है अतः अभेदरत्नत्रय की प्राप्ति वहीं पर होती है । ये प्रत्याख्यान, संवर और योग उसी रत्नत्रय में गभित माने हैं ।

मुनि को रत्नत्रय धारण करना चाहिये—

अन्वयार्थ—(साधुना नित्यं) मुनियों को नित्य ही (दर्शनज्ञानचरित्राणि) दर्शन, ज्ञान और चारित्र का (सेवितव्यानि) सेवन करना चाहिये (पुनः तानि त्रीणि अपि) और पुनः ये तीनों भी (निश्चयतः आत्मानं एव जानीहि) निश्चयनय से आत्मा ही हैं ऐसा जानो ।

(१६ ज०) साधू मुनी के लिये ज्ञान चरण औ दर्शन । है नित्य सेवितव्य नय व्यवहार का कथन ॥ निश्चय से ये तीनों ही आत्म के स्वरूप हैं । दोनों नयों से आत्मतत्त्व प्राप्यरूप है ॥१६ अ०॥

आत्मख्याति—येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वय-
माकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्र्याणि नित्यमुपास्यानोति प्रतिपाद्यते । तानि पुन-
स्त्रीष्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वन्तराभावाद् यथा देवदत्तस्य कस्यचिद् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च
देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वन्तरं । तत्रात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं
चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वन्तरं, तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते ॥१६॥

स किल—

अनुष्टुप् छंद—दर्शनज्ञानचारित्र्यैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं ।

मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

आत्मख्याति टीका—जिस किसी भाव से यह आत्मा साध्य और साधनरूप हो
उसी भाव से यह नित्य ही उपासना के योग्य है, इस प्रकार से स्वयं विचार करके दूसरों
के लिये व्यवहारनय से ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि मुनि को नित्य ही ये दर्शन, ज्ञान,
चारित्र्य उपास्य हैं—तेवन करने योग्य हैं । पुनः परमार्थ से—निश्चयनय से ये तीनों भी एक
आत्मा ही हैं क्योंकि ये आत्मा से भिन्न अन्य वस्तु नहीं हैं । जैसे किसी देवदत्त नामक
पुरुष के जो ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं, वे उसके स्वभाव का उलंघन नहीं करने से
वे देवदत्त स्वरूप ही हैं उस देवदत्त से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं हैं । उसी प्रकार से
आत्मा में भी जो आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं वे आत्मा के स्वभाव का
उलंघन न करने से आत्मा ही हैं, किंतु आत्मा से भिन्न अन्य कोई वस्तु नहीं है इसलिये
यह निष्कर्ष निकला कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है ऐसा स्वयमेव प्रकाशित
हो रहा है ॥१६॥

वह आत्मा कैसा है ? इसे कलश में कहते हैं—

काव्यार्थ—यह आत्मा प्रमाण की अपेक्षा से एक समय में ही दर्शन ज्ञान चारित्र्य
से तीनरूप होने से मेचक—अनेक अवस्थारूप है और स्वयं एकरूप होने से अमेचक—एक
अवस्थारूप भी है ॥१६॥

वसन्ततिलका छन्द—चारित्र्य ज्ञान दृग् ये, व्यवहार से हैं सो द्रव्यदृष्टि हक चेतन ही कहे हैं ।

जो एक नेक नय भेद, सदा करे है वो एक काल सब भेद प्रमाण से है ॥

दोहा—एक अंश को जो गहे, सो नय कहे महान ।

सर्व अर्थ को जो लहे, सो ही कहे प्रमाण ॥१६॥

अनुष्टुप्—दर्शनज्ञानचारित्र्यैरिन्द्रिजिः परिणतत्वतः । एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥

अनुष्टुप्—परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः । सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥

अनुष्टुप्—आत्मनिश्चितयैवालं मेचकामेचकत्वयोः । दर्शनज्ञानचारित्र्यैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

(उत्थानिका)—इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते—तद्यथा प्रथम-गाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपराद्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति—

अब नयों की अपेक्षा कथन करते हैं—

काव्यार्थ—एक भी यह आत्मा दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य इन तीनरूप से परिणत होने से तीन स्वभाववाला है अतः व्यवहारनय से मेचक है—अनेकरूप है ॥१७॥

काव्यार्थ—पुनः शुद्ध निश्चयनय से यहो आत्मा प्रगट ज्ञातारूप ज्योति से एक ही है अतः संपूर्ण अन्य द्रव्यों के स्वभावरूप-भिन्न भावों को ध्वंस करनेरूप स्वभाववाला होने से अमेचक—एकस्वरूप ही है ॥१८॥

काव्यार्थ—अथवा आत्मा की इस मेचक और अमेचक की चिंता से बस हो । दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है न कि अन्य प्रकार से ॥१९॥

भावार्थ—प्रमाण की अपेक्षा से यह आत्मा भेदाभेदरत्नत्रय की अपेक्षा मेचक और अमेचक दोनोंरूप है । व्यवहाररत्नत्रय की अपेक्षा मेचक है और निश्चयरत्नत्रय की अपेक्षा अमेचक है । इतना कथन करके पुनरपि श्रीअमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि इस भेदाभेद विकल्प को छोड़ो, वास्तव में आत्मा की सिद्धि रत्नत्रय के सिद्धांत अन्य प्रकार से कथमपि संभव नहीं है ।

उत्थानिका—अब आगे भेदाभेदरत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथा कहेंगे । उसमें प्रथम गाथा के पूर्वार्ध से भेदरत्नत्रय की भावना को और गाथा के उत्तरार्ध से अभेद-रत्नत्रय की भावना को कहते हैं—

वसन्ततिलका छन्द (वर्णिक)—त्यों व्यक्ति एक पर्याय अनेक भी है । बालापने तरुण वृद्ध प्रभेद भी है ॥

ज्यों जीव एक त्रय मेचकरूप भी है । रत्नत्रयी परिणमे व्यवहार ही है ॥१७॥

वसन्ततिलका छन्द (वर्णिक)—जो आत्मज्योति इक ही परमार्थ से है । वो व्यक्त ज्ञातृपन से निजरूप में है ॥

जो सर्वभावपन ध्वंसि स्वभाव ज्ञाता । आत्मा अमेचक सदा इक ही विद्याता ॥१८॥

वसन्ततिलका छन्द (वर्णिक)—सम्बन्ध मेचक अमेचक आत्म से है । चिन्ता तजी यह विकल्प सदा करे है ॥

जो साध्य-सिद्धि दूग ज्ञान चरित्र से है । वो आत्मसिद्धि नहि अन्य प्रकार से है ॥१९॥

तात्पर्यवृत्ति—दंसणणाणचरित्ताणि सेविदध्याणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञान-
चारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं ताणि पुण जाण तिण्णिवि
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि अप्पाणं चेव शुद्धात्मानं चैव निश्चयदो निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः ।
अयमत्रार्थः—पंचेंद्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-
त्रयमस्तीति ॥१६॥

तात्पर्यवृत्ति—ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र व्यवहारनय से साधु को नित्य ही सेवन करने योग्य हैं । पुनः शुद्ध निश्चयनय से तीनों भी शुद्धात्मा हैं अतः शुद्धात्मा ही सेवन करने योग्य है ऐसा समझो । इसका अभिप्राय यह है कि पंचेंद्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों हैं ही हैं ॥१६॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा में 'साहुणा' पद है, इससे यह स्पष्ट है कि यह रत्नत्रय मुनियों के ही होता है उससे पूर्व चौथे और पाँचवें गुणस्थान में नहीं होता है । अविरत-गुणस्थान में चारित्र है ही नहीं, पाँचवें में अणुव्रतरूप से देशचारित्र है वह यहाँ विवक्षित नहीं है । श्रीकुम्भकुन्ददेव ने इस गाथा में छठे गुणस्थान के योग्य व्यवहाररत्नत्रय को और सातवें आदि गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होने वाले निश्चयरत्नत्रय को सेवन करने के लिये प्रेरणा दी है ।

आत्मख्याति टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी इन्हीं व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय की चर्चा की है । पुनः कलश काव्यों में भी प्रमाण से दोनों को कहकर व्यवहारनय-निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार और निश्चयरत्नत्रय को कहा है । इसी गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि व्यवहारनय से साधु को व्यवहाररत्नत्रय सेवन करने योग्य है और निश्चयनय से निर्विकल्पध्यान में निश्चयरत्नत्रय स्वयं हो जाता है ।

श्रावक इन भेद-अभेद रत्नत्रय को प्राप्त करने की भावना करे और अपने पद के योग्य अणुव्रत—एक, दो प्रतिमा से लेकर सात प्रतिमा अथवा ग्यारह प्रतिमा तक के व्रतों को धारण कर अपनी शक्ति बढ़ावे । अन्नती सम्यग्दृष्टी अणुव्रती बनने का पुरुषार्थ

(२० ज०) जह नाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सदहवि ।

तो तं अणुचरदि पुणो अत्यत्थीओ पयत्तेण ॥१७ अ०॥

(२१ ज०) एवं हि जीवराया णादब्बो तह य सदहेदब्बो ।

अणुचरिदब्बो य पुणो सो चैव दु मोक्खकामेण ॥१८ अ०॥ (युगलम)

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्धधाति ।

ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥१७॥

एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।

अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥१८॥

आत्मख्याति—यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धते ततस्तमेवानुचरति । तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स

करे और भेद रत्नत्रयधारी मुनियों की भक्ति, पूजा, उपासना करते हुये उन्हें नवधाभक्ति से आहार देते हुये अपने गार्हस्थ्य जीवन को सफल करे यही सनातन-प्राचीन परंपरा है ।

अब उदाहरणपूर्वक इसी रत्नत्रय को धारण करने का उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा नाम कोऽपि अर्थार्थिकः पुरुषः) जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष (राजानं ज्ञात्वा श्रद्धधाति) राजा को जानकर विश्वास करता है (ततः प्रयत्नेन तं अनुचरति) उसके बाद प्रयत्नपूर्वक उन राजा की सेवा करता है (एवं हि मोक्षकामेन) इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को (जीवराजः) जीवरूप राजा का (ज्ञातव्यः) जानना चाहिये (तथा एव श्रद्धातव्यः) उसी प्रकार श्रद्धान करना चाहिये (पुनः च तु स एव च अनुचरितव्यः) और पुनः उसी जीवराजा की ही सेवा करनी चाहिये ।

आत्मख्याति—जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष प्रयत्नपूर्वक पहले तो राजा को जानता है पुनः उसी का विश्वास करता है इसके बाद उसी की आराधना-सेवा करता

(२० ज०) ज्यों कोई धनार्थी पुरुष राजा को जानकर । विश्वास से सेवा करे उस योग्य मानकर ॥

अनुकूल आचरण उसे करना ही पड़ेगा । राजा की कृपादृष्टि से धनवान बनेगा ॥१७ अ०॥

(२१ ज०) उस ही प्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुष को भी । चैतन्य चिदानन्द जीव राजा के प्रती ॥

श्रद्धान ज्ञान आचरण करना ही पड़ेगा । तब ही अभेद शुद्ध आत्मतत्त्व मिलेगा ॥१८ अ०॥

एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां । तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशङ्कमेव स्थातुंशक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः । यदात्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते

है । उसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक—मुनि को पहले आत्मा को जानना चाहिये पुनः उसी का श्रद्धान करना चाहिये अनंतर उसी की आराधना—सेवा करना चाहिये क्योंकि आत्मारूप साध्य की सिद्धि इसी प्रकार से हो सकती है अन्य प्रकार से संभव नहीं है । जिस समय आत्मा के अनुभव में आये हुये जो अनेक पर्यायरूप भेदभाव, उनसे मिश्रित अवस्था होने पर भी परम विवेक-भेदज्ञान की कुशलता से “यह मैं वही हूँ” ऐसी अनुभूति होती है ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त हुआ जैसा जाना गया है, यह आत्मा वैसा है ऐसी प्रतीतिरूप श्रद्धान प्रगट होता है उसी समय समस्त अन्य भावों से भेद का विवेक हो जाने से उस आत्मा में निःशंक ही ठहरने में समर्थ होने से आत्मा के आचरणरूप-चारित्र प्रगट होता हुआ आत्मा को सिद्ध प्राप्त वेता है चूंकि इसी प्रकार से साध्य की सिद्धि का होना संभव है ।

जब आबाल गोपाल जनों को सदा काल ही ऐसी भगवान् आत्मा का स्वयं ही अनुभव आने पर भी अनादि कर्मबंध के निमित्त से परव्रथों के साथ एकत्व का निश्चय कर अज्ञानी के “यह आत्मा मैं हूँ” ऐसा आत्मज्ञानरूप अनुभव नहीं प्रगट होता है तब उस ज्ञान के अभाव में यह श्रद्धान गंधे के सींग के समान होने से यह सत्य श्रद्धान भी प्रगट नहीं होता है पुनः उस समय संपूर्ण अन्य भावों का भेदविज्ञान न होने के कारण निःशंक होकर यह आत्मा उस अपने स्वरूप में ठहरने के लिये समर्थ न हो सकने से आत्मा के आचरणरूप चारित्र के अभाव में आत्मा को साध नहीं सकता है चूंकि साध्य-सिद्धि का अन्य प्रकार से होना सम्भव नहीं है ।

भावार्थ—यह आत्मारूप साध्य की सिद्धि सम्प्रगदर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही हो सकती है । इनके अभाव में नहीं हो सकती है इसी बात को स्पष्ट करते हुये आचार्यदेव काव्य में कहते हैं—

तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतराविवेकेन निःशङ्कमेव स्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः ।

मालिनी छंद—कथमपि समुपात्तश्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्मच्छदच्छम् ।

सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं^१ नित्यमुपास्त एव कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत^२ इति चेत्तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते स्वयंबुद्ध-बोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः । तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा, नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादेवमेतत् ॥१७॥१८॥

काव्यार्थ—जिस आत्मज्योति ने किसी प्रकार से रत्नत्रयरूप-तीनरूपता को प्राप्त की है तो भी वह एकरूपता से च्युत नहीं हुई है, स्वच्छ-कर्ममल रहित उदय को प्राप्त है, अनंत है, चैतन्यचिह्न वाली है इस आत्मज्योति का ही हम सतत अनुभव करते हैं क्योंकि इस आत्म अनुभव के बिना-अन्य किसी प्रकार से आत्मारूप साध्य की सिद्धि निश्चित ही नहीं है, नहीं है ॥२०॥

प्रश्न—यह आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप से एकरूप है—भिन्न नहीं है तब ज्ञान की नित्य उपासना करता ही रहता है पुनः आत्मा को ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जा रही है ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि यह आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्य संबंध रखते हुये भी क्षणमात्र भी उस ज्ञान की उपासना नहीं करता है । इसके ज्ञान की उत्पत्ति या तो स्वयं बुद्ध होने से—स्वयं समझ लेने से या परबोधित—गुरु के समझाने से ही होती है अर्थात् इन दो कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तब तो अपने आप का ज्ञान होने के पहले यह आत्मा अज्ञानी ही है ?

उत्तर—हां, नित्य ही अज्ञानी है, अतः आपका कहना ठीक ही है ॥१७-१८॥

श्रीर छन्द (मात्रिक)—जो तीनरूप प्राप्त एकरूप च्युत नहीं । जो स्वच्छ उदयरूप, नंत चित् स्वरूप ही ॥

यह आत्मज्योति अनुभव में नित्य हम लहें । जो साध्य-सिद्धि क्योंकि अन्यरूप नहि कहें ॥२०॥

१. मुद्रित प्रती 'आत्मानं' इति पाठः । २. 'अनुशासनम्' इत्यपि पाठः प्रती ।

(उत्थानिका)—अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

तात्पर्यवृत्ति—जह यथा णाम अहो स्फुटं वा कोवि कोपि कश्चित् पुरिसो पुरुषः रायाणं राजानं जाणिऊण छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा स हृदि श्रद्धते अयमेव राजेति निश्चिनोति तो ततो ज्ञानश्रद्धानानंतरं तं तं राजानं अणुचरदि अनुचरति आश्रयत्याराधयति । कथंभूतः सन् । अत्थत्थोओ अर्थार्थिको जीवितार्थी पयत्तेण प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टान्तगाथा गता । एवं अनेन प्रकारेण हि स्फुटं जीधराया शुद्धजीवराजा णादब्बो निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः । तह य तथैव सद्देवो अयमेव नित्यानन्दैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः अणुचरिदब्बो य अनुचरितव्यश्च निर्विकल्पसमाधिनानुभवनीयः । पुणो पुनः सो चेव स चैव शुद्धात्मा दु पुनः मोक्खकामेण मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टान्तः । उदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचित्तयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभा-

उत्थानिका—अब दो गाथाओं द्वारा उसी भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा समर्थित करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे कोई भी पुरुष छत्र, चंद्र आदि राजचिह्नों से राजा को जानकर यही राजा है ऐसा विश्वास-निश्चय करता है, अनंतर—विश्वास के बाद उसी राजा की सेवा करता है—आश्रय लेता है, आराधना करता है चूंकि वह धन का इच्छुक है—आजीविका का इच्छुक है अतः सर्वप्रयत्न से राजा की सेवा करता है । यह दृष्टान्त हुआ । उसी प्रकार से स्पष्टतया इस शुद्ध जीवराजा को निर्विकार स्वसंवेदनज्ञान से जानना चाहिये, पुनः उसी प्रकार यह आत्मा ही नित्य आनंदरूप एक स्वभाव वाला, रागादिरहित शुद्धात्मा है ऐसा निश्चय-विश्वास-श्रद्धान करना चाहिये तथा इसी शुद्धात्मा का ही आप मोक्षार्थी मुनि को निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर अनुष्ठान-अनुभव करना चाहिये । यह दार्ष्टान्त हुआ ।

यहाँ तात्पर्य यह हुआ कि भेद-अभेदरत्नत्रय की भावनारूप परमात्मा के चित्तन से ही हमारे सब इष्ट पूर्ण हो जाते हैं पुनः नाना प्रकार के शुभ-अशुभरूप विकल्पजाल से

शुभरूपविकल्पजालेनेति । एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले
गर्तं ॥२०॥२१॥

क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ भी नहीं । इस प्रकार भेद-अभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से द्वितीय स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥२०-२१॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा में पहले ज्ञान को लिया है पश्चात् श्रद्धान को, सो यहाँ सम्यग्दृष्टि की विवक्षा है क्योंकि पहले सामान्य ज्ञान, सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान बन चुका है । यहाँ छठे गुणस्थान में भेदरत्नत्रय की विवक्षा है पुनः आगे के गुणस्थानों में अभेवरूप निश्चयरत्नत्रय की विवक्षा है । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने तो अपनी टीका में तथा कलश काव्य में बहुत ही स्पष्ट कह दिया है कि मोक्षार्थी मुनि व्यवहाररत्नत्रय को तीनरूप से पाले पुनः अभेदरत्नत्रय में स्थित हो जावे । आगे ज्ञान को आत्मा का आत्म-भूत गुण मानकर उसके अलग उपासना की क्या आवश्यकता है ? ऐसा प्रश्न उठाकर समाधान दिया है कि फिर भी ज्ञान की उत्पत्ति स्वयं से या पर से मानी है । इसका अर्थ यही है कि सम्यग्ज्ञान या तो स्वयं नैसर्गिक सम्यक्त्व होने से प्रगट होता है या गुरु के उपदेश से होता है । यहाँ आत्मज्ञान या भेदविज्ञान की उत्पत्ति का कथन है ।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान तक तरतमता से मिथ्यात्व रहता है । चौथे गुणस्थान में अविरत अवस्था है अतः वहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान की बात है चारित्र है ही नहीं । पांचवें गुणस्थान में अणुव्रत हैं । इसके बाद छठे गुणस्थान में महाव्रतरूप से पूर्ण चारित्र है इसलिये यहाँ भेदरत्नत्रय होता है पुनः आगे सातवें गुणस्थान से अभेदरत्नत्रय होता है । इस कथन से यह प्रकरण मुनियों का ही है यह समझ में आता है ।

श्रीजयसेनाचार्य ने अपनी टीका में स्पष्ट कह दिया है कि निर्विकल्प समाधि के द्वारा इस शुद्धात्मस्वरूप जीवराजा का अनुभव करना चाहिये । यह निर्विकल्प समाधि-ध्यान सातवें गुणस्थान से ही संभव है । जब तक भेदरत्नत्रय नहीं होगा तब तक अभेद-रत्नत्रय की बात ही असंभव है । चूँकि यह तृतीयभूमिकारूप अवस्था विशेष है ।

तहि कियंत कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयतां; —

(२२ ज०) कम्मे णोकम्महि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।

जा एसा खलु बुद्धो अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१६ अ०॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म ।

यावदेवा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥१६॥

आत्मख्याति—यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटो-
यमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्व-
भेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु, नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु
पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्ममोहादयोऽंतरंगा नोकर्मशरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः

उत्थानिका—सब कितने काल तक यह अज्ञानी रहता है यह बतलाइये—

अन्वयार्थ—(कर्मणि च नोकर्मणि अहं) कर्म और नोकर्म में मैं हूँ, (च कर्म नोकर्म
अहकं) और ये कर्म, नोकर्म मेरे हैं । (यावत् खलु एसा बुद्धिः) जब तक निश्चित ही ऐसी
बुद्धि रहती है (तावत् अप्रतिबुद्धो भवति) तब तक यह जोध अज्ञानी रहता है ।

आत्मख्याति—जैसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि भावों में पृथु, बुध्न, उदर—
चौड़ा, नीचे गोलाकार उदर, आदि रूप के आकार से बने हुये पुद्गलस्कंधों में 'यह घड़ा है' ।
घड़े में स्पर्श, रस, गंध और वर्णादि जो भाव हैं वे चौड़े, नीचे अवगाहनरूप उदर आदि के
आकार से परिणत पुद्गलस्कंध हैं, इस प्रकार घड़े रूप वस्तु में अभेद की अनुभूति होती
है, उसी प्रकार से मोहादि अंतरंग परिणामरूप कर्मों में और शरीर आदि बहिरंग पदार्थ-
रूप नोकर्मों में जो कि आत्मा के तिरस्कार (अवहेलना) करने वाले पुद्गल के परिणाम हैं
उनमें 'मैं हूँ' अर्थात् मैं ही कर्म, नोकर्मस्वरूप हूँ ।

उसी प्रकार मोहादि अंतरंग भाव कर्म और शरीर आदि बहिरंग पदार्थ-नोकर्म, ये
सब आत्मा के तिरस्कार (अवहेलना) करने वाले पुद्गल के परिणाम 'मेरी आत्मा में हैं'
अर्थात् मेरे हैं, इस प्रकार वस्तु में अभेद से जब तक अनुभव होता है तब तक ही यह आत्मा
अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी है ।

(२२ ज०) ये कर्म औ नोकर्मरूप "मैं" को मान्यता । मेरे ही हैं ये भाव सदा इनका मैं कर्ता ॥

निश्चय से ऐसी बुद्धी बहिरात्मा की हो । इससे न कभी प्राप्ति शुद्धआत्मा की हो ॥१६ अ०॥

पुद्गलपरिणामा अग्नी इति वस्त्वभेदेन यावन्तं कालमनुभूतिस्तावन्तं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः । यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरीष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी जातृतैव, पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतःपरतो वा भेद-विज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदेव प्रतिबुद्धो भविष्यति ॥१६॥

मासिनी छंद—कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूति ये स्वतो वान्यतो वा ।

प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदयिकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

(उत्थानिका)—अथ स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते । तद्यथा—स्वपर-भेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति परं किन्तु कियत्कालपर्यन्तं इति न जायते एवं पृष्ठे-सति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति—

जैसे स्वपर के आकार को झलकाने वाली स्वच्छता रूपीदर्पण की ही है तथा उष्णता और ज्वाला अग्नि की ही है वैसे ही अपने तथा पर के आकार को जानने वाला झलकाने वाला ज्ञातृत्वगुण, अरूपी आत्मा का ही है और कर्म तथा नोकर्म ये पुद्गल के ही हैं । जब किसी समय ऐसी भेदविज्ञानमूलक अनुभूति स्वतः या पर के निमित्त से अपने में उत्पन्न हो जायेगी तभी यह प्रतिबुद्धज्ञानी होगा ॥१६॥

इसी विषय को कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—जो—महामुनि जिस किसी भी तरह स्वतः या अन्य के निमित्त से इस भेदविज्ञानमूलक, निश्चल, अनुभूति को प्राप्त कर लेते हैं वे ही महासाधु दर्पण के सदृश अपने में प्रतिबिम्बित हुये अनन्त भावों-पदार्थों के स्वभावों से निरन्तर विकार रहित हो जाते हैं अर्थात् वे साधु अपने ज्ञान में ज्ञेयों के आकार के झलकने पर भी रागादि भाव को प्राप्त नहीं होते हैं । मात्र ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं ॥२१॥

उत्थानिका—अब स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कहते हैं, उसमें प्रथम ही 'जब तक इस जीव को स्व-पर का भेदविज्ञान नहीं होता है तब तक अज्ञानी है' ऐसा तो ठीक है फिर भी कितने समय तक यह अज्ञानी रहता है यह नहीं समझ में आया ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव पहली गाथा में प्रत्युत्तर देते हुये कहते हैं—

श्री छन्द (मात्रिक)—जो व्यक्ति स्वयं अन्य के उपदेश यत्न से । निज भेद ज्ञानमूल निश्चल अनुभव लहे ॥

वे संत निज में तंत भाव प्रतिकलित किये । दर्पण समान फिर भी निविकार ही रहे ॥२१॥

तात्पर्यवृत्ति—कस्मे कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च णोक-
म्महि य शरीरादिनोकर्मणि च अहमिदि अहमिति प्रतीतिः अहकं च कम्म णोकम्मं अहकं
च कर्म नोकर्मिति प्रतीतिः यथा घटे वर्णदियो गुणा घटाकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्च वर्णादिषु
च घट इत्यभेदेन जा यावंतं कालं एसा एषा प्रत्यक्षीभूता खलु स्फुटं बुद्धी तथा कर्मनोकर्मणा
सह शुद्धबुद्धकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुनः ऐक्यबुद्धिः अप्पडिबुद्धो अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो
बहिरात्मा हवदि भवति ताव तावत्कालमिति । अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिं स्वतः
स्वयंबुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभन्ते ते पुरुषाः शुभाशुभवहिर्द्रव्येषु विद्यमाने-
ष्वपि मुकुरुन्दवदविकारा भवन्तीति भावार्थः ॥२२॥

तात्पर्यवृत्ति—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म में और रागादि भावकर्म में तथा शरीर
आदि नोकर्म में 'यह मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होती है और ये कर्म तथा नोकर्म 'मेरे हैं' ऐसी
प्रतीति होती है वह ऐसी है कि जैसे घड़े में जो वर्ण आदि गुण हैं तथा घड़े के आकार से
परिणत पुद्गलस्कंध हैं वे ही घड़ा हैं और वर्ण आदि में ही घड़ा है अर्थात् पुद्गलस्कंध
और घड़े में अभेद ही है ।

इसी प्रकार से अभेदरूप से जब तक कर्म नोकर्म के साथ शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव
निज परमात्मा में एकतारूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती है तभी तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध-
स्वसंवेदन से शून्य बहिरात्मा बना रहता है । यहाँ पर भेदविज्ञान है मूल कारण जिसमें
ऐसी जो शुद्ध आत्मा की अनुभूति है वह स्वयंबुद्ध जनों को अपने आप और बोधित बुद्धजनों
को गुरु आदि के निमित्त से प्राप्त होती है इस शुद्धात्मा के अनुभव को जो पुरुष-मुनि प्राप्त
कर लेते हैं वे शुभ-अशुभरूप बाह्य पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी दर्पण के समान निर्वि-
कार ही रहते हैं ऐसा अभिप्राय हुआ ॥२२॥

विशेषार्थ—श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कलशकाव्य में आत्मा की अनुभूति के विशेषण में
'अचलित' पद दिया है । यह अविघल अनुभूति निर्विकल्प ध्यान में ही संभव है उस समय
अबुद्धिपूर्वक रागादि विकार उदय में आते रहते हैं कर्मों का बंध भी दशवें गुणस्थान तक

चलता ही है अतः शुभ अशुभ बाह्य पदार्थों की विद्यमानता मानी जा सकती है । कलश-काव्य में दर्पण का उदाहरण भी महत्त्वपूर्ण है, दर्पण में पदार्थ झलकते रहते हैं फिर भी उसमें कुछ भी विकार नहीं आता है । उसी प्रकार शुद्धात्मा के अनुभव में स्थिर हो जाने पर बाह्य मनुष्य तिर्यच आदिकृत उपसर्ग या शीत-उष्ण आदि परीषह आते हैं फिर भी जो महामुनि विकारभाव-विषाद, खेद आदि को प्राप्त नहीं होते हैं वे ही दर्पण के उदाहरण को साकार कर देते हैं ।

इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि 'शुद्धात्मानुभूति' भेदविज्ञानमूलक है । इनकी टीका को अच्छी तरह से पढ़ने वाले यह जानते हैं कि यह शुद्धात्मानुभूति सातवें गुणस्थान से ही शुरू होती है ।

चौथे गुणस्थानवर्ती अव्रती बाह्य पदार्थों के विद्यमान रहते हुये राग-द्वेष न करे—वीतरागी बने रहें यह असंभव है अतः ये अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रद्धा में कर्म नोकर्म को अपने-रूप या अपने नहीं समझते हैं । देशश्रुती एक देशरूप से पापों का त्याग कर श्रद्धा से इन कर्मों और नोकर्मों को अपने से भिन्न समझते हैं । महाव्रती मुनि गृह, परिवार, कुटुम्ब आदि को छोड़कर शरीर मात्र परिग्रह रखते हुये भी उसे अपने रूप या अपने नहीं समझते हैं । आगे ये दिगंबर गुरुद्वेष जब निर्विकल्प ध्यान में—शुद्धोपयोग में लीन हो जाते हैं तभी ये दर्पण के समान ज्ञाता-दृष्टामात्र रह जाते हैं विकार को न प्राप्त होकर निर्विकार बने रहते हैं । ये ही महामुनि ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागी बन जाते हैं ।

यहाँ जो शुद्धात्मानुभूति के पहले अज्ञाती—बहिरात्मा कहा है वह श्रद्धान की अपेक्षा से तो पहले गुणस्थान में घटता है । अथवा उत्तम अंतरात्मा की अपेक्षा समझना चाहिये । यहाँ श्रीजयसेनाचार्य प्रायः शुद्धोपयोगी मुनि को अंतरात्मा और पहले गुणस्थान-वर्ती को बहिरात्मा कहते हैं । चौथे से छठे गुणस्थान तक की अवस्था को गौण कर देते हैं, ऐसा समझना ।

(उत्थानिका)—अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति । अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बंधो भवतीत्याख्यातिः—

(२३ ज०) जीवेव अजीवे वा संपदि समयमिह जत्य उवजुत्तो ।

तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिहिट्ठो ॥*

जीवे वा अजीवे वा संप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः ।

तत्रैव बंधः मोक्षो भवति समासेन निर्विष्टः ॥

तात्पर्यवृत्ति—जीवेव स्वशुद्धजीवे वा अजीवे वा देहादौ वा संपदिसमयमिह वर्तमान-
काले जत्य उवजुत्तो यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्ध्या परिणतः तत्थेव तत्रैव अजीवे जीवे वा
बंधमोक्खो अजीवे देहादौ बंधो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः हवदि भवति समासेण णिहिट्ठो

उत्थानिका—जब शुद्धजीव में रागादि रहित परिणाम—शुद्धोपयोग होता है तभी
मोक्ष होता है और जब अजीवरूप शरीर आदि में रागादि परिणाम रहता है तब बंध
होता है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवे वा अजीवे वा) जीव अथवा अजीव में (संप्रतिसमये यत्र उप-
युक्तः) वर्तमान में जिसमें यह उपयोग लगाता है (तत्र एव मोक्षः बंधः भवति) वहीं मोक्ष
अथवा बंध होता है (समासेन निर्विष्टः) यह संक्षेप से कहा है ।

तात्पर्यवृत्ति—यह जीव अपनी शुद्ध आत्मा में अथवा देह आदि पर पदार्थों में
वर्तमान काल में जहाँ पर उपयुक्त रहता है—तन्मयरूप से परिणत होता है या उसमें
उपादेयबुद्धि से परिणमन करता है । तब वहीं अजीव—देह आदि में तन्मय होने से बंध
होता है और जीव में—शुद्धात्मा में तन्मयरूप से परिणत होने से मोक्ष होता है, सर्वज्ञ-
देव ने संक्षेप से यह कहा है । यहाँ पर ऐसा जानकर सहजानंद एक स्वभाव निज आत्मा

(२३ ज०) जो जीव शुद्ध आत्मतत्त्व प्राप्त कर रहे । वे मोक्षतत्त्व में सदा अनुराग कर रहे ॥

जो देह आदि पुद्गल में उपादेयता । माने वे बंध ही करें सर्वज्ञ ने कहा ॥

* यह गाथा अमृतचन्द्रसूरि की टीका में नहीं है ।

संक्षेपेण सर्वज्ञनिर्दिष्ट इति । अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्त्तव्या तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः ॥२३॥

(उत्थानिका)—अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति—

(२४ ज०) जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

णिच्छयदो व्यवहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥*

में अनुराग करना चाहिये और उससे विलक्षण परद्रव्य से विरक्त होना चाहिये यह अभिप्राय हुआ ॥२३॥

भावार्थ—यहाँ पर श्रीकुंदकुंददेव ने स्पष्ट कहा है कि यह आत्मा जिस समय जहाँ उपयोग स्थिर करता है, जिसरूप से तन्मय हुआ परिणत होता है वैसा ही कर्मबंध या मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । उदाहरणस्वरूप लोहे का गोला अग्नि से तपा हुआ जैसे जल को खींच लेता है उसी प्रकार से यह आत्मा जब जिसरूप से तन्मय होता है वैसे ही कर्मवर्गणाओं को खींच लेता है और जब निर्विकार शुद्ध आत्मा में—शुद्धोपयोग में स्थिर होता है तब कर्मों से छूट जाता है जैसे कि जब लोहा अग्नि से परिणत नहीं होता है तब जल को नहीं खींच पाता है ।

यहाँ यह बात भी विशेष ज्ञातव्य है कि क्रोधादि कषाय या पंचेंद्रिय के विषयों से परिणत आत्मा अशुभ कर्मों का बंध करता है और जिनपूजा, गुरुभक्ति आदि से परिणत हुआ शुभकर्मों का बंध कर लेता है ।

उत्थानिका—अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मों का कर्त्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है ऐसा बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा यं भावं करोति) यह आत्मा जिस भाव को करता है (निश्चयतः सः तस्य भावस्य कर्त्ता भवति) वह निश्चयनय से उस भाव का कर्त्ता होता है (व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्त्ता) और व्यवहारनय से पुद्गलकर्मों का कर्त्ता होता है ।

* यह गाथा अमृतचन्द्रसूरि की टीका में नहीं है ।

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।

निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्ता ॥

तात्पर्यवृत्ति—जं कृणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागा-
दिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्ता भवति । निच्छयदो अशुद्धनिश्चयनयेन
अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्तेति । भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ।
व्यवहारा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् पोगलकम्माण पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां कत्तारं
कर्तेति । कर्तारं इति कर्मपदं कर्तेति कथं भवतीति चेत् प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो
लिंगव्यभिचारश्च । अत्र रागादीनां जीवः कर्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसार-

तात्पर्यवृत्ति—यह आत्मा जिन रागादि भावों को करता है वह उस समय उन
भावों का—परिणामों का कर्ता होता है । अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्ध भावों का कर्ता है
और शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्ता है क्योंकि उन-उन भावों से परिणमन करना
ही 'कर्तृत्व'—कर्तापना है । उसी प्रकार से अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यह
पुद्गल द्रव्यकर्मों का कर्ता होता है ।

प्रश्न—गाथा में 'कर्तारं—कर्तारं' यह कर्म विभक्ति वाला पद है पुनः 'कर्ता' यह
प्रथमांत पद का अर्थ कैसे किया ?

उत्तर—प्राकृतव्याकरण में कहीं-कहीं कारकव्यभिचार और लिंगव्यभिचार देखा
जाता है अतः प्राकृत में 'कर्तारं' द्वितीया पद होते हुये भी यहाँ 'कर्ता' ऐसा प्रथमांत समझ
कर वंसा हो अर्थ करने में कोई दोष नहीं है । यह कारकव्यभिचार हुआ है ।

यहाँ जीव रागादि भावों का कर्ता है और वे रागादि भाव संसार के कारण हैं
अतः संसार से भयभीत और मोक्ष के इच्छुक जनों को समस्त रागादि विभाव से रहित,
शुद्ध द्रव्य गुण पर्यायस्वरूप निज परमात्मा में भावना करनी चाहिये यह अभिप्राय

(२४ ज०) जो जीव जब जिस राग भाव का बना कर्ता । निश्चय अशुद्ध से उसी ही भाव का कर्ता ॥

व्यवहारनय से पुद्गल कर्मादि का कर्ता । है शुद्धनय से शुद्धभाव का ही वो कर्ता ॥

भयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपयग्रे स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्रायः । एवं स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतं ॥२४॥

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत —

(२५ ज०) अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।

अण्णं जं परदब्बं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२० अ०॥

अहमेतदेतदहमहमेतस्यास्मि ममेतत् ।

अन्यदत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥

हुआ । इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीयस्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥२४॥

भावार्थ—श्रीकुंदकुंददेव ने स्वयं यह कहा है कि यह जीव जब जैसे भावों को करता है उसरूप परिणत होने से निश्चयनय से उन्हीं भावों का कर्त्ता माना जाता है । पुनः श्रीजयसेनाचार्य ने निश्चयनय के शुद्ध-अशुद्ध भेद करके खुलासा कर दिया है । यहाँ भी चतुर्थगुणस्थान से छठे तक शुद्धात्मा की भावना होती है आगे शुद्धात्मा की निश्चल अनुभूतिरूप ध्यान होता है । यहाँ श्रीकुंदकुंददेव के शब्दों में ही यह जीव पुद्गलकर्मों का कर्त्ता माना गया है ।

उत्थानिका—पुनः यह अज्ञानी जीव कैसे पहचाना जावे ?

अन्वयार्थ—(यत् अन्यत् परद्रव्यं) जो भी अन्य परद्रव्य (सचित्ताचित्तमिश्र वा) सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र हैं (अहं एतत्) मैं यह हूँ (एतत् अहं) और ये मैं—मुझ स्वरूप हैं । (अहं एतस्य एव अस्मि) मैं इनका ही हूँ (एतत् मम) ये मेरे हैं (पूर्व एतत् मम आसीत्) पहले ये मेरे थे (पूर्व हि अहं अपि एतस्य आसं) पूर्व में मैं भी इनका था (पुनः अपि मम भविष्यति) पुनः आगे भी ये मेरे होंगे (अहं अपि एतस्य भविष्यामि) मैं भी आगे इनका

(२५ ज०) संसार में जो भी सचित्त स्त्रियादि हैं । धनधान्य हैं अचित्त मिश्र ग्राम आदि हैं ॥

मैं हूँ सदा उस रूप वे मेरे ही हुए हैं । मेरे को छोड़कर न अन्यरूप हुए हैं ॥२० अ०॥

(२६ ज०) 'आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वंहि ।

होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ॥२१ अ०॥

(२७ ज०) एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।

भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२अ०॥ (विकल्पम्)

आसीन्मम पूर्वमेतद् एतस्याहमप्यासं पूर्वं हि ।

भविष्यति पुनरपि मम एतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥

एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।

भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥२२॥

आत्मख्याति—यथाग्निरिधनमस्तीधनमग्निरस्त्यग्नेरिधनमस्तीधनस्याग्निरस्त्यग्नेरिधनं पूर्व-
मासीदिधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरिधनं पुनर्भविष्यतीति धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीति धन एवासद्भूताग्नि-
विकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चित्लक्ष्येत तथाहमेतदस्त्येतदहमस्ति ममेतदस्त्येतस्याहमस्मि ममेतत्पूर्व-
मासीदेतस्याहं पूर्वमासं ममेतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वे-

होऊंगा (एतत् असद्भूतं आत्मविकल्पं तु) ऐसे असद्भूत आत्मविकल्प को तो (संमूढः
करोति) मोहो करता है (तु भूतार्थं जानन्) किंतु वास्तविकता को जानता हुआ (तं असंमूढः
न करोति) उन-असत्य विकल्प को ज्ञानी नहीं करता है ।

आत्मख्याति—जैसे कोई अज्ञानी ईंधन और अग्नि को एक साथ मिला हुआ देख
कर ऐसा मिथ्या विकल्प करता है कि अग्नि ईंधन है, ईंधन अग्नि है, अग्नि का ईंधन है
और ईंधन की अग्नि है । अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी । पुनः आगे
अग्नि का ईंधन होगा और ईंधन की अग्नि होगी, इस प्रकार ईंधन में ही असद्भूत अग्नि

(२६ ज०) मेरे ही थे ये पूर्व में मैं इनके साथ था । आगे भी होंगे मेरे इनका मैं होऊंगा ॥

ये सब सच्चित्ताचित्त मिश्र भाव मैं करता । त्रिकाल में भी इनको नहि छोड़ मैं सकता ॥२१ अ०॥

(२७ ज०) ऐसा जो असद्भूत राग का विकल्प है । वह मूढ़ पुरुष आत्म में करता विकल्प है ॥

परमार्थ से वस्तु स्वरूप जानता हुआ । मिथ्या विकल्प नहि करे ज्ञानी वही कहा ॥२२अ०॥

1. तात्पर्यवृत्ति के अनुसार इस गायत्री के द्वितीय और चतुर्थ पाद क्रमशः इस प्रकार हैं—अहमेदं चावि पुव्व कालमिह,
अहमेदं चावि होस्सामि ।

नाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा । नाग्निरिधनमस्ति नैधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीधनमिधनमस्ति । नाग्नेरिधन-
मस्ति नैधनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तीधनस्यैधनमस्ति । नाग्नेरिधनं पूर्वमासीन्नैधनस्याग्निः पूर्वमासी-
दग्नेरग्निः पूर्वमासीदिधनस्यैधनं पूर्वमासीन्नान्नेरिधनं पुनर्भविष्यति नैधनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेर-
ग्निः पुनर्भविष्यतीधनस्यैधनं पुनर्भविष्यतीति कस्याचिदग्नौवेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि
नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममेतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति न ममेतत्पूर्व-
मासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीन्न ममेतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि
ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य
भावात् ॥ २०।२१।२२॥

का विकल्प करने से अज्ञानी जाना जाता है । उसी प्रकार से मैं यह परद्रव्य हूँ, ये परद्रव्य
मुझरूप हैं, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ये पहले मेरे थे, मैं पहले इनका था, आगे ये मेरे होंगे,
मैं आगे इनका होऊँगा इस प्रकार परद्रव्य में ही असत्य आत्मविकल्प को करने से यह
आत्मा अज्ञानी जाना जाता है ।

अग्नि ईंधन नहीं है, ईंधन अग्नि नहीं है, अग्नि अग्नि है और ईंधन ईंधन है । न
अग्नि का ईंधन है और न ईंधन की अग्नि है, प्रत्युत अग्नि की अग्नि है और ईंधन का ही
ईंधन है । न अग्नि का ईंधन पहले था और न ईंधन की अग्नि पहले थी, पहले भी अग्नि
की अग्नि थी और ईंधन का ही ईंधन था । इसी प्रकार आगे भी अग्नि की ही
अग्नि होगी तथा ईंधन का ही ईंधन होगा, जैसे किसी मनुष्य को अग्नि में ही सद्भूत-सत्य
विकल्प हो जाता है वैसे ही मैं परद्रव्य नहीं हूँ, न वे मुझरूप हैं, 'मैं मैं हूँ', ये परद्रव्य-परद्रव्य
हैं, न ये मेरे हैं और न मैं इनका हूँ, मैं मेरा हूँ ये पर पर के हैं । न मेरे ये पहले थे, न मैं
पहले इनका था, मैं पहले मेरा ही था और ये परद्रव्य पर के ही थे, न मैं इनका आगे
होऊँगा और न ये मेरे आगे होंगे, आगे मैं मेरा ही होऊँगा और ये इनके ही होंगे इस
प्रकार से स्वद्रव्य में ही सद्भूत-वास्तविक अपनेपन का विकल्प होना ही प्रतिबुद्ध—ज्ञानी
का लक्षण जाना जाता है ॥ २०-२१-२२॥

भावार्थ—ईंधन में अग्नि उत्पन्न होती है फिर भी अग्नि और ईंधन पृथक्-पृथक्
ही हैं उसी प्रकार से यद्यपि अनादि कर्मबंध के निमित्त से शरीर में आत्मा दिखती है फिर
भी वह आत्मा भिन्न है शरीर भिन्न है । इसे भूत, वर्तमान और भविष्यत् ऐसे तीनों कालों
की अपेक्षा घटित किया है । वास्तव में लक्षण भेद से जीव और पुद्गल को भिन्न-भिन्न

मालिनी छंद—त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।

इहकथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्ति ॥२२॥

(उत्थानिका)—अथ यथा कोप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिधनं भवति इंधनमग्निर्भवति अग्निरिधनमासीत् इंधनमग्निरासीत् अग्निरिधनं भविष्यति इंधनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा

समझ लेना ही सम्यक्त्व है इसके होने पर ही ज्ञानी कहलाता है । यह श्रद्धानुरूप से चौथे गुणस्थान से ही शुरू हो जाता है पुनः अनुभव में ऐसा प्रतिभास में शुद्धोपयोग में ही होता है ।

आगे इसी बात को कहते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—हे जगत् ! अथवा हे संसार के जीवों ! अनादिकाल से तुम्हारे साथ एकमेक होकर-साथ में लगे हुये इस मोह को अब तुम लीम छोड़ो और रसिक जनो की रसिकता को प्राप्त होते हुये ऐसे ज्ञान का आस्वादन करो, क्योंकि इस लोक में यह आत्मा अनात्मा—परब्रह्म के साथ किसी काल में भी तादात्म्य संबंध—एकत्व को प्राप्त नहीं कर सकता है यह निश्चित है ॥२२॥

भावार्थ—आचार्यदेव यहाँ प्रेरणा देते हुये कहते हैं कि भव्यजीवों ! तुम मोह को छोड़ो और ज्ञान का ही अनुभव करो क्योंकि आज तक अपनी आत्मा के साथ इन परब्रह्मों का वास्तविक संबंध न हुआ है और न होगा ही । अग्नि की उष्णता तादात्म्य संबंधरूप है और दूध में पानी का मिश्रण संयोग संबंध है । आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य संबंध है और शरीर के साथ संयोग संबंध है ।

उत्थानिका—अब जैसा कोई अज्ञानी 'अग्नि ईंधन होता है, ईंधन अग्नि होती है, अग्नि ईंधन था, ईंधन अग्नि थी, अग्नि ईंधन होवेगी और ईंधन अग्नि होवेगा' ऐसा कहता है । उसी प्रकार से जो तीनों कालों में भी देह रागादि परब्रह्म को अपनी आत्मा में

श्रीर छन्द (मात्रिक)—

आजन्म व्याप्त मोह इसे तज दो बन्धुओं । मुमुक्षु जन रोचक विज्ञान का हि स्वाद लो ॥

त्रैलोक्य में विकाल में किसी प्रकार से । तादात्म्यरूप आत्म अनात्म न इक कहे ॥२३॥

यः कालत्रयेऽपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति—

तात्पर्यवृत्ति—अहमेदं एदमहं अहं इदं, परद्रव्यं इदम् अहं भवामि । अहमेवस्सेव हि होमि मम एदं अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीदं । अण्णं जं परद्रव्यं देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं सच्चित्ताचित्तमिसं वा सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमंडलुपुस्तकादि मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्मदि, मिश्रं द्रव्यभावकर्मद्वयम् । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपम्, अचित्तं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं, मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता । आसीत्यादि । आदि मम पुण्यमेदं आसीत् मम पूर्वमेतत् अहमेदं चावि

जोड़ता है वह अप्रतिबुद्ध है, बहिरात्मा है, मिथ्याज्ञानी है, आचार्यदेव ऐसा निरूपण करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—मैं यह परद्रव्य हूँ, ये परद्रव्य मुझरूप हैं, मैं इसका संबंधी हूँ और ये मेरे संबंधी हैं । इस प्रकार शरीर से भिन्न अन्य जो पुत्र, स्त्री आदि परद्रव्य हैं वे सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन भेदरूप हैं । ये गृहस्थ की अपेक्षा से स्त्री आदि सचित्त हैं, सुवर्ण धन आदि अचित्त हैं और आभरण सहित स्त्री आदि मिश्र हैं । अथवा तपोधन—मुनियों की अपेक्षा से छात्र-शिष्य आदि सचित्त हैं, पिच्छी, कमंडलु, पुस्तक आदि अचित्त हैं और उपकरण सहित शिष्य आदि मिश्र हैं । अथवा रागादि भाव सचित्त हैं, द्रव्यकर्म-ज्ञानावरण आदि अचित्त हैं और द्रव्यकर्म-भावकर्म ये दोनों मिश्र हैं । अथवा विषय कषायों से रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष—महामुनियों की अपेक्षा से सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त है, पुद्गल आदि पांच द्रव्यरूप अचित्त हैं और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा आदि से परिणत संसारी जीवों का स्वरूप मिश्र है । वर्तमान काल की अपेक्षा से एक गाथा हुई ।

ये परद्रव्य पहले मेरे थे और पहले मैं इन परद्रव्यरूप था । पुनः—आगे भविष्यत् में भी ये मेरे होंगे और मैं भी इनका होऊँगा इस प्रकार भूत और भावी काल की अपेक्षा

पुण्यकालहि अहमिदं चैव पूर्वकाले होहिदि पुणोवि मज्झं भविष्यति पुनरपि मम अहमेव चापि होस्सामि अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । एवमित्यादि । एवं इमं तु पुनः असंभूदं असद्भूतं कालत्रयपरद्रव्यसंबन्धिमिथ्यारूपं आदविषयं आत्मविकल्पं अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामं करेदि करोति सम्भूढो सम्यग्भूढः अज्ञानी बहिरात्मा । भूतार्थं भूतार्थं निश्चयनयं जाणंतो जानन् सन् ण करेदि न करोति । इ पुनः कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्याविकल्पं असंभूढो असंभूढः सम्यग्दृष्टिरंतरात्मा ज्ञानी भेदा-भेदरत्नत्रयभावनारतः । किंच यथा कोप्यज्ञानी अग्निरिधनम् इधनमग्निः कालत्रये निश्चये-नैकांतेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवापि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्या-मीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरंतरात्मेति । एवमज्ञा-निज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव

से यह दूसरी गाथा हुई । इस तरह के असद्भूत—तीन काल में परद्रव्य संबंधि मिथ्यारूप आत्मविकल्प को—अशुद्ध निश्चयनय से जीव के परिणाम को यह अच्छी तरह मोही—अज्ञानी—बहिरात्मा करता है ।

पुनः इससे विपरीत असंभूढ-सम्यग्दृष्टि, अंतरात्मा-ज्ञानी-भेद-अभेदरत्नत्रय की भावना में लीन हुआ महामुनि भूतार्थनिश्चयनय को जानता हुआ तीनों कालों में भी परद्रव्य संबंधि मिथ्या विकल्प नहीं करता है क्योंकि बात यह है कि जैसे कोई अज्ञानी मनुष्य 'अग्नि इधन है, इधन अग्नि है' ऐसा तीनों कालों में भी निश्चय से, एकांत से—अभेद से कहता है । वैसे ही वर्तमान में बेह, रागादि परद्रव्य में हूँ, पहले मैं था पुनः आगे भी होऊंगा ऐसा जो कहता है वह अज्ञानी है, बहिरात्मा है, जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, अंतरात्मा है ऐसा समझना ।

इस प्रकार अज्ञानी और ज्ञानी जीव के लक्षण को जानकर निर्विकल्प स्वसंवेदनलक्षण भेदज्ञान में स्थित होकर भावना करनी चाहिये अतः उसी भावना को दृढ़ करते हैं । जैसे कोई राजा का सेवक पुरुष राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग करता हुआ राजा का आराधक नहीं होता है उसी प्रकार परमात्मा का आराधक पुरुष, उस-परमात्मा के शत्रु मिथ्यात्व

भावनां दृढयति । यथा कोपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कुर्वाणः सन् राजा-
राधको न भवति तथा परमात्माऽऽराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः
परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः । एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं
गतं ॥२५-२६-२७॥

रागादिरूप से परिणमन करता हुआ परमात्मा का आराधक नहीं होता है ऐसा अभिप्राय
हुआ ।

इस प्रकार अज्ञानीजीव के लक्षण के कथनरूप से चतुर्थस्थल में तीन गाथायें पूर्ण
हुई ॥२५-२६-२७॥

विशेषार्थ—मैं परद्रव्य हूँ और परद्रव्य मुझरूप हूँ, यह अहंकार भाव है, ये पर-
द्रव्य मेरे हैं और मैं इनका हूँ यह ममकार भाव है । इन अहंकार ममकार से अपने को
छुड़ाने वाला पुरुष ही सम्यग्दृष्टि है श्रीकुंदकुंददेव ने परद्रव्य के तीन भेद किये हैं सचित्त,
अचित्त और मिश्र । श्रीजयसेनाचार्य ने इन तीनों को चार तरह से घटाया है पहले तो
गृहस्थ-चतुर्थ, पंचम गुणस्थानवर्ती की अपेक्षा से स्त्री, पुत्र आदि सचित्त हैं, सुवर्ण, धन,
मकान आदि अचित्त हैं और आभरणसहित स्त्री आदि मिश्र हैं । पुनः तपोधन अर्थात्
छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों की अपेक्षा से शिष्य परिकर सचित्त हैं, पिछली कमंडलु
आदि अचित्त हैं और इन सहित शिष्य आदि मिश्र हैं । अथवा भावों की अपेक्षा से राग-
द्वेष क्रोध, भान, माया, लोभ आदि विभावभाव सचित्त हैं, द्रव्यकर्म ज्ञानावरण आदि
अचित्त हैं एवं दोनों प्रकार के कर्म मिश्र हैं । पुनः चौथे प्रकार को निर्विकल्प ध्यान में
स्थित महामुनियों की अपेक्षा से घटाया है वहाँ ध्यान में लीन हुये महामुनि के विषय और
कषायों का तो अभाव ही है उन मुनियों के ध्यान में यदि सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का
चितवन है तो वह सचित्त परद्रव्य है, पुद्गल आदि अन्य पांच द्रव्यों का चितवन है तो वह
अचित्त परद्रव्य है उसी प्रकार गुणस्थान, जीवममास आदि का चितवन मिश्र परद्रव्य है ।

वास्तव में सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान रूपातीत ध्यान है यह सातवें गुणस्थान तक ही
रहता है आगे शुद्धात्मा का ही अवलंबन लेकर निर्विकल्प ध्यान होता है इसलिये यहाँ
अचिरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और छठे गुणस्थानवर्ती मुनि सविकल्प ध्यान ही करते हैं
उनके यह परद्रव्य के प्रति अहंकार ममकार भाव श्रद्धा से दूर किया जाता है पुनः

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः—

(२८ ज०) अण्णामोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।

बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तो ॥२३ अ०॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं ।

बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२३॥

निर्विकल्प ध्याती मुनि इस अहंकार ममकार को उपयोग से हटाकर शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं तभी वे पूर्णरूप से सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और अंतरात्मा कहलाते हैं ।

श्रीजयसेनाचार्य ने एक बात और महत्त्वपूर्ण कही है कि जैसे राजा का सेवक राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग रखता हुआ राजश्रीही माना जाता है, अविश्वस्त होने से राजा का आराधक राष्ट्रभक्त नहीं होता है वैसे ही परमात्मा के आराधक मनुष्य के लिये मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि मोह के परिकर होने से शत्रु हैं उनके साथ संपर्क रखने से परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती है । इसमें भी मिथ्यात्व शत्रु का संसर्ग तो चौथे में छूट जाता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय संबंधि राग-द्वेष का सम्पर्क पांचवें में छूट जाता है पुनः प्रत्याख्यानावरण कषाय सम्बन्धी राग, द्वेष का सम्पर्क छठे में छूट जाता है । आगे श्रेणी में स्थित महामुनि के संज्वलन कषाय सम्बन्धी राग-द्वेष अत्यन्त भंड रह जाता है । इसके बाद बारहवें गुणस्थान में सर्वथा राग-द्वेष का अभाव हो जाने से वे महामुनि निज शुद्ध परमात्मा के सच्चे आराधक बनकर तेरहवें गुणस्थान में स्वयं परमात्मा बनकर आराध्य बन जाते हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—आगे अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी को समझाने का पुरुषार्थ करते हैं—

अन्वयार्थ—(अज्ञानमोहितमतिः जीवः) अज्ञान से मोहित बुद्धिवाला जीव (इदं बद्धं च अबद्धं पुद्गलं द्रव्यं मम भणति) इन संबद्ध और असंबद्ध पुद्गलद्रव्यों को मेरा कहता है (तथा बहुभावसंयुक्तः) उसी प्रकार यह बहुत भावों से सहित हो रहा है किन्तु (सर्वज्ञज्ञानदृष्टः जीवः नित्यं उपयोगलक्षणः) सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा गया यह जीव सदा ही उपयोग लक्षण वाला है (सः पुद्गलद्रव्यभूतः कथं) यह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता

(२८ ज०) अज्ञान से मोहित मती जिस जीव की हुई । पुद्गल अजीव आदि को आत्मा कहें वह ही ॥

देहादिरूप बद्ध अबद्ध पुद्गलिक ग्रहण । मिथ्यात्व भाव सहित जीव इनमें ही मगन ॥२३ अ०॥

(२६ ज०) सर्वज्ज्ञानाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।

कह सो पुग्गलदब्बी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४ अ०॥

(३० ज०) यदि सो पुग्गलदब्बी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।

तो सत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दब्बं ॥२५ अ०॥

सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यं ।

कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ॥२४॥

यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।

तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ॥२५॥

आत्मख्याति—युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाधयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेक-ज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः । अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन्, आत्मपंसन्, जहीहि

है ? (यत् भणसि इदं मम) जो कहता है कि यह मेरा है (यदि सः पुद्गलद्रव्यीभूतः) यदि वह पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे तो (इतरत् जीवत्वं आगतं) अन्य पुद्गल जीवरूप हो जावेगा (तत् वक्तुं शक्तं) तब तो यह कहना शक्य होगा (यत् इदं पुद्गलं द्रव्यं मम) कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है ।

आत्मख्याति—पुद्गलद्रव्य—अचेतन परद्रव्यों को 'यह मेरा है' अज्ञानी जीव ऐसा अनुभव करता है । अत्यन्त आच्छादित हुये अपने स्वभाव से इसकी समस्त भेदज्ञान-रूप ज्योति अस्त हो गई है, महा अज्ञान से इसका हृदय अपने आप ही विमोहित हो रहा है, भेदविज्ञान के बिना अपना और पर का भेद नहीं करके यह अज्ञानी, जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे उन विभावों को अपने करता रहता है क्योंकि पर भावों के सम्बन्ध से अपना स्वभाव अत्यन्त छिप गया है वे पर भाव युगपत् अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि की

(२६ ज०) सर्वज्ञज्ञान दृष्टि में जो जीवद्रव्य है । वह नित्य ज्ञानदर्शन उपयोग युक्त है ॥

तब तो भला वह जीव कैसे पुद्गलात्म है ? मेरे हैं ये पुद्गल तेरा कथन अनात्म है ॥२४ अ०॥

(३० ज०) यदि जीव वह पुद्गलमयी हो जाय कभी भी । पुद्गल भी जीवरूप करे परिणमन कभी ॥

तब तो मेरे पुद्गल हैं तेरा कथन सत्य है । पर तीन काल में भी यह होना अशक्य है ॥२५ अ०॥

जर्हीहि परमाविवेकधस्मरस्तृणान्धवहारित्वं । दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्ययानध्यवसायेन विश्वक-
ज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं । तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन
पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि । यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् । पुद्गल
द्रव्यञ्च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत तत्तु न
कथंचनापि स्यात् । तथाहि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत्

अति निकटता से प्राप्त हुये हैं । जैसे स्फटिक पाषाण में अनेक तरह के वर्णों की निकटता से अनेक चित्र-विचित्रता दिखती है स्फटिक का स्वयं का स्वच्छ निर्मल भाव नहीं दिखता है उसी प्रकार कभी की उपाधि से आत्मा का शुद्धस्वभाव आच्छादित हो रहा है, वह नहीं दिखता है यही कारण है कि वह पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है । ऐसे ही अज्ञानी जीव को समझाते हुये आचार्य कहते हैं—

रे बुरात्मन् ! अरे आत्मघाती!—आत्मवंचक! तू छोड़, छोड़ । परम अविवेक से अति गृद्धि को करके तृणसहित भोजन को छोड़ अर्थात् जैसे तृण सहित सुन्दर भोजन को हस्ती आदि पशु खाते हैं ऐसे खाने का स्वभाव छोड़ दे । सर्वज्ञ के ज्ञान से प्रगट हुआ यह जीव-द्रव्य नित्य ही उपयोग स्वभावरूप है भला वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कि जिससे तू 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसा अनुभव करता है । यह सर्वज्ञ का ज्ञान समस्त संदेह, विपर्यय, अनध्यवसाय को दूर करके समस्त वस्तु को प्रकाशित करने में एक अद्वितीय ज्योति है । ऐसे सर्वज्ञदेव के केवलज्ञान से दिखलाया गया है कि यह जीवद्रव्य ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला है ।

जैसे लवण तो जलरूप तथा जल लवणरूप हो जाता है । यदि कवाचित् किसी प्रकार कि घंसे ही यह जीवद्रव्य तो पुद्गलरूप हो जावे और पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जावे तब तो तेरी 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' ऐसी अनुभूति घटित हो सकती है किन्तु ऐसा तो कभी हो नहीं सकता । इसी बात को दृष्टान्त से अच्छी तरह समझाते हैं—जैसे क्षार स्वभाववाला नमक तो जलरूप हो जाता है और द्रवरूप हुआ जल नमकरूप हो जाता है क्योंकि नमक का क्षारपना तथा जल का द्रवपना, इन दोनों का एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है ऐसा अनुभव में आता है । उसी तरह नित्य उपयोग लक्षणवाला जीवद्रव्य तो पुद्गलद्रव्यरूप हुआ देखने में नहीं आता और नित्य अनुपयोग लक्षण-ज्ञानदर्शन रहित जड़लक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हुआ भी देखने में नहीं आता है क्योंकि इन दोनों—

क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवन् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवद् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते । तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव ॥ २३।२४।२५ ॥

मालिनी छंद—अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भव मूर्त्तः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तः ।

पृथग्ध विलसंतं स्वं सभालोक्य यन् त्यजति इति हि मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥ २३ ॥

(उत्थानिका)—अथाप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं व्यवसायः क्रियते;—

तात्पर्यवृत्ति—अण्णाणेत्यादि व्याख्यानं क्रियते । अण्णाणमोहिदमदो अज्ञानमोहितमतिः मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं । कथंभूतं । बद्धमबद्धं च बद्धं संबद्धं देहरूपं । अबद्धं च असंबद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलवादि तथा तथा जीवे जीवद्रव्ये बहुभावसंयुक्तो मिथ्यात्वरगादिबहुभावसंयुक्तः । अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलवादिकं परद्रव्य

उपयोग लक्षण और जड़लक्षण का एक साथ रहने में विरोध है जैसे कि प्रकाश और अन्धकार एक साथ नहीं रह सकते हैं वैसे ही चेतन और अचेतन एक साथ नहीं रह सकते हैं अर्थात् एक रूप नहीं हो सकते हैं, ऐसा निश्चय है ।

अतः तू सब तरह से प्रसन्न हो, और बोध को प्राप्त हो, यह 'स्वद्रव्य मेरा है' ऐसा अनुभव कर ॥ २३-२४-२५ ॥

पुनः जीव को स्वतत्त्व के अनुभव की प्रेरणा देते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—हे वत्स ! तू किसी तरह मर पचकर भी तत्त्वों का कौतूहली होता हुआ इस शरीर के पड़ोसी—आत्मा का एक मुहूर्त तक भी अनुभव कर, जिससे कि अपनी आत्मा को प्रकाशरूप परद्रव्यों से पृथक् देखकर इस शरीर या पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को—विपरीत भाव को शीघ्र ही छोड़ सके । २३।

उत्थानिका—अब अज्ञानी जीव को सम्बोधित करने के लिये उद्यम करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—अज्ञान से मोहित है मति जिसकी ऐसा यह जीव बद्ध—शरीर को और अबद्ध—शरीर से भिन्न पुत्र, स्त्री आदि पुद्गलद्रव्य को—परद्रव्यों को 'यह मेरे हैं'

और छन्द (मात्रिक)—

हे भव्य तू किसी तरह सह कर हि दुख उठा । तत्त्वों का वन कुतूहली इक पल शरीर का ॥

पड़ोसी बनकर आत्म अनुभव कर जभी पृथक् । कर आत्मदर्श एकपल के तन का मोह तज ॥ २३ ॥

ममेदं भणतीत्यर्थः । इति प्रथमगाथा गता । अथास्य बहिरात्मनः संबोधनं क्रियते—रे दुरात्मन् सव्वण्हु इत्यादि सव्वण्हणाणद्विट्ठो सर्वज्ञज्ञानदृष्टः जीवो जीवपदार्थः । कथंभूतो दृष्टः । उवओगलदव्वणो केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः गिच्चं नित्यं सर्वकालं कह कथं सो स जीवः पुगलदव्वीभूदो पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि जं येन कारणेन भणसि भणसि त्वं मज्झमिणं ममेदं पुद्गलद्रव्यं । इति द्वितीया गाथा गता । जदि इत्यादि—जदि यदि चेत् सो स जीवः पुगलदव्वीभूदो पुद्गलद्रव्यं जातः जीवो जीवः । जीवत्तं जीवत्वं आगदं आगतं प्राप्तं इवरं इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं तो सवका वुत्तुं ततः शक्यं वक्तुं जे अहो अथवा यस्मात्कारणात् मज्झमिणं पुगलं दव्वं ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति । न चैवं यथा वर्षासि लवणमुदकी- भवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति । तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीय-

ऐसा कहता है अर्थात् जीवद्रव्य में मिथ्यात्व रागादि बहुत भावों से सहित हुआ यह अज्ञानी जीव परद्रव्यों को अपने कहता है । यह प्रथम गाथा हुई ।

अब बहिरात्मा को संबोधन करते हुए कहते हैं—

रे दुरात्मन् ! सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान में देखा गया यह जीव पदार्थ नित्य ही केवलज्ञानदर्शन लक्षण उपयोग वाला है पुनः वह जीव पुद्गलद्रव्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार से भी वह पुद्गल-अचेतन नहीं हो सकता है कि जिससे तू यह कहे कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' । यह दूसरी गाथा हुई । यदि कदाचित् यह जीव द्रव्य पुद्गलद्रव्य हो जाता तो पुनः शरीर आदि पुद्गलद्रव्य जीवपने को प्राप्त हो जाते और तभी तेरा यह कहना शक्य हो जाता कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है' किंतु ऐसा तो होता नहीं । जैसे वर्षाऋतु में नमक पिघल कर जल हो जाता है और ग्रीष्म काल में वही जल (सांभर झील का जल) जमकर नमक बन जाता है । वैसे ही यदि यह जीवद्रव्य चैतन्य अवस्था को छोड़कर पुद्गलद्रव्यरूप से परिणमन कर जावे और यह पुद्गलद्रव्य मूर्तत्व, अचेतनत्व को छोड़कर चित्तरूप और अमूर्तिक हो जावे तब तो तेरा वचन सत्य हो जावे ।

रे दुरात्मन् ! किन्तु वंसा तो होता नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध है इसलिये जीवद्रव्य शरीर से भिन्न अमूर्तिक, शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला सिद्ध है । इस प्रकार वेह और आत्मा के भेदज्ञान को जानकर मोह के उदय से उत्पन्न हुये समस्त विकल्पजाल

वचनं सत्यं भवति । रे दुरात्मन् न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात् । ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नम-
मूर्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति । एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्तविकल्प-
जालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति तात्पर्यं ।
इत्यप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं पंचमस्थले गाथात्रयं गतं ॥२८॥२९॥३०॥

को छोड़कर निर्विकार, चैतन्य चमत्कार मात्र, निजपरमात्म तत्त्व की भावना करना चाहिये
यह अभिप्राय हुआ ।

इस तरह अज्ञानी को संबोधन करते हुये पांचवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण
हुई ॥२८-२९-३०॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथाओं में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि जीव ज्ञानदर्शन उपयोग
लक्षणवाला है वह आज तक न तो पुद्गलरूप अचेतन हुआ है और न होगा ही वैसे ही
पुद्गल भी जीव के साथ एक ओज्रावगाही रहता हुआ भी आज तक जीवरूप चेतन न
हुआ है न होगा ही पुनः यह पुद्गलद्रव्य-शरीर आदिरूप होते हुये भी 'मेरा है' ऐसा
कहना उचित नहीं है । टीका में आचार्य श्रीअमृतचंद्रसूरि ने जीव को संबोधित करते हुये
कहा है कि 'रे दुरात्मन् ! रे आत्मघाती !' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यदेव
जीव के हित के लिये कितने कड़वे शब्दों में संबोधन कर सकते हैं ।

वास्तव में द्रव्यदृष्टि से यह जीव शुद्ध, बुद्ध, चिच्छमत्काररूप एक ज्ञानदर्शन-
स्वमावी ही है, पर्यायदृष्टि से पुद्गलमय शरीर के साथ संबंध रखते हुये भी स्वयं कभी
जड़-अचेतन नहीं हुआ है । कलशकाव्य में आचार्यश्री ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—
हे आत्मन् ! 'अयि कथमपि मृत्वा' तू जैसे तैसे मर पचकर भी तत्त्व की चर्चा में रस ले,
अपनी आत्मा को शरीर का—पुद्गल का पड़ौसी समझ ले और मुहूर्त-मात्र-४८ मिनट भी
स्थिर होकर आत्मा का अनुभव कर । वास्तव में जैसे पड़ौसी के सुख-दुःख में दूसरा
पड़ौसी अपनी सहानुभूति दिखलाते हुये भी अंतरंग से सुखी-दुःखी नहीं होता है । उसी
प्रकार से शरीर के सुख-दुःख में तू भी हर्ष-विषाद से परिणत न होकर आत्मतत्त्व में लीन
होकर उसका अनुभव कर और इस शरीर के साथ में अपनेपन का मोह छोड़ दे ।

अथाहाप्रतिबुद्धः—

(३१ ज०) यदि जीवो ण शरीरं तित्थयरायरियसंश्रुदी चेव ।

सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६ अ०॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।

सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥२६॥

आत्मख्याति—यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—कांत्येव स्नपयंति ये दशदिणो धाम्ना निरुन्धति ये

धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णति रूपेण ये ।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं

वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

यह अवस्था शुक्लध्यान में ही घटित होगी क्योंकि उत्तम-संहननधारी ही अंत-मुहूर्त तक आत्मा का अनुभव करते हैं—ध्यान करते हैं । हाँ, श्रद्धान में तो चौथे गुण-स्थान से छठे तक भी समझा जाता है किंतु अनुभव निर्विकल्पध्यान में ही होता है ।

उत्थानिका—अब अज्ञानी कहता है—

अन्वयार्थ—(यदि जीवः शरीरं न सर्वा अपि तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः मिथ्या च एव भवति) यदि जीव शरीर नहीं है तो पुनः सभी तीर्थकरों, आचार्यों की स्तुति करना मिथ्या ही हो जायेगा (तेन तु आत्मा देहः भवति) इसलिये आत्मा शरीर ही है ऐसा समझ में आता है ।

आत्मख्याति—यदि जो आत्मा है वह शरीर, पुद्गलद्रव्यरूप नहीं है तब तो—

काव्यार्थ—जो अपने शरीर की कांति से दशों दिशाओं को स्नान कराते हैं—

(३१ ज०) प्रभु ! यदि ये जीव औ शरीर एक नहीं हैं । तो तीर्थकर व मुनियों की स्तुती व्यर्थ है ॥

इनके शरीर वर्ण आदि कथन व्यर्थ हों । अतएव देह आत्म एक कथन सत्य हो ॥२६ अ०॥

सर्वेषा छन्द ८ भगण (वर्णिक छन्द)—

कांतिय से दश ही सुदिशाहि, पवित्र करें भव ताप निकंदन ।

तेजहि से रवि ज्योति निवार, सूरूपहि से भवि का मनरंजन ॥

जो अपनी ध्वनि से भवि को, श्रुत अमृत वृष्टि करें सुख कन्दन ।

एक जु आठ सहस्र गुलक्षण, युक्त सुदेव उन्हें जत वंदन ॥२४॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात् । ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यम् । इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः ॥२६॥

भूमिका—अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षः गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति पठस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्षं करोति ।

तात्पर्यवृत्ति—जदि जीवो न शरीरं हे भगवन् यदि जीवः शरीरं न भवति तित्थयरायरियसंशुद्धी चेव तहि “द्वौ कुंदेदुतुषारहारधवलावित्यादि” तीर्थकरस्तुतिः “देसकुलजाइ-

निर्मल करते हैं, अपने तेज से उत्कृष्ट तेज वाले-सूर्यादिक के तेज को भी रोक देते हैं--छिपा देते हैं, अपने रूप से—सौंदर्य से सभी जन के मन को चुरा लेते हैं—हर लेते हैं और अपनी दिव्यध्वनि से कानों में साक्षात् अमृत बरसाते हैं ऐसे एक हजार आठ लक्षण को धारण करने वाले तीर्थकर भगवान् और आचार्यदेव सदा बंध हैं ॥२४॥

इत्यादि प्रकार से तीर्थकरों और आचार्यों की समस्त भी स्तुतियाँ मिथ्या—वृथा हो जावेंगी इसलिये जो यह आत्मा है वही पौद्गलिक शरीर है ऐसा मेरा एकांतिक—सर्वथा विश्वास है ॥२६॥

भूमिका—अब पूर्वपक्ष का परिहार करते हुये आठ गाथायें कहेंगे, उनमें से एक गाथा में पूर्वपक्ष रखेंगे पुनः चार गाथाओं में निश्चय व्यवहार के समर्थनरूप से परिहार करेंगे, अनंतर तीन गाथाओं में निश्चयस्तुतिरूप से परिहार करेंगे । इस तरह छठे स्थल की समुदाय पातनिका कही ।

उत्थानिका—इसमें भी पहले यदि जीव और शरीर में एकत्व नहीं है तो तीर्थकरों, आचार्यों की स्तुतियाँ व्यर्थ हो जावेंगी ऐसा अज्ञानी शिष्य अपना पूर्वपक्ष रखता है—

तात्पर्यवृत्ति—हे भगवन् ! यदि जीव शरीर नहीं है तब तो “द्वौ कुंदेदुतुषारहारधवलौ” दो तीर्थकर कुंदपुष्प, चंद्रमा, बर्फ या हार के समान श्वेत वर्ण वाले हैं इत्यादि

सुद्धा" इत्याचार्यस्तुतिश्च सव्वाधि हवदि मिच्छा सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आदा हवदि देहो तेन स्वात्मा भवति देहः । इति मर्मकांतिकी प्रतिपत्तिः । एवं पूर्वपक्षगाथा गता ॥३१॥

नैवं नयविभागानभिज्ञोऽसि—

(३२ ज०) व्यवहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इवको ।

ण दु निश्चयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७ अ०॥

व्यवहारणयो भासते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।

न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥२७॥

आत्मख्याति—इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समावृत्तितावस्थायां कनककल-
घोतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैकत्वं न पुननिश्चयतः । निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानु-

प्रकार से तीर्थंकरों की स्तुति तथा "देसकुलजाइसुद्धा" जो देश कुल और जाति से शुद्ध हैं, इत्यादि प्रकार से आचार्य की स्तुति ये सर्व भी मिथ्या हो जायेंगी इस कारण से आत्मा ही शरीर है ऐसा मेरा एकांतिक निश्चय है । इस प्रकार से शिष्य के पूर्वपक्ष की गाथा हुई ॥३१॥

उत्थानिका—ऐसा नहीं है, तुम नय विभाग से अनभिज्ञ हो—

अन्वयार्थ—(व्यवहारणयः भासते) व्यवहारणय कहता है कि (जीवः च देहः खलु एकः भवति) जीव और शरीर निश्चित ही एक हैं (तु निश्चयस्य जीवः च देहः कदा अपि ऐकार्थः न) किंतु निश्चयणय का कहना है कि जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं हैं ।

आत्मख्याति—इस लोक में आत्मा और शरीर का एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होने से—दोनों एक जगह ही रहने से व्यवहारमात्र से ही इन दोनों में एकत्व है न कि निश्चय से । जैसे कि सोना और चांदी को गलाकर एक कर देने से दोनों एकमेक रूप से मिल जाते हैं तब उनमें एक स्कंध-एक पिंड का व्यवहार होता है वह व्यवहार से ही है न कि

(३२ ज०) व्यवहार नय कहता है जीव देह एक है । हे शिष्य ! वह संयोग को स्वीकार करे है ॥

लेकिन नहीं निश्चय से जीव देह एक है । व्यवहार से देहादि की स्तुति भी सत्य है ॥२७ अ०॥

पयोगस्वभावयोः कनककलधीतयोः पीतपांडुरत्वादिव्यवहारयोरेवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः । ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नं ॥२७॥

(उत्थानिका)—हे शिष्य यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्पर-साध्यसाधकभावं न जानासि त्वमितिः ।

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारणयो भासति व्यवहारनयो भाषते ब्रूते । किं ब्रूते । जीवो देहो य हवदि खलु इवको जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदापि एकट्ठो न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थः एको भवति । यथा कनककलधीतयोः समावर्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयो-रिति भावार्थः । ततःकारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः ॥३२॥

वास्तव में । निश्चय से आत्मा उपयोग स्वभाव वाला है और शरीर अनुपयोग—जड़-स्वभाववाला है इन दोनों में अत्यन्त भिन्नता होने से इनमें एक पदार्थ का होना सम्भव नहीं है प्रत्युत भिन्न-भिन्नपना ही है, यही तो नय विभाग है । जैसे कि सोना पीले स्वभाव वाला है और चांदी सफेद स्वभाववाली है, इन दोनों में स्वभावभेद होने से अत्यन्त भिन्नता ही है एकरूपता नहीं है इसलिये व्यवहारनय से शरीर की स्तुति करने से ही आत्मा का स्तवन हो जाता है ॥२७॥

उत्थानिका—हे शिष्य ! जो तुमने कहा है वह नहीं घटता है क्योंकि निश्चय-नय और व्यवहारनय के परस्पर में साध्य-साधन भाव को तुम नहीं जानते हो इसे ही दिखाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर निश्चित ही एक हैं किंतु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर किसी काल में भी एकरूप नहीं हो सकते हैं । जैसे सोना और चांदी को मलाकर एकमेक कर देने पर व्यवहार से उनमें एकरूपता होने पर भी निश्चय से भिन्नता है वैसे ही जीव और शरीर का एक ओत्रावगाही सम्बन्ध व्यवहार से होने पर भी उन दोनों में भिन्नता ही है ऐसा तात्पर्य हुआ इसलिये व्यवहारनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन युक्त है—उचित है इसमें दोष नहीं है ॥३२॥

तथाहि;—

(३३ ज०) दृणमण्णं जीवादो देहं पुद्गलमयं थुणित्तु मुणी ।

मण्णदि ह्नु संथुदो वंदितो मए केवली भयवं ॥२८ अ०॥

इममन्यं जीवादेहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।

मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

आत्मख्याति—यथा कलधीतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतस्त्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः । तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतस्त्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहित-स्तीर्थकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनं । निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ॥ २८ ॥

उत्थानिका—उसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मुनिः जीवात् अन्यं इमं पुद्गलमयं देहं स्तुत्वा) मुनिराज जीव से भिन्न इस पौद्गलिक शरीर की स्तुति करके (खलु मन्यते) निश्चय से ऐसा मानते हैं कि (मया केवली भगवान् संस्तुतः वंदितः) मैंने केवली भगवान् की स्तुति की है और बन्दना की है ।

आत्मख्याति—जैसे चांदी के गुण की सफेदी के नाम से व्यवहारमात्र से सुवर्ण को भी श्वेत कह देते हैं किन्तु परमार्थ से वह सोना, चांदी के स्वभाव वाला श्वेत नहीं है पीला ही है । उसी प्रकार से शरीर के गुण श्वेत, लाल आदि वर्णों के स्तवन से परमार्थ से तीर्थकर केवली भगवान् का स्वभाव न होने पर भी व्यवहारमात्र से ही श्वेत और लाल तीर्थकर केवली भगवान् का स्तवन हो जाता है किन्तु निश्चयनय से तो शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता है ॥२८॥

(३३ ज०) जीवात्म भिन्न पुद्गल की स्तुति करके । प्रभु केवली की वंदना मुनिमण भी मानते ॥ व्यवहार से इस मान्यता में दोष नहीं है । निश्चय की प्राप्ति में बने साधन भी यही है ॥२८ अ०॥

(उत्थानिका) — तथाहि :

तात्पर्यवृत्ति—इणमण्णं जीवादी देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सका-
शाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः । मण्णवि ह्म संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं पञ्चाद-
व्यवहारेण मन्यते संसृज्जो वंदितो भवति देवतो वण्णमणिनि । तथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति
शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्या-
दिदेहस्तवनेन व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः ॥३३॥

उत्थानिका—इसे ही स्पष्ट करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—मुनिराज जीव से भिन्न पौद्गलिक शरीर की स्तुति करके व्यवहार
से ऐसा मान लेते हैं कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति कर ली है और वंदना भी कर ली
है । जैसे सोना और चांदी में एकता होने पर सोना सफेद है ऐसा व्यवहार होता है किन्तु यह
निश्चय नहीं है—वास्तविक नहीं है उसी प्रकार श्वेतकमल, लालकमल वर्ण के केवली
भगवान् हैं इत्यादि प्रकार से शरीर का स्तवन करने से व्यवहारनय से आत्मा का स्तवन
होता है न कि निश्चयनय से ऐसा अभिप्राय हुआ ॥३३॥

विशेषार्थ—मूलाचार में श्रीकुंदकुंददेव मुनियों के छह आवश्यकों में 'स्तव' नामक
दूसरे आवश्यक का वर्णन करते हुये कहते हैं—

णामदूढवणा दग्धे खेत्ते काले य होदि भावे य ।

एसो थवन्हि णेओ णिवखेसो छव्विहो होई ॥५४०॥

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावस्तव में यह छह प्रकार का निक्षेप
जानना चाहिये । श्रीवसुनंदि आचार्य ने इसी की टीका में कहा है कि—

स्तव में नामस्तव, स्थापनास्तव, द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव और भावस्तव यह
छह प्रकार का निक्षेप जानना चाहिये । चौबीस तीर्थकरों के वास्तविक अर्थ का अनुसरण
करने वाले एक हजार आठ नामों से स्तवन करना चतुर्विंशती नामस्तव है । चौबीस
तीर्थकरों की कृत्रिम-अकृत्रिम प्रतिमाएँ स्थापनाप्रतिमाएँ हैं जो कि अपरिमित हैं अर्थात्
कृत्रिम प्रतिमाएँ अगणित हैं, अकृत्रिम प्रतिमाएँ तो असंख्य हैं उनका स्तवन करना चतु-
विंशति स्थापनास्तव है । तीर्थकरों के शरीर, जो कि परमौदारिक हैं, के वर्णभेदों का
वर्णन करते हुए स्तवन करना द्रव्यस्तव है । कैलाशगिरि, सम्मेदगिरि, ऊर्जयन्तगिरि,

पावापुरी, चम्पापुरी आदि निर्वाण क्षेत्रों का और समवसरण क्षेत्रों का स्तवन करना क्षेत्र-स्तव है। स्वर्गावतरण, जन्म, निष्क्रमण, केवलोत्पत्ति और निर्वाणकल्याणक के काल का स्तवन करना अर्थात् उन-उन कल्याणकों के दिन भक्ति पाठ आदि करना या उन-उन तिथियों की स्तुति करना कालस्तव है। तथा केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि गुणों का स्तवन करना भावस्तव है।

स्तुति में कुछ याचना करना गुण है या दोष ? सो ही देखिये—

आरोग्य बोहिलाहं दितु समहि च मे जिणवरिदा ।
 किं ण हु णिदाणमेयं णवरि विभासेत्थ कायध्वा ॥५६८॥
 भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा ।
 ण हु खीण रागदोसा दिति समहि च बोहि च ॥५६९॥
 जं तेहि वु वादम्भं तं दिण्णं जिणवरिं सव्वेहि ।
 वंसणणाणचरित्तस्य एष निविहस्स उवदेसो ॥५७०॥
 भत्तीए जिणवरणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं ।
 आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥५७१॥
 अरहंतेषु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु ।
 धम्महि य जो राओ सुदे य जो बारसविधहिम ॥५७२॥
 भायरियेसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे ।
 एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु ॥५७३॥
 तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए ।
 तो भत्ति रागपुव्वं बुच्चइ एवं ण हु णिदाणं ॥५७४॥

वे जिनेन्द्रदेव मुझे आरोग्य, बोधि का लाभ और समाधि प्रदान करें। क्या यह निदान नहीं है ? अर्थात् नहीं है, यहाँ केवल विकल्प समझना चाहिये।

यह असत्य मृषा भाषा है, वास्तव में यह केवल भक्ति से कही गई है क्योंकि रागद्वेष से रहित भगवान् समाधि और बोधि को नहीं देते हैं। उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनघरों ने वह दे दिया है। सो यह दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य इन तीनों का उपदेश

है। जिनवरों की भक्ति से जो पूर्व संचित कर्म हैं वे क्षय हो जाते हैं और आचार्य के प्रसाद से विद्या तथा मंत्र सिद्ध हो जाते हैं।

रागरहित और द्वेषरहित अर्हंतदेव में जो राग है, धर्म में जो राग है और द्वादशविध भूत में जो राग है—यह तीनों भक्ति हैं। आचार्यों में, श्रमणों में और चारित्र्ययुक्त बहुभुत विद्वानों में जो राग है यह प्रशस्त राग सभी सरागी मुनियों में होता है। उनके अभिमुख होने से तथा उनकी भक्ति से मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये भक्ति रागपूर्वक कही गई है। यह वास्तव में निदान नहीं है। ऐसा मूलाचार में श्रीकुंदकुंददेव ने ही कहा है।

अनगारधर्ममृत में इस 'स्तव' आवश्यक का अच्छा विस्तार है। यथा—

स्युर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाश्रयाः स्तवाः ।

व्यवहारेण पंचार्थादेको भावस्तवोऽर्हताम् ॥३८॥

चतुर्विंशति तीर्थकरों के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और काल ये पांच प्रकार के स्तव व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं और भावस्तव यह परमार्थ से—निश्चयनय की अपेक्षा से होता है।

नामस्तव—अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम् ।

वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः ॥३९॥

अर्हंत जिनेश्वर के एक हजार आठ ऐसे अन्वर्थ नामों के द्वारा स्तुति करना नाम-स्तव है। जैसे कि—

श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभूः ।

स्वयंप्रभः प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥

इत्यादि प्रकार से सहस्रनाम स्तोत्र को पढ़ना 'नामस्तुति' नाम से आवश्यक क्रिया है।

इस नाम स्तुति का फल आर्ष में—महापुराण में बताया है कि—

गोचरोऽपि मिरामासां त्वमवागोचरो मतः ।

स्तोतुस्तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोभीष्टफलं भवेत् ॥

हे भगवन् ! आप इन नाम आदि वाणी के गोचर होते हुये भी वचन के अगोचर ही हैं फिर भी स्तुति करने वाला भक्त आपसे अभीष्ट फल को प्राप्त कर ही लेता है इसमें कोई सन्देह नहीं है :

इसी प्रकार से चौबीस तीर्थकरों के नाम उच्चारण करना 'वृषभोऽजितनामा च' यह सब नामस्तुति है ।

स्थापनास्तव—कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनाविभिः ।

व्याख्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः ॥४०॥

कृत्रिम और अकृत्रिम ऐसी जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं का, उनके वर्ण, प्रमाण, आयतन-मंदिर आदि के द्वारा वर्णन करना सो यह स्थापनास्तुति है अर्थात् अकृत्रिम जिन-मंदिर-नंदीश्वर, पाँच मेरु आदि के मंदिरों का प्रमाण, वैभव आदि कहना उनमें विराजमान प्रतिमाओं की स्तुति करना उनके माप वर्ण सौंदर्य आदि का वर्णन करना यह स्थापना स्तुति है ।

द्रव्यस्तव—घण्डुर्लक्ष्मणोच्छ्रायजनकादिभुजैः या ।

लोकोत्तमानां संकीर्तिचित्रो द्रव्यस्तवोऽस्ति सः ॥४१॥

लोक में उत्तम ऐसे तीर्थकरों के शरीर, लक्षण, गुण, ऊँचाई, पिता आदि के मुख से जो संकीर्तन करना है वह द्रव्यस्तव है ।

तीर्थकरों के एक हजार आठ लक्षणों का वर्णन करना, उनके बल, हाथी आदि चिन्हों का वर्णन करना, उनके शरीर की ऊँचाई की स्तुति करना, उनके शरीर के वर्ण की स्तुति करना, उनके पसीना रहित आदि चौतीस अतिशयों का वर्णन करना, उनके माता-पिता आदि की प्रशंसा करते हुये उनकी स्तुति करना, आदि शब्द से ऐसा लेना है कि माता के सोलह स्वर्णों की मुख से स्तुति करना, तीर्थकरों के शरीर की कांति, भामंडल की कांति आदि का वर्णन करना, दीक्षा के समय जिस वृक्ष के नीचे भगवान् विराजे थे उन वट वृक्ष आदि का नामोच्चारण करना, आदि प्रकार से सर्व द्रव्यस्तुति नाम का आवश्यक है ।

क्षेत्रस्तव—क्षेत्रस्तवोऽहंतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभिः ।

पूतस्य पूर्वनाद्रियादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम् ॥४२॥

जो तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण से पवित्र नगरी—अयोध्यादि, वन-दीक्षावन, सिद्धार्थवन आदि और अद्रि-कैलाश पर्वत आदि प्रदेशों का वर्णन करना है वह क्षेत्रस्तव कहलाता है ।

कालस्तव—कालस्तवस्तीर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहसः ।

तद्गर्भावितराद्युद्धक्रियादृप्तस्तकीर्तनम् ॥४३॥

जो तीर्थकर गर्भावितार आदि से पवित्र काल-दिवस आदि हैं उनके माध्यम से स्तुति करना कालस्तव है ।

अब भावस्तव को कहते हैं—

भावस्तव—वर्ण्यन्तेऽनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः ।

भावकैर्भाविसर्वस्वदिशां भावस्तवोऽस्तु सः ॥४४॥

भावना में तत्पर भय जीव जो तीर्थकर के अन्य में न पाये जाने वाले केवलज्ञान आदि गुणों का स्तवन करना भावस्तुति है । इन केवलज्ञानादिगुणों का स्तवन ही भगवान् का वास्तविक स्तोत्र है क्योंकि केवली भगवान् से उनके गुणों में अभेद है ।

ये ग्रन्थ तो मुनियों की आवश्यक क्रिया के प्रतिपादक हैं ही ।

श्रीगौतमस्वामी गणधरदेव जो कि चार ज्ञान के धारी थे सर्व ऋद्धियों से सम्पन्न थे तद्भव मोक्षगामी थे और तीस वर्ष तक भगवान् के समवसरण में रहकर उनकी दिव्यध्वनि का प्रतिपादन किया था । उनके द्वारा बनाई हुई चैत्यभक्ति में स्वयं गणधरदेव ने भगवान् के बाह्य वंभव का वर्णन करते हुये स्तुति की है । देखिये—

जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भिता-

वसरमुकुटच्छायाद्गोर्णं प्रभापरिचुम्बितौ ।

कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणः ।

विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशवसुः ॥

हे भगवन् ! आपकी जय हो, आपके चरणकमल सुवर्णमयी कमलों पर बिहार करते हैं, देवों के मुकुटों के मणियों की प्रभा से आपके चरणकमल स्पर्शित हैं, ऐसे आपके चरण कमलों का आश्रय लेकर कलुषमनवाले, महामान से उन्मत्त हुये ऐसे परस्पर के वैरी भी जीव कलुषभाव से रहित होकर आपस में विश्वास-प्रेम और मंत्री को प्राप्त कर लेते हैं ।

इसी चैत्यभक्ति में कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयों की स्तुति देखिये—

अकृतानि कृतानि चाप्रमेयद्युतिमन्ति द्युतिमत्सु मंदिरेषु ।

मनुजामरपूजितानि वंदे प्रतिबिम्बानि जगत्त्रये जितानाम् ॥१०॥

प्रकाशमान मंदिरों में अतिशय दीप्तिमान कृत्रिम-अकृत्रिम जो जिनप्रतिमायें हैं, ये मनुष्य और देवों से पूजित हैं ऐसी तीन जगत् की जिनप्रतिमाओं को नमस्कार हो ।

ये तो मैंने दो पद्य उद्धृत किये हैं पूरी चैत्यभक्ति व्यवहारनय की प्रधानता से स्तुतिरूप है ।

ये गौतमस्वामी छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती भार्वालिगी महासाधु थे । इन्होंने जीवन भर मुनि वेष में—तीस वर्ष तक भगवान् महावीर स्वामी के सानिध्य में रहकर व्यवहार-स्तुति भक्ति से खूब भक्ति की है, पुनः निश्चयस्तुति करते हुये तद्रूप से परिणत होकर केवली भगवान् बन गये हैं ।

इसी प्रकार श्रीकुंदकुंददेव ने आचार्य भक्ति में कहा है कि—

वैसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकायसंजुता ।

तुम्हें पायपयोऋहमिह मंगलमत्सु मे निश्चं ॥

जो देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, मन वचन काय की विशुद्धि से सहित हैं ऐसे हे आचार्य ! आपके चरणकमल नित्य ही मेरे मंगल के लिये होयें ।

यहाँ तक तो आपने मुनियों के द्वारा की गई स्तुतियाँ देखी हैं पुनः श्रावक और अविरत सम्यग्दृष्टि तो व्यवहारस्तुति के ही अधिकारी हैं वे तो अधिकाधिक व्यवहार-भक्ति ही करते हैं ।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि श्रीकुंदकुंददेव ने प्रत्येक भक्तियों के अंत में अंचलिका में कहा है कि “दुःखवृद्धो कस्मद्वृद्धो बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं ।” दुःखों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, बोधि-रत्नत्रय का लाभ हो, सुगति में गमन हो, समाधिपूर्वक मरण हो और आपके गुणों की संपत्ति मुझे प्राप्त हो ।

ऐसी याचना तो उचित है किंतु जो हिंदी स्तुतियाँ हैं उनमें कहा है कि—

दरिद्रीन को धन्य के दान दीने,
अपुत्रीन को तू भले पुत्र कीने ।

इत्यादि प्रकार से श्रावकों के द्वारा की गई स्तुति तो बिल्कुल कर्तृत्ववाद को और दरिद्री के लिये धन देने की, तथा पुत्ररहितों को पुत्र आदि के देने की बात तो बिल्कुल ही मिथ्यात्व की पोषक है ।

किंतु यह प्रश्न उचित नहीं है इसके लिये समाधान यही है कि मुनिगण तो दुःखों का क्षय, रत्नत्रय का लाभ आदि की याचना करते हैं । ऐसे श्रावक यदि प्रसंग के अनुसार कदाचित् धन, पुत्र आदि की याचना कर भी लें तो वे मिथ्यादृष्टि नहीं हैं । देखो ! भैरवसुंदरी सम्यग्दृष्टि महिला थीं उन्होंने पति के कुष्ठ को दूर करने के लिये महामुनि की आज्ञा से ही सिद्धचक्रविधान का अनुष्ठान किया था । मेघमाला व्रत की कथा में कहा है कि सेठ वत्सराज ने दरिद्रता को दूर करने के लिये मुनि से प्रार्थना की, मुनि ने मेघमाला व्रत करने को कहा । उस व्रत के करने से सेठ की दरिद्रता समाप्त हो गई । ऐसे पुत्र के लिये भी राजा वज्रसेन रानी जयावती ने गुरु की आज्ञा से पुष्पांजलि व्रत किया है ऐसे उदाहरण देखे जाते हैं । वास्तव में धीतरागी जिनेंद्रदेव तो कुछ देते नहीं हैं किंतु उनकी भक्ति से सभी भक्तों के सर्वमनोरथ सफल हो जाते हैं यह मिथ्यात्व नहीं है ।

आजकल कुछ विद्वान् भगवान् के गुणों की स्तुति के सिवाय अन्य चिन्ह माता-पिता आदि के नाम से स्तुति को मिथ्यात्व कह देते हैं इसीलिये यहाँ इतना लंछा विशेषार्थ दिया है ।

तथाहि :—

(३४ ज०) तं निश्चये ण जुज्जदि ण शरीरगुणा हि होंति केवलिनो ।

केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२६ अ०॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः ।

केवलिगुणान् स्तौति यः स तच्चं केवलिनं स्तौति ॥२६॥

आत्मख्याति—यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थंकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थंकर-केवलिपुरुषस्य स्तवनात् ॥२६॥

उत्थानिका—पुनः इसी बात को गाथा में कहते हैं—

अन्वयार्थ—(तत् निश्चये न युज्यते) वह स्तवन निश्चय में युक्त नहीं है (हि शरीरगुणाः केवलिनः न भवन्ति) क्योंकि शरीर के गुण केवली के नहीं हैं (यः केवलि-गुणान् स्तौति) जो केवली भगवान् के गुणों का स्तवन करते हैं (सः तच्चं केवलिनं स्तौति) वे वास्तव में केवली की स्तुति करते हैं ।

आत्मख्याति—जैसे सोने में चांदी के सफेद गुण का अभाव होने से निश्चय से श्वेतपने के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, बल्कि सोने के पीतता आदि गुण के नाम से ही सोने का नाम बनता है उसी प्रकार से तीर्थंकर केवली भगवान् में शरीर के गुण श्वेतवर्ण, लालवर्ण आदि का अभाव होने से निश्चय से शरीर के गुणों का स्तवन करने से केवली भगवान् का स्तवन नहीं होता है बल्कि तीर्थंकर केवली भगवान् के गुणों का स्तवन करने से ही तीर्थंकर केवली प्रभु का स्तवन होता है ॥२६॥

(३४ ज०) निश्चय में नहीं घटता व्यवहार संस्तवन । क्योंकि शरीर गुण से नहीं केवली कथन ॥

जो केवली के ज्ञान आदि गुण का चितवन । परमार्थ से है केवली का वही संस्तवन ॥२६ अ०॥

(उत्थानिका)—अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयति ।

तात्पर्यवृत्ति—तं णिच्छये ण जुज्जदि तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते । कथमिति चेत् । ण सरीरगुणा हि होति केवलिणो यतः कारणाच्छरीरगुणाः शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवन्ति । तर्हि कथं केवलिनः स्तवनं भवति ? केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति । यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न भण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीर-स्तवनेन चिदानन्दैकस्वभावं केवलिपुरुषस्तवनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः ॥३४॥

उत्थानिका—निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली प्रभु का स्तवन नहीं होता है इस बात को दृढ़ करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उस पूर्वोक्त प्रकार से शरीर का स्तवन करने पर निश्चयनय से केवली भगवान् का स्तवन नहीं घटता है ।

क्यों ? क्योंकि शरीर के गुण शुक्ल, कृष्ण आदि केवली प्रभु के गुण नहीं हैं ।

तो फिर कैसे केवली स्तवन होता है ? जो केवली प्रभु के अनन्तज्ञान आदि गुणों का स्तवन करते हैं वास्तव में वे ही केवली प्रभु की स्तुति करते हैं । जैसे श्वेतवर्ण वाले चांदी के शब्द से सोना नहीं कहा जाता है वैसे ही श्वेतवर्ण आदि रूप से केवली के शरीर का स्तवन करने से निश्चयनय से चिदानन्द, एक स्वभावी केवली प्रभु का स्तवन नहीं होता है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥३४॥

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यत इति चेतः—

(३५ ज०) नयरम्मि वर्णिदे जह्ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।

देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होति ॥३० अ०॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।

देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥३०॥

आत्मख्याति—तथाहि

अनुष्टुप्—प्राकारकवलितान्तरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं ।

पिवलीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं ॥२५॥

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवन परिखादिमत्त्वा भावाद्वर्णनं न स्यात् । तथैव—

उत्थानिका—आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है पुनः शरीर की स्तुति करने से निश्चय से आत्मा की स्तुति क्यों नहीं जानी जाती है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा नगरे वर्णिते राज्ञः वर्णना कृता न अपि भवति) जैसे नगर का वर्णन करने पर राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता है, उसी तरह (देहगुणे स्तूयमाने केवलिगुणाः स्तुताः न भवन्ति) शरीर के गुणों का स्तवन करने पर भी केवली प्रभु के गुणों का स्तवन नहीं होता है ।

आत्मख्याति—इसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—जिसने अपने परकोटे से मानों आकाश को कवलित कर लिया है—छू लिया है, बगीचों की पंक्तियों से मानों भूमितल को निगल लिया है—ठक दिया है और चारों तरफ से घिरी हुई खाई से मानों पाताल को ही पी रहा है ऐसा यह नगर है ॥२५॥

(३५ ज०) जैसे कोई राजा के सुन्दर नगर का वर्णन । करने से नहीं होता कभी राजा का कथन ॥

वैसे ही केवली के देह गुण का संस्तवन । निश्चय से नहीं केवली गुणों को है नमन ॥३० अ०॥

सर्वथा छन्द ८ भगण (किरीट सर्वथा) वर्णिक—

जो अपने परकोटहि से तभ को स्पर्श करे मनरंजन ।

औरहि बाग बगीचहि से पृथ्वी तल व्याप्त करे सुखकन्दन ॥

सो यह ही नगरी परिखाहि, सुचक्रहि से अद्भुत भयभंजन ।

मानहि लोग जने इसको हि अधो तल को हि पिये पुर पट्टन ॥२५॥

अनुष्टुप्—नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं ।

अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

इति शरीरे स्तुयमानेपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्या-
दिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ॥३०॥

(उत्थानिका)—अथ शरीरप्रभुत्वेपि सत्त्वात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति
निश्चयनयेन । तत्र दृष्टान्तमाह ।

तात्पर्यवृत्ति—यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेपि नैव राज्ञो वर्णना कृता-

इस प्रकार से नगर का सुन्दर वर्णन करने पर भी यद्यपि राजा इसका अधि-
ष्ठाता है—स्वामी है फिर भी परकोटा, खगीचे, खाई आदि रूप राजा के न होने से राजा का
वर्णन नहीं हुआ है । उसी प्रकार से—

काव्यार्थ—नित्य ही विकार रहित, सर्वांग सुस्थित—सुन्दर, अपूर्व, सहज लावण्य-
स्वरूप और समुद्र के समान क्षोभ रहित ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का रूप उत्कृष्ट रीति से
जयशील हो रहा है ॥२६॥

इस प्रकार शरीर की स्तुति करने पर भी यद्यपि तीर्थंकर केवली भगवान् इस
शरीर के अधिष्ठाता—स्वामी हैं फिर भी केवली भगवान् में सुस्थित, सर्वांग लावण्य आदि
गुणों का अभाव होने से उनका स्तवन नहीं होता है ॥३०॥

उत्थानिका—यद्यपि आत्मा शरीर का स्वामी है फिर भी निश्चयनय से शरीर के
स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता है इस विषय में दृष्टान्त देते हुये कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे कोट, उपवन, खाई आदि के द्वारा नगर का वर्णन करने पर
भी राजा का वर्णन किया गया है ऐसा नहीं होता है उसी प्रकार श्वेतवर्ण आदि रूप से

सर्वेषां छन्दः भगवणः (किरीट सर्वेषां) वर्णिक—

नित्य रहें जिसमें सब अंगहि, सुस्थित है अविकार निरञ्जन ।

क्षोभ नहीं जिस भाँति समुद्र समान दिखे भवताप निकन्दन ॥

है जिसका हि स्वभाविक सुन्दरता सु अपूर्व रहे मनरञ्जन ।

सो हि जिनेन्द्रहि सुन्दर रूप, सदा जयवन्त रहे दुख भञ्जन ॥२६॥

भवति तथा शुक्लादिदेहगुणे स्तूयमानेऽनन्तज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवन्तीत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं गतं ॥३५॥

शरीर के गुणों का स्तवन करने पर भी केवली भगवान् के अनन्तज्ञान आदि गुणों का स्तवन नहीं होता है ऐसा अभिप्राय हुआ ।

इस तरह निश्चयव्यवहाररूप से चार गाथायें पूर्ण हुई ॥३५॥

विशेषार्थ—यहाँ जो गाथा २६वीं में कहा है कि 'तं निच्छये न जुंजदि' शरीर के गुणों का स्तवन केवली का स्तवन निश्चय से युक्त नहीं है । सो यहाँ 'निश्चय' से निश्चयनय के पूर्ण शुद्ध निश्चयनय और एकदेश शुद्ध निश्चयनय ऐसे दो भेद करके एकदेश शुद्ध निश्चयनय लेना चाहिये । उसी की अपेक्षा से केवली भगवान् के अनन्तज्ञान, अनन्त वर्णन आदि गुणों का स्तवन करना ही निश्चयनय से केवली प्रभु की स्तुति है क्योंकि पूर्ण शुद्धनिश्चयनय से तो स्तुति, स्तुत्य, स्तोता और स्तुति के फल की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है । जैसे कि सकल शुद्धनिश्चयनय से ध्यान, ध्याता, ध्येय और ध्यान के फल की व्यवस्था नहीं है ।

अथवा छह निक्षेपों से जो स्तव आवश्यक माना है उसमें भावनिक्षेप से केवली भगवान् के गुणों की स्तुति की जाती है वही निश्चय की अपेक्षा स्तुति है ऐसा समझना क्योंकि आगे निश्चयस्तुति को आचार्यदेव स्वयं तीन गाथाओं में कहेंगे वहाँ तो तद्रूप परिणत आत्मा ही 'निश्चयस्तुति' रूप से माने जायेंगे । व्यवहारनय की अपेक्षा से या भेदनय की अपेक्षा से जो स्तुति आदि चार भेद होते हैं उन्हें आदिपुराण में बहुत ही सुन्दर कहा है । वहाँ पर जो वर्णन किया है उसके आधार से—

इन चारों का लक्षण देखिये—

स्तुतिः पुण्यगुणोत्कीर्तिः स्तोता सध्यः प्रसन्नधीः ।

निष्ठितार्थो भवांस्तुत्यः फलं तैःश्रेयसं सुखं ॥

भगवान् के पुण्य गुणों का वर्णन करना स्तुति है, प्रसन्न बुद्धिवाला भव्यात्मा स्तवन करने वाला स्तोता है, हे भगवन् ! आप कृतकृत्य हुये भगवान् स्तुति के योग्य होने से स्तुत्य हैं और उस स्तुति का फल मोक्षसुख है । यह भेद जहाँ नहीं रहता वहाँ अभेद अवस्था में ध्यान होता है ।

अथ निश्चयस्तुतिमाह, तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्; —

(३६ ज०) जो इन्द्रिये जिगित्ता णाणसहावाधियं सुणदि आदं ।

तं खलु जित्तिदियं ते भणंति जे निच्छिदा साह ॥३९ अ०॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं ज्ञानात्मात्मानं ।

तं खलु जितेंद्रियं ते भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥३९॥

आत्मख्याति—यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मल-
भेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टम्भलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि
प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखंडैकचित्छविततया भावेन्द्रियाणि
ग्राह्यग्राह्यतत्त्वज्ञानसम्बन्धवशात्स्थितिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छवतेः स्वयमेवानुभूय-

उत्थानिका—अब निश्चयस्तुति को कहते हैं, उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकर
दोष का परिहार करते हुये स्तुति करते हैं—

अन्वयार्थ—(यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं आत्मानं जानाति) जो इंद्रियों
को जीतकर ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण आत्मा को जानते हैं (तं खलु) उनको नियम से (ये
निश्चिताः साधवः) जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं (ते जितेंद्रियं भणंति) वे जितेंद्रिय
ऐसा कहते हैं ।

आत्मख्याति—जो मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इंद्रियों के विषयभूत-पदार्थ इन
तीनों को ही अपने से पृथक् कर अन्य सर्व द्रव्यों से भिन्न अपनी आत्मा का अनुभव
करते हैं वे निश्चय से 'जितेंद्रिय' साधु हैं । द्रव्येन्द्रियाँ कैसी हैं ? अनादिकाल से मर्यादा
से रहित बंध पर्याय के वश से इन इंद्रियों ने समस्त स्व-पर का विभाग नष्ट कर दिया
है, जो शरीर रूप से परिणत—आत्मा के साथ एकरूप हो रही हैं, उनको तो निर्मल भेद
के अभ्यास की चतुराई से प्राप्त अंतरंग में प्रगट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलंबन
से अपने को पृथक् कर लिया है यही इन इंद्रियों का जीतना हुआ । कैसी हैं भाव इंद्रियाँ ?
पृथक्-पृथक् विशेषों को लिये हुये, अपने विषय में व्यापार करने के कारण जो विषयों

(३६ ज०) जो द्रव्यभाव इंद्रियों के विषय जीतके । ज्ञानादि गुणों से सहित आत्मा को जानते ॥
उनको ही परमसाधुगण निश्चयस्वरूप से । कहते हैं जितेंद्रिय वही मुनि जिनस्वरूप हैं ॥३९अ०॥

मानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शदीनिन्द्रियार्थाश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरत-
समस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टङ्कोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततयानित्यमेवांतः-
प्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसत्ता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्यः
परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ॥३१॥

(उत्थानिका)—अथानंतरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी
भवतीति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियपञ्चेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योसौ

को खंड-खंड ग्रहण करती हैं उनको, प्रतीति में आती हुई अखंड एक चैतन्य शक्ति से जो
अपने से भिन्न जानता है, यही इन भावेन्द्रियों का जीतना हुआ है ।

इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ कैसे हैं ? ग्राह्य-ग्राहक लक्षण संबंध की निकटता से
अपने संवेदन के साथ मानों एक सरीखे हो गये हैं ऐसे दिखते हैं, उनको अपनी चैतन्य
शक्ति के अपने आप अनुभव में आता हुआ जो एकत्व, उसके द्वारा भावेन्द्रिय से ग्रहण
किये हुये स्पर्श आदि पदार्थों को पृथक् किया है, यही इन इन्द्रिय विषयों का जीतना
हुआ ।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों के ज्ञेय-ज्ञायक का
संकर नामक दोष आता है । उस संकर दोष के दूर होने से आत्मा एकपने से टङ्कोत्कीर्ण
स्थित हुआ । जैसे कि टांकी से उकेरी हुई पत्थर की मूर्ति एकाकार जैसी की तैसी बनी
रहती है, उसी तरह से स्थित है यह ऐसा कैसे भालूम हुआ ? समस्त पदार्थों के ऊपर
तरता जानता हुआ भी अनुरूप नहीं होता, प्रत्यक्ष उद्योतपने से नित्य ही अंतरंग में प्रकाश-
मान, अविनश्वर, आप ही से सिद्ध हुआ और वास्तविकरूप से ऐसे भगवान् ज्ञानस्वभाव
के द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थरूप से भिन्न जाना क्योंकि ज्ञानस्वभाव तो अन्य
अचेतन द्रव्यों में है नहीं इसलिये सबसे अधिक भिन्न ही है । ऐसी आत्मा को जानने
वाला 'जितेन्द्रिय' जिन है इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई है ॥३१॥

उत्थानिका—अब यदि देह गुण का स्तवन करने से निश्चयस्तुति नहीं होती है
तो फिर कैसी होती है ? ऐसा पूछने पर द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय रूप पांच इन्द्रियाँ और पंचे-

शुद्धमात्मानं संचेतयते स जिन इति जितेंद्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिः परिहार ददाति ।

तात्पर्यवृत्तिः—जो इन्द्रिये जिगत्सा पाणसहावाधिकां मुणदि आदं यः कर्त्ता द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रियपंचेन्द्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयति तं खलु जिदिन्द्रियं ते भणति जे णिच्छिदा साहू तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेंद्रियं भणति ते साधवः । के ते । ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति । किंच ज्ञेयाः स्पर्शादिपंचेन्द्रिय-विषयाः ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणि तेषां योसौ जीवेन सह संकरः संयोगः संबन्धः स एव दोषः तं दोषं परमसमाधिवलेन योसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थः ॥३६॥

द्रिय के विषयों को स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान के द्वारा जीतकर जो मुनि शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं 'वे जिन होने से जितेंद्रिय हैं' इस प्रकार वही निश्चयस्तुति है । पूर्व पक्ष का परिहार करते हुये ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो मुनि-द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियों को और पाँचों इंद्रियों के विषयों को जीतकर शुद्धज्ञान चेतनागुण से अधिक-परिपूर्ण शुद्ध आत्मा को मानते हैं—जानते हैं—अनुभव करते हैं—संचेतते हैं, निश्चित ही उन मुनि को 'जितेंद्रिय' कहते हैं कौन कहते हैं ? वे साधु कहते हैं कि जो निश्चयनय के जानने वाले हैं ।

बाल यह है कि स्पर्श आदि पाँचों इंद्रियों के विषय ज्ञेय हैं और स्पर्शन आदि द्रव्येन्द्रियाँ तथा भावेन्द्रियाँ ज्ञायक हैं, इनका जो जीव के साथ संकर—संयोग संबंध है वही दोष है । उस दोष को परमसमाधि के बल से जो जीत लेते हैं वही प्रथम निश्चयस्तुति है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥३६॥

विशेषार्थ—यहाँ 'जितेंद्रिय' होना ही निश्चयस्तुति है ऐसा कहा है । ये 'जितेंद्रिय' अवस्था मुनि हुये बिना असंभव है । असंयम या अविरति के बारह भेद हैं—पाँच स्थावर और एक असंयम इन षट्काय जीवों की दया नहीं पालना और पाँच इंद्रिय और मन को वश में नहीं करना यह १२ प्रकार का है । चौथे गुणस्थान तक अव्रती या असंयमी कहलाते हैं अतः वह 'जितेंद्रियरूप' निश्चयस्तुति है ही नहीं । पाँचवें गुणस्थान में भी

देशव्रती श्रावक मात्र एक अस जीव की हिंसा के त्यागी हैं अतः उनके भी ग्यारह प्रकार का असंयम मौजूब है इसलिये ये भी 'जितेंद्रिय' नहीं कहे जा सकते हैं इसलिये छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती दिगंबर मुनि ही इंद्रिय संयम के धारी होते हैं ये बारह प्रकार के असंयम से रहित होने से संयमी हैं । इस कारण यह निश्चयस्तुति इन मुनियों के ही होती है ।

यहाँ जो 'जिन' शब्द से अमृतचंद्रसूरि ने कहा है वह 'जिन' अवस्था भी चतुर्थ-गुणस्थान वाली नहीं है । वास्तव में 'जिन' शब्द का व्यवहार भी मुनियों के लिये ही होता है । देखिये—धवला में—

“णमो जिणाणं” ॥१॥

जिनों को नमस्कार हो । इस सूत्र की व्याख्या में आगे जाकर कहा है कि—
“इस सूत्र के द्वारा पाँच गुरुओं व उनकी स्थापनाओं (मूर्तियों) को भी नमस्कार किया है क्योंकि, यहाँ सबों की संभावना है । वह इस प्रकार से—सकलजिन और देशजिन के भेद से जिन के दो प्रकार हैं । जो घातिया कर्मों का क्षय कर चुके हैं वे सकलजिन हैं । वे कौन हैं ? अरहंत और सिद्ध । इनसे इतर आचार्य, उपाध्याय और साधु तीव्र कषाय, इन्द्रिय एवं मोह के जीत लेने से देशजिन हैं ।”

यहाँ पर भी असंयत चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को 'जिन' नहीं कहा है अतः श्रीजय-सेनाचार्य के शब्दों के अनुसार जो साधु 'परमसमाधि' के बल से पाँचों इंद्रियों व उनके विषयों को जीत लेते हैं वे जिन हैं । ऐसी व्याख्या करने से शुद्धोपयोगी मुनि ही यहाँ 'जितेंद्रिय' कहे गये हैं वे ही इस प्रथम निश्चयस्तुति के कर्ता हैं । उसरूप से परिणत हुये हैं ऐसा समझना । आगे भी दो गाथाओं द्वारा कही जाने वाली निश्चयस्तुति मुनियों के श्रेणी आरोहण में ११ वें, १२ वें गुणस्थान में ही घटती है ऐसा आप स्वयं पढ़ेंगे ।

1. “तं जहा—जिणा दुविहा सयलदेसजिणभेएण । खविघाडकम्मा सयलजिणा । के ते ? अरहंत-सिद्धा । अवरे भाइरिय-उवज्जाय-साहु देसजिणा तिव्वकसाइन्दिय-मोहविजयादो ।”
—धवला पुस्तक ६, पृ० १०

अथ भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण; —

(३७ ज०) जो मोहं तु जिणिता पाणसहावाधियं मुण्ड आदं ।

तं जिदमोहं साधुं परमट्ठवियाणया विति ॥३२ अ०॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।

तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥३२॥

आत्मख्याति—यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्त्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसत्ता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्यः परमार्थतोऽति-

उत्थानिका—अब भाव्य-भावक संकर दोष को दूर करते हुये स्तुति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः तु मोहं जित्वा आत्मानं ज्ञानस्वभावाधिकं जानाति) जो मुनिराज मोह को जीतकर आत्मा को ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण अनुभव करते हैं (परमार्थविज्ञायकाः तं साधुं जितमोहं विदन्ति) परमार्थ के ज्ञाता उन साधु को 'जितमोह' ऐसा जानते हैं ।

आत्मख्याति—जो मुनि फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप से प्रगट हुये मोह कर्म को और उस अनुरूप परिणत भाव्य-आत्मा भेदज्ञान के बल से दूर से ही पृथक् कर हठपूर्वक मोह को तिरस्कृत कर समस्त भाव्य-भावक रूप संकर दोष के दूर हो जाने से एकत्व के होने पर टंकोत्कीर्ण एक आत्मा का अनुभव करते हैं वे ही निश्चय से 'जितमोह, जिन हैं । यह दूसरी निश्चय स्तुति हुई । वह आत्मा कैसा है ? समस्त विश्व के ऊपर तरता हुआ, प्रत्यक्ष में उद्योतमान होने से नित्य ही अंतरंग में प्रकाशमान, अपायरहित-अविनाशी और स्वतः सिद्ध, परमार्थसत् भगवान् है तथा ज्ञानस्वभावी है, वह आत्मा संपूर्ण अन्य पदार्थों से वास्तव में भिन्न है ऐसे आत्मा के अनुभव करने वाले मुनि जब मोह को जीतकर उसी आत्मा में तन्मय हो जाते हैं तभी यह निश्चयस्तुति घटित होती है ।

इसी प्रकार से यहाँ 'मोह' पद को बदलकर उसके स्थान में राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन और काय इन ग्यारह को इस सूत्र में घटित करना

(३७ ज०) जो मोह को उपशान्त कर श्रेणी में चढ़ रहे । निजज्ञानयुक्त आत्मा में लीन हो रहे ॥

परमार्थ के ज्ञाता उन्हें जितमोह कह रहे । उपशान्तमोह ग्यारह गुणस्थान को कहें ॥३२ अ०॥

रिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपद-परिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्ग्याख्यातत्वाद्ग्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्युक्तानि ॥३२॥

(उत्थानिका)—अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण कथयति अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह—

तात्पर्यवृत्ति—जो मोहं तु जिनिस्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं यः पुरुषः उदयागत मोहं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्रयरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति तं जितमोहं साहुं परमट्ठवियाणया मिति तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति कथयन्तीति । इयं द्वितीया स्तुतिरिति । किंच भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटते इति भाव्यो

चाहिये तथा कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्श इन पाँचों इंद्रियों को भी लगाना चाहिये । इस तरह पृथक्-पृथक् सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । इसी उपदेश से अन्य और भी विभावभावों को विचार कर घटित कर लेना चाहिये ॥३२॥

उत्थानिका—अब उसी निश्चयस्तुति को दूसरी प्रकार से भाव्य-भावक संकर दोष के परिहाररूप से कहते हैं, अथवा उपशम श्रेणी की अपेक्षा जितमोह रूप से कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो पुरुष-मुनिराज उदय में आते हुए मोह को सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकाग्र परिणतिरूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर शुद्ध ज्ञान गुण से अधिक-परिपूर्ण आत्मा को मानते हैं—जानते हैं—भावित करते हैं, परमार्थ के ज्ञाता महा-मुनि उन साधु को 'जितमोह'—रहित मोह ऐसा कहते हैं । यह दूसरी स्तुति हुई ।

प्रश्न—भाव्य-भावक के संकर दोष के परिहार से दूसरी स्तुति होती है ऐसा आपने पातनिका में कहा है यह कैसे घटती है ?

उत्तर—उसे ही बताते हैं, यहाँ रागादि भावों से परिणत आत्मा भाव्य है और उदय में आया मोह रंजित करने वाला है अतः वह भावक है इन दोनों ही भाव्य-भावक का शुद्ध जीव के साथ संकर-संयोग संबंध है वही संकर दोष है । उस दोष को जो मुनि

रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह संकरः संयोगः सम्बन्धः स एव दोषः । तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्म-नोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्यैकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियमूत्रेण पृथग्द्वयाख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनेनैव प्रकारेणात्यान्याप्यसंख्येयनोकमात्रविभावपरिणामरूपा-णिजातव्यानि ॥३७॥

स्वसंवेदनज्ञान के बल से दूर कर देते हैं वे ही 'जितमोह' हैं यही दूसरी निश्चयस्तुति है । इसी प्रकार से मोहपद का परिवर्तन करके राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय ये ग्यारह सूत्र तथा कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये पाँच इंद्रियाँ इन सोलह पदों का पृथक्-पृथक् व्याख्यान करना चाहिये । तथा अन्य भी असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणामों को भी इसी तरह से जान लेना चाहिये ॥३७॥

विशेषार्थ—श्रीजयसेनाचार्य ने यहाँ 'जितमोह' से 'उपशान्तमोह' मुनि को लिया है सो आगे श्रीकुंदकुंददेव ने ही कहा है कि "जिदमोहस्स दु जइया लीणो मोहो हविज्ज साहुस्स" जब जितमोह मुनि के सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है तब वे क्षीणमोह मुनि होते हैं अतः जयसेनाचार्य सर्वत्र मूल ग्रन्थकार की गाथाओं का आगे-पीछे संदर्भ जोड़कर ही अर्थ करते हैं तथा अमृतचंद्रसूरि के अनुकूल ही रहते हैं । यहाँ मोहपद के परिवर्तन से राग-द्वेषादि सोलह पद और लगा लेना है । जैसे कि—

जो रागं दु जिणिता णाणसहावाधियं मुण्ड आदं ।

तं जिदरागं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥

इस प्रकार से सोलह गाथायें और पढ़ी जा सकती हैं । यहाँ ज्ञान स्वभाव से अधिक का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि यह 'ज्ञानगुण' अन्य द्रव्यों में नहीं है और सर्व गुणों का मूल्यांकन कराने वाला है अतः जीव ज्ञानगुण से अधिक है । श्रीजयसेनाचार्य ने अधिक का अर्थ परिपूर्ण किया है ।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन—

(३८ ज०) जितमोहस्य तु जइया क्षीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु क्षीणमोहो भण्णदि सो निश्चयविद्दि ॥३३ अ०॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।

तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३३॥

आत्मव्याप्ति—इह खलु पूर्वप्रकाशितेन विधानेनात्मनो मोहं न्यवकृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सती यदा स्वभावभावभावनासोष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णपरमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेष-क्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममतोवचनकायश्चक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

आगे भाव्य-भावक भाव के अभाव द्वारा निश्चयस्तुति कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जितमोहस्य तु साधोः यदा मोहः क्षीणः भवेत्) मोह को जीतने वाले साधु का जिस समय मोह नष्ट हो जाता है (तदा निश्चयविद्भिः खलु सः क्षीणमोहः भण्यते) उस समय निश्चय के वेत्ता मुनि निश्चित ही उन साधु को 'क्षीणमोह' ऐसा कहते हैं ।

आत्मव्याप्ति—इस निश्चयस्तुति में पूर्वकथित विधान के द्वारा आत्मा से मोह का तिरस्कार कर यथा कथित ज्ञान स्वभाव से अतिरिक्त—परिपूर्ण आत्मा के अनुभव से मोह को जीतते हुये ऐसे साधु के जब अपने स्वभाव की भावना का अच्छी तरह अवलम्बन लेने से मोह की संतान का अत्यंत विनाश हो जाता है कि जिससे पुनः उसका प्रादुर्भाव—जन्म ही न हो सके ऐसा भावक नाम वाला मोह जब क्षीण नष्ट हो जाता है तब वे ही भाव्य-भावक भाव के अभाव से आत्मा के साथ एकत्व भाव से परिणत हो जाने पर टंकोत्कीर्ण एक परमात्मा को प्राप्त करते हुये 'क्षीणमोह जिन' हो जाते हैं । यही तीसरी निश्चय-स्तुति हुई है ।

(३८ ज०) जिसने समस्त मोह कर्म नाश कर दिया । उसने ही क्षीणमोह पद को प्राप्त कर लिया ॥

उनको हि गणधरादि क्षीणमोह कह रहे । ये बारवें गुणस्थान के निर्ग्रन्थ मुनी हैं ॥३३ अ०॥

शार्दूलविक्रीडित—एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनो निश्चयान्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सर्वं भवे-
न्नातस्तीर्थं करस्तदोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥ २७ ॥

इसी प्रकार मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह पदों का व्याख्यान कर लेना चाहिये । इसी विषय से अन्य भी विभाव भाव जानने योग्य हैं ।

अब निश्चय व्यवहाररूप स्तुति के लिये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—शरीर और आत्मा में व्यवहारनय से एकत्व है न कि निश्चयनय से, इसलिये शरीर की स्तुति से पुरुष-आत्मा की स्तुति व्यवहारनय से होती है न कि परमार्थनय से । निश्चयनय से तो चैतन्य की स्तुति से ही चैतन्य की स्तुति होती है । वह चैतन्य आत्मा की स्तुति पूर्ण की गाथा में कथित जितेंद्रिय, जितमोह और क्षीणमोह-रूप से ही होती है इसलिये जो शिष्य ने तीर्थंकर के स्तवन का प्रश्न किया था उसका उत्तर नयविभाग से दे दिया है कि निश्चयनय से तो आत्मा और शरीर में एकत्व नहीं है ॥ २७ ॥

इसी अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है ऐसा अर्थरूप काव्य कहते हैं—

मुक्तक छन्द (मात्रिक) —

आत्मा शरीर में एकपत्ता, व्यवहार कहे नहि निश्चय से ।
तन संस्तुति से आत्मा संस्तुति, निश्चय न कहे व्यवहारहि से ॥
निश्चय से आत्मा की संस्तुति, है आत्मगुणों से हो जब भी ।
उस जिन स्तुति से देह आत्म, में एकपत्ता नहि सिद्ध कभी ॥ २७ ॥

मालिनी छंद—इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां ।

अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ॥३३॥

(उत्थानिका)—अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते ।

अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह ।

काव्यार्थ—इस प्रकार से वस्तुतत्त्व के परिचय द्वारा आत्मा और शरीर की एकता को नयविभाग की युक्ति से जिन्होंने अत्यन्त उच्छेद—समाप्त कर दिया है । ऐसा होने पर वह ज्ञान यथार्थरूप में किस मुनि के प्रगट नहीं होता है अर्थात् अवश्य प्रगट होता ही है, वह बोध अपने निज रस से आकृष्ट हुआ एकरूप होकर प्रगट होता है ॥२८॥

इस प्रकार से अप्रतिबुद्ध—अज्ञानी ने 'हमें तो यह निश्चय है कि जो देह है वही आत्मा है' ऐसा कहा था उसका निराकरण कर दिया गया है ॥३३॥

भावार्थ—यहाँ भगवान् की स्तुति में व्यवहारनय और निश्चयनय के विभाग से स्पष्टीकरण किया है । वास्तव में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो व्यवहारनय के आश्रय से ही स्तुति करते हैं । मुनिराज मन, वचन, काय की क्रियापूर्वक व्यवहारनय के आश्रय से ही स्तुति करते हैं और पुनः निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर निश्चयस्तुतिरूप से परिणत हो जाते हैं । पहले यदि कोई मुनि उपशमश्रेणी में चढ़ गये तो वे 'जितमोहजिन' कहलाते हैं और यदि वे ही मुनि श्रेणी से उतर कर पुनरपि क्षपक-श्रेणी में चढ़ते हैं तो वे 'क्षीणमोह जिन' कहलाते हैं । ये जितमोह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती हैं और क्षीणमोह मुनि बारहवें गुणस्थानवर्ती हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अथवा भाव्य-भावक भाव के अभावरूप से तीसरी निश्चयस्तुति कहते हैं, अथवा उसी स्तुति को क्षपक श्रेणी की अपेक्षा क्षीणमोहरूप से कहते हैं—

मुक्तक (माशिक) छंद—इस तरह तत्त्व के अभ्यासी मुनियों द्वारा नय विभाग कर ।

आत्म देह के एकपने को बिल्कुल करते हैं निराकरण ॥

तब स्वरस देग से खिच करके जब एक स्वरूपहि प्रकट हुआ ।

फिर किसका विज्ञान प्रतिष्ठित ज्ञान में नहीं अवसीर्ण हुआ ॥२८॥

तात्पर्यवृत्ति—जितमोहस्त दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वगाथाकथित-
क्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत् । कस्य ?
साधोः शुद्धात्मभावकस्य तहिया हु खीणमोहो भण्णदि सो निच्चयविद्वहिं तदा तु गुप्ति-
समाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो गण्यते । कै निच्चयविद्विः परमार्थज्ञायकैर्गणधरदेवादिभिः ।
इयं तृतीया निश्चयस्तुतिरिति । भाव्यभावकभावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत्—
भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भावः
स्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः । एवं रागद्वेष
इत्यादि दण्डको ज्ञातव्यः । इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षस्तदनंतरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहार-
समर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरि-
हारगाथाष्टकसमुदायेन पठस्थलंगतं ॥३८॥

तात्पर्यवृत्ति—पूर्व गाथा में कहे गये क्रम से मोह को जीतने वाले साधु के जब
निर्विकल्प समाधि के काल में मोह क्षीण—नष्ट हो जाता है । कैसे साधु के ? शुद्ध
आत्मा की भावना करने वाले साधु के । तब उसी समय गुप्ति और समाधि के समय
वे साधु मोह को नष्ट करने वाले 'क्षीणमोह' इस नाम से कहे जाते हैं । किनके द्वारा ?
निश्चयनय के वेत्ता—परमार्थ के ज्ञाता गणधरदेव आदि के द्वारा कहे जाते हैं । यह
तीसरी निश्चयस्तुति हुई ।

प्रश्न—भाव्य भावक भाव के अभावरूप से कैसे स्तुति हुई ?

भाव्य—रागादि भाव से परिणत आत्मा भाव्य है, रंजक-उदय में आया हुआ
मोह भावक है इन दोनों ही भाव्य-भावक का भावस्वरूप, उसका अभाव-क्षय-विनाश
हो जाना उसी का नाम है 'निश्चयस्तुति' यह तीसरी स्तुति हुई ऐसा अभिप्राय हुआ । यहाँ
इसी प्रकार से राग, द्वेष आदि दण्डक पदों को लगा लेना चाहिये ।

इस तरह प्रथम गाथा में पूर्व पक्ष रखा गया, उसके बाद चार गाथाओं में
निश्चय व्यवहार के समर्थनरूप से परिहार किया गया है, उसके बाद तीन गाथाओं में
निश्चयस्तुति के कथनरूप से भी परिहार किया गया । इस तरह पूर्व पक्ष और परिहार-
रूप आठ गाथाओं के समुदाय से यह छठा स्थल पूर्ण हुआ ॥३८॥

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृम्भित-
तत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलघटसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि
विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति
पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

(३६ ज०) सत्त्वे भावे जम्हा पञ्चवखाई परेत्ति णादूणं ।

तह्या पञ्चवखाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४ अ०॥

भावार्थ—‘जितेंद्रिय जिन’ व्यवहार से छठे गुणस्थान में है पुनः निश्चयनय से
सातवें-आठवें से लेकर दशवें गुणस्थान तक है ‘जितमोह जिन’ उपशांतमोह नाम के
गुणस्थान में होते हैं और ‘क्षीणमोह जिन’ से बारहवें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ मुनि कहे गये
हैं । आगे सकल जिन केवली भगवान् हो जाते हैं ऐसा समझना । यह ‘निश्चयस्तुति’
निर्विकल्पध्यान में ही होता है जहाँ पर स्तुति, स्तुत्य और स्तोता का भेद ही नहीं
रहता है । इससे पहले चौथे गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक भी व्यवहारनय के
आश्रित व्यवहारस्तुति होती है । जैसा कि स्वयं श्रीकुन्दकुन्ददेव ने दशभक्तियों द्वारा
किया भी है ।

उत्थानिका—इस प्रकार अनादिकालीन मोह की संतान से निरूपित जो आत्मा
और शरीर में एकत्व, उसके संस्कार से अत्यन्त मूढ़ हुआ भी यह जीव तत्त्वज्ञानरूप
ज्योति प्रगट हो जाने से मोहपटल के हटते ही प्रतिबुद्ध हुआ, जैसे कि किसी के नेत्र में
कोई विकार—काष्ठ कामला आदि रोग था तब वस्तुयें अन्यथा ही दीख रही थीं रोग के
दूर होते ही—आवरण पटल के हटते ही उसे ज्यों की त्यों दिखने लग गया उसी तरह
ज्ञानी हुआ वह साक्षात् देखने वाला अपने को अपने रूप से जानकर श्रद्धान करके पुनः
अपने में ही आचरण करने का इच्छुक हुआ गुरु से पूछता है कि हे भगवन् ! इस आत्मा-
राम के अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान क्या है ? तब आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्मात् सर्वान् भावान् परान् इति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति) जिस हेतु से
सभी पदार्थ पर हैं ऐसा जानकर यह त्यागता है (तस्मात् ज्ञानं प्रत्याख्यानं) इस हेतु से पर
को पर जानना यह ज्ञान ही प्रत्याख्यान है (नियमात् ज्ञातव्यं) यह नियम से जानना
चाहिये ।

(३६ ज०) जो ज्ञान सभी बाह्य पर भावों को छोड़ता । बस मात्र आत्मतत्त्व में ही नेह जोड़ता ॥
चारित्र्यवृत्त मूर्ति का ज्ञान प्रत्याख्यान है । शुद्धात्मानुभव ही असली प्रत्याख्यान है ॥३४ अ०॥

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।

तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यं ॥३४॥

आत्मख्याति—यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ॥३४॥

(भूमिका)—अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरण-रूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते । तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा

आत्मख्याति—जिस हेतु से अन्य द्रव्य के स्वभावरूप से होने वाले अखिल भी पर पदार्थों को स्व-अपने स्वभाव भाव से ध्याप्त न होने से उन्हें पररूप से जानकर यह ज्ञाता द्रव्य भगवान् आत्मा उन्हें त्याग देता है उसी हेतु से जो पहले जानता है वही बाद में छोड़ता है अन्य कोई नहीं । इस प्रकार त्यागभाव को आत्मा में ही निश्चित कर त्याग के समय में त्याग करने योग्य उपाधिमात्र से प्रवृत्त जो त्याग के कर्तापने का नाम, उसके होने पर भी परमार्थ से परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने में नहीं है, आप तो इस नाम से रहित ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होता है इसलिये प्रत्याख्यान—त्यागभाव ज्ञान ही है ऐसा अनुभव करना चाहिये ।

भावार्थ—जब यह सम्यग्दृष्टि आत्मा जान लेता है कि ये पर पदार्थ पर हैं तब उन्हें उसी क्षण छोड़ देता है—त्याग कर देता है इसलिये ज्ञान ही प्रत्याख्यान समझना चाहिये । यदि ज्ञान—भेद ज्ञान हो जाये और परवस्तु का त्याग न करे तब वह उसका ज्ञान ज्ञान ही नहीं है ऐसा भाव समझना ॥३४॥

अब रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित स्वसंवेदनज्ञानलक्षण वाले प्रत्याख्यान के विवरणरूप से चार गाथाएँ कहेंगे । उनमें स्वसंवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान—त्याग है । इस कथनरूप से पहली गाथा है, प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्तरूप से दूसरी गाथा है ऐसी दो गाथाएँ हैं, पुनः मोह के परित्यागरूप से एक गाथा है और ज्ञेय पदार्थ के परित्यागरूप

प्रत्याख्यानविषये दृष्टांतरूपे द्वितीया चेति गाथाद्वयं । तदनंतरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयं । एवं सप्तमस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तथाहि—तीर्थकराचार्यस्तुतिनिरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीव-
देहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन् ! रागादीनां किं
प्रत्याख्यानमिति पृच्छति । इति पृच्छति कोर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति । एवं प्रश्नोत्तर-
रूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः ।

तात्पर्यवृत्ति—णाणं सव्वे भावे पच्चवखाई परेत्ति णादूणं जानातीति व्युत्पत्त्या
स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं ज्ञानं कृतृमिथ्यात्वरगादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा
प्रत्याख्याति—त्यजति—निराकरोति तद्वा पच्चवखाणं णाणं णियमा मुणेद्व्वं नस्मात्कारणात्
निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयान् मंतव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति ।

से दूसरी गाथा है ऐसी दो गाथायें हैं । इस प्रकार सातवें स्थल की यह समुदाय पातनिका
हुई । उसी का स्पष्टीकरण करते हैं—

उत्थानिका—‘तीर्थकर और आचार्यों की स्तुति निरर्थक हो जायेगी’ ऐसा पूर्वपक्ष
के बल से जीव और शरीर में एकत्व करना शक्य नहीं है ऐसा जानकर शिष्य अब प्रति-
बुद्ध हुआ पूछता है कि—

हे भगवन् ! रागादि भावों का प्रत्याख्यान क्या है ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव
प्रत्युत्तर देते हैं । इस तरह प्रश्नोत्तर रूप पातनिका के प्रकरण में सर्वत्र ही इस प्रकार
शब्दों का अर्थ जानना चाहिये अर्थात् प्रत्याख्यान क्या है ? सो ही बताते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—“जानातीति ज्ञानं” इस व्युत्पत्ति से स्वसंवेदनज्ञान ही आत्मा कहा
जाता है, अतः वह ज्ञान ही मिथ्यात्व रागादि विभाव भावों को परस्वरूप जानकर उनका
प्रत्याख्यान करता है—उनका त्याग करता है—उनका निराकरण करता है इस कारण से
निर्विकल्प स्वसंवेदनज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा निश्चय से जानना चाहिये—अनुभव
करना चाहिये । यहाँ यह तात्पर्य समझना कि परमसमाधि के काल में स्वसंवेदनज्ञान के

इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति तदेवानु-
भवनं निश्चयप्रत्याख्यानमिति ॥३६॥

बल से यह आत्मा शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वह अनुभव करना ही निश्चय प्रत्याख्यान है ॥३६॥

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कहा है यह बहुत ही महत्वपूर्ण विषय है । इसकी टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि परमसमाधि के समय—निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर शुद्धात्मा का अनुभव करना ही निश्चय प्रत्याख्यान है । यही अभिप्राय श्रीअमृतचंद्रसूरि का भी है देखिये—‘प्रत्याख्यान के समय में प्रत्याख्यान के योग्य उपाधिमात्र से प्रवृत्त हुआ कर्तृत्व का नाम होने पर भी “परमार्थेनाव्यपदेश्य-स्वभावाद्ब्रह्मवचनात् प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।” निश्चयनय से परभाव के त्याग—प्रत्याख्यान के कर्तृत्व का नाम अपने में नहीं है ऐसे ज्ञान स्वभाव से च्युत न होने से प्रत्याख्यान ज्ञान ही है ऐसा अनुभव करना चाहिये ।’ ज्ञान जब अपने आप में स्थिर हो जाता है तभी वह निर्विकल्पध्यान यह नाम पाता है अतः परमार्थ से निर्विकल्पध्यानरूप ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा समझना ।

आगे स्वयं इस ग्रंथ में ‘सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार’ में गाथा ३८३ से ३८६ तक स्वयं ग्रंथकार ने निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचना का वर्णन किया है । टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि ने वहाँ विस्तार से इनका वर्णन किया है जो कि सर्वथा महामुनि में ही घटित होता है । चूँकि व्यवहारप्रतिक्रमण, व्यवहारप्रत्याख्यान और व्यवहारआलोचना जिनके हैं ऐसे मुनि ही शुद्धोपयोग में निश्चय प्रतिक्रमण आदि के स्वामी हो सकते हैं ।

यही बात आचार्यदेव ने अपने नियमसार में भी कही है—

एवं भेदवभासं जो कुव्वद्द जीवकम्मणो णिच्छं ।

पच्चक्खाणं सक्कवि धरिदुं सो संजदो णियमा ॥१०६॥

जो उपर्युक्त प्रकार से (वचनजल्प को छोड़कर) जीव और कर्म में नित्य ही भेद का अभ्यास करते हैं वे संयत-महामुनि प्रत्याख्यान को धारने में समर्थ हो पाते हैं ।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्यानं को दृष्टान्त इत्यत आह—

(४० ज०) जह नाम कोवि पुरिसो परद्व्यमिणंति जाणिदुं चयदि ।

तह सब्बे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥३५ अ०॥

वहाँ नियमसार में एक निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार ही स्वतंत्र है ।

यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब कोई यह जान लेता है कि ये स्त्री, पुत्र, धन आदि पर हैं तब उन्हें त्याग कर मुनि बन जाता है यह व्यवहार प्रत्याख्यान है एवं प्रति-दिन आहार के बाद चतुराहार का अगले दिन आहार के पूर्व तक त्याग करना भी प्रत्याख्यान है पुनः देह से ममत्व और छोटे गुणस्थान योग्य भी शिष्य परिकर या अर्हंत भक्ति आदि के प्रति होने वाले रागादि पर भावों को छोड़कर निर्विकल्पध्यान में स्थिर हो जाना ही निश्चयप्रत्याख्यान है । यदि किसी को यह ज्ञान हो गया कि ये पुत्र, स्त्री, धन, गृह आदि पर हैं और ऐसा जानकर भी उसने नहीं छोड़ा तो उसका ज्ञान भला प्रत्याख्यान कैसे हो सकेगा ? अतः यहाँ ज्ञान से ऐसा हो ज्ञान लेना जो पर को पर बतलाकर उससे दूर कर दे अन्यथा वह ज्ञान अन्धे के हाथ के दीपक के समान है वह दीपक को लेकर भी यदि कुयें में गिरता है तो उसका दीपक लेना व्यर्थ ही है । यदि नेत्र-धान ध्यक्षित दीपक को लेकर कुयें, खाई आदि से बचकर चले तभी उस दीपक की सार्थकता है ।

यहाँ भी श्रीभमूतचंद्रसूरि ने गाथा के प्रथम चरण में “सब्बे भावे जम्हा” पाठ लिया है और श्रीजयसेनाचार्य ने “णाणं सब्बे भावे” पाठ माना है ।

उत्थानिका—ज्ञाता का प्रत्याख्यान ज्ञान है ऐसा मानने पर दृष्टान्त क्या है ? सो ही बताते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्वयं इदं इति ज्ञात्वा त्यजति) जैसे जगत् में कोई पुरुष यह परद्वय है ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है (तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा ज्ञानी विमुंचति) वैसे ही सर्व पर भावों को ‘पर’ ऐसा जानकर ज्ञानी उन्हें छोड़ देता है ।

(४० ज०) जैसे कोई पुरुष पराई वस्तु जानकर । निश्चित ही छोड़ देता है परद्वय मानकर ॥

वैसे हि परवस्तु को छोड़ मुनी जी बने । वे पर विभावभाव छोड़ निज में ही रमें ॥३५ अ०॥

यथा नाम कोपि पुरुषः परद्रव्यमिवमिति ज्ञात्वा त्यजति ।

तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥३५॥

आत्मख्याति—यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्तरनीक्रियमाणो मंधु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतदवस्थं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात् तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंधु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रीतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ॥३५॥

आत्मख्याति—जैसे कोई पुरुष भ्रम से धोबी के घर से दूसरे के वस्त्र को लाकर और उसे अपना समझकर पहनकर सो गया उसने यह नहीं जाना कि यह अन्य किसी का वस्त्र है पुनः अन्य पुरुष उसके वस्त्र के अंचल को खींचकर उसे जबरदस्ती नग्न करते हुये बोला “तू जल्दी उठ” यह बदल कर आया हुआ वस्त्र मेरा है मुझे दे । बार-बार ऐसे वचन सुनकर और सभी चिन्हों से उस वस्त्र को अच्छी तरह देखकर उसने निश्चित कर लिया यह वस्त्र पराया ही है तब ऐसा जानकर वह—ज्ञानी समझदार होता हुआ उसके वस्त्र को शीघ्र छोड़ देता है । वैसे ही यह ज्ञाता—आत्मा भी भ्रांति से परकीय भावों को—पदार्थों को ग्रहण कर उन्हें अपने समझकर अपने में ही उन्हें स्थापित कर—अपने से एकरूप मानकर स्वयं अज्ञानी होकर सो रहा था तब गुरुदेव ने उसे परभाव का भेदज्ञान कराकर एक आत्मभावरूप कराते हुये कहा कि “तू शीघ्र ही जाग—सावधान हो, यह तेरा आत्मा एक ही है ।”

इस प्रकार बार-बार गुरु के द्वारा कहे गये श्रुत के वचनों को सुनते हुये तथा अखिल चिन्हों से अच्छी तरह परीक्षा करके इसने निश्चित कर लिया कि ये सब परभाव हैं—पौद्गलिक होने से पर हैं, पुनः ऐसा जानकर वह ज्ञानी होता हुआ शीघ्र ही उन समस्त पर भावों को छोड़ देता है ॥३५॥

उसे ही आचार्यश्री कलश काव्य में कहते हैं—

मालिनी छन्द—अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।

श्रुति सकलभावेरन्यदीर्घविमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२६॥

(उत्थानिका)—अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तमाह ।

तात्पर्यवृत्ति—अहं नाम कोवि पुरिसौ परदब्धमिणंति जाणिदुं चयदि यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यामिदमिति ज्ञात्वा त्यजति तह सव्वे पर-भावे णाऊण विमुंचदे णाणी तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरारागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्ध्या विमुंचति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति । अयमत्र भावार्थः—यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रांत्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रांचलभादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः

काव्यार्थ—यह सत्यरूप अन्य भावों के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि अतिशोघ्र ही जब तक प्रवृत्ति में नहीं उतरती है, तब तक शोघ्र ही सकल अन्य भावों से रहित यह अनुभूति स्वयं ही प्रगट हो जाती है ॥२६॥

भावार्थ—यह परभावों के त्याग का दृष्टान्त है । जब तक इस पर दृष्टि पड़े, उससे पहले ही अन्य भावों को अन्य जान लेने पर उनसे ममत्व छूट जाता है पुनः उन भावों को छोड़कर उनसे रहित यह स्वानुभूति स्वयं ही प्रगट हो जाती है । अब यह अनुभूति किन्हीं होती है ? श्रीजयसेनाचार्य के सरल और स्पष्ट शब्दों में देखिये ।

उत्थानिका—अब प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्त देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे कि अहो ! स्पष्टरूप से कोई पुरुष वस्त्र और आभरण आदि को 'ये पर द्रव्य हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ देता है वैसे ही समस्त मिथ्यात्व राग द्वेष आदि पर भावों—पर्यायों को स्वसंवेदनज्ञान के बल से उन्हें पर जानकर विशेषरूप से मन यचन काय की शुद्धि से यह स्वसंवेदनज्ञानी उन्हें छोड़ देता है । यहाँ यह अभिप्राय है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का मनुष्य पराये वस्त्र को भ्रांति से 'यह मेरा है' ऐसा मानकर

मुक्तक (मात्रिक) छन्द—जो यहाँ सभी पर भाव त्याग के लिये अहो ! दृष्टान्त दिया ।

है वहाँ दृष्टि अत्यन्त वेग जब तक प्रवृत्ति नहीं प्राप्त किया ।

यह तब तक अन्य सर्व भावों, से रहित सदा अनुभूति कही ।

वह शोघ्रस्वयं निज के द्वारा, निज में ही निज को प्रकट हुई ॥२६॥

सन् वस्त्रलाञ्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुंचति तथायं ज्ञानीजीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरगादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवन्ति, एक एव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुंचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति । एवं गाथाद्वयं गतं ॥४०॥

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाहः—

(४१ ज०) णत्थि मम को विं मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विति ॥३६ अ०॥

धोबी के घर से लाकर उसे पहनकर या ओढ़ कर सो रहा था उसी समय वहाँ वस्त्र का मालिक अन्य मनुष्य आया और वस्त्र के छोर को खींचकर उसे उधाड़ने लगा तब वह जागकर और वस्त्र के चिन्हों को देखकर 'यह पराया है' ऐसा मानकर उसके वस्त्र को छोड़ देता है । वैसे ही यह ज्ञानी जीव भी अतिविज्ञ—महाज्ञानी और महाविरक्त ऐसे गुरु—दिगम्बर मुनि के द्वारा "ये मिथ्यात्व रागादि विभाव भाव हैं ये आपके स्वरूप नहीं हैं तुम एक अकेले ही हो" ऐसा प्रतिबोध मिलने पर 'ये पराये ही हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ देता है और शुद्धात्मानुभूति का अनुभव करता है । इस प्रकार दो गाथायें पूर्ण हुई ॥४०॥

विशेषार्थ—यहाँ श्रीजयसेनाचार्य के शब्दों में देखो तो समझाने वाले गुरु भी अतिविज्ञ हैं और निर्विण्ण हैं अर्थात् भेदविज्ञानी हैं और अतिविरक्त हुये सर्व आरंभ परिग्रह के त्यागी दिगम्बर मुनिराज हैं । उसी प्रकार उनसे संबोधन को प्राप्त कर परवस्तु और परभावों को छोड़कर शुद्धात्मा का अनुभव करने वाला शिष्य भी ज्ञानी है अर्थात् वह भी सप्तम गुणस्थान को प्राप्त कर निज शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धोपयोग में स्थित होकर ही कर रहा है ।

उत्थानिका—आगे इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान कैसे हुआ ऐसी आशंका करके भावक और भाव के भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मोहः मम कोऽपि नास्ति) मोह मेरा कोई भी नहीं है (एकः उपयोगः एव अहं) मैं एक उपयोगस्वरूप ही हूँ (बुध्यते) ऐसा जो जानता है (तं समयस्य विजायकाः मोहनिर्ममत्वं विदन्ति) उसको समय के जानने वाले पुरुष मोह से निर्मम कहते हैं ।

(४१ ज०) निश्चय से मेरा कोई नहीं मैं न किसी का । मैं एक जायक रूप हूँ पर मैं नहीं रमता ॥

उस महासाधु को ही निर्ममत्व कहा है । शुद्धात्मज्ञानियों ने उन्हें शुद्ध कहा है ॥३६ अ०॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।

तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विदन्ति ॥३६॥

आत्मख्याति—इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानटंकोत्कीर्णकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भानयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति किंचितस्त्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात्सज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया^१ मोहं प्रति निर्ममत्वोस्मि । सर्वदेवात्मैकत्वगतत्वेन^२ समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

स्वागता छंद—सर्वतः^३ स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।

नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्वनमहोनिधिरस्मि^४ ॥३७॥

आत्मख्याति—यहाँ निश्चित ही फल देने की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप हुआ जो पुद्गलद्रव्य उसके द्वारा बनाया हुआ ऐसा यह मोह मेरा कुछ भी नहीं है । मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव भाववाला हूँ सो मैं परमार्थ से परभाव से भावित करने के लिये अशक्य हूँ अर्थात् पर के भाव को दूसरे के भाव से चितवन नहीं कर सकते अतः यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता है । दूसरी बात यह है कि स्वयमेव अखिल विश्व को प्रकाशित करने में कुशल विकासरूप हुई और जिसमें निरन्तर प्रतापरूप संपत्ति पाई जाती है ऐसी चैतन्यशक्ति मात्र स्वभाव भाव के द्वारा भगवान् आत्मा ही जाना जाता है । जिससे कि मैं निश्चित ही एक हूँ—चित् शक्तिमात्र हूँ इसलिये समस्त द्रव्यों में परस्पर साधारण एकक्षेत्रावगाह का निवारण करना अशक्य होने से दही और खांड से मिश्रित—श्रीखंड की अवस्था के समान एकरूप होते हुये भी प्रगटरूप छट्टे मोठे स्वाद के भेद से पृथक्-पृथक् जाने जाते हैं इसलिये मैं मोह के प्रति निर्मम हूँ क्योंकि यह आत्मा सदाकाल

मुक्तक (मात्रिक) छन्द—जो सभी ओर से स्वरस रूप, चैतन्य भाव से भरा कहूँ ।

इस लोक में एक आत्म रूप, का स्वयं हि अनुभव करता हूँ ।

यह मोह न मेरा कोई है, नहि मेरा है निश्चय जानूँ ।

वर्णन समान चैतन्य रूप, मैं शुद्ध तेज का पुंजहि हूँ ॥३८॥

१. स्वदमान स्वभावभेदतया इति पाठान्तरेण भाव्यं । २. समयसौषमेवस्थितत्वात् इति टीकमगड प्रति पाठः ।

३. असंख्येष्वपि प्रदेशेषु स्वरसेन ज्ञानेन निर्भरः सम्पूर्ण भावः स्वरूपं यस्य । ४. महोदधि इति पाठान्तरम् ।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षु-
घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्याप्यूह्यानि ॥३६॥

(उत्थानिका)—अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टे सति मोहादिपरित्याग-
प्रकारमाहः ।

ही अपनी एकरूपता को प्राप्त हुआ अपने स्वभावरूप समय में ही स्थित है । इस प्रकार भावक और भाव में यह भेदज्ञान हुआ है । यहाँ भावक पुद्गलद्रव्य है और उसके उदय से हुआ भाव—परिणाम है इनसे जीव को पृथक् समझना ही भेदज्ञान है ।

भावार्थ—यह मोह कर्म पुद्गलद्रव्य रूप से जड़ है, इसका उदय कलुषभावरूप है अतः यह भी पुद्गल का विकार है यही भावक का भाव है । जब यह चैतन्य के उपयोग में अनुभव में आता है तब उपयोग भी विकृत होकर रागादि रूप कलुषित दिखता है । जब इसका भेदविज्ञान हो जाता है तब आत्मा भी अपने चैतन्य के अनुभवरूप ही रह जाता है ।

अब कलश काव्य कहते हैं—

कान्वयार्थ—जो सब प्रकार से—सर्वांग से अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरा हुआ है ऐसे एक अपने आत्मस्वरूप को मैं अपने आप अनुभव करता हूँ अतः यह मोह मेरा कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है मैं तो शुद्ध चैतन्य का समूह तेजपुंज की निधि-स्वरूप हूँ ॥३०॥

इस प्रकार गाथा में जो मोहपद है उसे बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह सूत्र भी पृथक्-पृथक् व्याख्यान करने योग्य हैं । इसी तरह के उपदेश से अन्य और भी विभाव भावों का विचार कर लेना चाहिये ।

उत्थानिका—अब शुद्धात्मा की अनुभूति कैसी होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर मोहादि के त्याग का प्रकार कहते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—णत्थि मम कोधि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्ण-
 ज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कृतृभूतेन भावयितुं रंजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्य-
 भावरूपो मोहः । बुद्धिदि उक्ताद्योग एव अहमिदंको बुध्यते जानाति । स कः कर्त्ता । ज्ञान-
 दर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव । किं बुध्यते ? यतः कारणादहमेकः ततो मोहं प्रति
 निर्ममत्वोस्मि निर्मोहो भवामि । अथवा बुध्यते जानाति । किं जानाति । विशुद्धज्ञानदर्शनोप-
 योग एवाहमेकः तं मोहनिष्ममत्तं समयस्स विद्याणया विंति तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं
 निर्ममत्वं ब्रुवन्ति वदन्ति जानन्ति वा । के ते । समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषा
 इति । किंच विशेषः यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेष-
 व्याख्यानमिति । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचन-
 कायश्चोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोक-
 मात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ॥४१॥

तात्पर्यवृत्ति—यह द्रव्य और भावरूप मोह मेरा कुछ भी नहीं है क्योंकि शुद्ध-
 निश्चयनय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावभाववाला जो मैं हूँ ऐसे भुझे ये रागादि भाव
 रंजित करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं । ज्ञान दर्शन उपयोग रूप लक्षणवाला होने से मैं
 उपयोगस्वरूप आत्मा ही हूँ सो मैं ऐसा जानता हूँ कि जिस कारण से मैं एक हूँ इसलिये मैं
 मोह के प्रति निर्मम—निर्मोही हूँ । अथवा यह आत्मा जानता है—क्या जानता है ? कि
 विशुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोगरूप ही मैं एक हूँ । उनको ही निर्मोह शुद्धात्मभावनास्वरूप
 निर्मम कहते हैं—जानते हैं । कौन जानते हैं ? जो कि समय—शुद्धात्मस्वरूप के ज्ञाता पुरुष
 हैं वे ही ऐसा कहते हैं । यहाँ विशेष यह है कि जो पहले स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान इस
 नाम से कहा गया है उसी को निर्मोहपना कहना यह विशेष व्याख्यान है । इसी प्रकार
 मोहपद का परिवर्तन करके राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन,
 काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सोलह पद व्याख्यान करने चाहिये । इसी
 तरह असंख्यात लोक प्रमाण अन्य भी जो विभाव परिणाम हैं उन्हें भी ऐसे ही लगा लेना
 चाहिये ॥४१॥

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाहः—

(४२ ज०) नत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।

तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स विद्याणया विति ॥३७ अ०॥

न सन्ति मम धर्मादियोर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।

तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विदन्ति ॥३७॥

आत्मख्यातिः—अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारित-
प्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञा-
यकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽस्तस्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमक्ष-
यत्त्वान्न नाम मम संति । किंचैतस्त्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं

उत्थानिका—अब ज्ञेय भाव से भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं—

अन्वयार्थ—(धर्मादयः मम न संति) धर्म द्रव्य आदि मेरे कुछ नहीं हैं (एकः उपयोगः एव अहं बुध्यते) एक उपयोगस्वरूप ही मैं हूँ जो ऐसा जानता है (समयस्य विज्ञायकाः तं धर्मनिर्ममत्वं विदन्ति) समय के जानने वाले उन्हें धर्म से निर्मोही कहते हैं ।

आत्मख्याति—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अपने से भिन्न अन्य जीव ये सर्व ही परद्रव्य हैं । अपने रस से वृद्धिगत-प्रगट और जिसका निवारण नहीं किया जा सके ऐसा जिसका फैलाव है तथा समस्त विश्व को—समस्त पदार्थ को कबलित—
ग्रसित करने रूप प्रचंड जो चिन्मात्र शक्ति, उससे शासीभूत होने से अंतर्निमग्न दृष्टे के समान जो ये सर्वपदार्थ आत्मा में प्रकाशमान हो रहे हैं, तो भी टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप से वास्तव में जो अंतरंग तत्त्व है मैं उसस्वरूप हूँ, ये परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न होने से परमार्थ से बाह्य तत्त्वरूपता को छोड़ने में असमर्थ हैं इसलिये ये मेरे कुछ भी नहीं हैं । दूसरी बात यह है कि यह आत्मा चैतन्य से स्वयं ही उपयुक्त हुआ तत्त्वरूप से एकरूप, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान् आत्मा ही जाना जाता है । जो मैं निश्चितरूप से एक हूँ इसलिये संश्लेष-ज्ञेय संवेदक—ज्ञायक भावमात्र से उत्पन्न जो परद्रव्यों से परस्पर में मिलना, उसके होने पर भी प्रगट स्वाव—अनुभव में आता

(४२ ज०) धर्मादि छहों द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं । उपयोगमयी आत्मा निश्चय से कही है ॥

उनको हि धर्म निर्ममत्व ज्ञानिजन कहें । मुनि शुद्धज्ञानी ही इसे प्राप्त कर सकें ॥३७ अ०॥

कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि । सर्व-
देवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्थैवमेव स्थितत्वात् इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ॥३७॥

मालिनी छंद—इति सति सह सर्वैरन्यभावेविवेके स्वयमयमुपयोगो विभ्रदात्मानमेकं ।

प्रकटितपरमार्थेर्दर्शनज्ञानवृत्तः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

हुआ जो स्वभाव का भेद, उसरूप से धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—उनके प्रति मैं निर्मम हूँ क्योंकि सदाकाल ही अपने में एकरूपता होने से पदार्थों की ऐसी ही व्यवस्था है कि अपने स्वभाव को कोई भी नहीं छोड़ता इस प्रकार अनुभव करने से ज्ञेय भावों से भेदज्ञान हुआ है ऐसा समझना ॥३७॥

इसी को कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—इस प्रकार पूर्वकथितरीति से भावक-भाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने से सभी पर भावों से भिन्नता होने पर यह उपयोग आप ही अपनी एक आत्मा को धारण करता हुआ, जिनका परमार्थ प्रकट है ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप जिसने परिणमन किया है ऐसा यह आत्माराम ही प्रवृत्त हुआ है—आत्मारूपी उद्यान में ही क्रीड़ा करता है ॥३१॥

भावार्थ—जब यह आत्मा धर्म, अधर्म आदि सर्व परद्रव्यों से अपने को भिन्न समझ लेता है तब उसे रमने के लिये एक आत्मा ही रहा तब वह दर्शन ज्ञान चारित्ररूप-रत्नत्रय से एकरूप हुआ आत्मा में ही रमण करता है । यही इसका ज्ञेयपदार्थों से भेद-ज्ञान जानना ।

मुक्तक (मात्रिक) छन्द—जो इस प्रकार से अन्य सभी, भावों के साथहि भेद हुआ ।

आत्मा का यह उपयोग स्वयं, एक आत्मरूप को प्राप्त हुआ ॥

जिनका परमार्थ स्वरूप प्रकट, ऐसे दृग् ज्ञान चरित्र कहे ।

जो उन्हीं रूप से परिणत वे, निज उपवन में ही रमण करें ॥३१॥

(उत्थानिका)—अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवन्तीति प्रति-
पादयति ।

सात्पर्यवृत्तिः—एतत्ति मम धम्म आदी न संति न विद्यन्ते धर्मास्तिकायादिज्ञेय-
पदार्था ममेति बुद्धादि बुध्यते जानी । तर्हि किमहं । उद्योग एवं अहमिक्को विशुद्ध-
ज्ञानदर्शनोपयोग एवाहं अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स
जानाति । केन रूपेण, यतोहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखण्डशिखरिणीवत्
व्यवहारेणैकत्वेण शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवन्तीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोस्मि तं
धम्मणिम्ममत्तं समयस्य विद्याणया विति तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य
शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषा ब्रुवन्ति कथयन्तीति । किंच इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं
स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं जातव्यं । इति गाथाद्वयं गतं । एवं
गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तं ॥४२॥

उत्थानिका—आगे धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेयपदार्थ भी मेरे स्वरूप नहीं हैं ऐसा
प्रतिपादन करते हैं—

सात्पर्यवृत्ति—जानी चिंतन करता है कि ये धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेयपदार्थ मेरे
नहीं हैं । तो मैं कौन हूँ ? मैं विशुद्ध ज्ञानदर्शन उपयोगस्वभावी ही हूँ । अथवा ज्ञानदर्शन
लक्षणवाला होने से मैं अभेदनय से उपयोगस्वरूपी आत्मा ही हूँ । वह आत्मा ही जानता
है कि मैं जिस हेतु से टंकोत्कीर्ण एक मात्र ज्ञायकस्वभाववाला एक ही हूँ उसी हेतु से
वही और मिथी से मिश्रित शिखरणी—श्रीखंड के समान व्यवहारनय से एकरूप होते हुये
भी शुद्धनिश्चयनय से ये मेरे स्वरूप नहीं हैं इस कारण ही मैं परद्रव्य से निर्मम हूँ ।
ऐसे उस आत्मा को ही समय के—शुद्धात्मा के जानने वाले पुरुष—महामुनि परद्रव्य से
निर्ममत्वरूप—शुद्ध आत्म भावना स्वरूप कहते हैं । यहाँ पर जो परद्रव्य से निर्ममपना
कहा गया है वह पहले जो स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ऐसा कहा था उसी का यह
विशेष व्याख्यान है ऐसा समझना चाहिये ।

इस तरह दो गाथायें पूर्ण हुईं । ऐसे चार गाथाओं द्वारा यह सातवां स्थल समाप्त
हुआ ॥४२॥

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति ; —

(४३ ज०) अहमिदको खलु शुद्धो दंसणणामइओ सदारूपी ।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८ अ०॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।

नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

विशेषार्थ—गाथा ३६ अ०, ४१ ज० में इस आत्मा को मोह आदि भावों से विभाव भावों से भिन्न किया था । यहाँ इस गाथा ३७ अ०, ४२ ज० में अपने से भिन्न जीव तथा पुद्गल आदि पाँचों द्रव्य इस तरह सर्व परद्रव्यों से समत्त्वरहित किया है । यहाँ पर भी पहली गाथा में मोहपद को बदलकर राग-द्वेष आदि पद लगा-लगाकर सोलह गाथायें और पढ़ी जा सकती हैं । ऐसे ही यहाँ पर अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन पाँच पदों को बदलने से पाँच गाथायें अधिक पढ़ी जा सकती हैं । जब यह आत्मा निर्विकल्पध्यान में रागादि विभावों का अनुभव नहीं करता है । और धर्मद्रव्य आदि को भी अनुभव में नहीं लाता है तभी वह इनसे समत्त्वरहित होता है । हाँ, श्रद्धा की अपेक्षा से चतुर्थगुणस्थान में भी कथंचित् निर्मम कहा जा सकता है ।

उत्थानिका—अब दर्शनज्ञानचारित्र से परिणत हुई इस आत्मा के स्वरूप का अनुभव कैसा होता है ? उसको बतलाते हुये आचार्यदेव इस कथन का उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं एकः खलु शुद्धः दर्शनज्ञानमयः सदा अरूपी) मैं एक हूँ, निश्चित ही शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ और सदा अरूपी हूँ (अन्यत् परमाणुमात्रं अपि मम किंचित् अपि न अस्ति) अन्य परद्रव्य परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है ।

(४३ ज०) मैं शुद्धनय से एक हूँ शुद्धात्मरूप हूँ । दर्शनमुज्ञानय सदा रहता अरूपि है ॥

परद्रव्य भी परमाणुमात्र मेरे नहीं हैं । व्यवहार से है यद्यपी निश्चय से नहीं हैं ॥३८अ०॥

आत्मख्यातिः—यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तेविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वर-मात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः । समस्तक्रमाक्रमप्रवर्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेको^{नार}नारकादिजीव-विशेषाजीवपुण्यपापास्त्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वैभ्यः^{नार}टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभा-वेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः । चिन्मात्रतया^१ सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणादर्शनज्ञानमयः स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेऽपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपीति प्रत्यगहं^२ स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि । एवं प्रतपतश्च मम बहिविचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे^३

आत्मख्याति—जो यह आत्मा अनादिकालीन मोह से उन्मत्त होने से अत्यन्त अज्ञानी हुआ था, सो उसे संसार से विरक्त ऐसे गुरु ने—दिगम्बर मुनि ने बार-बार स मझाया तब जैसे-तैसे बड़े प्रयत्न से यह समझकर 'जैसे अपने हाथ की मुट्ठी में पहले सोना रक्खा था उसे भूलकर फिर उसे याद कर देख लेवे' इस न्याय से अपनी परमेश्वरस्वरूप आत्मा को जानकर, श्रद्धान करके और उसी में आचरणरूप—उसमें तन्मय होकर अच्छी तरह आत्मा-राम हो गया । तब धितन करने लगा कि "मैं नियम से अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष चैतन्य-मात्र ज्योतिस्वरूप आत्मा हूँ ।"

समस्त क्रम और अक्रम से होने वाले जो व्यावहारिक भाव, उन भावों से मैं भेद को प्राप्त नहीं होता हूँ अतः मैं एक हूँ क्योंकि मैं चिन्मात्र आकारवाला हूँ । नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, बंध और मोक्ष लक्षण जो ये नव तत्त्व हैं वे व्यवहारनय की अपेक्षा से हैं मैं इनसे अत्यन्त भिन्न हूँ अतः शुद्ध हूँ क्योंकि मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाववाला हूँ । मैं चैतन्यमात्र स्वरूप होने से सामान्यविशेष उपयोगस्वरूप का उलंघन न कर सकने के कारण दर्शनज्ञानमयी हूँ । मैं स्पर्श, रस, गंध और वर्ण के निमित्त से होने वाले ज्ञान-अनुभवरूप से परिणत होते हुये भी स्वयं आप स्पर्श आदिरूप से परिणमन नहीं करने से परमार्थनय की अपेक्षा सदाकाल ही अरूपी हूँ—अमूर्तिक हूँ । इस तरह मैं सबसे पृथक्—भिन्न अपने स्वरूप का सम्यक् प्रकार से अनुभव करता हुआ प्रतापशील हो रहा हूँ । ऐसे प्रतापशील हुये मुझमें बाह्य अनेक

1. 'चिन्मात्रतायाः' इत्यपि पाठः । 2. 'प्रत्यगहं' इत्यपि पाठः । 3. 'विश्वोपरि' इत्यपि पाठः ।

परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति । यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ॥३८॥

वसंततिलका छंद—मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति आंतरसे समस्ताः ।

आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मन्न एष भगवानवबोधसिद्धुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्याती पूर्वखंडः समाप्तः ।

विचित्र स्वरूप की संपदा से अखिल परब्रह्म के प्रस्फुरायमान होने पर भी किंचित् अन्य परमाणुमात्र भी मेरा अपनेरूप से कुछ भी प्रतिभासित नहीं होता है—प्रतीति में—अनुभव में नहीं आता है कि जो भावकरूप से और ज्ञेयरूप से मेरे साथ एकरूप होकर मोह को उत्पन्न कर सके अर्थात् नहीं कर सकता । क्योंकि यह महान् ज्ञान का प्रकाश अपने निज रस से ही मूलमूल से मोह को उन्मूलित करके प्रस्फुरायमान हो रहा है इसने मोह को जड़मूल से ऐसा नष्ट कर दिया है कि जिससे यह पुनः उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा ॥३८॥

विशेषार्थ—अनादिकाल से यह जीव मोह के उदय से अज्ञानी हो रहा था जब दिगंबर मुनिराज श्रीगुरु ने करुणा करके आत्मा का बोध कराया तब इसने यह समझ लिया कि “मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ, अमूर्तिक हूँ, मेरा अन्य अणुमात्र भी परब्रह्म कुछ नहीं है ।” ऐसा भान होने से दर्शन ज्ञान चारित्र के साथ एकता हुई । मतलब पहले भेदरत्नत्रय को ग्रहण कर छठे गुणस्थान में प्रवृत्तिरूप चारित्र को पालने लगा । पश्चात् अभेदरत्नत्रय के बल से श्रेणी में आरोहण कर पूर्णज्ञानी बन गया । तब मोहकर्म का जड़-मूल से नाश हो गया ।

शुद्धनिश्चयनय से सम्यग्दृष्टि और भावक यह समझता है कि मैं शुद्ध बुद्ध एक हूँ परब्रह्म मेरा नहीं है । आगे श्रेणी आरोहण में बुद्धि से—उपयोग से परब्रह्म से पृथक् होता है । पश्चात् दशवें गुणस्थान के अंत में मोह का जड़ से नाश कर बारहवें में शेष तीन घातिया कर्मों का नाश कर तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर पूर्णज्ञानी केवली हो जाता है ।

अब ज्ञान की महिमा को कहते हुये कलश काव्य कहते हैं—

मुक्तक (मात्रिक) छन्द—मिथ्यात्वरूप परदा को निज, शक्ती पूर्वक जड़ दूर किया ।

यह जिन भगवन विज्ञानरूप, सागर तब ही तो प्रकट हुआ ॥

आलोक सहित उच्छलन शान्त, रस में समस्त जो प्राणि कहें ।

वे एक साथ अतिशय स्वरूप, निज में ही शुद्ध निमग्न रहे ॥३२॥

(उत्थानिका)—अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसं-
वेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्र्यमिति निश्चयरत्न-
त्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति—

तात्पर्यवृत्तिः—अहं अनादिदेहात्मैक्यभ्रान्त्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोपि करतलविन्यस्त-
मुत्तविस्मृतपञ्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा

काव्यार्थ—हे समस्त लोक के जीवों ! जो शांतरस समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है ऐसे इस शांतरस में आप सब एक साथ ही इसमें मज्जन—अवगाहन करो—इसमें डुबकी लगावो । यह भगवान् आत्मा ज्ञान समुद्र है यह विभ्रम-भ्रान्तिरूप चादर को शक्ति से डुबो करके—दूर करके आप सर्वांग से प्रगट हुआ है इसके शांतरसरूप जल में आप अवगाहन करो । ३२।

भावार्थ—जैसे समुद्र की आड़ में कुछ आ जाये तब जल नहीं दीखता और जब आड़ दूर हो जाये तब प्रगट दीखता हुआ सर्व लोगों को प्रेरणा देने योग्य हो जाता है कि आवो इसमें डुबकी लगावो । वैसे ही यह आत्मा मोह से भ्रमित होकर आच्छादित हो रहा था तब इसका स्वरूप नहीं दीखता था जब भ्रम दूर हुआ तब इसका स्वरूप प्रगट हुआ अतः आचार्यदेव प्रेरणा देते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से लबालब भरा हुआ होने से महान् समुद्र है इसमें शांत रसरूप जल भरा हुआ है । इस ज्ञानसमुद्र में आप सभी लोग एक साथ निमग्न हो जावो, खूब अवगाहन कर अनादिकालीन संसार ताप को दूर कर पूर्ण सुख का अनुभव करो ।

इस प्रकार समयसार की व्याख्या नाम से आत्मख्याति नाम की टीका में यह पूर्व-
रंग समाप्त हुआ ।

उत्थानिका—आगे शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसा श्रद्धान तो सम्यक्त्व है, उसी शुद्धात्मा में स्वसंवेदनरूप ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसी निज शुद्धात्मा में वीतराग स्व-
संवेदनज्ञान को निश्चल—स्थिर रखना यही सम्यक्चारित्र्य है, इन तीनों की एकरूप निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीव का स्वरूप कैसा है ? ऐसा बतलाते हुये आचार्यदेव इस जीवाधिकार का उपसंहार कर रहे हैं—

तात्पर्यवृत्ति—मैं अनादिकाल से शरीर और आत्मा की एकरूपता की भ्रान्ति—
अज्ञान से पहले अप्रतिबुद्ध—मूर्ख था, फिर भी परमगुरु—के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर

शुद्धात्मनि रतो यः सोऽहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः । पुनरपि कथंभूतः । इक्को यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः । खलु स्फुटं । पुनरपि किरूपः । सुद्धो व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा रागादिभावेभ्यो भिन्नोऽहमिति शुद्धः । पुनरपि किंविशिष्टः । दंसणणाणमइओ केवलदर्शन-ज्ञानमयः । पुनरपि किरूपः । सदाकाली निश्चयनयेन रूपरसगंधस्पर्शभावात्सदाप्यमूर्तः । णवि अत्थि मज्झ किंचिचि अण्णं परमाणुमित्तंपि । इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणु-मात्रमपि परद्रव्यं किमपि । यदेकत्वेन रंजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति^१ । कस्मात् ? परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात् ॥४३॥

शुद्धात्मा मैं रत हुआ जो कोई आत्मा सो ही मैं वीतराग चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप हूँ । जैसे कोई मनुष्य हाथ में सोमै को लेकर सो गया तब उसे भूल गया पुनः नींद खुलने पर स्मरण किया तो सुट्ठी में रखे हुये सुवर्ण को देखकर खुश हुआ, इसी न्याय से मैं भी पहले आत्मा को नहीं समझा था पश्चात् गुरु के उपदेश से समझकर जानी हुआ हूँ । यद्यपि व्यवहारनय से मैं नर-नारक आदिरूप से अनेक प्रकार का हूँ फिर भी शुद्धनिश्चयनय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला होने से ही एकरूप हूँ । पुनरपि मैं शुद्धनिश्चयनय से व्यावहारिक नव पदार्थों से भिन्न हूँ, अथवा रागादिभावों से रहित हूँ अतः शुद्ध हूँ । तथा केवलज्ञान दर्शनमय हूँ । निश्चयनय से रूप, रस, गंध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदाकाल भी अरूपी हूँ । मैं जिस हेतु से या जिस शुद्धनय से ऐसा हूँ इसी अपेक्षा से अन्य परमाणुमात्र भी परद्रव्य कुछ भी मेरा नहीं है जो कि एकरूप से रंजयमान करने वाले होकर या ज्ञेयरूप होकर पुनः मेरी आत्मा में मोह को उत्पन्न कर सके, अर्थात् नहीं कर सकता क्योंकि मैं परमविशुद्धज्ञान से परिणत हो रहा हूँ ॥४३॥

विशेषार्थ—इस गाथा की टीका में स्वयं अमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है कि निर्विण्ण गुरु के द्वारा प्रतिबोधित किया जाने पर मैं जानी हुआ हूँ । यहाँ निर्विण्ण गुरु से रत्नत्रय के धारी आचार्य कुंडकुंद आदि विगंबर महामुनि ही विवक्षित हैं । बिना गुरु के ज्ञान नहीं होता ऐसा ज्ञानार्णव में भी कहा है । यथा—

नहि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् ।

प्रकटितपश्चिमभागं, पश्यत नृत्यं मयूरस्य^२ ॥३४॥

१. 'तन्पुनर्बन्धाय भवति' इत्यधिकः पाठः । २. ज्ञानार्णव अध्याय १५ ।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्ती स्थलसप्तकेन जो पस्सदि अप्पाणमित्यादिसप्तविंशतिगाथाः । तदनन्तरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः । इति प्रथमरंगः ।

जिसने गुरुकुल की—मुनिसंघ की उपासना नहीं की, उसका विज्ञान—भेदज्ञान—कला या चतुराई प्रशंसा करने योग्य नहीं है; किन्तु निन्दा सहित होता है ।

देखो ! गुरु से नहीं सीखने वाला मयूर नृत्य करते समय अपना पृष्ठ भाग उठाड़ कर नृत्य करता है । दूसरी बात 'परमार्थतः' पद है जिसका अर्थ है मैं निश्चयनय से स्पर्शविरूप से परिणमन नहीं करने से ही अरूपी हूँ क्योंकि व्यवहारनय से कर्मबंध की अपेक्षा यह जीव मूर्तिक माना भी है । यथा—

“वर्ण रस पंच गंधा, दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे ।

णो संति अमुत्ति तदो, बवहारा मुत्तिबंधादो ॥७॥ (द्रव्य संग्रह)

पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श ये निश्चयनय से जीव में नहीं हैं मतः यह अमूर्तिक है और कर्मबंध होने से—व्यवहारनय से यह जीव मूर्तिक भी है ।

श्रीजयसेनाचार्य ने तो व्यवहारनय और निश्चयनय की अपेक्षा को पुनः पुनः कहा है इसलिये शुद्धनय से ही मैं टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावस्वरूप हूँ ऐसा निर्णय करना चाहिये । पुनः व्यवहारनय के अधलंबन से आत्मा को शुद्ध करने के उपायभूत भेदरत्नत्रय को ग्रहण करना चाहिये तभी इस ग्रंथ को पढ़ने की सार्थकता है ।

इस प्रकार इस समयसार की व्याख्या में शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में सात स्थलों से “जो पस्सदि अप्पाणं” इत्यादिरूप से सत्ताईस गाथाएँ हुई हैं । इसके बाद उपसंहाररूप से एक गाथासूत्र है । इस तरह समुदायरूप से अट्ठाईस गाथाओं से यह जीवाधिकार समाप्त हुआ ।

इस तरह यह पूर्वरंग पूर्ण हुआ ।

अथजीवाजीवावेकीभूती प्रविशतः ।

शार्ङ्गलविक्रीडित छन्द—

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदानासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।

आत्माराममनंतधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अब जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये दोनों एकरूप होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं । इसमें प्रथम ही श्रीअमृतचंद्रसूरि ज्ञान की प्रशंसा करते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यह ज्ञान मन को आल्हादित करता हुआ प्रगट हो रहा है । यह जीव अजीव के स्वांग को देखने वाले सभा में उपस्थित जनों को जीव-अजीव के भेद को देखने वाली—भेदविज्ञानरूपी निर्दोष दृष्टि से भिन्न-भिन्न द्रव्य की प्रतीति कराता हुआ, अनादि—संसार के दृढ़ बंधनरूप से बंधे हुये कर्मों के नाश से विशुद्ध रूप स्फुट—प्रगट हुआ, जिसके रमने का क्रीड़ावन—उद्यान आत्मा ही है—जिसमें अनन्त जेयों के आकार झलक रहे हैं तो भी आप अपने स्वरूप में ही रमता है, जिसका प्रकाश अनंत है, जो प्रत्यक्ष तेज के द्वारा नित्य ही उदयरूप है, धीर है, उदात्त है और अनाकुल है ऐसा यह भेद-विज्ञानमयी, ज्ञान मन को आनंदित करता हुआ उदित हो रहा है ॥३३॥

विशेष—श्रीअमृतचंद्रसूरि ने जीवाजीव अधिकार में यही तक अड़तीस गाथाएँ ली हैं और यहाँ 'पूर्वरंग समाप्त' हुआ ऐसा कहा है । श्रीजयसेनाचार्य ने यही तक जीवाधिकार मानकर उसको पूर्ण किया है । यहाँ इनके क्रम से गाथाएँ तेतालीस हैं ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित 'समयसार' प्रामृत ग्रंथ में श्रीजयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका के रहस्य को प्रकाशित करने वाली 'आयिका ज्ञानमती' द्वारा रचित इस 'ज्ञानज्योति' टीका में यह जीवाधिकार नामक पहला अधिकार पूर्ण हुआ ।

मुक्तक छन्द (मात्रिक)—ओ जीव अजीव प्रभेद दिखाकर बहुल दृष्टि से संसद को ।

ओ भिन्न द्रव्य स्व प्रतीति कराकर, दूर करें जग बन्धन को ॥

ओ बुद्ध व्यक्त प्रत्यक्ष तेज से उदित आत्म में रमण किया ।

नित्यादिक मन विकसित करने वाला यह ज्ञान हि प्रकट हुआ ॥३३॥

(४४ ज०) अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।

जीवं अज्झवसानं कम्मं च तथा परूयंति ॥३९ अ०॥

(४५ ज०) अवरे अज्झवसाने-सु तिव्वमंदाणुभागं जीवं ।

मण्णंति तथा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४० अ०॥

(४६ ज०) कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।

तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१ अ०॥

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।

जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥३९॥

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागं जीवं ।

मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥४०॥

कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति ।

तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥४१॥

अन्वयार्थ—(केचित् परात्मवादिनः मूढाः तु) कोई पर को आत्मा कहने वाले अज्ञानी (आत्मानं अजानंतः) आत्मा को न जानते हुये (अध्यवसानं तथा च कर्म जीवं प्ररूपयन्ति) परिणाम को और उसी प्रकार कोई कर्म को जीव कहते हैं (अपरे अध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागं जीवं मन्यन्ते) अन्य कोई परिणामों में तीव्र मंद अनुभाग गत को जीव कहते हैं (तथा अपरे नोकर्म अपि च जीव इति) उसी प्रकार अन्य कोई नोकर्म को भी 'जीव' है है ऐसा कहते हैं । (अपरे कर्मणः उदयं जीवं) अन्य कोई कर्म के उदय को जीव कहते हैं (यः तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां कर्मानुभागं सः जीवः भवति इच्छन्ति) तथा कोई मानते हैं कि जो तीव्रपने व मंदपनेरूप गुणों से कर्म का अनुभव है वही जीव है । (केचित् जीवकर्मोभयं

(४४ अ०) कोई परात्मवादी है मूढ़ आत्मा । है आत्मज्ञान से शून्य कहें अनात्मा ॥

रागादिरूप जो अध्यवसान मानें । जीवात्म को तथा कर्म को भी जीव मानें ॥३९ अ०॥

(४५ ज०) कोई कहें उसी अध्यवसान में जो । है तीव्र मन्द अनुभागहि जीव है वो ॥

नोकर्म रूप तन को भी जीव मानें । चार्वाक आदि कर्मों की गति न जानें ॥४० अ०॥

(४६ ज०) जो कर्म का उदय हो वह जीव ही है । कुछ मानते कर्मफल परिणमन ही है ॥

अनुभाग तीव्र अरु मन्द स्वभाव वाला । उसको हि जीव कहता कोई निराला ॥४१ अ०॥

(४७ ज०) जीवो कम्मं उहयं दोणिवि खलु केवि जीवमिच्छन्ति ।

अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छन्ति ॥४२ अ०॥

(४८ ज०) एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदन्ति दुम्मेहा ।

ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्विट्ठा ॥४३ अ०॥ (पंचकम्)

जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति ।

अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥४२॥

एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः ।

ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥४३॥

आत्मख्यातिः—इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्स्वीयत्वेनार्थतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानन्तो बहवो बहुधा परमस्यात्मानमिति जल्पन्ति । नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव काष्ण्यादितिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंस्तरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्य-

द्वे अपि खलु जीवं इच्छन्ति) कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुये को ही जीव मानते हैं (अपरे कर्मणां संयोगेन तु जीवं इच्छन्ति) अन्य कोई कर्मों के संयोग को ही जीव कहते हैं । (एवंविधाः बहुविधाः दुर्मेधसः परं आत्मानं वदन्ति) इस प्रकार के तथा अन्य बहुत प्रकार के दुर्बुद्धि मनुष्य पर को आत्मा कहते हैं, (ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिः निर्दिष्टाः) वे परमार्थवादी नहीं हैं ऐसा निश्चयवादियों ने कहा है ।

आत्मख्याति—इस संसार में आत्मा के असाधारण लक्षण को न समझने के कारण नपुंसक—असमर्थ होने से अत्यन्त मूर्ख हुये अज्ञानी जन वास्तवभूत आत्मा को न जानते हुये बहुत से हैं जो कि बहुत प्रकार से पर को भी 'यह आत्मा है ।' ऐसा बकवास करते हैं । इनमें से कोई कहते कि निसर्गतः होने वाले राग द्वेष से कलुषित परिणाम ही जीव है क्योंकि इन परिणामों से अतिरिक्त—भिन्न अन्य किसी जीव की उपलब्धि नहीं है जैसे कि अंगारे का कालापन अंगारे से भिन्न नहीं है ।

(४७ ज०) जो कर्म जीव की मिश्रित है अवस्था । उसको हि जीव माने कोई व्यवस्था ॥

कोई कहें कर्म के संयोग से जी । उत्पन्न स्थिति कही है जीव ही वो ॥४२ अ०॥

(४८ ज०) इन भाठ भेद युत कोई जीव माने । परमात्म को बहुविधा मूढात्म जानें ॥

इस हेतु बीतरागी सर्वज्ञ कहते । परद्रव्य को हि आत्मा परवादि कहते ॥४३ अ०॥

मानत्वादिति केचित् । तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्य अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचिद् । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाकामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वे-

कोई कहते हैं कि अनादि काल से लेकर अनंत काल तक पूर्व और अपर—पश्चात् में अवयवभूत एक संसरण—भ्रमणरूप क्रिया से क्रीड़ा करता हुआ जो कर्म है वही जीव है, क्योंकि इस कर्म से अतिरिक्त—भिन्न अन्य किसी जीव की उपलब्धि नहीं होती है ।

कोई कहते हैं कि तीव्र और मंद अनुभव से भेद को प्राप्त करता हुआ, दुरन्त—जिसका अंत दूर है ऐसे रागरस से परिपूर्ण जो अध्यवसान संतान—परिणामों की परंपरा है वही जीव है, क्योंकि इनसे भिन्न अन्य कोई जीव उपलब्ध नहीं हो रहा है ।

कोई कहते हैं कि नवीन और पुरानी अवस्था आदिरूप से प्रवर्तमान जो नोकर्म—शरीर आदि हैं वही जीव है, क्योंकि शरीर से अतिरिक्त—भिन्न अन्य कोई जीव दिख हो नहीं रहा है ।

कोई कहते हैं कि समस्त विश्व को पुण्य पापरूप से व्याप्त करने वाला कर्मों का विपाक-उदय ही जीव है, क्योंकि शुभ-अशुभ भाव से अतिरिक्त अन्य कोई जीव उपलब्ध नहीं हो रहा है ।

अन्य कोई कहते हैं कि साता असाता रूप से अभिव्याप्त समस्त तीव्र मंदपने रूप गुणों से भेद को प्राप्त हुआ कर्मों का अनुभव ही जीव है क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य किसी जीव की उपलब्धि नहीं हो रही है ।

कोई कहते हैं कि मज्जित—श्रीखंड के समान दो रूप से मिला हुआ होने से आत्मा और कर्म ये दोनों रूप मिला हुआ ही जीव है क्योंकि संपूर्णरूप से कर्मों से भिन्न अन्य कोई जीव उपलब्ध नहीं हो रहा है ।

नान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया
द्ववाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् एवमेवंप्रकारा इतरेपि बहुप्रकारा
परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिनः इति निर्दिश्यन्ते ॥३६॥
॥४०॥४१॥४२॥४३॥

(भूमिका)—अथानंतरं शृङ्गारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः । तत्र
स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यंतमजीवाधिकारः कथ्यते । तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपर-
द्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन अप्पाणमयाणंता इत्यादिगाथाभादि कृत्वा
पाठक्रमेण गाथादशकपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्ष-
मुख्यत्वेन गाथापंचकं तदनंतरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकं । अथाष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यं

अन्य कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया को करने में समर्थ कर्मों का संयोग ही जीव
है, क्योंकि कर्म के संयोग से बिना अन्य कोई जीव उपलब्ध नहीं हो रहा है जैसे कि
आठ काठ के संयोग से ही खाट बनती है ।

इस प्रकार आठ प्रकार तो ये कहे और अन्य-अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि-
वाले अज्ञानी लोग हैं जो कि पर को ही 'आत्मा' ऐसा कहते हैं किन्तु वे परमार्थवादी—
निश्चयनय के कहने वालों के द्वारा परमार्थवादी-सत्यार्थवादी या निश्चयनय के कहने वाले
नहीं कहे जाते हैं ॥३६ से ४३॥

श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार यह अजीवाधिकार है ।

भूमिका—अब इसके बाद शृङ्गारसहित पात्र के समान जीव और अजीव एकरूप
होकर प्रवेश करते हैं । यहाँ तीन स्थलों से तीस गाथा पर्यंत यह अजीव अधिकार कहा
जा रहा है । उसमें से पहले स्थल में शुद्धनय से देह रागादि परद्रव्य जीव के स्वरूप नहीं
हैं ऐसा निषेध की मुख्यता से 'अप्पाणमयाणंता' इत्यादि गाथा को आदि में करके पाठ क्रम
से दश गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । इन दश गाथाओं में भी परद्रव्य को आत्मा ऐसा
कहने वाले के पूर्वपक्ष की मुख्यता से पाँच गाथायें कहेंगे । अनंतर उसके परिहार की
मुख्यता से एक सूत्र कहेंगे । पुनः आठ प्रकार के कर्म पुद्गलद्रव्य हैं ऐसा कहने की

भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं । ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति ।

तात्पर्यवृत्तिः—अप्याणमयाणंता मूढा वु परप्पवादिणो केई आत्मानमजानंतः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदंतीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तथा पक्खविति यथांगारात् काष्ण्यं भिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदंतीति । अथ अवरे अज्झवसाणेसु तिच्चमंदानुभावगं जीवं सण्णंति अपरे केचनैकांतवादिनः रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमंदतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्ति-माहात्म्यं गच्छतीति तीव्रमंदानुभावगस्तं जीवं मन्यंते । तथा अवरे ण कम्मं चावि जीवोति तथैवापरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्मं चापि जीवं मन्यंते । अथ—कम्मस्सुदयं जीवं अवरे अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छंति कम्माणुभागमिच्छंति

मुख्यता से एक सूत्र कहेंगे । अनंतर व्यवहारनय के समर्थन द्वारा तीन गाथा कहेंगे । इस तरह यह समुदाय पातनिका हुई ।

उत्थानिका—अब देह रागादि परद्रव्य निश्चय से जीव ही हैं शिष्य ऐसा पूर्व-पक्ष रखता है—

तात्पर्यवृत्ति—कोई परात्मवादी मूर्ख आत्मा को नहीं जानते हुये परद्रव्य को ही आत्मा कह देते हैं । इनमें से कोई कहते हैं कि जैसे अंगारे से कालापन भिन्न नहीं है ऐसे ही रागादि से भिन्न जीव नहीं है इसलिये रागादि भाव ही जीव है । इसी प्रकार कोई कर्म को ही जीव मानते हैं । अन्य कोई एकांतवादी कहते हैं कि रागादि परिणामों में जो तीव्रता-मंदतारूप तर-तमता का अनुभव हो रहा है उसरूप शक्ति के माहात्म्य को प्राप्त करने वाला ही जीव है अर्थात् तीव्र मंद अनुभव ही जीव है । इसी प्रकार कोई चार्वाक आदि जो कर्म-नोकर्म से रहित परमात्मा उसके भेदविज्ञान से शून्य हैं ऐसे लोग शरीर आदि नोकर्म को ही जीव मान लेते हैं । कोई कर्म के उदय को जीव कहते हैं । अन्य कोई

अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छन्ति कथंभूतः स चानुभागः तिष्ठत्तण-
मंदत्तणगुणेहि जो सो हववि जीवो तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां वर्तते यः स जीवो भवतीति
अथ—जीवो कस्मिं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छन्ति जीवकर्म्मोभयं द्वे अपि जीव-
कर्म्मणी शिखिरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छन्ति । अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छन्ति
अपरे केचन अष्टकाष्ठध्वावदष्टकर्म्मणां संयोगेनापि । कस्मात् । अष्टकर्म्मसंयोगादन्यस्य
शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः । अथ एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदन्ति दुस्मेहा एवंविधा बहुविधा
बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहि
णिदिट्ठा तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो
निश्चयवादिभिः सर्वज्ञेनिदिष्टा इति पंचगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः ॥४४॥४५॥४६॥४७॥४८॥

लता, दारु, अस्थि और पाषाणरूप कर्म के अनुभाग को ही जीव कहते हैं । कैसा है यह अनुभाग ? तीव्रता और मंदतारूप गुणों से सहित है इस अनुभाग को ही जीव कहते हैं । कोई कहते हैं कि जीव और कर्म ये दोनों भी श्रीखंड के समान एकरूप होकर जीव हैं । अन्य कोई कहते हैं कि आठ काठ से बनी हुई खाट के समान आठों कर्मों के संयोग से ही जीव होता है । क्यों ? क्योंकि आठ कर्म के संयोग से भिन्न अन्य शुद्ध जीव है ही नहीं ।

इस प्रकार बहुत ही प्रकार के देह रागादि जो परद्रव्य हैं उनको ही आत्मा कहते हैं ये दुर्बुद्धि हैं—अज्ञानी हैं । जिस कारण ये वेह रागादि परद्रव्य को आत्मा कहते हैं इस लिये ये परात्मवादी हैं ऐसा श्रीसर्वज्ञदेव ने कहा है ।

इस तरह पाँच गाथाओं से यह पूर्वपक्ष रखा गया है ॥४४ से ४८॥

विशेषार्थ—गाथा में आचार्यदेव ने पूर्वपक्ष की तरफ से आठ मान्यतायें रखी हैं—

१. राग-द्वेष आदि विभाव परिणाम ही जीव है, २. कर्म ही जीव है, ३. तीव्र, मंद अनुभाग से सहित परिणामों की परम्परा ही जीव है, ४. शरीररूप नोकर्म ही जीव है, ५. पुण्य पाप-रूप कर्मों का समूह ही जीव है, ६. साता-असातारूप से सुख-दुःख का अनुभव ही जीव है, ७. आत्मा और कर्म ये दोनों मिलकर ही जीव हैं, ८. और आठों कर्मों का संयोग ही जीव है ।

कृतः—

(४६ ज०) एए सव्वे भावा पुद्गलद्रव्यपरिणामणिप्पण्णा ।

केवलजिणेहिं भणिया कह ते जीवो ति वुच्चंति ॥४४ अ०॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।

केवलजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ॥४४॥

आत्मख्यातिः—यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरहैर्द्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रजप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्य-स्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहन्ते ततो न खत्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः

इन भिन्न-भिन्न मान्यताओं को लिये हुये जो अज्ञानी जीव हैं, उन्हें आचार्यदेव अगली गाथा में समझायेंगे । वास्तव में विचार करके देखा जाये तो ये जीव और अजीव दोनों अनादि काल से एकक्षेत्रावगाही होकर संसारो बने हुये हैं, पुद्गल के संयोग से जीव की विकार सहित अनेक अवस्थायें हो रही हैं फिर भी जीव तो चैतन्यस्वभाव को छोड़कर कभी अचेतन हुआ नहीं है और न होगा ही, तथैव पुद्गल भी जीव के साथ एकमेक होकर रहते हुये भी कभी चैतन्य भाव को प्राप्त नहीं हुआ है । यही कारण है कि इन विकार भावों को एकांत से जीव मान लेना कथमपि श्रेयस्कर नहीं है ।

उत्थानिका—ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं ?

अन्वयार्थ—(एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः) ये सभी भाव पुद्गल-द्रव्य के परिणामन से बने हुये हैं (केवलजिनैः भणिताः) ऐसा केवली जिनदेव ने कहा है (ते जीवः इति कथं उच्यन्ते) पुनः वे 'जीव हैं' ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् नहीं कह सकते ।

आत्मख्याति—विश्व को साक्षात् करने वाले भगवान् अहंतदेव ने चूंकि इन सभी अध्यवसान आदि भावों को पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप से कहा है और पुद्गलद्रव्य चैतन्य शून्य है अतः ये इस पुद्गलद्रव्य से भिन्न रूप से कहे चैतन्यस्वभाववाले जीवद्रव्य हो नहीं

(४६ ज०) ये पूर्व में कथित अध्यवसान आदी । सब भाव का परिणामन है पुद्गलादी ॥

ऐसा जिनेन्द्रकेवलि का कथन आया । वे भाव जीव हैं यह बनती न माया ॥४४ अ०॥

परमार्थवादिनः एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इयं तु स्वानुभवगमिता युक्तिः न खलु नैसर्गिकराग-
द्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकायाः अतिरिक्तत्वेनान्यस्य
चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरण-
लक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुप-
लभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोति-
रिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन
प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् ।
न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्व-

सकते इसलिये आगम, युक्ति और स्वानुभव इन तीनों से पक्ष के बाधित हो जाने से इन
अध्यवसान आदि को जीव कहने वाले परमार्थवादी नहीं हैं चूंकि यही सर्वज्ञ वचन है और
इसे ही आगम कहते हैं ।

और यही तो स्वानुभव युक्ति है—इसे ही दिखाते हैं—निश्चय से नैसर्गिक—स्वयमेव
उत्पन्न हुआ रागद्वेष से मलिन परिणाम जीव नहीं है क्योंकि इन रागद्वेष परिणामों से
भिन्न अन्य चैतन्यस्वभाव जीव की भेदज्ञानियों को स्वयं उपलब्धि होती है जैसे कि सुवर्ण
की कालिमा से भिन्न उपलब्धि होती है ।

अनादि अनंत पूर्व और अपर में एक अवयवभूत संसरण लक्षण-परिभ्रमण लक्षण
क्रियारूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि कर्म से भिन्न
अन्य चैतन्यस्वभाव जीव की भेदज्ञानियों को स्वयं उपलब्धि होती है ।

तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होता हुआ दुरंत रागरस से अतिशय भरित अध्यवसान
परिणाम की संतान-परम्परा भी जीव नहीं है क्योंकि उस संतान से भिन्न अन्य चैतन्य-
स्वभावी जीव भेदविज्ञानियों को उपलब्धि हो रहा है ।

नूतन, प्राचीन अवस्था आदि के भेद से प्रवर्त हुआ नोकर्म भी जीव नहीं है क्योंकि
शरीर से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभाव वाले जीव की उपलब्धि भेदविज्ञानियों को ही रही है ।

निश्चय से समस्त विश्व को पुण्य-पाप रूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक—
उदय भी जीव नहीं है क्योंकि शुभ अशुभ भावों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावी जीव की
भेदज्ञानियों को उपलब्धि हो रही है ।

भावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीक्ष्णमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभावो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कात्स्न्यंतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाऽऽटकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति । इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नेवैवमनुशास्यः ॥४४॥

मालिनी छंदः—विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभूतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥३४॥

साता असातारूप से व्याप्त समस्त तीक्ष्ण और मंद गुणों से भेद को प्राप्त कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावी जीव भेदविज्ञानियों को स्वयं उपलब्ध हो रहा है ।

मज्जित—श्रीखंड के समान दो रूप से मिले हुये आत्मा और कर्म भी जीव नहीं हैं क्योंकि पूर्णरूप से कर्मों से भिन्न अन्य चित्स्वभावी जीव स्वयं भेदविज्ञानियों को उपलब्ध हो रहा है ।

वैसे ही अर्थक्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग जीव है ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि कर्म के संयोग से भिन्न अन्य चित्स्वभावी जीव की भेदविज्ञानियों को स्वयं उपलब्ध हो रही है जैसे कि खाट पर सोने वाला पुरुष आठ काष्ठ के संयोग से बनी खाट से भिन्न देखा जाता है ।

यहाँ पर पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विवाद को प्राप्त हुआ मनुष्य समताभाव से ही समझाने योग्य है ॥४४॥

कलश काव्य द्वारा उसे ही समझाते हैं—

मुक्तक (मात्रिक) छन्द—हे भव्य ! ठहर सब भिन्न व्यर्थ कोलाहल में क्यों है तत्पर ।
तू स्वयं हि निश्चल होकर छह महिने तक निज अवलोकन कर ॥
फिर देख कि पुद्गल से विभिन्न है तेज रूप निज आत्म की ।
उस अन्तर हृदय सरोवर में उपलब्धि हुई या नहीं हुई ॥३४॥

(उत्थानिका)—अथ परिहारं वदति ।

तात्पर्यवृत्तिः—एवे सव्ये भावा पुद्गलद्वयपरिणामणिष्यण्णा एते सर्वे देहरागादयः कर्म-
जनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्नाः केवलजिणेहि भणिया कह ते जीवोस्ति
उच्चंति केवलजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिताः कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यते
न कथमपि । किञ्च विशेषः । अंगारात् काष्ण्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यद्भणितं

काव्यार्थ—हे बत्स ! तू विरक्त हो, अन्य निष्प्रयोजनीभूत कोलाहल से तुझे क्या
लाभ है ? तू स्वयं भी निश्चल होकर एक अपने को छह महीना तक देख—अनुभव कर—
हृदयरूपी सरोवर में पुद्गल से भिन्न तेजःस्वरूप पुरुष—आत्मा की क्या उपलब्धि प्रति-
भासित नहीं होगी ? अर्थात् उपलब्धि होगी ही होगी । ३४।

भावार्थ—यहाँ अकार्यकोलाहल से शुभ-अशुभ दोनों रूप क्रियाओं को छोड़कर
निर्विकल्प होकर आत्मा के ध्यान करने का उपदेश है । यह शुभ क्रियायें सर्वथा अकार्य या
निष्प्रयोजनीभूत नहीं हैं । निर्विकल्पध्यान की अपेक्षा से ही निष्प्रयोजनीभूत हैं ।

उत्थानिका—अथ पूर्वशंकाओं का परिहार करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—ये सभी शरीर आदि और रागादि भाव कर्म से उत्पन्न हुई पर्यायें
हैं चूँकि ये पौद्गलिक द्रव्य कर्म के उदयरूप परिणाम से उत्पन्न हुई हैं । केवली, सर्वज्ञ
जिनेन्द्रदेव ने इन्हें कर्म से उत्पन्न हुई ही कहा है पुनः निश्चयनय से ये जीव हैं ऐसा कैसे
कह सकते हैं ? अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं कह सकते ।

प्रश्न—अंगारे से कृष्णता के समान रागादि से भिन्न जीव नहीं है अर्थात् जैसे
कोयले का कालापन कोयले से भिन्न नहीं है वैसे ही जीव भी रागादि भावों से भिन्न
नहीं है ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—उसे ही बताते हैं, 'रागादि से भिन्न शुद्धजीव है' यह पक्ष हुआ, क्योंकि
परमसमाधि में स्थित पुरुष—महामुनि को शरीर और रागादि से भिन्न चिदानन्द एक

तदयुक्तं । कथमिति चेत् । रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः । किट्टकालिका-स्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टान्तः । किं च अंगारदृष्टान्तोपि न घटते । कथमिति चेत् । यथा सुवर्णस्य पीतत्वं, अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथांगारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति । रागादयस्तु विभावाः स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक्त्वं कर्तुं शक्यते इति । यदप्युक्तमष्टकाष्टसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितं अष्टकर्मसंयोगात् भिन्नः शुद्धजीवोस्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्टसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टान्तसहितहेतुः । किंच देहात्मनोरत्यन्तं भेदः इति पक्षः भिन्नलक्षणलक्षितत्वादिति हेतुः, जलानलवदिति दृष्टान्तः । इति परिहारगाथा गता ॥४६॥

स्वभावी शुद्ध जीव की उपलब्धि हो रही है यह हेतु है, जैसे कि कीट और कालिमा से सोना भिन्न है यह दृष्टान्त हुआ । बात यह है कि जो आपने अंगारे का दृष्टान्त दिया है वह नहीं घटता है क्योंकि जैसे सोने का पीलापन और अग्नि की उष्णता स्वभाव है वैसे ही अंगारा—कोयला का कालापन स्वभाव है उसे पृथक् नहीं कर सकते हैं किन्तु राग आदि विभावभाव तो स्फटिक में लगी हुई उपाधि के समान हैं इसलिये उनका निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति के बल से पृथक् करना शक्य है ।

जो आपने कहा कि 'आठ काठ के संयोग से बनी खाट के समान आठों कर्मों का संयोग ही जीव है' यह भी कथन अयुक्त है, क्योंकि आठ कर्मों के संयोग से भिन्न शुद्ध जीव है, यह पक्ष वचन है । आठ काठ के संयोग से बनी खाट पर सोने वाले पुरुष के समान परमसमाधि में स्थित मुनियों को आठ कर्म के संयोग से पृथग्भूत शुद्ध, बुद्ध, एक-स्वभावी जीव की उपलब्धि हो रही है यह दृष्टान्त सहित हेतु है ।

दूसरी बात यह है कि वेह और आत्मा में अत्यन्त भेद है यह पक्ष है क्योंकि दोनों ही भिन्न लक्षण से जाने जाते हैं यह हेतु हुआ जैसे कि जल और अग्नि भिन्न-भिन्न ही हैं, यह दृष्टान्त हुआ ।

इस प्रकार यह परिहार की गाथा पूर्ण हुई ॥४६॥

कथं चिदन्वयत्वप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

(५० ज०) अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।

जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५ अ०॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विदन्ति ।

यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥४५॥

आत्मख्यातिः—अध्यवसानादिभावनिरवर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञश्रुतिः । तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्या-
ख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदन्तःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः ।
ततो न ते चिदन्वयत्वविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः ॥४५॥

उत्थानिका—ये रागादि भाव चैतन्य के साथ सम्बन्धित होने से चैतन्यस्वरूप ही प्रतिभासित होते हैं पुनः पुद्गल के स्वभाव कंसे हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(अष्टविधं अपि च सर्वं कर्म पुद्गलमयं) ये आठों प्रकार के भी सभी कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा (जिनाः विदन्ति) जिनेन्द्रदेव कहते हैं (तत् यस्य विपच्यमानस्य) क्योंकि जिस विपाक के समय उदय में आने वाले कर्म का (फलं दुःखं इति उच्यते) फल दुःख है ऐसा कहा गया है ।

आत्मख्याति—जो इन अध्यवसान आदि—रागद्वेष आवि भावों को उत्पन्न करने वाले आठों प्रकार के ज्ञानावरण आदि भी कर्म हैं वे समस्त ही पुद्गलमय हैं, ऐसी निश्चित ही सर्वज्ञदेव की जानकारी है—वाणी है । उस कर्म का उदय धरमसीमा को प्राप्त होने पर 'फल' नाम से कहा जाता है, वह अनाकुलता लक्षण सुख नामक आत्मा के स्वभाव से विलक्षण होने से दुःख ही है । ये अध्यवसान आवि भाव आकुलता लक्षणवाले होने से उस दुःख के अंतर्गमित ही हैं । इसलिये ये चैतन्य से संबंधित होने का भ्रम उत्पन्न कराते हैं तो भी ये आत्मा के स्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गल के ही स्वभाव हैं ऐसा समझना ॥४५॥

(५० ज०) आठों हि कर्म पुद्गलमय हैं बताया । जिनदेव के कथन में नहि भेद आया ॥

क्योंकि सभी कर्म का फल दुःख ही है । परमार्थ सुख रहित सुख भी दुःख ही है ॥४५ अ०॥

(उत्थानिका)---अथ चिद्रूपप्रतिष्ठासेणि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवतीति चेत्---

तात्पर्यवृत्तिः---अद्वैतविहं पि य कर्मं सध्वं पुद्गलमयं जिना विति सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवन्ति कथयन्ति । कथंभूतं यत्कर्म जस्य फलं तं युक्तचिद्विदुःखं विपश्चिन्माणस्तस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किंव्याकुलत्वस्वभावत्वाद्दुःखमिति । कथंभूतस्य कर्मणः । विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य । इदमत्र तात्पर्यं । अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं रागा-

उत्थानिका---चैतन्यस्वरूप का प्रतिभास होने पर भी ये रागादि परिणाम पुद्गल के स्वभाव कैसे हैं ? ऐसी आशंका होने पर कहते हैं---

तात्पर्यवृत्ति---सभी आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमय हैं ऐसा भीवीतराग सर्वज्ञदेव ने कहा है । यह कैसा है कर्म ? इन कर्मों का फल आकुलता स्वभाव होने से दुःखरूप से ही प्रसिद्ध है । पुनः ये कर्म कैसे हैं ? ये विशेषरूप से उदय में आते हैं । यहाँ यह तात्पर्य है कि आठ प्रकार के पुद्गलमय कर्मों का जो कार्य है वह अनाकुलता लक्षण परमार्थ सुख से विलक्षण होने से आकुलता का उत्पादक दुःखरूप ही है और जो ये रागादि परिणाम हैं वे भी आकुलता के उत्पादक दुःख लक्षणवाले ही हैं इसलिये ये रागादि भाव पुद्गल के कार्य होने से शुद्धनिश्चयनय से पौद्गलिक ही हैं ऐसा समझना ।

ये आठ प्रकार के कर्म पुद्गलद्रव्यमय ही हैं ऐसे कथनरूप से एक गाथा हुई ॥५०॥

विशेषार्थ---यहाँ रागादि भावों को भी पौद्गलिक कह दिया है किन्तु इन भावों का उपादान कारण आत्मा ही है पुद्गल तो निमित्तमात्र है फिर भी निश्चयनय की अपेक्षा यह कथन है क्योंकि यहाँ पुद्गल के निमित्त से होने से ये पौद्गलिक कह दिये गये हैं । श्रीजयसेनाचार्य ने अपनी टीका में अंतिम पंक्ति में खोल दिया है कि ये विभाव भाव पुद्गलद्रव्य के कार्य हैं चूँकि उन्हीं पौद्गलिक कर्म के उदय से उत्पन्न हुये हैं । अतः शुद्धनिश्चयनय से ये पौद्गलिक हैं ऐसा समझना । आगे स्वयं आचार्य श्रीकुंदकुंददेव इन्हें

दयोप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति । अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ॥५०॥

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् :—

(५१ ज०) व्यवहारस्स ^१दरीसणमुवएसो वणिंदो जिनवरेहि ।

जीवा एदे सव्वे अज्झवसानादओ भावा ॥४६ अ०॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वणितो जिनवरैः ।

जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

आत्मख्यातिः—सर्वे एवेतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनं । व्यवहारो हि व्यवहारिणां स्लेच्छभाषेव स्लेच्छानां परमार्थ-प्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य

जीव के बतला रहे हैं क्योंकि वे भी जानते थे कि कहीं इन गाथाओं को पढ़कर लोग एकांती दुराग्रही न बन जायें । सो ही आगे देखिये—

उत्थानिका—यदि ये रागादि भाव पुद्गल के स्वभाव हैं तो पुनः इन्हें ग्रंथों में जीवरूप से कैसे कहा है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एते सर्वे अध्यवसानादयः भावा जीवाः) ये सभी अध्यवसान आदि भाव जीव हैं (जिनवरैः उपदेशः वणितः व्यवहारस्य दर्शनं) ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है, यह व्यवहारनय का मत है ।

आत्मख्याति—ये सभी अध्यवसान—राग आदि जो भाव हैं वे जीव हैं ऐसा भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है वह असूतार्थ—व्यवहारनय का ही मत है क्योंकि जैसे स्लेच्छ भाषा स्लेच्छों को वस्तु का स्वरूप समझाती है वैसे ही व्यवहारनय व्यवहारीजनों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपरमार्थ होते हुये भी तीर्थप्रवृत्ति का निमित्त है

(५१ ज०) जो पूर्व में कथित अध्यवसान आदी । जो भाव जिनवर कथित वो हैं अनादी ॥

व्यवहारनय से कहना मिथ्या नहीं है । क्योंकि दया व हिंसा व्यवहार ही है ॥४६ अ०॥

परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्या-
भावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति^१ रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो
भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ॥४६॥

(उत्थानिका)—अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तहि रागी द्वेषी मोही जीव
इति कथं जीवत्वेन ग्रन्थांतरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति;—

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारस्स दरिसणं व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं यत्किं कृतं ।
उचएसो थण्णिओ जिणवरेहि उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः । कथंभूतः । जीवा एदे सव्वे
अज्झवसाणावओ भावा जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यन्त इति । किं
च विशेषः । यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलंबनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्याव-

अतः उसका दिखलाना न्याय ही है । इस व्यवहारनय के बिना तो परमार्थ से शरीर से
जीव का भेद देखा जाता है । अर्थात् निश्चयनय से जीव और शरीर भिन्न-भिन्न है अतः
राख के समान त्रस और स्थावर जीवों का निःशंक—स्वच्छंद होकर घात कर देने पर
भी हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से कर्मबंध का भी अभाव हो जावेगा । उसी
प्रकार से रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्मों से बंध रहा है यह कर्मबंधन से छुड़ाने योग्य है
ऐसा जो कथन है वह भी नहीं बनेगा क्योंकि परमार्थ से तो राग द्वेष मोह से जीव भिन्न
ही है अतः मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का अभाव हो जावेगा और जब मोक्ष का
उपाय नहीं होगा तब मोक्ष का भी अभाव हो जावेगा ॥४६॥

उत्थानिका—यदि राग द्वेष आदि भाव पुद्गल के स्वभाव हैं तब तो जीव रागी,
द्वेषी और मोही है ऐसा अन्य ग्रंथों में इन्हें जीवरूप से कैसे कहा गया है ? ऐसा प्रश्न होने
पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यह व्यवहारनय का स्वरूप जो दिखलाया गया है वह श्रीजिनेन्द्रदेव
ने कहा है । क्या कहा है ? जो ये सभी अध्यवसान आदि भाव—रागादि परिणाम हैं वे
जीव ही कहे जाते हैं । उसका स्पष्टीकरण यह है कि—यद्यपि यह व्यवहारनय बाह्य द्रव्य
का अवलंबन लेने से अभूतार्थ है फिर भी रागादि बाह्य द्रव्य के अवलंबन से रहित और

१. इति समतरेण तु । इति पूर्वपदं संयोज्यार्थो कर्तव्यः ।

लंबनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तस्मादव्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः ॥५१॥

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के अवलंबन से सहित जो परमार्थ है उसका प्रतिपादक होने से इसको दिखलाना उचित ही है । क्योंकि जब व्यवहारनय नहीं होगा तब शुद्ध निश्चयनय से त्रस, स्थावर जीव भी नहीं होंगे पुनः ऐसा मानकर लोग निःशंक होकर उन जीवों का घात कर डालेंगे, तब पुण्यरूप धर्म का अभाव हो जावेगा यह एक दूषण आयेगा, उसी प्रकार शुद्ध निश्चयनय से यह जीव पहले से ही राग द्वेष मोह से रहित है, मुक्त ही है ऐसा मानकर कोई भी मनुष्य मोक्ष के लिये अनुष्ठान नहीं करेगा तो फिर मोक्ष का ही अभाव हो जावेगा, यह दूसरा दूषण आयेगा । इसलिये व्यवहारनय का व्याख्यान करना उचित ही है ऐसा अभिप्राय समझना ॥५१॥

विशेषार्थ—इस समयसार ग्रन्थ में जो गाथा ३८ अ०, (गाथा ४३ जयसेनाचार्य) है कि—

“अहमिक्को खलु सुद्धो वंसणणाणमइओ सदारूवी ।

णवि अत्थि मज्झ किञ्चिदि अण्णं परमाणुमित्तिपि ॥

यह निश्चयनय की अपेक्षा से प्रत्येक संसारी जीव के लिये हैं कि ‘मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनमयी हूँ, सदाकाल अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा किञ्चित् कुछ भी नहीं है ।’

जैसे इस गाथा से आत्मा भगवान् परमात्मा है ऐसा तत्त्वज्ञान होने से एक आनंद और शांति अनुभव में आती है कि जिससे यह आत्मा अपनी शक्ति को पहचान कर सांसारिक नाना प्रकार के मानसिक, शारीरिक और आगंतुक संकट के समय धैर्य धारण कर अपने पुरुषार्थ में तत्पर रहता है । उसी प्रकार से यहाँ यह गाथा ४६वीं (५१ नं० जय-

सेनाचार्य मान्य) भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अतः यह भी हृदय पटल पर अंकित करने योग्य है कि—

व्यवहारस्स वरीसणमुवएसो वणिदो जिणवरेहि ।

जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

श्रीजिनैन्द्रदेव ने इन सब अध्यवसान आदि भावों को जीव के ही कहा है यह सब व्यवहारनय का कथन है। वास्तव में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने स्पष्ट कह दिया है कि यदि व्यवहारनय को नहीं माना जाये तो निश्चयनय से अस-स्थावर जीव हैं ही नहीं पुनः उनको भस्म के समान अचेतन समझ कर उनको मार डालने में किसी को हिंसा का डर ही नहीं रहेगा पुनः हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से भला कौन डरेगा ? निश्चयनय से न पाप नाम की कोई वस्तु है और न कर्मबंध ही होता है। ऐसी अवस्था में तो निश्चयनय से न संसार है और न मोक्ष ही कोई चीज है तब तो मोक्ष के उपायभूत रत्नत्रय को धारण करना ही ध्यर्थ हो जावेगा।

अब यहाँ विचार करने का विषय यह है कि यह मोक्ष के उपायरूप भेदरत्नत्रय छठे-सातवें गुणस्थान में है। इससे पहले पाँचवें में एकदेश अणुव्रत हैं और चौथे गुणस्थान में तो मात्र अविरत सम्यग्दृष्टि ही हैं। जैसा कि गाथा १२वीं (१४वीं) की टीका में कहा है कि “अपरमे अशुद्धे असंयत्तसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा स्थिताः” इन चतुर्थगुणस्थान-वर्ती से लेकर सप्तमगुणस्थानवर्ती महामुनियों तक के लिये भी व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है अतः यहाँ भी यही समझना कि जहाँ तक भेदरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग है वहाँ तक तो व्यवहारनय प्रयोजनीभूत ही है आगे सातवें अग्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक ध्यानावस्था में—निर्विकल्प समाधि में निश्चयनय के विषय का अवलंबन है फिर भी नयातीत अवस्थाविशेष है अतः वहाँ व्यवहारनय छोड़ा नहीं जाता है स्वयं छूट जाता है। तात्पर्य यह निकला कि चौथे गुणस्थान में सरागसम्यग्दृष्टि होकर आगे पाँचों पापों को एकदेश से त्याग कर अणुव्रती बनता है पुनः पूर्णतया इन पाँचों पापों को छोड़ कर महाव्रती मुनि बनकर मोक्ष के मार्ग—उपायभूत रत्नत्रय का धारो हो जाता है आगे निश्चयनय के अवलंबन से निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर कर्मों से छूट जाता है।

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्—

(५२ ज०) राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।

व्यवहारेण तु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७ अ०॥

(५३ ज०) एमेव य व्यवहारो अज्झवसानादिअण्णभावानं ।

जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥४८ अ०॥ (युगलं)

इन सब बातों को समझकर व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मबंध से भयभीत होकर हिंसा आदि पापों को छोड़ना ही उचित है और श्रावक या मुनि पद के अनुरूप देवपूजा, गुरुभास्ति तथा देववचना—सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं में पूर्ण आदर रखना चाहिये । इन क्रियाओं को निराबाध, निर्दोष पालते हुये 'आवश्यकपरिहाणि' नाम की १४वीं भावना जो कि तीर्थंकर प्रकृति के लिये सोलहकारण भावनाओं के अंतर्गत है उसको पालन करना चाहिये ।

उत्थानिका—इस व्यवहारनय की प्रवृत्ति का दृष्टान्त क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(राजा खलु निर्गतः) राजा निकला है (इति एषः आवेशः बलसमुदयस्य तु व्यवहारेण उच्यते) ऐसा कथन सेना के समूह में तो व्यवहार से किया जाता है (तत्र एकः राजा निर्गतः) किंतु उस सेना में तो एक ही राजा निकला है । (एवं एव च) इसी प्रकार से (अध्यवसानाद्यन्यभावानां सूत्रे जीवः इति व्यवहारः कृतः) इन रागादि अन्य भावों को परमागम में 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार किया गया है (तत्र निश्चितः जीवः एकः) किन्तु उनमें निश्चित ही जीव एक है ।

(५२ ज०) सेना समूह युत राजा जब निकलता । उस पूर्ण सैन्य को राजा शब्द मिलता ॥

व्यवहार नय इस कथन को मानता है । निश्चय तो एक ही राजा जानता है ॥४७ अ०॥

(५३ ज०) वैसे हि अगद्वेषादिक भाव को भी । आत्मा से भिन्न हैं फिर भी जीव के ही ॥

व्यवहार से परम आगम में बखाना । निश्चय से जीव बस एक व शुद्ध माना ॥४८ अ०॥

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।

व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥

एवमेव च व्यवहारोऽप्यवसानाद्यन्यभावानां ।

जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

आत्मख्यातिः—यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः । परमार्थतस्त्वेक एव राजा । तथैष जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामव्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः । परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ॥४७॥४८॥

(उत्थानिका)—अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति ।

तात्पर्यवृत्तिः—राया हु निर्गतो त्रियएसो बलसमुदयस्स आवेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एव बलसमुदयस्यादेशः कथनं व्यवहारेण दु उच्चदि तत्थेको निर्गतो राया बलसमूहं दृष्ट्वा पंचयोजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते । निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टान्तो गतः । इदानीं दाष्टान्तिमाह—एमेव य व्यवहारो अज्झवसाणादि-

आत्मख्याति—जैसे यह राजा पाँच योजन को व्याप्त कर निकल रहा है ऐसा कहते हैं किन्तु एक राजा का पाँच योजन तक फैलना अशक्य है अतः व्यवहारीजनों का सेना के समूह में 'यह राजा है' ऐसा व्यवहार होता है । वास्तव में देखा जाये तो राजा एक ही मनुष्य है । वैसे ही यह जीव संपूर्ण रागसमूह—राग द्वेष आदि भावों को व्याप्त करके प्रवृत्ति कर रहा है फिर भी एक के समस्त रागादि भावों का व्याप्त करना अशक्य है अतः व्यवहारनय के अनुयायीजनों को इन रागादि समस्त अन्य विभाव भावों में 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार होता है वास्तव में तो जीव एक ही है ॥४७-४८॥

उत्थानिका—अब किस दृष्टान्त से यह व्यवहार प्रवृत्त होता है ? इसे ही कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—राजा निकला और उसके साथ बहुत बड़ी सेना पाँच योजन—बीस कोस के फैलाव से निकली उस सेना के समूह को देख कर लोग व्यवहार में कहते हैं कि 'राजा निकला है' किन्तु निश्चयनय से तो वहाँ राजा एक ही मनुष्य है । यह दृष्टान्त हुआ । अब दाष्टान्त को कहते हैं—इसी राजा के दृष्टान्त के प्रकार से ही जीव से भिन्न इन रागादि विभाव भावों में व्यवहार होता है कि ये रागादि भाव व्यवहारनय से जीव हैं

अण्णभावाणं एवमेव राजदृष्टान्तप्रकारेणैव व्यवहारः । केषां । बध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्न-
भावादीनां रागादिपर्यायाणां जीवो ति कदो सुत्ते कथंभूतोव्यवहारः । रागादयो भावाः
व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे तत्थेको णिच्छिदो जीवो तत्र तेषु रागादि-
परिणामेषु मध्ये निश्चितो जातव्यः । कोसो । जीवः । कथंभूतः । शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्म-
द्रव्यकर्मनोकर्मरहितः शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः । इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं
गतं । एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथन-
मुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोत्तराधिकारो व्याख्यातः ॥५२॥५३॥

ऐसा सूत्र—परमागम में कहा गया है कि तु उन रागादि परिणामों में निश्चित ही यह जीव
जानने योग्य है । शुद्ध निश्चयनय से भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध, बुद्ध,
एक स्वभाववाला यह जीव पदार्थ एक ही है ।

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थनरूप से तीन गाथायें पूर्ण हुई । इस तरह अजीवा-
धिकार में शुद्ध निश्चयनय से देहरागादि परद्रव्य जीव के स्वरूप नहीं हैं इस कथन की
मुख्यता से दश गाथाओं द्वारा यह प्रथम अंतराधिकार पूर्ण हुआ ॥५२-५३॥

विशेषार्थ—यहाँ इस राजा के उदाहरण से टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि
“तथैव जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तते इत्येकस्य रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वात् ।”
यह एक जीव संपूर्ण रागादि विभाव भावों को व्याप्त करके प्रवृत्त हो रहा है इस प्रकार
एक जीव संपूर्ण रागादि भावों को व्याप्त करने में अशक्य है ।

अशक्य क्यों है ? यह प्रश्न सहज उठता है क्योंकि यह एक जीव असंख्यात लोक
प्रमाण विभाव भावों का स्वामी है । एक समय में भी यह भूत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन
अनंत पर्यायों को अपने में धारण किये हुये है जैसा कि श्री समंतभद्रस्वामी ने कहा है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।

अविभ्राड् भावसंबंधो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

त्रिकालविषयक, नय और उपनयों के एकांत का जो समुच्चय है, जो कि अपृथक्
स्वभावसंबंधरूप है वही द्रव्य है । वह एक भी है और अनेक प्रकार का भी है ।

द्रव्य और पर्याय को विषय करने वाले संग्रहादिनय हैं । उसके भेद—प्रभेदरूप
उपनय कहलाते हैं । उनके जो एकांत हैं जो विपक्ष की उपेक्षा करके होते हैं न कि विपक्ष

का सर्वथा त्याग करके । ऐसे उन त्रिकालविषयक एकांतों का समुदाय—सम्पक् एकांतों का समूह ही है वही वस्तु है क्योंकि गुण और पर्यायों के समूह का नाम ही द्रव्य है । द्रव्यदृष्टि से जो वस्तु एक है वही पर्याय की अपेक्षा से अनेक है ऐसा सिद्ध हो जाता है ।

किंतु यहाँ समयसार में आचार्यश्री को इस प्रकरण में शुद्ध निश्चयनय विधक्षित है जिसकी अपेक्षा से यह जीव ज्ञायकमात्र एक स्वभाववाला है पुनः वह अनेक विभावभावों को व्याप्त करने वाला कैसे कहा जा सकेगा । स्वयं श्रीकुंदकुंददेव ने यही बात गाथा ६, ७ में कही है पुनरपि देखिये—

णवि होवि अप्रमत्तो ण प्रमत्तो जाणओ वु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

यह जो ज्ञायकभाव है वह न अप्रमत्त है, न प्रमत्त ही है वह मात्र शुद्ध है और जिसे ज्ञायकभाव द्वारा जान लिया वह वही है अन्य कुछ नहीं है । पुनरपि कहते हैं—

ववहारेणुधदिस्सइ णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं ।

णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणओ सुद्धो ॥७॥

ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं यह व्यवहार से कहा जाता है किंतु न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन ही है, ज्ञानी तो मात्र ज्ञायक ही है इसीलिये वह शुद्ध है । यह निश्चयनय का कथन है ।

अथवा श्रीकुंदकुंददेव के शब्दों में ही इस विषय को यहाँ द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से समझना चाहिये । क्योंकि द्रव्याधिकनय मात्र एक द्रव्य को ही ग्रहण करता है पर्यायों को नहीं । जैसा कि कहा है—

वृक्षस्थिण जीवा वदिरित्ता पुण्ड्रमणिदपञ्जाया ।

पञ्जयणण जीवा संजुत्ता होंति दुविहेहि^१ ।।१६॥

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से सभी जीव पूर्व कथित शुद्ध और अशुद्ध सभी पर्यायों से रहित हैं एवं पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से सभी जीव—शुद्ध जीव शुद्ध गुण पर्यायों से एवं अशुद्ध जीव अशुद्ध गुण पर्यायों से संयुक्त ही हैं ।

अथवा शुद्ध जीव के एक समय में अनंत गुण पर्यायों एक साथ रह जाती हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य सूक्ष्मत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि । किंतु अशुद्ध जीव के एक समय में एक भाव अशुद्ध विभाव भाव होता है जैसे क्रोध के उदय में उसी समय मान या माया आदि नहीं है । इस अपेक्षा से भी एक जीव एक समय में समस्त रागादि भावों को व्याप्त करके नहीं रह सकता है ऐसा समझना ।

इसी बात को श्रीजयसेनस्वामी ने सरल शब्दों में कह दिया है कि—

“उन रागादि परिणामों में निश्चित ही यह जीव जानने योग्य है । शुद्ध निश्चयनय से भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध, बुद्ध एकस्वभाववाला यह जीव पदार्थ एक ही है ।”

अथवा अगली गाथा में कहा है कि यह जीव मात्र चेतनागुणवाला है । इस चेतना-गुण से भी एक ज्ञायकभाव ही विवक्षित है ऐसा समझना । प्रत्येक गाथा के अर्थ में आगे-पीछे का सम्बन्ध जोड़ लेने से अच्छी तरह वस्तुतत्त्व समझ में आ जाता है ।

गुणस्थानों की अपेक्षा से यह एकत्वभावना श्रद्धा में चौथे से छठे गुणस्थान तक तलम तलम भावों से रहती है । आगे निष्किल्बध्यान में रागादिभाव बुद्धिपूर्वक नहीं रहते हैं अतः एक ज्ञायकभाव आत्मा ही प्रलम्बता है । आगे वीतरागी मुनि के बारहवें गुणस्थान में रागादि भाव नष्ट हो जाते हैं तब स्पष्टतया ज्ञायकभाव ही रह जाता है ।

यद्येवं तर्हि किलक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह; —

(५४ ज०) अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं ।

जाण अलिगग्रहणं जीवमणिदिष्टसंस्थानं ॥४६ अ०॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं ।

जानीहि अलिगग्रहणं जीवमनिदिष्टसंस्थानं ॥४६॥

आत्मख्यातिः—यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात् सकलज्ञेयज्ञादकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्,

उत्थानिका—यदि जीव रागादिभावरूप नहीं है तो यह एक टंकोत्कीर्ण परमार्थ-स्वरूप जीव किस लक्षणवाला है ? ऐसा पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवं अरसं अरूपं अगंधं अव्यक्तं चेतनागुणं अशब्दं अलिगग्रहणं अनिदिष्टसंस्थानं जानीहि) तुम जीव को रसरहित, रूपरहित, गंधरहित, प्रगटसारहित, चेतनागुणवाला, शब्द रहित, किसी भी चिन्ह से ग्रहण में न आने वाला और जिसका आकार कहा नहीं जा सकता ऐसा जानो ।

आत्मख्याति—जो यह जीव है वह नियम से १. पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, उसमें रस गुण विद्यमान नहीं है इसलिये अरस है । २. पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं रसगुण वाला नहीं है अतः अरस है । ३. परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामी नहीं है इसलिये द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से आप रस रूप नहीं होता है अतः अरस है । ४. स्वभाव से क्षायोपशमिक भाव का अभाव होने से यह भावेन्द्रिय के अवलंबन से रहित होने से भी

(५४ ज०) निश्चय से जीव रस गंध रहित कहा है । अव्यक्त, मूर्ति इन्द्रिय विरहित कहा है ॥

निःशब्द है नहि ग्रहण चिन्हादि से हो । संस्थान आदि नहि निश्चय जीव में हों ॥४६अ०॥

सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेश्चो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनागंधनात् सकलसाधारणसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं गंधरूपेणापरिणामनाच्चागंधः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेश्चो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टंभे-

अरस है । ५. सकल विषयों में साधारण एक संवेदन परिणाम स्वभाववाला होने से यह केवल एक रस के वेदन—अनुभव परिणामवाला नहीं है अतः अरस है । ६. संपूर्ण ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ और ज्ञायक—जाननेवाला आत्मा इन दोनों में तादात्म्य—एकरूपता का निषेध होने से यह जीव रस को जानने रूप से परिणत होते हुये भी स्वयं रस रूप से परिणत नहीं होने से भी अरस है । यहाँ छह प्रकार से जीव के रस का निषेध करके 'अरस' सिद्ध किया है ।

१. इसी प्रकार यह जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, उसमें रूप गुण विद्यमान नहीं है इसलिये रूप रहित है । २. पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं रूपगुणवाला नहीं है अतः अरूपी है । ३. परमार्थ से पुद्गलद्रव्य के स्वामित्व का अभाव होने से द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से रहित है अतः अरूपी—रूप रहित है । ४. स्वभाव की दृष्टि से क्षायोपशमिक भावों का अभाव है अतः भावेन्द्रिय के अवलंबन से भी रहित होने से अरूपी—रूप रहित है । ५. सकल विषयों में एक साधारण संवेदन परिणाम वाला होने से केवल एकरूप के अनुभवरूप परिणाम से रहित है अतः रूप रहित है । ६. ऐसे ही संपूर्ण ज्ञेय के साथ ज्ञायक-आत्मा की एकरूपता न होने से रूप के जाननेरूप से परिणत होते हुये भी स्वयं यह जीव रूपस्वरूप से परिणत नहीं होता है इसलिये भी अरूपी है ।

१. ऐसे ही यह जीव गंध वाले गुण पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसमें गंध गुण विद्यमान नहीं है अतः अगंध है । २. पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न है इसलिये स्वयं गंधगुणवाला नहीं होने से भी अगंध है । ३. परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वामी नहीं है इसलिये द्रव्येन्द्रियों का अवलंबन न लेने से भी यह जीव अगंध है । ४. स्वभाव की अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव का अभाव है अतः भावेन्द्रिय का अवलंबन न होने से भी यह जीव अगंध है ।

नास्पर्शनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेनास्पर्शनात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयजायकतादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात् पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टभेन शब्दाश्रवणात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात् सकलज्ञेयजायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः । द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्

५. सकलविषय में साधारण एक संवेदन परिणाम स्वभाववाला होने से यह केवल गंध के अनुभव रूप परिणाम से रहित है अतएव भी अगंध है । ६. संपूर्ण ज्ञेय पदार्थ के साथ जायक आत्मा के तादात्म्य का निषेध है अतः गंध के जाननेरूप से परिणत होते हुये भी स्वयं गंधरूप से परिणत नहीं होता है अतः अगंध है ।

१. ऐसे ही यह जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न है इसलिये इसमें स्पर्शगुण विद्यमान नहीं है अतः यह अस्पर्श—स्पर्शरहित है । २. यह पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न है अतः स्वयं अस्पर्श गुणवाला होने से भी यह स्पर्शरहित है । ३. वास्तव में पुद्गलद्रव्य के स्वामित्व का अभाव होने से यह जीव द्रव्येन्द्रिय के अवलम्बन से भी रहित है अतः स्पर्शरहित है । ४. स्वभाव से ही क्षायोपशमिक भाव का अभाव होने से यह जीव भावेन्द्रिय के अवलम्बन से रहित है अतः स्पर्शरहित है । ५. सकल विषयों का साधारणतया एक रूप से अनुभव करने वाला होने से यह जीवमात्र एक स्पर्श के अनुभव करनेरूप परिणाम से भिन्न है इसलिये भी स्पर्शरहित है । ६. संपूर्ण ज्ञेय-जायक में एकरूपता का निषेध होने से यह जीव स्पर्श के जाननेरूप से परिणत होता है फिर भी स्वयं आप यह स्पर्शरूप से परिणत नहीं होता है इसलिये भी स्पर्शरहित है ।

१. ऐसे ही यह जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, इसमें शब्द पर्याय विद्यमान नहीं है अतः अशब्द है । २. पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भिन्न होने से स्वयं यह शब्द पर्यायरूप नहीं है अतः अशब्द है । ३. परमार्थ से पुद्गलद्रव्य का स्वाभी न होने से द्रव्येन्द्रियों के अवलम्बन से शब्दों को नहीं सुनता है अतः अशब्द है । ४. स्वभाव से क्षायोपशमिक भाव

नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात् प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलन-शून्योपजायमाननिर्मलानुभूतिसयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेया-व्यवक्तादन्यत्वात्कषायचक्राद्भावकाद्व्यवक्तादन्यत्वाच्चित्तासामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात् क्षणिक-व्यक्तिमात्राभावात् व्यवक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेऽपि व्यवक्तास्पृष्टत्वात् स्वयमेव हि बहिरंतः स्फुटमनु-

का अभाव होने से यह भावेन्द्रिय के अवलंबन से भी शब्द को नहीं सुनता है अतएव भी शब्द है । ५. सकल विषय में साधारण एक अनुभव करने रूप परिणाम स्वभाववाला होने से केवल—मात्र शब्द के अनुभवरूप परिणाम से शब्द को नहीं सुनता है अतः अशब्द है और ६. सकल ज्ञेय-पदार्थ में ज्ञायक—इस जीव की एकरूपता न होने से शब्द को जानने रूप से परिणत होते हुये भी स्वयं आप शब्द रूप से परिणत नहीं होता है इसलिये भी अशब्द है ।

१. इस जीव को पुद्गलद्रव्य के द्वारा रचे गये शरीर के आकार से 'इसका यह आकार है' ऐसा कहना अशक्य होने से यह 'अनिर्दिष्ट संस्थान' है—आकार रहित है । २. अपने नियत स्वभाव से अनियत आकाररूप अनंत शरीरों में वर्तन करता है इसलिये भी इसका आकार नहीं कहा जा सकता । ३. संस्थान नाम कर्म का विपाक—फल भी पुद्गलद्रव्य में होता है चूंकि यह संस्थान पुद्गलविपाकी प्रकृति है इसलिये भी इस जीव का आकार नहीं कहा जा सकता । ४. भिन्न-भिन्न आकार से परिणत जो सर्व वस्तु, उनके स्वरूप से उन-उन आकार से हुआ जो अपना स्वभावरूप संवेदन—ज्ञान—अनुभव, उसकी सामर्थ्य होने पर भी यह आप समस्त लोक के मिलने से शून्य अपनी ज्ञानमात्र निर्मल अनुभूति से किसी भी आकाररूप नहीं है इसलिये भी अनिर्दिष्ट संस्थान है । इन चार हेतुओं से संस्थान का निषेध किया है ।

यह जीव अव्यक्त है—१. छह द्रव्य के समूहरूप लोक है, वही ज्ञेय है उसे ही व्यक्त कहते हैं जीव इससे भिन्न है अतः अव्यक्त है । २. कषायों का समूह भावक है वह व्यक्त है उससे भिन्न होने से भी यह जीव अव्यक्त है । ३. चित्तासामान्य में चैतन्य की सर्व व्यक्तियाँ अंतर्भूत हैं इसलिये भी यह अव्यक्त है । ४. क्षणिक व्यक्तिमात्र न होने से भी अव्यक्त है । ५. व्यवक्त, अव्यक्त और दोनों मिले हुये मिश्रभाव इसके प्रतिभास में आते हैं तो भी केवल व्यवक्तभाव का स्पर्श नहीं करता इसलिये भी अव्यक्त है । ६. यह स्वयं ही

भूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यवतः । रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेऽपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः । समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कदलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंशरेणेव सकलकालमेव सनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टकोत्कीर्णः प्रत्यग्योतिर्जीवः ॥४६॥

बाह्य अभ्यंतर में प्रगट अनुभूयमान है तो भी व्यक्तभाव से उदासीन हुआ प्रकाशमान है अतएव भी अव्यक्त है । इस तरह छह हेतुओं द्वारा जीव को अव्यक्त सिद्ध किया ।

अब अलिंगग्रहण को सिद्ध करते हैं—यह जीव जयर्जुन प्रकार से रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यवत्तपने के अभावरूप होने पर भी स्वसंवेदन के बल से नित्य ही आप आत्म प्रत्यक्ष है, इसमें अनुमेयत्व मात्र का अभाव है इसलिये यह लिंग से ग्रहण नहीं किया जाता है यही कारण है कि यह अलिंगग्रहण है ।

इस प्रकार निषेधरूप से जीव का स्वरूप बतलाकर अब विधिमुख से जीव के चेतनागुण को कहते हैं । समस्त विसंधादों को मथन करने वाला होने से, भेदज्ञानी जनों को अपना सर्वस्व समर्पित करने वाला होने से, समस्त भी लोक अलोक को कवलित करके—जान करके अत्यंत सौख्य के भार से भरित होने से यह जीव हमेशा ही किञ्चित् मात्र भी चलायमान नहीं होता हुआ अन्य द्रव्य में नहीं पाये जाने वाले ऐसे असाधारण, स्वभावभूत और स्वयं अनुभव में आते हुये ऐसे 'चेतना गुण' से नित्य ही अंतरंग में प्रकाशमान होने से चेतनागुण वाला है ।

निश्चय से यहाँ—संसार में यह भगवान् आत्मा अमल आलोक वाला है, एक है, टंकोत्कीर्ण—टांकी से उकेरी हुई मूर्ति के समान है, एक भिन्न ही—अलौकिक ज्योतिस्वरूप है ऐसा यह जीव है ॥४६॥

विशेषार्थ—यहाँ जीव को रस रहित, वर्ण रहित, और गंध रहित कहा है । टीकाकार ने इन तीनों के साथ अविनाभावी होने से स्पर्श रहित को भी लिया है । ये चारों ही पुद्गल के गुण हैं—रस के पांच भेद, वर्ण के पांच भेद, गंध के दो भेद और स्पर्श के आठ भेद ऐसे बीस भेद होते हैं । शब्द और संस्थान ये पुद्गल की पर्यायें हैं उसी प्रकार व्यक्तता तथा लिंग से ग्रहण होना—अनुमेय होना ये भी पुद्गल की ही

मालिनी छन्द—सकलमपि विहायाङ्गाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ।

इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयन्तुं परमात्मात्मानमात्मन्यनंतं ॥३५॥

पर्यायें हैं । इन सबको निषेधरूप से जीव में घटित किया है पुनः चेतनागुण को विधिरूप से कहा है यह एक चेतनागुण ही महत्त्वपूर्ण है । जीव में रस नहीं है इसे छह तरह से घटाया है, १. जीव पुद्गलद्रव्य से भिन्न है अतः रसगुण पुद्गल का होने से उसमें नहीं रह सकता है । २. जीव पुद्गल के गुणों से भी भिन्न है इसलिये भी इसमें रसगुण नहीं रह सकता है चूंकि यह पुद्गल का ही तो गुण है । ३. जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी नहीं है यही कारण है कि रसना नाम की द्रव्येन्द्रिय से यह रस को ग्रहण नहीं कर सकता है चूंकि इंद्रियाँ तो पौद्गलिक ही हैं । ४. जीव में मतिज्ञान आदि के अयोपशम का अभाव है इसी हेतु से वह भावेन्द्रिय के द्वारा भी रस को ग्रहण नहीं करता है । ५. जीव सभी इंद्रियों के विषयों को जानने में साधारण है पुनः रस मात्र एक इंद्रिय के विषय को ही ग्रहण करे ऐसा कैसे हो सकता है । ६. ऐसे ही जीव समस्त ज्ञेयों को जानने वाला है इसलिये रस के ज्ञानरूप से भले ही परिणत हो रहा है किन्तु स्वयं आज तक रसरूप नहीं परिणाम है । इन छहों हेतुओं में तीसरे नम्बर में 'परमार्थतः' और चौथे नम्बर में 'स्वभावतः' ऐसे हेतु आये हैं अतः यह निश्चित है कि निश्चयनय से या स्वभावदृष्टि से ही यह जीव 'अरस' है न कि व्यवहारनय से क्योंकि व्यवहारनय की अपेक्षा से मूर्तिक पौद्गलिक शरीर के साथ एक क्षेत्रावगाही होने से कथंचित् रसरूप परिणत हो जाता है और रसना इंद्रिय के द्वारा भी रस को ग्रहण करता ही है । इसलिये निश्चयनय की अपेक्षा से ही यह जीव इन रस आदि से रहित है । इसी विषय को श्रीजयसेनस्वामी ने सरल शब्दों में कहा है ।

अब इसी आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—हे भक्त्यों ! तुम चित्शक्ति से अतिरिक्त—भिन्न अन्य सकल ही भावों को शीघ्र ही छोड़कर और स्पष्टरूप से अपने चित्शक्तिमात्र—चिच्छैतन्यरूप—

सर्वथा वसतयंद छन्द वर्ण २३ (वर्णिक छन्द) ७ भगण २ गुरु

हे भवि जीव सुचेतन शक्ति, सुरिक्त सभी परभावहि त्यागो ।
सो उस आत्म शक्ति स्वभाव, विशुद्धपने अवगाहन साधो ॥
सर्व त्रिलोकहि ऊपर शीघ्र भ्रमन करके निज को पहिचानो ।
औ परमात्म अनंत निजात्म को निज में अनुभूति पिछानो ॥३५॥

अनुष्टुप् छंद—चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।

अतोतिरिक्ताः सर्वेपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

(भूमिका)—अथानंतरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनंतज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्ध-जीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदसुख-समरसीभावपरिणतशुद्धजीव उपादेय इति मुख्यत्वेन अरसमरुक् इत्यादिसूत्रगार्थका । अथाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे वर्णदियश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवरणार्थं जीवस्स णत्थि वर्णो इत्यादिसूत्रषट्कं । ततः परं त एव रागादयो वर्णा-

आत्मा का अबगाहन कर अपनी एक आत्मा को आत्मा में ही अनुभव करो । कंसा है यह आत्मा ? समस्त पदार्थ के समूहरूप इस विश्व के ऊपर साक्षात् प्रवर्त रहा है, अनंत है और अविनाशी है ऐसी आत्मा का आत्मा में ही अनुभव करो । ३५।

काव्यार्थ—जिसका सर्वस्व सार चैतन्य शक्ति से व्याप्त है, ऐसा यह जीव, इतने मात्र ही है । इस चैतन्य शक्ति से भिन्न जो भी भाव हैं वे सभी पौद्गलिक ही हैं । ३६।

भावार्थ—चैतन्यस्वरूप सर्वस्वरूप और सारभूत ऐसी आत्मा ही ध्यान का विषय है । इससे भिन्न सभी पौद्गलिक भाव छोड़ने योग्य हैं ऐसा अभिप्राय हुआ ।

भूमिका—अब आगे वर्ण रस आदि पुद्गलस्वरूप से रहित और अनंतज्ञान आदि गुणस्वरूप शुद्ध जीव ही उपादेय है, ऐसी भावना की मुख्यता से द्वादश गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । इनमें बारह गाथाओं में परमसामायिक भावना से परिणत, अभेद-रत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानंद सुखरूप, समरसीभाव से परिणत शुद्ध जीव ही उपादेय है, इस मुख्यता से “अरसमरुक्” आदि रूप से एक गाथासूत्र है । पुनः अभ्यंतर में रागादि और बहिरंग में वर्णादि के शुद्धजीव के स्वरूप नहीं हैं इस प्रकार उसी गाथा के विशेष विवरण के लिये “जीवस्स णत्थि बंधो” इत्यादि छह गाथा-सूत्र कहते हैं । इसके बाद से रागादि और वर्णादि व्यवहारनय से जीव के हैं, शुद्ध

आर्या (मात्रिक) छन्द—चैतन्य शक्ति पूर्ण सर्वस्व सार सो मात्र यह जीव ।

माते विभिल भावहि सब ही है पौद्गलिक रूपी ॥३६॥

दयश्च व्यवहारेण संति शुद्धनिश्चयनयेन न संतीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं व्यवहारेण दु इत्यादि सूत्रमेकं । तदनंतरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्संबंधो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण एदेहि य संबंधो इत्यादि सूत्रमेकं । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तदाष्टान्तिसमर्थनरूपेण पंथे मुस्संतं इत्यादि गाथात्रयं । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथंभूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह—

तात्पर्यवृत्तिः—अरसमरुचमगंधं अश्वत्तं चेदणागुणमसद् निश्चयनयेन रसरूपगंध-स्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मं । पुनरपि किंविशिष्टं । शुद्धचेतनागुणं । पुनश्च किं रूपं । जाणमलिंगमाहणं जीवमणिद्विट्ठसंठाणं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं समचतुरस्त्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवं-

निश्चयनय से नहीं है, इस तरह परस्पर सापेक्ष दोनों नयों को बतलाने के लिये “व्यवहारेण दु” इत्यादिरूप से एक गाथा कहेंगे । इसके अनंतर इन रागादि भावों का जीव के साथ व्यवहारनय से दूध और पानी के समान संबंध हो रहा है किंतु निश्चयनय से संबंध नहीं है ऐसा समर्थन करते हुये “एदेहि य संबंधो” इत्यादि एक गाथामूत्र है । बाद में उसी व्यवहारनय को पुनः व्यक्त करने के लिये दृष्टान्त और दाष्टान्त के द्वारा समर्थनरूप से “पंथे मुस्संतं” इत्यादिरूप से तीन गाथाये हैं । इस तरह द्वितीयस्थल में यह समुदायपातनिका हुई । अब अगली गाथा के लिये उत्थानिका कहते हैं ।

उत्थानिका—अब यदि निश्चयनय से रागादिरूप जीव नहीं है तो पुनः उपादेय-स्वरूप शुद्धजीव कैसा है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—निश्चयनय से यह जीव रस, रूप, गंध, स्पर्श और शब्द से रहित है, मन में होने वाले काम, क्रोध आदि विकल्प के विषय से रहित होने से यह जीव अव्यक्त है—सूक्ष्म है । पुनः कैसा है ? शुद्धचेतना गुण सहित है । पुनः किसरूप है ? निश्चयनय से स्वसंवेदनज्ञान का विषय होने से यह जीव अलिंगग्रहण है—किसी हेतु से

गुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि । इदमत्र तात्पर्यं । शुद्धनिश्चयनयेन सर्व-
पुद्गलद्रव्यसंबन्धिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायिरहितः सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो
धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवांतरभिन्नोऽनंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्त-
पदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः
स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति भत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरंजननिजशुद्धात्मसमाधिसंजातसुखा-
मृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति । एवं सूत्रगाथा
गता ॥५४॥

ग्रहण नहीं किया जा सकता है । पुनः यह समचतुरस्र आदि छह संस्थानों से रहित है ।
इस प्रकार इन उपर्युक्त विशेषणों से विशिष्ट जो कोई पदार्थ है वही शुद्ध जीव है,
उपादेय—ग्रहण करने योग्य है, हे शिष्य ! ऐसा तुम समझो । यहाँ यह तात्पर्य हुआ कि शुद्ध
निश्चयनय से जो सर्व पुद्गलद्रव्य संबंधि वर्णादि गुण और शब्दादि पर्यायों से रहित है,
सर्व द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय, मनोगत रागादि विकल्पों का विषय नहीं है, धर्म, अधर्म, आकाश
और कालद्रव्य, तथा अपने से अतिरिक्त शेष जीव द्रव्य, इन सबसे भिन्न अनंत दर्शन ज्ञान
सुख वीर्यवाला है वही शुद्धात्मा है । वह समस्त पदार्थों में सर्वदेश, सर्वकाल में ब्राह्मण,
क्षत्रिय आदि नाना वर्णों के भेदों से भिन्न अनेक मनुष्यों के समस्त मन वचन कायरूप
व्यापारों में भी दुर्लभ है अतः वही अपूर्व है और वही उपादेय है ऐसा मानकर पर्यंत,
गुहा गह्वर में स्थित होकर निर्विकल्प, निर्मोह, निरंजन, निज शुद्धात्मा के ध्यानरूप परम-
समाधि से उत्पन्न सुखरूपी अमृतरस की अनुभूति लक्षण ध्यान में स्थित होकर सर्व प्रयत्न
से निज शुद्धात्मा का ध्यान करना चाहिये ।

इस प्रकार एक सूत्रगाथा हुई ॥५४॥

विशेषार्थ—यहाँ पर श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि अपनी
आत्मा को रूप रसादि से रहित, शुद्ध ज्ञानदर्शनरूप मानकर निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर
उसका अनुभव करना चाहिये । इससे यह स्पष्ट है कि यह ध्यान चौथे गुणस्थान से लेकर
छठे गुणस्थान तक के श्रावक एवं मुनियों के रहता है । आगे निर्विकल्पध्यान में ही उस
शुद्धात्मा का अनुभव आता है इसलिये यह ग्रंथ मुनियों के लिये ही प्रधानरूप से है । यहाँ
यह विशेष समझना कि यह 'अरसमरुचमगंध' गाथा श्रीकुंदकुंददेव की अतिशय प्रिय रही,

(५५ ज०) जीवस्स णत्थि वर्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।

णवि रूवं ण शरीरं ण त्रि संस्थानं ण संहननं ॥५० अ०॥

(५६ ज०) जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जवे मोहो ।

णो पंचया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१ अ०॥

(५७ ज०) जीवस्स णत्थि वर्गो ण वर्गणा णेव फड्ढया केई ।

णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२ अ०॥

है । इसे उन्होंने समयसार में नम्बर ४६ पर लिया है यह जयसेनाचार्य के अनुसार यहीं समयसार में ५४ नम्बर पर है । प्रवचनसार में १७२-नम्बर पर है । पंचास्तिकाय में १२७ नम्बर पर है और नियमसार में ४६ नम्बर पर है ।

उत्थानिका—अब इन भावों का ध्यालयान छह गाथाओं में कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्य वर्णः न अस्ति गंधः अपि न रसः अपि न च स्पर्शः अपि न) जीव के वर्ण नहीं है, गंध भी नहीं है, रस भी नहीं है और स्पर्श भी नहीं है । (रूपं अपि न शरीरं न संस्थानं अपि न संहननं न) रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान भी नहीं है और संहनन भी नहीं है । (जीवस्य रागः नास्ति द्वेषः अपि न मोहः एव न विद्यते) जीव के राग नहीं है, द्वेष भी नहीं है और न मोह ही है (तस्य प्रत्ययाः न कर्म न च नोकर्म अपि नास्ति) उसके आस्रव भी नहीं हैं, न कर्म है और न नोकर्म ही है । (जीवस्य वर्गः नास्ति न वर्गणा न कानिचित् स्पर्धकानि एव) जीव के वर्ग नहीं हैं, न वर्गणा हैं और न

(५५ ज०) स्पर्श गंध रस वर्ण न जीव के हैं । मूर्ती नहीं नहि शरीर भी जीव में हैं ॥

संस्थान संहनन से बिरहित जो आत्मा । वह ही कहाता सदा निज शुद्ध आत्मा ॥५० अ०॥

(५६ ज०) नहि राग द्वेष अरु मोह का सत्त्व जिनके । आश्रव नहीं हो रहा नहि कर्म उनके ॥

नोकर्मरूप देहादिक भी नहीं है । निश्चय स्वभाव मुनि की आत्मा वही है ॥५१ अ०॥

(५७ ज०) नहि वर्गयुक्त यह जीव न वर्गणा है । स्पर्धकों रहित शुद्धात्मा भणा है ॥

नहि रागद्वेष युत अध्यवसान माने । अनुभाग से रहित जीवात्मा बखाने ॥५२ अ०॥

(५८ ज०) जीवस्स णत्थि केई जीयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।

जेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३ अ०॥

(५९ ज०) णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।

जेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४ अ०॥

(६० ज०) जेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।

जेण तु एदे सव्वे पुग्गलद्ववस्स परिणामा ॥५५ अ०॥ (षट्कम्)

जीवस्स नास्ति वर्णो नापि गन्धो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।

नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहतनं ॥५०॥

जीवस्स नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।

नो प्रत्यया न कर्म नो कर्म चापि तस्य नास्ति ॥५१॥

कोई स्पर्शक ही हैं । (अध्यात्मस्थानानि न च न अनुभागस्थानानि एव) अध्यात्मस्थान भी नहीं है और न अनुभागस्थान ही हैं । (जीवस्थ कानिचित् योगस्थानानि न संति वा न बंधस्थानानि) जीव के कोई योगस्थान नहीं हैं और न बंधस्थान ही हैं (न च उदयस्थानानि एव न कानिचित् मार्गणास्थानानि) न उदयस्थान ही हैं और न कोई मार्गणास्थान ही हैं । (जीवस्य स्थितिबंधस्थानानि नो वा न संक्लेशस्थानानि) जीव के स्थितिबंधस्थान नहीं हैं और न संक्लेशस्थान ही हैं (विशुद्धिस्थानानि एव न वा नो संयमलब्धिस्थानानि) विशुद्धिस्थान भी नहीं हैं और न संयम लब्धिस्थान ही हैं । (जीवस्य च जीवस्थानानि नैव वा न गुणस्थानानि संति) जीव के जीवसमास स्थान नहीं हैं और न गुणस्थान ही हैं (येन तु एते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः) क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं ।

(५८ ज०) नहि शुद्ध जीव के कोई योग रहता । नहि बंध भी हो रहा नहि उदय रहता ॥

निश्चयनयाश्रित नहीं हैं मार्गणा भी । व्यवहारतय से कहीं सब जीव में ही ॥५३ अ०॥

(५९ ज०) स्थितीबन्धस्थान न जीव में हैं । संक्लेशभाव शुद्धात्मा में नहीं हैं ॥

नहि है विशुद्धि भी संयम भी नहीं है । ऐसी विचित्र शुद्धात्मस्थिति कही है ॥५४ अ०॥

(६० ज०) जीवात्म के नहि हैं जीवस्थान कोई । शुद्धात्म के नहि बने गुणस्थान कोई ॥

क्योंकी ये भाव सब पुद्गल परिणमन है । निश्चय से जीव में नहि हों यह कथन है ॥५५ अ०॥

जीवस्य नास्ति वर्णो न वर्गणा नैव स्पष्टकानि कानिचित् ।
 नो अद्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५२॥

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा ।
 नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५३॥

नो स्थितिवंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
 नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५४॥

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य ।
 येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥५५॥

आत्मख्यातिः—यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गल-
 द्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यः सुरभिरसुरभिर्वा गंधः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य
 पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स
 सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो
 गुरुलघुमृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-
 भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे
 सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति
 जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति
 कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभि-
 न्नत्वात् । यद्वज्रवर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं

आत्मख्याति—१. जो काला, हरा अथवा नीला, पीला, लाल और श्वेतवर्ण है वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप हैं अतः अनुभूति से भिन्न हैं । २. जो सुगंधि अथवा दुर्गंधिरूप गंध हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणामरूप होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं । ३. जो कटुक, कषायला, तिक्त, खट्टा और मीठा ये रस हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । ४. चिकना, रूखा, ठंडा, गर्म, भारी, हल्का, कीमल तथा कठोर ये सभी स्पर्श भी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप हैं अतः अनुभूति से भिन्न हैं । ५. जो स्पर्श आदि के सामान्यपरिणाम मात्र रूप है वह भी जीव के नहीं है, क्योंकि वह भी पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न है । ६. जो औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर हैं वे सभी जीव के नहीं हैं

तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वा-
विरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वोपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-
भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि
नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं
नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यः शक्ति-
समूहलक्षणो वर्गः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् ।

क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से वे अनुभूति से भिन्न हैं । ७. जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्थातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक संस्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप होने से ये निज अनुभूति से भिन्न हैं । ८. जो वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, फीलक और असंप्राप्तासृपाटिका संहतन हैं वे भी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । ९. जो प्रीतिरूप राग है वह सभी जीव के नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न है । १०. जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह भी जीव के नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य का परिणामस्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न है । ११. जो तत्त्व के अश्रद्धानरूप मोह है वह भी जीव के नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाम-
स्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न है । १२. ये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग लक्षण वाले आलस्य हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न हैं । १३. जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायरूप कर्म हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न हैं । १४. जो छह पर्याप्ति और तीन शरीर के योग्य वस्तुरूप नोकर्म हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप होने से अनुभूति से भिन्न हैं । १५. कर्म के रस की शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेदों का समूहरूप वर्ग है वह भी जीव के नहीं है क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न है । १६. जो वर्ग के समूहरूप वर्गणा हैं वे भी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य

या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि भेदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि स्वफलसंपादनसमर्थकमविस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकार्ययोगवेदकत्वाद्यज्ञानसंज्ञाभेदजीवलेख्यात्मव्यवसायस-

के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । १७. जो मन्त्र तीव्र रसरूप कर्म के समूह के विशिष्ट वर्गों की वर्गणा के स्थापनरूप स्पर्धक हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । १८. जो स्व-पर में एकत्व का अध्यास-असत्य आरोप होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणाम से अतिरिक्त लक्षण वाले अध्यात्मस्थान (विभाव स्थान) हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । १९. जो पृथक्-पृथक् प्रकृतियों के रस—फल देनेरूप परिणाम लक्षण वाले अनुभाग स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २०. जो काय वचन और मनोवर्गणा के परिस्पंदन—हलन चलन लक्षण वाले योग स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २१. जो पृथक्-पृथक् प्रकृतियों रूप परिणामन लक्षण वाले बंधस्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २२. जो अपने फल देने में समर्थ कर्मों की अवस्था विशेष लक्षण रूप उदय स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २३. जो गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, मध्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार लक्षण वाले मार्गणा स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २४. जो प्रत्येक प्रकृतियों के कालांतर में जीव के साथ रहने के लक्षणवाले स्थितिबंध स्थान हैं वे सभी

वत्संज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाम-
मयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि
तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि कषाय-
विपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे
सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न
संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्ति-
लक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे
सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वौन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञसंज्ञिपंचेंद्रि-
यलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-
भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टि सासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्भिध्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्त-
संयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षप-
कोपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति
जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेभिन्नत्वात् ॥५०॥५१॥५२॥५३॥५४॥५५॥

पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २५. जो कषायों के उदय उद्रेक—उत्कृष्टता लक्षण वाले संक्लेश स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २६. जो कषायों के उदय के अनुद्रेक—मंदता लक्षण वाले विशुद्धि स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २७. जो चारित्रमोह के उदय के क्रम से निवृत्ति लक्षण वाले संयमलब्धि के स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २८. जो बादर, सूक्ष्म एकेंद्रिय, द्वौन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय संज्ञी, असंज्ञी इनके पर्याप्तक—अपर्याप्तक ये चौदह जीवसमास स्थान हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं । २९. जो मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण (उपशमक-क्षपक) अनिवृत्ति बादर सांपराय (उपशमक-क्षपक) सूक्ष्म सांपराय (उपशमक-क्षपक) उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली लक्षण वाले चौदह गुणस्थान हैं वे सभी भी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अनुभूति से भिन्न हैं ॥५० से ५५॥

शालिनी छंद—वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।

तेनैवातस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

(उत्थानिका)—अथ बहिरंग वर्णाद्यभ्यंतरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—वर्णगंधरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्याः स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्तिश्च औदारिकादिपञ्चशरीराणि, समच्चतुरसादिषट्संस्थानानि, वज्रवर्णभनाराचादिषट्संहनानि चेति ।

भावार्थ—ये वर्ण आदि से लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भी स्थान कहे गये हैं वे सभी जीव के नहीं हैं अथवा जीव में नहीं हैं क्योंकि जीव तो चैतन्यस्वरूप है अतः ये सब पुद्गल के ही गुण और पर्यायरूप होने से पौद्गलिक हैं । यद्यपि ये पुद्गल कर्मों के उदय से कथञ्चित् व्यवहारनय की अपेक्षा से या अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से जीव में हैं फिर भी यहाँ शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से जीव में नहीं हैं क्योंकि जीव तो मात्र अपने शुद्धस्वभाव का ही अनुभव करने वाला है ।

इसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—ये वर्णादि अथवा रागमोहादि सभीभाव पुरुष-आत्मा से भिन्न हैं, इसीलिये तत्त्वदृष्टि से अंतरंग में देखते हुये को—अनुभव करते हुये को ये नहीं दिखते हैं प्रत्युत एक उत्कृष्ट आत्मा ही दिखता है ॥३७॥

भावार्थ—जीव के ये वर्णादि अथवा रागद्वेष मोह आदि भाव नहीं हैं । वास्तव में निर्विकल्पध्यान में स्थित होने पर ये कुछ भी प्रतिभासित नहीं होते हैं वहाँ परमध्यान में एक शुद्धात्मा ही अनुभव में आता है ऐसा अभिप्राय समझना । आगे इसी बात की श्रीजय-सेनाचार्य सरल शब्दों में कह रहे हैं ।

उत्थानिका—अब बहिरंग में वर्णादि और अभ्यंतर में रागादिभाव पौद्गलिक हैं, शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये रूप शब्द से कहे जाते हैं, और मूर्ति स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वाली होती है तथा औदारिक आदि पाँच शरीर, समच्चतुरस्र आदि

कार्या (मात्रिक) छन्द—वर्णादि रागादिक ये आत्म भिन्न भाव सब ही हैं ।

परमार्थ स्वावलोकन में ही निज तत्त्व दिखता है ॥३७॥

ऐसे वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संतीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदाय-
लक्षणः पक्षः, आस्था, संधा, प्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूते-
भिन्नत्वादिति हेतुः । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणांगद्वयमनुमानं ज्ञातव्यं । अथ रागद्वेषमोह-
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपपञ्चप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदा-
रिकवैक्रियकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तिरूपनोकर्माणि इति से तस्य जीवस्य शुद्ध-
निश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न संति कस्मात्पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेभिन्नत्वात् ।
अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्णाणां समूहो वर्गणा भण्यते ।
वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्धकानि च कानिचिन्त संति । अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः
स्पर्धकलक्षणं । तथा चोक्तं वर्गवर्गणास्पर्धकानां त्रयाणां लक्षणं—

छह संस्थान, और वज्रवृषभनाराच आदि छह संहनन, ये सभी वर्णादि शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं अतः शुद्ध आत्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । यहाँ यह दो अंगवाणा अनुमान है, तबमें 'विरति' धर्मों हैं, 'शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं' यह साध्य है—धर्म है, इस धर्मों और धर्म के समुदाय को पक्ष कहते हैं । पक्ष, आस्था, संधा और प्रतिज्ञा ये पर्यायवाची हैं । 'पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्ध आत्मा की अनुभूति से भिन्न हैं' यह हेतु है । इस प्रकार यहाँ व्याख्यान में पक्ष और हेतु इन दो अवयव वाला अनुमान बनाया गया है ।

इसी तरह राग, द्वेष, मोह अथवा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच प्रकार के प्रत्यय-आलस्य के कारण हैं । इनसे होने वाले मूल और उत्तर भेदों से भिन्न-भिन्न ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म, औदारिक, वैक्रियक, आहारक ये तीन शरीर और आहार आदि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म, ये सभी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं । क्यों ? क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं ।

परमाणु के अविभाग प्रतिच्छेदरूप शक्ति के समूह को वर्ग कहते हैं और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं तथा वर्गणा के समूह को स्पर्धक कहते हैं अथवा कर्म की शक्ति में क्रम से विशेष-विशेष वृद्धि होना स्पर्धक का लक्षण है ।

इसी प्रकार से वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक इन तीनों का लक्षण कहा गया है—अणु की शक्ति समूह का नाम वर्ग है, बहुत से वर्गों का समूह वर्गणा है और वर्गणाओं के समूह

“वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूनां वर्गणोदिता ।

वर्गणानां समूहस्तु स्पर्धकं स्पर्धकापहैः ॥”

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाव्यवसानानि भण्यते तानि च न संति । लतादावस्थि-
पाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यते । गुडखंडशर्करामृतसमानानि
शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यते । निबकांजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभाग-
स्थानानि च तास्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति । कस्मात् “पुद्गलद्रव्य-
परिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेभिन्नत्वात् । अथ वीर्यातिरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकाय-
वर्गणावलंबनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-
रूपचतुर्विधबंधस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च
सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति । कस्मात् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति
शुद्धात्मानुभूतेभिन्नत्वात् । अथ—जीवेन सह कालांतरावस्थानरूपाणि स्थितिबंधस्थानानि

का नाम स्पर्धक है ऐसा स्पर्धकों के नष्ट करने वाले जिनेन्द्रदेव ने कहा है ।

ये वर्ग, वर्गणा और स्पर्धक कुछ भी जीव के नहीं हैं ।

ऐसे ही शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों को अध्यवसान कहते हैं ये भी जीव के नहीं हैं ।
चार घातिया कर्मों के अनुभागस्थान लता, दारु, हड्डी और पाषाण की शक्तिरूप होते
हैं, शुभ अघाति कर्म के अनुभाग गुड, खांड, शक्कर और अमृत के समान होते हैं और
अशुभ अघातिया कर्म के अनुभाग नीम, कांजीर, विष तथा हालाहल—विष के सदृश होते
हैं, शुद्ध निश्चयनय से ये सभी अनुभागस्थान जीव के नहीं हैं । क्यों ? क्योंकि ये पुद्गल-
द्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । इसी प्रकार वीर्यातिराय
कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन वचन काय उनकी वर्गणा के अवलंबन से
कर्मों को ग्रहण कराने में कारणभूत जो आत्मा के प्रदेशों में परिस्पंदनलक्षणवाला है वह
योगस्थान है । प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार प्रकार के बंधस्थान हैं । सुख
और दुःख के फलों का अनुभव होना यह उदयस्थान है और गति, इंद्रिय आदि मार्गणा-
स्थान हैं । ये अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान और मार्गणास्थान सभी
शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं । क्यों ? क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से
शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं ।

कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमंदोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानि-
रूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति । कस्मात् ?
पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेभिन्नत्वात् । अथ—जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन
'बादरसुहमेइंदी वितिचउरिंदी असणिसण्णीणं । पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होति' इति
गाथाकथितक्रमेण बादरैकेंद्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च
सर्वाण्यपि न संति पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेभिन्नत्वात् । कुतः इति चेत्,
यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानांताः परिणामाः शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति ।
अयमत्रभावार्थः—सिद्धांतादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे शरीर-
वर्णपेक्षया वर्णादयोपि जीवाः इत्युक्ताः । अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा

जीव के साथ कुछ काल तक रहने वाले स्थितिबंधस्थान हैं । कषायों की तीव्रता से होने वाले संक्लेशस्थान हैं । कषायों के मंद उदय से होने वाले विशुद्धिस्थान होते हैं । कषायों की क्रम से हानि होने से संयमलब्धि के स्थान होते हैं ये सभी शुद्धनिश्चयनय से जीव के नहीं हैं । क्यों ? क्योंकि पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । एकेंद्रिय के सूक्ष्म और बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेंद्रिय के संती असंती ये सात हुये । इनको पर्याप्त-अपर्याप्त से गुणा करने पर चौदह हुये, ये चौदह जीवसमास हैं । मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान होते हैं, शुद्धनिश्चयनय से ये सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि ये सर्व पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । ऐसा क्यों ? यह प्रश्न होने पर कहते हैं कि ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यंत सभी परिणाम शुद्धनिश्चयनय से पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं, इसी हेतु से ये जीव के नहीं हैं । यहाँ यह अभिप्राय है जो कि सिद्धांत आदि ग्रंथों में कहा है कि अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से अभ्यंतर में रागादिभाव और बहिरंग में शरीर वर्ण की अपेक्षा से वर्णादि विकार भी जीव हैं किन्तु यहाँ अध्यात्म ग्रंथ में शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से इनका निषेध किया गया है । इस प्रकार से दोनों प्रकार के ग्रंथों में भी जो कथन है उसमें नय विभाग की

इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतं ॥५५ से ६०॥

अपेक्षा से कोई विरोध नहीं है । इस तरह वर्णादि के अभाव के विशेष व्याख्यानरूप से छह गाथायें पूर्ण हुई ॥५५ से ६० ॥

विशेषार्थ—श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि वर्णादि जीव के नहीं हैं या जीव में नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गलद्रव्यमय हैं अतः ये अनुभूति से भिन्न हैं पुनः श्रीजयसेनाचार्य ने भी इसका निषेध करते हुये कहा है कि शुद्धनिश्चयनय से ये जीव में नहीं हैं क्योंकि शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं । सामान्यतया शब्दों का अर्थ करने से ऐसा लगता है कि श्रीअमृतचंद्रसूरि चौथे गुणस्थान में यह व्यवस्था घटा रहे हैं और श्रीजयसेनाचार्य सातवें से लेकर आगे निर्विकल्पध्यान में । किन्तु ऐसी बात नहीं है वास्तव में जब यह जीव आत्मा की 'अनुभूति' एकाग्रचित्तानिरोध ध्यानरूप से करता है तब निर्विकल्पध्यान में शुद्धात्मा की अनुभूति ही होती है । जैसा कि श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कलश काव्य में खोल दिया है कि—'तत्त्वतः अंतः पश्यतः अमी नो दृष्टाः' परमार्थ से—निश्चयनय से अंतरंग में देखने पर—ध्यान में—परमसमाधि में स्थित होकर अवलोकन करने पर ये नहीं दिखते हैं तब तो 'एकं परं दृष्टं स्यात्' एक—अद्वितीय, उत्कृष्ट परमात्मा ही दिखती है यही अर्थ श्री शुभचंद्रआचार्य ने भी कलश काव्य की टीका करते हुये कहा है ।

और यही बात श्रीजयसेनाचार्य सर्वत्र घटित करते हैं । विचार करके देखा जाये तो चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती अविरति, श्रावक अथवा मुनि निश्चयनय की दृष्टि से अपनी आत्मा को इन सबसे भिन्न श्रद्धान करते हैं तथा उसके आगे निर्विकल्प-ध्यान में स्थित होकर महामुनि शुद्धात्मा से भिन्न इनका अनुभव करते हैं पुनः बारहवें गुणस्थान में इनसे अपने आपको पृथक् कर लेते हैं ऐसा समझना ।

यहाँ गाथा ५२ में 'णो अज्ज्ञप्पट्ठाणा' से श्रीअमृतचंद्रसूरि ने 'अध्यात्मस्थान' नहीं हैं ऐसा कहा है जो आत्मानं अधि 'अध्यात्मं' की व्युत्पत्ति के अनुसार आत्मा में होने वाले विभाव भाव स्थानरूप हैं । श्रीजयसेनाचार्य ने इस पद का अर्थ अध्यवसान किया है और कहा है कि जीव में शुभ-अशुभ रागादि विकल्परूप अध्यवसान नहीं हैं ऐसा अन्तर समझना ।

ननु वर्णदियो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तत्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यते इति चेत्—

(६१ अ०) व्यवहारेण तु एवे जीवस्स भवंति वर्णमादीया ।

गुणस्थानांता भावा ण तु केई निश्चयणयस्स ॥५६ अ०॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णमादीयाः ।

गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥५६॥

आत्मख्यातिः—इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादि-
प्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुंभरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य
विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः
परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णदियो गुणस्थानांता भावा जीवस्य संति
निश्चयेन तु न संतीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ॥५६॥

उत्थानिका—यदि ये वर्णादि भाव जीव के नहीं हैं तो पुनः अन्य—सिद्धांत ग्रन्थों
में 'उनके हैं' ऐसा कैसे कहा है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यवहारेण तु एते वर्णाद्याः जीवस्य भवंति) व्यवहारनय से तो ये सब
वर्ण आदि भाव जीव के होते हैं (तु निश्चयनयस्य गुणस्थानांताः केचित् भावा न) किंतु
निश्चयनय की अपेक्षा गुणस्थान पर्यंत कोई भी भाव जीव के नहीं हैं ।

आत्मख्याति—यहाँ पर व्यवहारनय पर्याय के आश्रित होने से पुद्गल के संयोग
के वश से अनादिकाल से जिसकी बंध पर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीव के औपाधिक भाव का
अवलंबन लेकर प्रवृत्त होता हुआ पर भावों को पर के—जीव के कहता है । जैसे कि
कुसुंभ—टेसू के लाल रंग से रंगे हुये सूती सफेद वस्त्र रंग की उपाधि का अवलंबन लेने
से लाल कहलाता है किंतु यह निश्चयनय तो द्रव्य के आश्रित होने से केवल जीव के
स्वाभाविक भाव का अवलंबन लेकर प्रवृत्त होता हुआ जीव में सभी ही पर के भावों का
निषेध करता है इसलिये व्यवहारनय की अपेक्षा से ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत
सभी भाव जीव के हैं किंतु निश्चयनय से नहीं हैं ऐसा जिनशासन का कथन युक्त ही
है ॥५६॥

(६१ अ०) ये वर्ण आदि से गुणस्थान तक जो । हैं भाव माने कहे सब जीव के वो ।।

व्यवहार से हि ये औपाधिक कहे हैं । निश्चय से जीव में ये न कभी रहे हैं ॥५६ अ०॥

(उत्थानिका)—अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धांतादौ जीवस्य वर्णद्वयो व्यवहारेण कथिताः
अत्र तु प्राभूतग्रन्थे निश्चयनयेन निषिद्धाः तमेवार्थं दृढयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्या गुणस्थानांता भावाः
पर्याया न तु केऽपि निश्चयनयेनेति । एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता ॥६१॥

भावार्थ—यहाँ जो पर्याय का आशय लेता है, पुद्गल के संयोगी भावों को कहता है वह व्यवहारनय विवक्षित है । यह पुद्गल की पर्यायों को जीव की कहता है इसी नय की मुख्यता से षट्संज्ञागमसूत्र ग्रन्थ—धवला, जयधवला, महाधवला, गोम्मटसारजीवकांड, कर्मकांड, महापुराण आदि ग्रन्थ रचे गये हैं । तथा उपाधिजन्य भाव पुद्गल के संयोग से हुये हैं अतः निश्चयनय उनको पुद्गल के ही कहकर जीव को शुद्ध ज्ञानमात्र मानता है । इस हेतु से यह नय सभी वर्णादि से लेकर गुणस्थान आदि भाव जीव के नहीं हैं ऐसा कहता है ।

उत्थानिका—अब जो पूर्व में सिद्धांत आदि ग्रन्थों में जीव के वर्णादिभाव व्यवहार-नय से कहे गये हैं किंतु यहाँ प्राभूतग्रन्थ में निश्चयनय से निषिद्ध किये गये हैं इसी अर्थ को बृद्ध कर रहे हैं—

तात्पर्यवृत्ति—व्यवहारनय की अपेक्षा से वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत जितने भी भाव हैं—पर्यायों हैं वे सब जीव की ही हैं, निश्चयनय से वे कोई भी जीव के नहीं हैं । इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के समर्थनरूप से एक गाथा पूर्ण हुई ॥६१॥

विशेषार्थ—यहाँ व्यवहारनय औपाधिक भावों को जीवों के कहकर जीव को संसारी कहता है किन्तु निश्चयनय संसारी जीवों को ही सिद्धसदृश शुद्ध, मुक्त मानता है क्योंकि शुद्ध जीवों में ये भाव नहीं हैं अतः शुद्धनय से संसारी जीव में भी नहीं हैं । आचार्य श्रीकृंदकुंददेव पहले कई एक गाथाओं में शुद्धनय की अपेक्षा से जीव को शुद्ध बतला देते हैं पुनः पाठक एकांत को लेकर निश्चयाभासी न बन जावें इसलिये आचार्यदेव स्वयं दोनों नयों की समन्वयात्मक गाथा दे देते हैं । जैसे कि यहाँ गाथा ५४ से लेकर ६० पर्यंत निश्चयनय की मुख्यता करके कहा है पुनः इस गाथा में व्यवहार और निश्चय दोनों की अपेक्षा लेकर समन्वय कर दिया है ।

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत्—

(६२ ज०) एएहिं य संबंधो जहेव क्षीरोदयं मुणेदब्धो ।

ण य हँति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७ अ०॥

एतंश्च संबंधो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः ।

न च भवन्ति तस्य ताणि दुग्गोणगुणाधिको यस्तस्मिन् ॥५७॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति । तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्यो-

उत्थानिका—निश्चयनय से ये वर्णादि जीव के नहीं हैं ऐसा क्यों ? यह प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(एतैः च संबंधः यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः) इन वर्णादिकों के साथ जीव का संबंध जैसा कि दूध और जल का संबंध है ऐसा ही जानना चाहिये । (च ताणि तु तस्य न भवन्ति) किन्तु वे उस जीव के नहीं हैं (यस्मात्—उपयोगगुणाधिकः) क्योंकि जीव उपयोग गुण से परिपूर्ण है ।

आत्मख्याति—जैसे कि जल से मिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर में एक क्षेत्र में रहनेरूप संबंध है तो भी अपने लक्षणभूत दूध के गुण से व्याप्त होने से जल से अधिक—अतिरिक्त—भिन्नरूप ही अनुभव में आता है क्योंकि जल के साथ दूध का तादात्म्य लक्षण संबंध का अभाव होने से निश्चय से वह दूध जल नहीं है । जैसे कि अग्नि की उष्णता अग्नि के साथ तादात्म्यरूप से है वैसे दूध के साथ जल का तादात्म्य—तद्रूपता नहीं है । उसी प्रकार वर्णादि पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं उनसे मिश्रित इस आत्मा का पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर में एक क्षेत्रावगाहलक्षण संबंध होने पर भी अपने स्वलक्षणभूत उपयोग गुण से व्याप्त होने से यह जीवद्रव्य सर्वद्रव्यों से अतिरिक्त ही प्रतीति में आता

(६२ ज०) है क्षीरनीरवत् यह संबंध सारा । वह एकमेक होकर भी है निराला ॥

व्यवहार से मिल रहे फिर भी अलग हैं । जीवात्म तो सदा ही उपयोगमय है ॥५७ अ०॥

अधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् न निश्चयेन वर्णादि-
पुद्गलपरिणामाः जीवस्य संति ॥५७॥

(उत्थानिका)—अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न संतीति पृष्ठे प्रत्युत्तरं
वदाति ।

तात्पर्यवृत्तिः—एदेहि य संबंधो जहेव क्षीरोदयं मुणेवब्बो एतैः वर्णादिगुणस्थानांतैः
पूर्वोक्तपर्यायैः सह संबंधो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मंतव्यः । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव
तादात्म्यसंबंधः । कुत इति चेत्, न य हुंति तस्स ताणि दु न च भवति तस्य जीवस्य ते तु
वर्णादिगुणस्थानांता भावाः पर्यायाः । कस्मात्, उवओमगुणाधिगो जम्हा यस्मादुष्णगुणेना-
ग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति । ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण

हैं । जैसे अग्नि का उष्णगुण के साथ तादात्म्य संबंध है ऐसे तादात्म्य लक्षण संबंध का
अभाव होने से निश्चय से वर्णादि पुद्गलपरिणाम जीव के नहीं हैं ॥५७॥

उत्थानिका—जीव के निश्चय से वर्णादि क्यों नहीं हैं ? ऐसा पूछने पर आचार्य-
देव उत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यंत जो पूर्वोक्त पर्यायें हैं उनके साथ
जीव का संबंध दूध और पानी के संयोग संबंध के समान ही मानना चाहिये किन्तु अग्नि
की उष्णता के समान जो तादात्म्य संबंध है वह इनमें नहीं मानना चाहिये । क्यों ? सो
ही बताते हैं कि इस जीव के ये वर्णादि से गुणस्थान पर्यंत सभी भाव या पर्यायें नहीं हैं
क्योंकि उष्णगुण से सहित अग्नि के समान ही यह जीव केवलज्ञान और केवलदर्शन गुणों
से अधिक है—परिपूर्ण है ऐसा समझना ।

प्रश्न—ये वर्ण गंध रस स्पर्श आदि तो बहिरंग हैं इनका जीव के साथ क्षीरनीर
के समान व्यवहार से संश्लेष सम्बन्ध होवे ठीक है किन्तु अभ्यंतर के जो रागादि भाव हैं
उनका भी क्षीरनीरवत् संश्लेष सम्बन्ध तो व्यवहारनय से नहीं माना जा सकता । अतः
जीव में इन्हें अशुद्ध निश्चयनय से ही मानना चाहिये ?

क्षीरनीरवत्संश्लेषसंबंधो भवतु न चाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति ।
तत्र, द्रव्यकर्मन्यापेक्षया कोटी अशुद्धव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनाम-
शुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति
भावार्थः ॥६२॥

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् :—

(६३ ज०) पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोका भणंति व्यवहारो ।

मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८ अ०॥

उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि द्रव्यकर्म बन्ध की अपेक्षा से जो यह असद्भूत व्यवहार-
नय है उसकी अपेक्षा से तरतमता को दिखलाने के लिये रागादि भाव अशुद्ध निश्चय
कहलाते हैं किन्तु वास्तव में तो शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से यह अशुद्ध निश्चय भी
व्यवहार ही है ऐसा यहाँ भावार्थ है ॥६२॥

विशेषार्थ—वर्णादि तो पुद्गल के गुण हैं इस पुद्गल से बना हुआ जो शरीर है
वह पौद्गलिक है इसलिये शरीर आदि का उपादान कारण पुद्गल ही है अतः इनका जीव
के साथ जो सम्बन्ध है वह संयोग सम्बन्ध ही है उसके लिये दूध और पानी का उदाहरण
सार्थक है । किन्तु जीव के जो राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि विभाव भाव हैं उनका उपादान
कारण आत्मा ही है, द्रव्यकर्मों का उदय निमित्तकारण है फिर भी यहाँ उन्हें भी संश्लेष
सम्बन्धरूप ही कहा है क्योंकि शुद्धनय की अपेक्षा से यह अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही
है । दूसरी बात यह है कि शुद्ध सिद्ध जीवों में ये विभाव भाव नहीं हैं अतएव भी अशुद्ध
जीव में व्यवहारनय से हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—पुनः व्यवहारनय अविरोधी कैसे है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव
कहते हैं—

अन्वयार्थ—(पथि मुख्यमाणं दृष्ट्वा व्यवहारिणः लोकाः भणंति) मार्ग में लुटते हुये
पुरुष को देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि (एषः पंथा मुष्यते न च कश्चित् पंथाः मुष्यते)

(६३ ज०) ज्यों मार्ग में लुट रहे को देखकर भी । व्यवहारि का कथन लुटता मार्ग है ही ॥

परमार्थ से कहीं मारग भी लुटा है । पर मार्ग का पथिक ही पथ में लुटा है ॥५८ अ०॥

(६४ अ०) तह जीवे कम्मभाणं णोकस्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।

जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं व्यवहारदो उत्तो ॥५६ अ०॥

(६५ ज०) गंध^१ रसफासरूपा देहो संठाणमाइया जे य ।

सव्वे व्यवहारस्स य णिज्जयदण्हू ववदिसंति ॥६० अ०॥ (त्रिकलम्)

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भर्णन्ति व्यवहारिणः ।

मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥५८॥

तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं ।

जीवस्यैष वर्णो जिनेव्यवहारत उत्तः ॥५९॥

गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च ।

सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशन्ति ॥६०॥

आत्मख्यातिः—यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेऽपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत । तथा जीवे बंधययिणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्णः

यह मार्ग लुटता है किन्तु कोई मार्ग नहीं लुटता है । (तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च वर्णं दृष्ट्वा) उसी प्रकार जीव में कर्म और नोकर्मों के वर्ण को देखकर (जीवस्य एषः वर्णः जिनेः व्यवहारतः उत्तः) जीव का यह वर्ण है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने व्यवहार से कहा है । ऐसे ही (गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयः ये च सर्वे) गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर और संस्थान आदि ये सभी (व्यवहारस्य निश्चयद्रष्टारः व्यपदिशन्ति) व्यवहार से जीव के हैं ऐसा निश्चय के दृष्टा कहते हैं ।

आत्मख्याति—जैसे मार्ग में चलते हुये किन्हीं धनिक पथिक को चोरों द्वारा लुटते हुये देखकर वहाँ मार्ग में रहने वाले चोरों के निमित्त से उपचार से व्यवहारी लोग ऐसा कह देते हैं कि 'यह मार्ग लुटता है' किन्तु निश्चय से देखा जाये तो आकाश के प्रदेश

(६४ अ०) त्यों जीव में कर्म और नोकर्म के भी । वर्णादि देख कहते ये जीव के ही ॥

व्यवहारतय से जिनेन्द्र वचन यही हैं । शुद्धात्म जीव में निश्चय ये नहीं हैं ॥५६ अ०॥

(६५ ज०) स्पर्श रूप रस गंध शरीर आदी । संस्थान संहनन ये सब हैं अनादी ॥

निश्चय के ज्ञाता इन्हें व्यवहार कहते । इनका विकल्प तजकर निश्चय को लहते ॥६० अ०॥

१. तात्पर्यवृत्तौ तु 'एवं रसगंध' इत्यादि टीका स्थित पाठः ।

इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति । एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणा-
स्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थान-
विशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभा-
वात् ॥५८॥५९॥६०॥

विशेष लक्षण वाला जो कोई भी मार्ग है वह नहीं लुटता है । उसी प्रकार जीव में बन्ध पर्याय से होने वाला जो कर्म अथवा नोकर्म का वर्ण है उसे देखकर जीव में स्थित होने से उसके उपचार से 'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहारनय की अपेक्षा से श्रीअर्हंतदेव प्रज्ञापन करते हैं तो भी निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य ही अमूर्तस्वभावी और उपयोगगुण से परिपूर्ण ऐसे जीव के कोई भी वर्ण नहीं है । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय-आस्त्रव, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवसमासस्थान और गुणस्थान ये सभी व्यवहारनय से जीव के हैं ऐसा श्रीअर्हंतदेव के द्वारा प्रज्ञापित होने पर भी निश्चयनय की अपेक्षा से नित्य ही अमूर्तिक स्वभाववाले और उपयोगगुण से परिपूर्ण ऐसे जीव के ये सभी भी नहीं हैं क्योंकि जीव के साथ इनका तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध नहीं है ॥५८-५९-६०॥

विशेषार्थ—जीव के वर्ण आदि हैं अथवा जीव का या किन्हीं तीर्थंकर का स्वर्ण-वर्णवाला शरीर है इत्यादि कथन तथा जीव के रागद्वेषमोह, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का वर्णन श्रीअर्हंतदेव ने किया है न कि हम तुम जैसे सामान्य मनुष्यों ने, अतः यह सत्य है असत्य नहीं है । यद्यपि यह सब कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से ही है फिर भी व्यवहार-नय झूठा नहीं है । हाँ, वह औपाधिक भावों को ग्रहण करता है इसीलिये कश्चित् निश्चयनय की अपेक्षा से उसे 'असत्य' कह भी सकते हैं किन्तु अपने विषय को सही-सही कहने से यह सत्य ही है । दूसरी बात यह है कि जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित होने से यह सत्य ही है । संपूर्ण द्वादशांग का विस्तार भी तो जीव के इन औपाधिक भावों को ही कहता है अन्यथा 'जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।' जीव भिन्न है और पुद्गल भिन्न है इतना

(उत्थानिका)—अथ तर्हि कृष्णवर्णोऽयं धवलवर्णोऽयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तद्वारेण परिहरति ।

तात्पर्यवृत्तिः—पंथे मुस्संतं पस्सिदूणं लोका भणंति व्यवहारो पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिलोका भणंति । किं भणंति, मुस्सदि एसो पंथो मुष्यत एषः प्रत्यक्षीभूतः पंथाश्चौरैः कर्तृभूतैः न य पंथो मुस्सदे कोई न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पंथा मुष्यते कश्चिदपि किन्तु पंथानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यंत इति दृष्टान्तगाथा गता । तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं तथा तेन पथि सार्थदृष्टान्तेन जीवेधिकरण-भूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा जीवस्स एस वण्णो जिणेहि व्यवहारदो उसो जीवस्य

मात्र ही तत्त्वों का संग्रह रूप सार है । ऐना श्रीगुरुदेवजी ने कहा है इसी प्रकार निश्चयनय का वर्णन भी श्रीजिनंदेव ने ही किया है उस दृष्टि से तो जीव के साथ इनका तादात्म्य सम्बन्ध न होने से ही जीव के ये सब नहीं हैं ऐसा कथन है । वास्तव में दोनों नयों को समझकर ही अपेक्षाकृत वस्तु के स्वरूप को कहने वाले सम्यग्दृष्टि माने गये हैं । आगे स्वयं ग्रंथकार इसी विषय का विस्तार करेंगे ।

उत्थानिका—तब तो 'यह मनुष्य काले वर्ण का है, यह श्वेतवर्ण का है—गोरा है' जो यह व्यवहार है वह विरुद्ध हो जायेगा ऐसा शिष्य के द्वारा पूर्वपक्ष रखा जाने पर आचार्यदेव व्यवहार का अविरोध दिखलाते हैं ऐसी एक उत्थानिका है, तथा दूसरी उत्थानिका यह है कि उसी पूर्वोक्त व्यवहार का जो विरोध है उसका लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त के द्वारा परिहार करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—मार्ग में लुटते हुये पथिक को देखकर व्यवहारो लोग ऐसा कह देते हैं कि यह प्रत्यक्षीभूत मार्ग चोरों से लुटता है किन्तु मार्ग तो शुद्ध आकाशलक्षण विशेष वाला है वह तो कोई लूटा नहीं जा सकता बल्कि मार्ग को आधार लेकर चलने वाले आधेयभूत मनुष्य ही लूटे जाते हैं यह दृष्टान्त गाथा हुई । उसी प्रकार इस पथिक के दृष्टान्त के समान ही आधारभूत जीव में कर्म और नोकर्म—शरीर आदि के शुक्ल आदि वर्णों को देखकर 'जीव के ये वर्ण हैं' ऐसा जिनंदेव ने व्यवहारनय से कहा है यह दृष्टान्त गाथा हुई । इसी ही दृष्टान्त-द्रष्टान्त के न्याय से रस, गंध, स्पर्श, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह

एष वर्णो जिनेर्व्यवहारतो भणित इति दाष्टांतगाथा गता । एवं रसगंधकासा संठाणादीय जे समुद्दिष्टा एवमनेनैव दृष्टांतदाष्टांतन्यायेन रसगंधस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः सन्ने व्यवहारस्स य णिक्कयदण्ह ववदिसंति ते सर्वे व्यवहार-नयस्याभिप्रायेण निष्पत्त्यन्ता जीवस्स व्यपदिशंति कथयंतीति नास्ति व्यवहारविरोधः । इति दृष्टांतदाष्टांतव्याख्या व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतं । एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिः द्वितीयांतराधिकारो व्याख्यातः ॥६३॥६४॥६५॥

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधो नास्तीति चेत्—

(६६ ज०) तत्थमवे जीवाणं संसारत्थाण होति वण्णादी ।

संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६९ अ०॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः ।

संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित् ॥६९॥

आदिक जो पूर्व में छह गाथाओं में (५५ से ६० तक) कहे गये हैं, निश्चयनय के जाता आचार्य देव उन सबको 'जीव के हैं' ऐसा व्यवहारनय के अभिप्राय से ही कहते हैं इसलिये व्यवहार में विरोध नहीं है । इस प्रकार दृष्टांत-दाष्टांत के द्वारा व्यवहारनय के समर्थन-रूप से तीन गाथायें पूर्ण हुई ।

इस प्रकार शुद्धजीव ही उपादेय है ऐसे प्रतिपादन की मुख्यता से बारह गाथाओं द्वारा यह दूसरा अंतराधिकार कहा गया है ॥६३-६४-६५॥

उत्थानिका—अब आगे जीव के वर्णादि के साथ तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(संसारस्थानां जीवानां तत्र भवे वर्णादयः भवन्ति) संसारी जीवों के इस संसार में वर्णादि पर्यायें होती हैं । (खलु संसारप्रमुक्तानां केचित् वर्णादयः न सन्ति) किन्तु संसार से छूट चुके ऐसे मुक्त जीवों के कोई भी वर्णादिक नहीं हैं ।

(६६ ज०) संसार में भ्रमण जो करते उन्हीं के । उस भव में वर्ण आदिक होते उन्हीं के ॥

पर मुक्त जीव के वर्णादिक नहीं हैं । तादात्म्यरूप इनका संबंध नहीं है ॥६९ अ०॥

आत्मख्यातिः—यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्ति-
शून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मक-
त्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः
संबंधः स्यात् । संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्य-
स्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्या-
भवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् ॥६१॥

आत्मख्याति—जो नियम से सभी ही अवस्थाओं में जिसरूप से व्याप्त होकर
रहता है कभी भी उस स्वरूप के साथ व्याप्ति से शून्य नहीं होता है, उसका उन भावों के
साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध माना जाता है । इस हेतु से सभी अवस्थाओं में वर्णादि
स्वरूप से व्याप्त रहते हुये तथा वर्णादि स्वरूप की व्याप्ति से शून्य न होते हुये ऐसे पुद्गल
का वर्णादि के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध होता है । संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादि
वर्णादिस्वरूप से व्याप्त होते हुये तथा वर्णादिस्वरूप की व्याप्ति से शून्य न होते हुये भी
जीव का मोक्ष अवस्था में सर्वथा वर्णादिस्वरूप की व्याप्ति से शून्य होते हुये और वर्णादिरूप
से व्याप्त न होने के कारण इसका वर्णादि के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध किसी प्रकार भी
नहीं है ॥६१॥

भावार्थ—जो द्रव्य जिन भावों या पर्यायों से तीनों कालों में सर्व अवस्थाओं में भी
व्याप्त होकर रहे उसका ही उन भावों के साथ तादात्म्य नाम का सम्बन्ध माना जाता है
जैसे कि घड़े का मिट्टी के साथ अथवा अग्नि का उष्णता के साथ और जीव का ज्ञान गुण
के साथ तादात्म्य—तद्रूप सम्बन्ध है । ऐसे ही वर्णादि भाव तो पुद्गल के साथ ही तादात्म्य
संबंध रखते हैं जीव के साथ नहीं । फिर भी संसार अवस्था में ये जीव के साथ व्याप्त होकर
ही रह रहे हैं जीव चाहे औदारिक या वैक्रियक शरीर में हो चाहे विग्रहगति में हो वहाँ भी
ये वर्णादि तंजस कामण शरीररूप में सम्बन्धित हैं अतः संसारी जीवों के साथ इन वर्णादि
का दूध और पानी के समान एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध हो रहा है इसलिये इन्हें कथंचित्—
व्यवहारनय की अपेक्षा से तो जीव के कह सकते हैं फिर भी मोक्ष अवस्था में इनका संबंध
न होने से इन्हें तादात्म्य सम्बन्ध रूप नहीं कह सकते हैं यही कारण है कि संसार अवस्था
में इनका जीव के साथ संश्लेष या संयोग सम्बन्ध ही माना जाता है तभी तो इन्हें दूर
करना—पृथक् करना शक्य है ऐसा समझना ।

(भूमिका)—अतः परं जीवस्य निश्चयनयेन वर्णादितादात्म्यसंबन्धो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं तत्त्वभवे इत्यादि सूत्रमेकं । ततः परं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन जीवो चेव हि इत्यादिगाथात्रयं । तदनंतरमेकेंद्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च एकं च दोष्णि इत्यादिगाथात्रयं । ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं, तथैवाभ्यंतरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं च मोहणकम्म इत्यादिसूत्रमेकं । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—

भूमिका—इसके आगे जीव के साथ निश्चय से वर्णादि का तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है इसी विषय को पुनरपि दृढ़ करने के लिये आठ गाथा पर्यंत व्याख्यान करते हैं । उसमें भी सर्वप्रथम संसारी जीव के वर्णादि का तादात्म्यसम्बन्ध है किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं है ऐसा प्रज्ञापित करने के लिये 'तत्त्वभवे' इत्यादिरूप एक गाथा सूत्र है । इसके बाद 'जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य है ही है' ऐसा दुराग्रह होने पर जीव का अभावरूप दूषण प्राप्त हो जावेगा, ऐसे कथन की मुख्यता से 'जीवो चेव हि' इत्यादि तीन गाथायें हैं । अनंतर एकेंद्रिय आदि चौदह जीव समासों का जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य नहीं है ऐसा कथन करने के लिये तथा उसी प्रकार वर्णादि के साथ तादात्म्य—एकत्व का निषेध करने के लिये 'एकं च दोष्णि' इत्यादि तीन गाथायें हैं । पुनः मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य नहीं है ऐसा निराकरण करने के लिये और उसी प्रकार 'अभ्यंतर में रागादि का तादात्म्य नहीं है' ऐसा निषेध करने के लिये 'मोहणकम्म' इत्यादि एक गाथा सूत्र है इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा तृतीयस्थल में यह समुदाय पातनिका कही गई है ।

उत्थानिका—जीव का इन वर्णादिकों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध क्यों नहीं है ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हुये कहते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—तत्त्वभवे जीवाणं संसारस्थानं ह्येति वर्णादौ तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवन्ति संसारप्रमुक्तानां नत्थि दु वर्णादयो केई पुद्गलस्थवर्णादितादात्म्यसम्बन्धाभावात् । केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादियपर्यायः सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावादशुद्धनयेनापि न सन्ति पुनर्वर्णादयः केपि । इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता ॥६६॥

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायं ; —

(६७ ज०) जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि ।

जीवस्साजीवस्स य नत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२ अ०॥

तात्पर्यवृत्तिः—इस संसार में विवक्षित अथवा अविवक्षित किसी भी भव में संसार में स्थित जीवों के अशुद्धनय से वर्णादि होते हैं किन्तु संसार से मुक्त हुये ऐसे सिद्ध जीवों के इन पुद्गल में स्थित वर्णादिकों के साथ तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है । इन सिद्धों के केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व आदि पर्यायों के साथ जैसा तादात्म्य सम्बन्ध है अथवा इन सिद्धों के वैसे ही वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध का अभाव है इसी हेतु से अशुद्धनय से भी ये वर्णादि कुछ भी सिद्धों में नहीं हैं ।

इस प्रकार जीव के साथ इन वर्णादि के तादात्म्य निषेधरूप से एक गाथा पूर्ण हुई ॥६६॥

भावार्थः—यहाँ 'अशुद्धनय से' औपाधिक भाव ग्राहक व्यवहारनय और अशुद्धनिश्चयनय लेना है क्योंकि वर्णादि भाव व्यवहारनय से जीव के होते हैं और रागद्वेषादि या गुणस्थानादि भाव अशुद्ध निश्चयनय से होते हैं । मुक्त जीवों में ये कुछ भी नहीं हैं ।

उत्थानिका—जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है ऐसा दुराग्रह रखने पर जो दोष आता है सो दिखलाते हैं—

अन्वयार्थः—(एते सर्वे हि भावा जीवः च एव इति यदि हि मन्यसे) ये वर्णादिक सभी भाव जीव ही हैं यदि ऐसा ही तुम मानते हो (तु ते जीवस्य च अजीवस्य कश्चित् विशेषः नास्ति) तब तो तुम्हारे अभिप्राय से जीव और अजीव में कोई अंतर नहीं रहेगा ।

(६७ ज०) यदि तुम कहो कि वर्णादिक जीव ही हैं । तब तो अजीव अरु जीव में भेद नहि है ॥

इस शुद्ध जीव की परिणति है निराली । क्योंकि ये देह आदी ही वर्णवाली ॥६२ अ०॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।

जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

आत्मख्यातिः—यथा वर्णदियो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिव्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छन्तः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति । तथा वर्णदियो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिव्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छन्तो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्तीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ॥६२॥

(उत्थानिका)—अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति—

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो चेव हि एते सर्वे भावसि मण्यसे अदि हि यथान्तज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत् जीवस्साजीवस्स य नत्थि विसेसो हि दे कोई

आत्मख्याति—जैसे ये वर्णादि भाव क्रम से प्रगट—उत्पन्न होने वाली और तिरोभूत—नष्ट होने वाली उन-उन व्यक्तियों-पर्यायों से पुद्गलद्रव्य से अन्वय को प्राप्त होते हुये पुद्गलद्रव्य के ही वर्णादि तादात्म्य को प्रसिद्ध करते हैं । वैसे ही 'ये वर्णादि भाव क्रम से होने वाली आविर्भाव-तिरोभावरूप उन-उन पर्यायों से जीव के साथ अन्वय को प्राप्त होते हुये जीव के साथ वर्णादि के तादात्म्य को कहते हैं' ऐसा जिनका अभिप्राय है उनके यहाँ तो शेष द्रव्य में असाधारण ऐसा वर्णादिरूप पुद्गलद्रव्य का जो लक्षण है उसे जीव में स्वीकार कर लेने से जीव और पुद्गल में एकरूप-अभेद का प्रसंग आ जाने पर तो पुद्गल से भिन्न जीवद्रव्य का अभाव हो जावेगा तब पुनः जीव का ही अभाव हो जावेगा—यह बहुत बड़ा दोष आवेगा ॥६२॥

उत्थानिका—यदि कोई कहे कि जीव के वर्णादि के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है ही है ऐसा एकांत दुराग्रह करने पर दोष दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे अनंतज्ञान और अव्याबाध सुख आदि गुण ही जीव हैं एवं वर्णादि गुण ही पुद्गल हैं वैसे ही यदि तुम ये वर्णादि सभी भाव जीव ही हैं ऐसा स्पष्टतया मानोगे तो यह दूषण आवेगा कि विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावी जीव और जड़ आदि लक्षण वाले अजीव

तदा किं दूषणं, विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोपि विशेषो भेदो नास्ति । ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥६७॥

संसारवस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोषः—

(६८ ज०) अहं संसारस्थानं जीवानां तुल्यं ह्येति दूषणात् ।

तम्हा संसारस्था जीवा रूपात्मभावणा ॥६३ अ०॥

(६९ ज०) एवं पुद्गलद्रव्यं जीवो तद्वत्त्वखणेन मूढमदी ।

निष्ठाणमुद्यमदो वि य जीवत्तं पुद्गलो पतो ॥६४ अ०॥ (युगलं)

में कोई भी अन्तर नहीं रहेगा और तब आपके मन में जीव के अभावरूप यह दूषण आ जावेगा ऐसा यहाँ सूत्र का अर्थ हुआ है ॥६७॥

भावार्थ—वास्तव में जीव ज्ञानदर्शनस्वभाव वाला है और पुद्गलद्रव्य वर्णरस आदि लक्षण वाला है । इन दोनों में लक्षणभेद है, यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से और व्यवहारनय से जीव के रागादिभाव और शरीर आदि हैं फिर भी शुद्धनिश्चयनय से ये कुछ नहीं हैं अतः लक्षण भेद तो करना ही पड़ेगा ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि संसार अवस्था में ही जीव का वर्णादि से तादात्म्य है ऐसा अभिप्राय होने पर भी यही दोष आता है—

अन्वयार्थ—(अथ तव संसारस्थानां जीवानां वर्णादियः भवन्ति) भयदा तुम्हारे मत में संसारी जीवों के वर्णादि हैं (तस्मात् संसारस्था जीवा रूपित्वं आपन्नाः) तो इसी हेतु से संसारी जीव रूपीपने को प्राप्त हो गया । (एवं पुद्गलद्रव्यं जीवः मूढमते ! तथालक्षणेन) ऐसा होने से तो पुद्गलद्रव्य जीव हो गया । हे मूढ़बुद्धे ! पुद्गल के समान जीव का लक्षण होने से (निर्वाण उपगतः च अपि पुद्गलः जीवत्वं प्राप्तः) निर्वाण को प्राप्त हुआ पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त हो गया ।

(६८ ज०) होते भवस्थ जीवों के वर्ण आदी । एकांत से मानते यदि जीव ये ही ॥

तब जीवद्रव्य भी रूपी ही बनेगा । पुद्गल की संज्ञा उसे देना पड़ेगा ॥६३ अ०॥

(६९ ज०) ऐसा हुआ तो पुद्गल ही जीव होगा । पुद्गल ही मुक्त हो जीवस्वरूप होगा ॥

हे मूढ़ बुद्धि ! क्यों ऐसा मानता है । दोनों में अन्तर नहीं तू जानता है ॥६४ अ०॥

अथ संसारस्थानां जीवानां तत्र भवन्ति वर्णादयः ।

तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६३॥

एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।

निर्वाणमुपगतोपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

आत्मख्यातिः—यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद् द्रव्यस्य लक्षणमस्ति । ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किञ्चिद्भवति स जीवो भवति । रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति । एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि । तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थारवनपायित्वादितादिनिघनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि । तथा च सति तस्यापि पुद्गलेश्वरो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावात् भवत्येव जीवाभावः । एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति ॥६३॥॥६४॥

(उत्थानिका)—अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसंबन्धोस्तीति दुरभिनिवेशेपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति—

आत्मख्याति—जिसका ऐसा अभिप्राय है कि संसार अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है उसके अनुसार तो उस समय वह जीव अवश्य ही रूपी अवस्था को प्राप्त हो जावेगा और रूपीपना तो किसी द्रव्य का अन्य द्रव्यों से पृथक् कराने वाला असाधारण लक्षण है इसलिये रूपित्व से लक्ष्यमाण—जाना जाने वाला जो कोई है, वह जीव हो जावेगा किन्तु रूपित्व से लक्ष्यमाण तो पुद्गलद्रव्य ही है । इस प्रकार से तो पुद्गलद्रव्य ही स्वयं जीव है, न पुनः अन्य कोई भी । ऐसा होने पर तो मोक्ष अवस्था में भी वह पुद्गलद्रव्य ही जीव होता है न कि अन्य कोई भी, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने नित्य स्वलक्षण से लक्षित रहता—हुआ जाना गया सभी अवस्थाओं में अविनाशी होने से अनावि निघन है । पुनः ऐसा होने पर तो पुद्गलद्रव्य से भिन्न उस जीव का सद्भाव सिद्ध न होने से जीव का ही अभाव हो जावेगा इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो वर्णादिक पर्यायें हैं वे जीव नहीं हैं ऐसा समझना ॥६३—६४॥

उत्थानिका—अब संसार अवस्था में ही जीव का वर्णादि से तादात्म्य है ऐसा दुराग्रह करने पर भी 'जीव का अभाव' रूप दूषण प्राप्त होता है ऐसा उपदेश देते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—जदि संसारस्थानं जीवाणं तुज्ज होंति धण्णावी यदि चेत्संसारस्थ-
जीवानां पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकांतेन भवन्तीति तम्हा संसारस्था
जीवा रूपित्तभावण्णा ततः किं दूषणं, संसारस्थजीवा अमूर्तमनंतज्ञानादिचतुष्टयस्वभाव-
लक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवन्ति । अथ—एवं पुद्गलद्रव्यं जीवो
तह लक्षणणेण मूढमई एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः नान्यः
कोपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तव लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते न केवलं संसारा-
वस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः णिब्धानुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो निर्वाण-
मुपगतोपि पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोपि चिद्रूपः । कस्मादिति चेत्, वर्णादिता-
दात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः । किंच संसारा-
वस्थायामेकांतेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञाना-
दिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न

तात्पर्यवृत्ति—यदि आपके मत से संसार में स्थित जीवों के पुद्गल के समान वर्णादि
गुण हैं ऐसा तुम्हारा एकांत से अभिप्राय है तो क्या दूषण होगा ? यह दूषण होगा कि संसारी
जीव अपने अमूर्तिक और अनंतज्ञानादि-अनंत चतुष्टय स्वभाव लक्षण को छोड़ कर शुक्ल,
कृष्णादि लक्षण रूपीपने को प्राप्त हो जायेंगे । इस पूर्वोक्त प्रकार से जीव के रूपी हो जाने पर
पुद्गलद्रव्य ही जीव है अन्य कोई भी विशुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र लक्षण वाला जीव नहीं है ।
हे मूढमते ! ऐसे तुम्हारे अभिप्राय से तो केवल संसार अवस्था में पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त
हो ऐसा नहीं होगा बल्कि निर्वाण को प्राप्त हुआ भी पुद्गल ही जीवपने को प्राप्त होगा, अन्य
कोई चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं होगा । ऐसा क्यों ? इसलिये कि पुद्गलद्रव्य के समान ही जीव के
साथ वर्णादि का तादात्म्य होने का निषेध करना अशक्य हो जाने से जीव का ही अभाव हो
जायेगा । दूसरी बात यह है कि एकांत से संसार अवस्था में वर्णादि से तादात्म्य-तद्रूपता
मानने पर तो मोक्ष ही घटित नहीं होगा । क्यों ? क्योंकि केवलज्ञान आदि अनंतचतुष्टय
की प्रगटारूप जो कार्यसमयसार है उसे ही 'मोक्ष' यह नाम है और वह जीव के पुद्गलपना
हो जाने पर तो सम्भव ही नहीं होगा यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना ।

संभवतीति भावार्थः । एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतं ॥६८॥६९॥

(७० ज०) एकं च दोष्णि तिष्णि य चत्वारि य पंच इंदिया जीवा ।

बादरपञ्जतिवरा पयडीओ नामकम्मस्स ॥६५ अ०॥

(७१ ज०) एवाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाड करणभूदाहि ।

पयडीहि पुग्गलमईहि ताहि कहं भण्णदे जीवो ॥६६ अ०॥ (युग्मम्)

इस प्रकार जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य मानने से जीव के अभावरूप दूषण द्वारा तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥६८-६९॥

भावार्थ—यदि संसारो जीव को एकांत से भूतिक वर्णादिमान् ही मान लिया जाये तो जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य नहीं रहे बल्कि दोनों एक ही हो गये ऐसी अवस्था में पुद्गल को मोक्ष होने से जीव का अस्तित्व समाप्त हुआ । तथा केवलज्ञान, अनंतसुख आदि रूप मोक्ष माना गया है पुनः जीव का अस्तित्व न घटने से मोक्ष भी नहीं सिद्ध हो सकेगा । एकांत मान्यता से ये दूषण आते हैं । यदि कथंचित्—व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्म के सम्बन्ध से जीव को भूतिक—वर्णादि सहित मानें और निश्चयनय से शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी मानें तो कोई दोष नहीं है ।

आगे इसी अर्थ को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एकं वा द्वे च त्रीणि च चत्वारि पंचेन्द्रियाणि जीवाः) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये जीव हैं (बादरपर्याप्तेतराः) ये बादर-सूक्ष्म तथा पर्याप्ति और अपर्याप्ति भेदरूप हैं । (नामकर्मणः प्रकृतयः) ये नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं (एताभिः च करणभूताभिः जीवस्थानानि निर्वृत्तानि) और इन करणरूप से जीवसमास रचे गये हैं (ताभिः पुद्गलमयीभिः प्रकृतिभिः जीवः कथं भण्यते) उन पुद्गलमयी प्रकृतियों के द्वारा बने हुये जीवसमास जीव कैसे कहलायेंगे ?

(७० ज०) एकेन्द्रि द्वीन्द्रि त्रयइन्द्रिय चारइन्द्री । पंचेन्द्रि सूक्ष्म बादर पर्याप्ति आदी ॥

जो है कहीं अपर्याप्तादिक कहानी । ये नामकर्म की प्रकृति है पुरानी ॥६५ अ०॥

(७१ ज०) इन कर्म की प्रकृतियों से ही रचित जो । है जीवज्ञान आदिक पुद्गलमयी जो ॥

उन पुद्गलीक भावों को जीव कैसे ? । कह सकते वे तो पुद्गलमय ही रहेंगे ॥६६ अ०॥

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः ।

बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥६५॥

एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः ।

प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥६६॥

आत्मख्यातिः—निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत् । तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मेकेंद्रियद्वित्रिचतुः-पंचेंद्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः । नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीराकारादिसूक्तकार्यानुमेयं च । एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यसिरेका-ज्जीवस्थानैरेवोक्तानि । ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः ॥६५॥६६॥

उपजाति छंदः—निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।

स्वमेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यति स्वमं न कथंचनासि ॥६८॥

आत्मख्याति—निश्चयनय से कर्म और करण में अभेद होने से जो जिसके द्वारा किया जाता है वह वही है ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पत्र सुवर्ण से किया हुआ होने से सुवर्ण ही है अन्य कुछ नहीं है । वैसे ही जो जीवस्थान हैं—ये एकेंद्रिय बादर, एकेंद्रिय सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेंद्रिय—संज्ञी, पंचेंद्रिय असंज्ञी ये पर्याप्तक और अपर्याप्तक ऐसे चौबह जीवसमास हैं । इन नाम वाली, पुद्गलमयी, नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा किये गये ये जीवसमास स्थान पुद्गल ही है न कि जीव, और नाम कर्म की प्रकृतियों का पुद्गलमय होना यह आगम में प्रसिद्ध है । यह बिखने वाले जो शरीर आकार आदि मूर्तिकभाव हैं वे पुद्गल कर्म की प्रकृतियों के कार्य होने से अनुमेय हैं—अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध हैं । इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन ये सभी पुद्गलमय नाम कर्म की प्रकृतियों से बने हुये होने से पुद्गल से अभिन्न हैं अतः ये जीवसमास स्थान पुद्गलमय ही कहे गये हैं इसलिये ये वर्णादिक भाव जीव नहीं है यह निश्चयनय का सिद्धांत है ॥६५—६६॥

आर्या (मात्रिक) छन्द—जो वस्तु जिससे रचित, वह उस रूप पररूप न हुई है ।

जैसे स्वर्ण विनिमित्त असि कोष स्वर्ण असि नहीं है ॥६८॥

उपजाति छंदः—वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।

ततोस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोन्मः ॥३६॥

(उत्थानिका)—अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियादिसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यंतं चतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवति तथा देहगता वर्णादयोपीत्यावेदयति—

तात्पर्यवृत्तिः—एकद्वित्रिचतुःपंचेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्तिेतराभिधानाः प्रकृतयो भवन्ति । कस्य संबंधिन्यो नामकर्मण इति । अथ—एताभिरमूर्त्तातीन्द्रियनिरंजनपरमात्मतत्त्वविलक्षणा-

काव्यार्थ—जिस द्रव्य से जो पर्याय बनती है वह पर्याय उस द्रव्यरूप ही है किसी भी प्रकार से वह अन्य कुछ नहीं है । जैसे कि यहाँ लोक में सुवर्ण से निर्मित तलवार की म्यान है वह सोना ही है उसे कोई भी तलवार नहीं देखते हैं अर्थात् वर्णादि पुद्गल से बने हैं वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं । ३८।

काव्यार्थ—हे ज्ञानिजन ! ये वर्णादि से लेकर जो गुणस्थान पर्यंत भाव हैं, ये सब एक पुद्गलद्रव्य की ही रचना हैं ऐसा जानो । इसलिये ये सब पुद्गल ही हैं आत्मा नहीं हैं क्योंकि यह आत्मा तो विज्ञान घन है अतः वह इन वर्णादिक भावों से अन्य-भिन्न ही है । ३६।

भावार्थ—ये वर्णादि भाव पुद्गल से बने हुये होने से पौद्गलिक ही हैं आत्मा नहीं हैं । आत्मा तो ज्ञानपुंज एक चिच्छैतन्यस्वरूप है वह पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही है ।

उत्थानिका—यहाँ यह बात है कि बादर सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि से संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत चौदह जीवसमाप्त स्थान शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं वैसे ही देहगत वर्णादि भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—एकेन्द्रिय बादर, एकेन्द्रिय सूक्ष्म, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त से चौदह भेद हो जाते

आर्या (मात्रिक) छन्द—वर्णादिक सामग्री, एक पुद्गल निर्माण से जानो ।

अतएव सर्व पुद्गल, ज्ञान रूप आत्म पहिचानो ॥३६॥

भिर्नामिकर्मप्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिः पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चय-
नयेन कथं जीवा भवन्ति ? न कथमपि । तथाहि—यथा स्वमेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं
तु स्वमेव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव
भवन्ति न च जीवस्वरूपाणि । तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टान्तेन तदाश्रिता वर्णादयोपि पुद्गल-
स्वरूपा भवन्ति, न च जीवस्वरूपा इत्यभिप्रायः ॥७०॥७१॥

हैं । इन चौदह जीवसमास नाम से कर्म प्रकृतियाँ हैं । किस सम्बन्धी हैं ? नाम कर्म की
प्रकृतियाँ हैं । अमूर्तिक, अतीन्द्रिय, निरंजन, परमात्मतत्त्व से विलक्षण इन पुद्गलमयी
नाम कर्म की प्रकृतियों के द्वारा ये चौदह जीवसमास स्थान बनाये गये हैं भला ये
निश्चयनय से जीव कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकते हैं । उसे ही स्पष्ट
करते हैं—जैसे सोने से बनी हुई तलवार की म्यान सोना ही है वैसे ही पुद्गलमय
प्रकृतियों से निष्पन्न जीवसमास स्थान पुद्गलस्वभावरूप ही हैं वे जीव के स्वरूप नहीं
हैं । वैसे ही इस जीवसमास के दृष्टान्त से ही उसके आश्रित वर्णादि भी पुद्गलस्वरूप ही
हैं, वे जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा अभिप्राय समझना ॥७०—७१॥

विशेषार्थ—कर्मों के आठ भेद में नामकर्म की तेरानवे प्रकृतियाँ हैं उनमें एकेन्द्रिय
आदि पाँच इंद्रिय तक पाँच जातियाँ हैं । सूक्ष्म और बाह्य तथा पर्याप्त और अपर्याप्त
नाम से भी प्रकृतियाँ हैं । फिर भी इन एक-एक प्रकृतियों के भी असंख्यातों भेद माने गये
हैं । जैसे कि “तं पुन अट्ठविहं वा अट्ठदालसयं असंखलोगं वा^१ ।”

इन कर्मों के आठ भेद, एक सौ अड़तालिस भेद अथवा असंख्यात लोक प्रमाण
भेद होते हैं । ये पौद्गलिक भेद द्रव्य से सम्बन्धित हैं और इनके निमित्त से होने वाले
जीव के भाव, भावकर्म हैं ये यद्यपि आत्मा के हैं इनका उत्पादान कारण आत्मा है फिर
भी द्रव्यकर्म के निमित्त से होने वाले ये नैमित्तिक भाव भी अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा
ही हैं शुद्धनिश्चयनय से नहीं है ऐसा समझना ।

१. गोम्मटसार कर्मकांड, गाथा ७ ।

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रं; —

(७२ ज०) पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा वादरा य जे चेव ।

देहस्स जीवसण्णा सुत्ते व्यवहारवो उत्ता ॥६७ अ०॥

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा वादराश्च ये चेव ।

देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ॥६७॥

आत्मख्यातिः—यत्किंल वादरसूक्ष्मैर्केन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे लीख्यन्तेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः । यथा हि कस्यचिदा-जन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योज्यं घृतकुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति

उत्थानिका—ज्ञान स्वरूप आत्मा है उससे अतिरिक्त किसी भी अन्य भाव को जीव कहना व्यवहार मात्र है—

अन्वयार्थ—(ये पर्याप्तापर्याप्ताः च ये चेव सूक्ष्माः वादराः) जो पर्याप्त और अपर्याप्त तथा जो सूक्ष्म और वादर भेद हैं ये सब (देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः) शरीर की जीवसंज्ञार्थे सूत्र—आगम में व्यवहारनय से कही हैं ।

आत्मख्याति—निश्चय से वादर एकेंद्रिय, सूक्ष्म एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय, और संज्ञीपञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त एवं अपर्याप्त ये शरीर की संज्ञायें हैं किंतु सूत्ररूप आगम में 'जीव' इस नाम से कही गई हैं वहाँ पर तो परद्रव्य की प्रसिद्धि से—औषाधिक भावों की अपेक्षा से व्यवहार ही कहा गया है जैसे कि 'यह घी का घड़ा है' ऐसा व्यवहार देखा जाता है यह व्यवहार अप्रयोजनीय है । इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—जैसे किसी ने जन्म से लेकर बड़ी उम्र तक भी घी के घड़े को ही देखा था, घी से रहित खाली घड़ा देखा ही नहीं था उसको समझाने के लिये कहते हैं कि 'जो यह घी का घड़ा है वह मिट्टीमय है घृतमय नहीं है मात्र इसमें घी रख देने से, इस घी के निमित्त से घड़े में 'यह घी का घड़ा है' ऐसा व्यवहार किया जाता है । उसी प्रकार यह अज्ञानी लोक अनादिकाल से लेकर आज तक अणुद्ध जीव को ही जान रहा है और

(७२ ज०) पर्याप्त औ अपर्याप्तक सूक्ष्म वादर । ये सब शरीर की संज्ञायें बता कर ॥

व्यवहार से इन्हें जीव की कह दिया है । ऐसा हि सूत्र आगम में वर्णित है ॥६७ अ०॥

तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवा-
नभिज्ञस्य प्रबोधनाय योयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिभयः इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे
वर्णादिमद्व्यवहारः ॥६७॥

अनुषङ्ग—घृतकुम्भाभिधानेपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेपि न तन्मयः ॥४०॥

(उत्थानिका)—अथ—ग्रंथांतरे पर्याप्तापर्याप्तिबादरसूक्ष्मजीवाः कथ्यन्ते तत्कथं घटत
इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—

तात्पर्यवृत्तिः—पञ्जत्तापञ्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव पर्याप्तापर्याप्ति ये
जीवाः कथिताः सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिताः देहस्स जीवसण्णा सुत्ते व्यवहारदो उत्ता

शुद्धजीव के ज्ञान से शून्य है उसे समझाने के लिये कहते हैं कि 'जो यह वर्णादिमान् जीव
है वह ज्ञानमय है न कि वर्णादिमय' इन वर्णादिमय शरीर के निमित्त की प्रसिद्धि से जीव
में 'यह वर्णादिमान् है' ऐसा व्यवहार होता है ॥६७॥

इसी का कलशकाव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—'घी का घड़ा है' ऐसा कहने पर भी वह घड़ा घीमय नहीं है—
मिट्टीमय ही है । इसी प्रकार 'जीव वर्णादिमान् है' ऐसा जीव को कहने पर भी 'वह जीव-
चैतन्यस्वरूप है वर्णादिमय नहीं है' ऐसा समझना ॥४०॥

भावार्थ—जैसे घड़ा घी से निर्मित नहीं है मात्र उसमें घी भर देने से वह घी का
कहलाता है वैसे ही जीव वर्णादिमय पुद्गल से निर्मित नहीं है यह शरीर ही निर्मित है
फिर भी उसमें बूध और पानी के सदृश एकमेक होकर रहने से वर्णादिमय कहलाता है
वास्तव में वह ज्ञानदर्शनमय ही है ।

उत्थानिका—आगे सिद्धांत ग्रंथों में पर्याप्त-अपर्याप्त, बादर-सूक्ष्म आदि जीव
कहे गये हैं वह कैसे घटेगा ? ऐसा पूर्वपक्ष रखने पर आचार्य समाधान देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो पर्याप्त-अपर्याप्त जीव कहे गये हैं और जो सूक्ष्म बादर जीव
कहे गये हैं वे सब पर्याप्त अपर्याप्त आदि देह को देखकर ही कहे गये हैं । पर्याप्त-अपर्याप्त,

आर्या (मात्रिक) छन्द—यथा घृत कुम्भ नामहि, कुम्भ घृत रूप कभी न हो सकता ।

तथा वर्णादि आत्मा, वर्णादिकमय न हो सकता ॥४०॥

पर्याप्तापर्याप्तिदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तिबादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता । वव, सूत्रे परमागमे । कस्मात्, व्यवहार-
दिति नास्ति दोषः । एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं
न भवन्तीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतं ॥७२॥

एतदपि स्थितमेव यद्वागादयो भावा न जीवा इति;—

(७३ ज०) मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।

ते कह हवन्ति जीवा जे णिच्चमचेदणा उता ॥६८ अ०॥

मोहनकर्मण उदयात् वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।

तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्मुक्तानि ॥६८॥

बादर-सूक्ष्म आदि से विलक्षण, परम चैतन्य ज्योति लक्षण जो शुद्धात्मा का स्वरूप है, उससे भिन्न जो देह है उस देह को ही 'जीव' इस नाम से कहा गया है । कहाँ ऐसा कहा है ? परमागम सूत्र में ही ऐसा कहा है । किस अपेक्षा से ? व्यवहारनय की अपेक्षा से ऐसा कहा है इसमें कोई दोष नहीं है । इस प्रकार से जीवसमास स्थान और जीवसमास के आश्रित वर्णादि ये सब निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं इस कथनरूप से तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥७२॥

उत्थानिका—अब यह बात सिद्ध हो गई कि जंसे वर्णादि जीव नहीं हैं वैसे ही रागादि भाव भी जीव नहीं हैं इसी बात को दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(यानि इमानि गुणस्थानानि मोहनकर्मणः उदयात् तु) जो ये गुणस्थान हैं वे मोहनीय कर्म के उदय से ही (वर्णितानि) कहे गये हैं । (तानि जीवाः कथं भवन्ति) वे पुनः जीव कैसे हो सकते हैं ? (यानि नित्यं अचेतनानि उक्तानि) क्योंकि ये नित्य ही अचेतन कहे गये हैं ।

(७३ ज०) गुणस्थान आदि जो आगम में बखाने । वे मोहकर्म के उदयादिक से माने ॥

वे नित्य ही अचेतन माने गये हैं । फिर जीव कैसे भला वे ही हुए हैं ॥६८अ०॥

आत्मख्यातिः—मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः । गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चेतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यं । एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातं । ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धं । तर्हि को जीव इति चेत् ।

अनुष्टुप्—अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं ।

जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

आत्मख्याति—जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं वे पौद्गलिक मोहनीय कर्म प्रकृति के उदय पूर्वक होने से नित्य ही अचेतन हैं क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं जैसे कि जौपूर्वक हुये जौ, जौ ही हैं—अर्थात् यव के बीज से यव ही होते हैं, इस न्याय से ये गुणस्थान रूप परिणाम पुद्गल ही हैं न कि जीव, और गुणस्थान नित्य अचेतन ही हैं यह आगम से सिद्ध है क्योंकि चैतन्य स्वभाव से व्याप्त जो आत्मा, उससे भिन्न रूप से भेदज्ञानियों को स्वयं उपलब्ध हो रही है । इस हेतु से इन्हें अचेतन सिद्ध करना चाहिये । इसी प्रकार से राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय-आलस्य, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्द्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धि स्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होने से नित्य ही अचेतन हैं इसलिये ये सब पुद्गल ही हैं न कि जीव, यह बात स्वयं सिद्ध हो गई अतएव रागादि भाव जीव नहीं है यह सिद्ध हो गया ॥६८॥

प्रश्न—तो पुनः जीव कौन है ?

उत्तर—सो ही कलश काव्य द्वारा आचार्य कहते हैं सुनो—

काव्यार्थ—जो अनादि है, अनंत है, अचल है, अपने द्वारा आप अनुभव में आने से स्वसंवेद्य है और स्फुट—प्रगट है—व्यक्त है, ऐसा यह जीव स्वयं चैतन्यस्वरूप है अतः सर्वोत्कृष्टरूप से शोभायमान हो रहा है ॥४१॥

आर्या (मात्रिक) छन्द—अनादि अनन्त निश्चल, जो स्वानुभव प्रकट चेतन स्वरूप ।

जीव स्वयं दीपकवत् प्रकाशमान अतिशय स्वरूप ॥४१॥

शार्दूलविक्रीडितः—वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।

नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा ।

व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यतां ॥४२॥

भावार्थ—यह जीव पुद्गलादि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखने से स्वतः सिद्ध है क्योंकि चैतन्य के अतिरिक्त यह अन्यरूप से उपलब्ध हो नहीं होता है । यह सर्वद्रव्यों में श्रेष्ठ होने से चकचकायमान—देदीप्यमान होता रहता है । कदाचित्—किसी काल में इसकी उत्पत्ति न होने से यह अनादि है, कभी भी इसका अन्त संभव नहीं अतः यह अनन्त है, विनाश रहित होने से अचल है । मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि 'अहंप्रत्यय' से स्वयं अनुभव में आने से स्वसंवेद्य है । धर्मादि द्रव्य अचेतन होने से अस्फुट—अव्यक्त हैं मात्र यह जीव द्रव्य चैतन्य स्वभाव होने से व्यक्त है ऐसा समझना ।

काव्यार्थ—अजीव दो प्रकार के हैं—वर्णादि से सहित और वर्णादि से रहित । इसलिये अमूर्तिक गुण का आश्रय लेकर भी जीव के वास्तविक स्वरूप को जगत्—संसारी जीव नहीं देख सकते हैं—नहीं जान सकते हैं । इस प्रकार परीक्षा करके—विचार करके भेदज्ञानियों को चैतन्यस्वरूप जीव का अवलंबन लेना चाहिये । यह चैतन्य लक्षण व्यक्त है, अचल है और जीवतत्त्व को—जीव के वास्तविकस्वरूप को प्रगट करने वाला है । यह जीव अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से रहित, समुचित—असंभवि दोष से रहित चैतन्यलक्षणवाला है । हे भेदज्ञानियों ! ऐसे जीव का ही आप आलंबन लेवो ॥४२॥

भावार्थ—जीव का चैतन्य लक्षण ऐसा है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवी इन तीनों दोषों से रहित है । यदि जीव का अमूर्तिक लक्षण कर दें तो यह लक्षण धर्म, अधर्म, आकाश और काल इनमें चला जाता है किन्तु चैतन्यलक्षण एक ऐसा लक्षण है जो अन्य द्रव्यों में नहीं पाया जाने वाला असाधारण लक्षण है इस लक्षण के द्वारा ही जीव के सत्यस्वरूप को समझकर उसकी उपासना करो ।

नरेन्द्र (जोगीरासा), छन्द (मात्रिक)—

रूप रसादिक सहित सुविरहित, द्विविध अजीव कहे हैं ।

अमूर्तित्व गुण को निज में ही, व्यर्थहि ध्यान करे हैं ॥

अतः विवेचन कर मुह ने इक, चेतन जीव कहे हैं ।

सर्व दोष से रहित प्रकट निज, चेतन अचल रहे हैं ॥४२॥

वसंततिलकाः—जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोनुभवति स्वयमुल्लसतं ।

अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोयं मोहस्तु तत्कथमहो ब्रत नानटीति ॥४३॥

वसंततिलकाः—अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।

रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

काव्यार्थ—इस प्रकार जीव से—चैतन्यलक्षण जीव से लक्षण भेद होने से अजीव द्रव्य भिन्न है । स्वयं शोभायमान ऐसे जीव का ज्ञानीजन अनुभव करते हैं तो भी अज्ञानी जनों का यह वृद्धिगंत हुआ अमर्यादित मोह कैसा नृत्य कर रहा है ? अहो ! आश्चर्य की बात है । अथवा अहो ! बड़े खेद की बात है ॥४३॥

काव्यार्थ—इस अनादिकालीन, महान-विशाल अविवेकरूपी नाट्यशाला में यह वर्णादिमान पुद्गल ही नृत्य कर रहा है न कि अन्य कोई, क्योंकि रागादि जो पुद्गल के विकार हैं उनसे विरुद्ध शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्तिस्वरूप यह जीव है ॥४४॥

भावार्थ—इस संसार में अनादिकाल से जो जीव के नाना स्वांग दिख रहे हैं कभी नर, कभी नारकी, कभी तिर्यंच, कभी देव आदि ये सब पुद्गल की पर्यायें हैं अतः यह समझना कि यह सब वर्णादि वाला पुद्गल द्रव्य ही अपने स्वांग दिखा रहा है । वास्तव में

नरेन्द्र (जोगीरासा) छन्द (मात्रिक)—

जीव-अजीव स्व लक्षण से है, भिन्न-भिन्न तुम जानो ।

ज्ञानी जन ही स्वयं हि अनुभव, करते निश्चित मानो ॥

अज्ञानी जन मोह बुद्धि से, अतिशय नृत्य करे हैं ।

खेद अहो आश्चर्य जभी यह, भव भव में हि अमे हैं ॥४३॥

नरेन्द्र (जोगीरासा) छन्द (मात्रिक)—

इस घट में जो अनादि विशाल, अज्ञ नाट्य शाला है ।

वर्णादिक पुद्गल कर नृत्य न और कछू दिखता है ॥

रागादिक पुद्गल विकार से, भिन्न विरुद्ध दशा है ।

अह चैतन्य स्वरूप मूर्ति सो, ऐसा जीव जुदा है ॥४४॥

संवाक्रांता—

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं^१ नाटयित्वा जीवाजीवी स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।

विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

इति जीवाजीवी पृथग्भूत्वा निष्क्रांती ॥६८॥

चैतन्य धातु से बना हुआ यह जीव ज्ञान वर्शनमय है अतः वह रागादि विकार भावों से रहित है । ये रागादि भाव पुद्गल कर्म के निमित्त से हुये हैं । अतः पुद्गल के ही विकार हैं । यह सर्वकथन शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से ही है क्योंकि जीव के साथ संयोग किये बिना अकेला पुद्गल विचारा नर, नारकादि पर्यायों को भला कैसे धारण कर सकेगा ? अतः नय की अपेक्षा से ही जीव के रागादि भाव भी जीव से भिन्न हैं पुद्गल के विकार हैं ऐसा समझना ।

काव्यार्थ—इस प्रकार ज्ञानरूपी करवत—आरे को बार-बार चलानेरूप प्रयोग से जीव और अजीव दोनों जब तक स्पष्टनया पृथक् न हो जायें तब तक यह ज्ञाताद्रव्य-आत्मा समस्त विश्व-सम्पूर्ण पदार्थों को व्याप्त करके-ज्ञान करके, तथा प्रगटरूप से विकसित हुई चैतन्यमात्र शक्ति से अपने आप वेग के अतिशय से प्रगट होकर प्रकाशमान होता रहता है ॥४५॥

इस प्रकार जीव और अजीव दोनों पृथक्-पृथक् होकर निकल गये ।

विशेषार्थ—यहाँ गाथा ६८ में श्रीकुंदकुंददेव ने मोहनीय कर्म के निमित्त से होने वाले गुणस्थानरूप परिणामों को भी अचेतन कह दिया है । विचार करके देखा जाये तो तेरहवें गुणस्थान में अहंतकेवली हैं अथवा ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म सर्वथा उप-शांत हो चुका है अतः यहाँ भी मोहनीय कर्म का उदय नहीं है । मतलब ११वें से १४वें गुणस्थान तक मोहनीय कर्म का उदय न होते हुये भी योग के निमित्त से या अन्य कर्मों के उदय से गुणस्थान संजाये हैं । ये सभी गुणस्थानरूप परिणाम सर्वथा अचेतन नहीं हैं कथंचित्—शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से ही अचेतन हैं अशुद्धनिश्चयनय से चेतन ही हैं

नरेन्द्र (जोगीरासा) छन्द (मात्रिक)—

ऐसा ज्ञान करोत क्रिया से, विश्व ! समान पृथक् कर ।

जब तक जीव अजीव स्पष्ट से शीघ्र नहीं विघटन कर ॥

तब तक अतिशय विकसित, व्यक्त हि चेतन शक्ति कही जो ।

विश्व व्याप्त कर ज्ञाता द्रव्यहि, जीव प्रकाशित है वो ॥४५॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यामात्मख्याती

जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ॥१॥

क्योंकि संसार में अर्हत भगवान् तक भी सभी जीव इन गुणस्थानरूप ही हैं मात्र एक सिद्ध परमात्मा ही गुणस्थान से परे हैं । तात्पर्य यह निकला कि चतुर्थगुणस्थान से छठे गुणस्थान तक जीव श्रद्धा से ही अपने को गुणस्थान से परे सिद्ध शुद्ध भगवान् समझते हैं । आगे निर्विकल्पध्यानी मुनि शुद्धोपयोग में स्थिर होकर आत्मा को गुणस्थान भावों से रहित शुद्ध अनुभव करते हैं पुनः दशवें गुणस्थान में पहुँचकर मोह को सर्वथा नष्ट कर, बारहवें में पहुँचकर शेष घातिया कर्मों को नष्ट कर केवली हो जाते हैं अनंतर सर्व अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर गुणस्थानातीत सिद्ध हो जाते हैं अतः स्वभाव दृष्टि से आत्मा को शुद्ध-गुणस्थानातीत समझकर व्यवहारनय के आश्रित चारित्र्य को धारण कर आत्मा को शुद्ध करने का पुरुषार्थ करना चाहिये । निश्चयाभासी बनकर आजकल के एक नये सम्प्रदाय के अनुसार आत्मा को शुद्ध कहते हुये त्याग और त्यागी वर्ग से अरुचि नहीं करनी चाहिये ।

इस प्रकार श्रीअमृतचंद्रसूरि विरचित आत्मख्याति टीका नाम से इस समयसार की व्याख्या में जीव और अजीव की प्ररूपणा करने वाला यह पहला अंक पूर्ण हुआ ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित 'समयसार' प्राभृत

ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति के रहस्य

को प्रकाशित करने वाली आर्यिका ज्ञानमती

द्वारा रचित इस 'ज्ञानज्योति' भाषा

टीका में यह जीवाजीवाधिकार

नाम का पहला अधिकार

पूर्ण हुआ ।

(उत्थानिका)—अथ न केवलं बहिरंगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति अभ्यन्तरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोपि न भवन्तीति स्थितं ।

तात्पर्यवृत्तिः—मोहणकम्मस्सुखया दु बणिण्णा जे इमे गुणट्ठाणा निर्मोहपरम-
चैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकंदलीकंदायमानसंतानागतमोहकर्मोदया-
त्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि गुणस्थानानि । तथा चोक्तं “गुणसण्णा सा प
मोहजोगभवा” ते कह हवन्ति जीवा तानि कथं भवन्ति जीवा न कथमपि । कथंभूतानि, ते
णिश्चयमचेदणा उक्ता यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालम-
चेतनानि । अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मपिक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा
निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहार-
नयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं । एवमभ्यन्तरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं

उत्थानिका—अब केवल बहिरंग में वर्णादि शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं
इतना ही नहीं किन्तु अभ्यन्तर में मिथ्यात्व आदि गुणस्थानरूप रागादि भाव भी शुद्ध-
निश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं यह बात सिद्ध हुई, इसे ही कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—निर्मोह परमचैतन्य प्रकाश लक्षण जो परमात्मतत्त्व है उसके प्रतिपक्ष-
भूत अनादि अविद्या कंदली-केले के कंद-जड़स्वरूप संतान से प्राप्त हुये मोहनीय कर्म के उदय
से होने वाले गुणस्थान कहे गये हैं । कहा भी है—जो गुणस्थान संज्ञा है वह मोह और
योग के निमित्त से होती है । पुनः ये गुणस्थान ‘जीव’ कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् किसी भी
प्रकार से नहीं हो सकते । ये कैसे हैं ? यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से ये चेतन हैं फिर भी शुद्ध-
निश्चयनय से नित्य ही सदाकाल ये अचेतन ही हैं ।

यह अशुद्धनिश्चयनय वास्तव में यद्यपि ‘द्रव्यकर्म की अपेक्षा से अभ्यन्तर में रागादि
भाव चेतन हैं’ ऐसा मानकर ‘निश्चय’ इस नाम को प्राप्त कर लेता है फिर भी शुद्ध-
निश्चयनय की अपेक्षा से यह ‘व्यवहार’ ही है । इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और
व्यवहारनय के विचार के समय सर्वत्र जानना चाहिये ।

न भवन्ति तथा रागादयोपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयांतराधिकारो व्याख्यातः ॥७३॥

(उपसंहारः)—ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं । तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं । तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यानमेव । यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तं । अथवा भावनाग्रंथे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रंथवद्वागिराणां शृङ्गारकथावद्वा पुनरुक्तदोषो नास्ति । अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता । विवक्षितो मुख्य

इसी प्रकार से जैसे अभ्यंतर में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं वैसे ही रागादिभाव भी शुद्धजीव के स्वरूप नहीं हैं । ऐसे कथनरूप से आठ गाथायें पूर्ण हुईं । इस तरह आठ गाथाओं द्वारा यह तीसरा अंतराधिकार कहा गया है ॥७३॥

उपसंहार—शंका—ये रागादिभाव जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जीवाधिकार में कहा था पुनः इस अजीव अधिकार में भी उसी को कहा है अतः यह पुनरुक्त नाम का दोष हो गया ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि विस्तार से समझने की रुचिवाले शिष्यों के प्रति नव अधिकारों से यह 'समयसार' ही कहा गया है न कि पुनः अन्य कुछ । यह प्रतिज्ञा वचन है । वहाँ पर भी—जीवाधिकार में भी समयसार का व्याख्यान है और यहाँ पर—अजीवाधिकार में भी समयसार का ही व्याख्यान है । यदि पुनः समयसार को छोड़कर अन्य कुछ कहा जावे तब प्रतिज्ञाभंग हो जावे, इसलिये पुनरुक्त दोष नहीं है । अथवा समाधिशतक, परमात्म प्रकाश आदि ग्रन्थों के समान इस भावना ग्रन्थ में पुनरुक्त दोष नहीं है । जैसे कि रागियों को शृंगार की कथा बार-बार सुनते हुये भी पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है । अथवा वहाँ जीव की मुख्यता थी यहाँ अजीव की मुख्यता है क्योंकि जहाँ जिसकी विवक्षा होती है वहाँ वह मुख्य हो जाता है ऐसा वचन है । अथवा वहाँ सामान्य से कथन था यहाँ विस्तार से कथन है । अथवा 'वहाँ रागादि से भिन्न जीव है'

इति वचनात् । अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेध-मुख्यतया व्याख्यानं । किंत्, एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहार-पंचकं ज्ञातव्यं । एवं जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्यवहारेणकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गारसहितपात्रवस्थूयभूत्वा सिष्क्रोताविति ।

इस तरह विधि मुख्यता से व्याख्यान था और यहाँ 'रागादि भाव जीव के स्वरूप नहीं हैं' ऐसा निषेध की मुख्यता से व्याख्यान है ।

प्रश्न—किसके समान ?

उत्तर—जैसे कि एकत्व अनुप्रेक्षा और अन्यत्व अनुप्रेक्षा को कहने में विधि और निषेधरूप व्याख्यान—कथन की अपेक्षा है । इस तरह पाँच प्रकार से उपर्युक्त शंका का समाधान किया गया है । ऐसा जानना चाहिये ।

इस प्रकार जीव और अजीव ने इस जीवाजीवाधिकार नामक रंगभूमि में शृङ्गार-सहित पात्र के समान व्यवहारनय से एक रूप होकर प्रवेश किया था अब निश्चयनय से शृङ्गाररहित पात्र के समान ये दोनों पृथक्-पृथक् होकर निकल गये ।

विशेषार्थ—यहाँ गुणस्थानरूप परिणाम और रागादिभाव ये सब अचेतन कहे गये हैं । इसी विषय को श्रीजयसेनाचार्य ने बहुत ही सरल और स्पष्ट शब्दों में समझा दिया है कि शुद्धनिश्चयनय से ये जीव के स्वरूप नहीं हैं अतएव जीव के नहीं हैं । वास्तव में शुद्ध-निश्चयनय की अपेक्षा से तो न संसार है न मोक्ष पुनः गुणस्थान व्यवस्था भला कहाँ से घटेगी ? यद्यपि यह निश्चित है कि इन गुणस्थानों का उपादान आत्मा ही है न कि पुद्गल । फिर भी पुद्गलमय द्रव्यकर्मों के उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षय आदि की अपेक्षा से ही इनका निर्माण होता है ये जीव के—चेतन आत्मा के ही बिकार हैं ऐसा निश्चित है अतः ये जीव के ही हैं, किन्तु शुद्धनय से तो सभी जीव शुद्ध ही हैं जैसा कि अन्यत्र ग्रन्थों में भी कहा है यथा—

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्य-
वृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः ॥

मग्नगुणठारोहिं यच्च उदसहिं हवन्ति तद् असुद्धणया ।

विष्णवेया संसारी 'सध्वे सुद्धा ह सुद्धणया ॥'

अशुद्धनय से चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानों से ये जीव संसारी हैं किन्तु शुद्धनय से सभी जीव शुद्ध ही हैं ।

अतएव यहाँ द्रव्यकर्मोदय के निमित्त से हुये रागादि नैमित्तिक भावों को अचेतन-पौद्गलिक कहा गया है ।

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है कि आपने जीवाधिकार में कहा था कि ये रागादि भाव जीव के स्वरूप नहीं हैं पुनः यहाँ अजीवाधिकार में यही बात कह दी अतः पुनरुक्त दोष आ गया । इस पर आचार्य ने कहा है कि पहले हमने यह प्रतिज्ञा की थी कि यहाँ तक जो बात कही गई है उसे ही विस्तार रचि वाले शिष्यों के लिये नव अधिकारों में कहेंगे । इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ भी समयसार का ही व्याख्यान था और यहाँ भी समयसार का ही व्याख्यान है । हाँ, वहाँ संक्षेप से था और यहाँ विस्तार से किया है आगे भी इसी का ही तो विस्तार रहेगा इसलिये यदि समयसार के अतिरिक्त और कुछ कहते तो प्रतिज्ञाभंग दोष हो जाता है किन्तु कथन एक ही है । दूसरी बात भावना-ग्रंथ और स्तुति के प्रसंग में वही विषय बार-बार आने पर भी पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है ।

इस प्रकार श्रीजयसेनाचार्य के द्वारा रचित शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण वाली इस 'तात्पर्यवृत्ति' नाम की समयसार की व्याख्या में तीन स्थलों के समुदाय से तीस गाथाओं द्वारा यह अजीवाधिकार नाम का दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

श्रीवसुतचंद्रसूरि ने जीवाजीवाधिकार नाम से यह पहला अधिकार पूर्ण किया है किन्तु श्रीजयसेनाचार्य ने पहले जीवाधिकार पूर्ण करके अब इसे अजीवाधिकार नाम से दूसरा अधिकार कहा है ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित 'समयसार' प्राभूत ग्रंथ में
 श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेना-
 चार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित
 करने वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत इस
 'ज्ञानज्योति' नामा भाषा
 टीका में जीवाजीवाधिकार
 नामा यह पहला
 अधिकार पूर्ण
 हुआ ।

जीवाजीवाधिकार का सारांश

श्री कुंदकुंददेव ने प्रथम ही गाथा में "वंचित्तु सव्यसिद्धे" पद से सिद्धों की वंदना करके 'समयसार' जिसको 'समयपाहुड़' पद से कहा है उसे कहने की प्रतिज्ञा की । इसकी 'आत्मख्याति' टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने सिद्धों के विषय में कहा है कि "सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिष्ठुं दस्थानीयान्" सिद्धपने से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिकृतिसदृश सर्व सिद्धों को...। पुनः यह कहा है कि यह 'समयसार' केवली भगवान् के द्वारा प्रणीत है और 'श्रुतकेवलिभिः' "स्वमनुभवद्विरभिहितत्वेन" स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवली द्वारा कथित कहा है । इसका अर्थ यह हो जाता है कि 'समयसार' स्वरूप शुद्धात्मा का अनुभव श्रुतकेवलियों को ही होता है क्योंकि "शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः" आदि के दो शुवलध्यान पूर्वविद्—श्रुतकेवली के ही माने हैं ।

आगे द्वितीय गाथा में आचार्यदेव ने स्वसमय और परसमय की व्याख्या की है जिसमें 'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठउ' ससमयं, दर्शन ज्ञान चारित्र में स्थित जीव—आत्मा ही स्वसमय है । इससे स्पष्ट है कि अविरती या देशवती कथमपि स्वसमय नहीं हो सकते हैं । उनके दर्शन ज्ञान या दर्शन ज्ञान तथा एकदेश चारित्र है । मुनि ही इस रत्नत्रय में स्थित हैं । वे भी अभेदरत्नत्रय की अवस्था में ही स्थित माने जा सकते हैं । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी कहा है कि—“दृशिज्ञप्तिस्वभावनिपतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते

तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्ज्ञानं गच्छंश्च स्वसमय इति ।” इसमें जो ‘स्वभावनिघतवृत्ति’ है वह निश्चयचारित्र या परमोपेक्षालक्षण चारित्र ही है जो कि अभेदरत्नत्रय में संभव है । इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में कह दिया है कि “निश्चलानुसूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तसंक्षेपेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थ हे शिष्य स्वसमयं जानीहि ।”

इन उपर्युक्त पंक्तियों से आप स्पष्ट समझिये कि जो श्रीकुंदकुंददेव का अभिप्राय है वही श्रीअमृतचंद्रसूरि का अभिप्राय है और वही श्रीजयसेनाचार्य का अभिमत है आज जो लोग श्रीजयसेनाचार्य की टीका से अरुचि करके श्रीअमृतचंद्रसूरि की टीका से हर विषय को चतुर्यगुणस्थान में घटाना चाहते हैं उन्हें निष्पक्ष होकर—पंथ दुराग्रह छोड़कर पंक्तियों का अर्थ करना चाहिये, अस्तु ।

तीसरी गाथा में आचार्यदेव ने समय के एकत्व को कहने की प्रतिज्ञा की है अर्थात् मैं इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से स्वसमय या शुद्धात्मा का ही वर्णन करूँगा । सो ही देखिये—“जीवाह्यस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः ।” जीव नाम के समय में बंध की कथा से ही विसंवाद की आपत्ति आती है अर्थात् दो में ही बंध होता है और बंध के संयोग से ही झगड़ा या अशांति होती है । इसी विषय में स्पष्ट शब्द देखिये—श्रीजयसेनाचार्य के—स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः समय-शब्देनात्मा । अपनी शुद्ध गुण पर्यायों से परिणत आत्मा-सिद्ध भगवान् ही स्वसमय हैं अथवा अभेदरत्नत्रय से परिणत शुद्धोपयोगी मुनि भी स्वसमय हैं । शुद्धनिश्चयनय से यह शुद्ध अवस्था एकद्विष आदि सभी जीवों की है अतः शुद्ध निश्चयनय से बंध की कथा जीव का स्वरूप न होने से ‘विसंवादिनी’ असत्य है ।

आगे चौथी गाथा में कहा है कि ऐसे एकत्वस्वरूप आत्मा की उपलब्धि सुलभ नहीं है ।

इन सभी गाथाओं की टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि की कुछ-कुछ पंक्तियाँ बहुत ही महत्त्व की हैं । जैसे कि “स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च ।” स्वयं आत्मा का ज्ञान नहीं और जो अन्य आत्मज्ञानी मुनिगण हैं उनको उपासना नहीं की अतः यह आत्मा का एकत्व दुर्लभ रहा है ।

पाँचवीं गाथा में आचार्यदेव ने एकत्वविभक्त स्वरूप आत्मा को कहने की प्रतिज्ञा की है और कहा है कि यदि मैं चूक जाऊं तो दोषग्राही नहीं बनना । इसमें जो स्वविभव पद है उसके विषय में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि आगमज्ञान, न्यायग्रंथों का ज्ञान अर्थात् युक्ति—तर्क ज्ञान, पर-अपर गुरु का प्रसाद और स्वयं का अनुभव । इससे यह स्पष्ट है कि सिद्धांत, न्याय आदि सर्वांगीण चारों अनुयोगों के तलस्पर्शी ज्ञान के बिना व गुरु परंपरा से ज्ञान प्राप्त किये बिना किसी को ग्रंथरचना करने का, ग्रंथों की टीका आदि करने का अथवा ग्रंथों को पढ़ाने या अर्थ समझाने या उपदेश करने का अधिकार नहीं है । यदि अनधिकारी चेष्टा करते हैं तो वे शास्त्र को शस्त्र बना देते हैं जैसा कि आजकल देखने में आ रहा है ।

आगे श्रीअमृतचंद्रसूरि ने प्रश्न किया कि—“वह शुद्ध आत्मा कौन है ?” तब आचार्यदेव ने कहा कि—“जो न प्रमत्त है न अप्रमत्त है या न ज्ञायक भावरूप है वो ही शुद्ध है ।” अब यहाँ समझना यह है कि ये ‘प्रमत्त और अप्रमत्त’ नाम के छठे और सातवें दो गुणस्थान हैं जो कि मुनियों के ही होते हैं । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि जो स्वभाव से—शुद्ध निश्चयनय से शुभ अशुभ भावों से परिणत नहीं होती है वही आत्मा शुद्ध है । श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि प्रमत्त शब्द से छठे गुणस्थान तक सभी ले लेना—पहले से छठे तक, पुनः अप्रमत्त शब्द से सातवें गुणस्थान से चौदहवें तक आठों गुणस्थान ले लेना । शुद्ध द्रव्याधिकनय से यह आत्मा इन गुणस्थानों से परे मात्र एक ज्ञायक भाव ही है ।

पुनः श्रीअमृतचंद्रसूरि ने सातवीं गाथा की उत्थानिका में कहा है कि “दर्शन ज्ञान चारित्ररूप से भी इस आत्मा में अशुद्धपना है । यहाँ विचार करके देखा जाये तो सिद्धों के अनंत गुणों में दर्शन ज्ञान चारित्र गुण हैं फिर भी आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा के दर्शन ज्ञानादि हैं यह व्यवहारनय से कहा जाता है वास्तव में ज्ञानी के ये कुछ नहीं हैं वह मात्र एक ज्ञायक ही है । अब यहाँ व्यवहारनय को आप झूठा नहीं कह सकते यह भेद करने वाला व्यवहारनय है । अभेदग्राही निश्चयनय से या शुद्धनिश्चयनय से सिद्धों में या शुद्ध आत्मा में यह ज्ञायक भाव ही है चंतन्य भाव ही है । पुनः यह प्रश्न होता है कि ‘तब तो परमार्थ का ही उपदेश देना चाहिये’ इन भेद रूप ‘दर्शन ज्ञान चारित्र’ का भी उपदेश क्यों ? तब आचार्यदेव ने आठवीं गाथा में कहा कि अनार्य को अनार्य भाषा में ही समझाना पड़ता है वैसे ही व्यवहार से ही व्यवहारी जनों को—तीन गुणों से परमार्थ का उपदेश

देना पड़ता है। आगे व्यवहार परमार्थ को कहने वाला है ऐसा कहते हुये दो गाथाओं से कहा है कि जो श्रुतज्ञान से आत्मा को जानते हैं वे श्रुतकेवली हैं यह निश्चयनय का कथन है—परमार्थ है। तथा जो संपूर्ण श्रुत को जानते हैं वे व्यवहार श्रुतकेवली हैं। श्रीजयसेना-चार्य ने इसे खोला है कि शुक्लध्यानी मुनि ही निश्चय श्रुतकेवली हैं वे ही केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं—अनुभवते हैं तथा ग्यारह अंग चौदह पूर्वधारी व्यवहार श्रुतकेवली हैं निष्कर्ष यह निकाला है कि पहले व्यवहार श्रुतकेवली होते हैं पुनः निश्चय श्रुतकेवली। दूसरी बात, आज व्यवहार और निश्चय दोनों श्रुतकेवली नहीं हैं। वर्तमान में योग्य—अपने छठे—सातवें गुणस्थान के योग्य धर्मध्यानी मुनि हैं ही हैं।

पुनः ११ वीं १२ वीं गाथा में आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भावना करनी चाहिये। पुनः ये तीनों आत्मा ही हैं अतः आत्मा की भावना करना चाहिये। जो मुनि नित्य ही आत्मा की भावना करते हैं “मुणी समाचरन्ति।” वे संपूर्ण दुःखों से मुक्ति पा लेते हैं। ये दोनों गाथायें श्रीजयसेनाचार्य ने ली हैं एवं इन्हें श्रीकुंदकुंददेव रचित ही कही हैं किन्तु अमृतचंद्रसूरि ने इन्हें नहीं लिया है अतः इनकी आत्मख्याति टीका नहीं है। अब यहीं से इन दोनों टीकाकारों की गाथाओं में अंतर हो गया है।

आगे जिस गाथा को लेकर निश्चयाभासी, एकांतदुराग्रही व्यवहारनय की झूठा कह रहे हैं वह गाथा आज बहुचर्चित बनी हुई है। उसे देखिये—

“व्यवहारनय अभूतार्थ और निश्चयनय भूतार्थ है तथा भूतार्थ का आश्रय लेने वाले सम्यग्दृष्टि हैं।”

इस गाथा की टीका को और आगे-पीछे के संदर्भ को न देखने वाले ही अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। विशेष विस्तार तो आप यथास्थान—उसी टीका को पढ़कर देखेंगे यहाँ संक्षेप में देखिये—“प्रत्यगात्मदर्शिव्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। अथ च केषांचित् कदाचित् सोऽपि प्रयोजनवान्।” आत्मा और शरीर को भिन्न देखने वालों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिये। पुनः वह भी किन्हीं को कदाचित् प्रयोजनीभूत है ऐसा कहकर आगे की गाथा देते हैं—

इसकी गाथा ११ अ० १३ ज० में टीका करते समय श्रीजयसेनाचार्य ने इस गाथा का दूसरा अर्थ करते हुये व्यवहारनय के भूतार्थ और अभूतार्थ ऐसे दो भेद कहे हैं

वैसे ही शुद्धनय के भी भूतार्थ-अभूतार्थ अर्थात् शुद्धनिश्चयनय एवं अशुद्धनिश्चयनय दो भेद कह रहे हैं। ये इन आचार्यों की कल्पना नहीं प्रत्युत आगे-पीछे के संदर्भ से श्रीकुंदकुंद-देव के एवं श्रीअमृतचंद्रसूरि के अभिप्रायानुसार ही है। जैसे कि गाथा ७ अ० में स्वयं आचार्यदेव ने कहा है कि—“व्यवहारनय से ही ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं, पुनः अर्थापत्ति से यह लेना कि निश्चयनय से ये तीनों नहीं हैं मात्र जायक शुद्ध है।” यहाँ व्यवहारनय औषाधिक भावग्राही—अभूतार्थ नहीं है प्रत्युत भेदग्राही भूतार्थ व्यवहार है। पुनः आगे स्वयं आचार्यदेव कहते हैं कि “परमभावदर्शियों को शुद्धनय जातव्य है एवं जो अपरमभाव में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है।” इसकी टीका में श्री-अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि एक दो ताक आदि से पंद्रह ताक तक शुद्ध होने वाले सुवर्ण के सदृश उसी काल में प्रयोजनीभूत है क्योंकि “तीर्थतीर्थफलयोरिस्थमेव व्यवस्थितत्वात्” इत्यादि, जिससे यह स्पष्ट है कि तीर्थ की और तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है आगे कलश में भी कहा है कि पहली पदवी में पैर रखने वालों के लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है। यह तीर्थ और तीर्थ का फल तथा प्रारम्भिक सीढ़ी किस गुणस्थान से कहाँ तक है यही सोचना है। चौथे गुणस्थान से सातवें तक व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है ऐसा श्री-जयसेनाचार्य ने कहा है। श्रीअमृतचंद्रसूरि के अभिप्राय से भी तीर्थ की प्रवृत्ति तो चौथे से तेरहवें तक चलती है।

इस पीठिका के बाव आचार्यदेव ने १३ अ०, १५ ज० गाथा में कहते हैं कि “भूतार्थ से जाने गये जीव अजीव आदि नवपदार्थ ही सम्यक्त्व हैं।” यहाँ भूतार्थ—शुद्ध-निश्चयनय से तो नवपदार्थ हो ही नहीं सकते हैं अतः अशुद्धनिश्चयनय ही लेना होगा। दूसरी बात टीका में अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि ये नवपदार्थ अनादिबंधपर्याय की दृष्टि से भूतार्थ हैं पुनः एक जीव के स्वभाव की दृष्टि से अभूतार्थ हैं। इसमें भी अशुद्धनिश्चयनय और शुद्धनिश्चयनय लेना चाहिये। वैसे ही प्रमाण, नय, निक्षेप तथा ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयरूप भेद भी जब तक झलकता है तब तक भूतार्थ हैं आगे मात्र एक जीव के स्वरूप की अपेक्षा से अनुभव करने पर ये सभी अभूतार्थ हैं। यहाँ भी भेदरत्नत्रय में स्थित मुनि के लिये भूतार्थ हैं यह भी अशुद्ध निश्चयनय या भेदग्राही व्यवहारनय की अपेक्षा से लेना है क्योंकि आगे कलश काव्य में भी “उदयति न नयश्रीः” इत्यादि से निर्विकल्प अवस्था में ही इन सबको अभूतार्थ कहा है। आगे भी ऐसी गाथाएँ हैं और टीका में खुलासा है। इससे

यह सिद्ध हुआ कि जो श्रीजयसेनाचार्य ने व्यवहारनय के भूतार्थ-अभूतार्थ और शुद्धनय के अशुद्धनिश्चय एवं शुद्धनिश्चय ऐसे भेद किये हैं वे इस समयसार में श्रीकुंदकुंददेव के एवं श्रीअमृतचंद्रसूरि के अभिप्रायानुसार ही हैं ।

यह ग्रंथ छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों की सातवें आदि में ऊपर ले जाने के लिये निर्विकल्पध्यान की भावना भाने के लिये ही प्रधान है । इसे ही आप देखिये—गाथा १६ अ०, १६ ज०, में कहते हैं—“साहुणा-साधु-मुनि को नित्य ही दर्शन ज्ञान चारित्र का सेवन करना चाहिये पुनः निश्चयनय से ये तीनों आत्मा ही हैं अतः आत्मा की उपासना करनी चाहिये ।” इस पर श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कलश काव्यों में व्यवहार निश्चयरत्नत्रय की लिया है । आगे ग्रंथकार ने उदाहरण बहुत ही सुन्दर दिया है गाथा १७, १८ अ०, २०, २१ ज०, में राजा को जानकर उस पर श्रद्धा करके उसका आश्रय लेता है वैसे ही आत्मा का ज्ञान, श्रद्धा और आचरणरूप रत्नत्रय भेदरत्नत्रय है ।

आगे अज्ञानी की व्याख्या करके २२ अ०; २७ ज०; गाथा तक कहा है । इस अज्ञानी को समझाने के लिये २३, २४, २५ अ०, २८, २९, ३० ज०, में खुलासा किया है । इसके बाद गाथा, २६ अ०, ३१-ज०, में अज्ञानी ने कह दिया कि जब जीव और शरीर एक नहीं हैं तो तीर्थंकर और आचार्यों की स्तुति व्यर्थ ही है इस पर आचार्यश्री कुंदकुंददेव ने गाथा २८ अ०, ३३ ज०, में स्पष्ट कहा है कि ‘मुणी’ मुनिराज, जीव से भिन्न शरीर की स्तुति करके मान लेते हैं कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति की है इसी को पुनः दो गाथा में कह कर तीन गाथाओं में निश्चयस्तुति का वर्णन किया है । इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि व्यवहारस्तुति जब मुनि भी करते हैं और स्वयं कुंदकुंददेव तो क्या गौतम स्वामी ने भी की है तो पुनः चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती तो व्यवहारस्तुति ही करेंगे न कि निश्चय-स्तुति । आगे गाथा ३४ अ०, ३६ ज०, में आचार्यदेव ने ज्ञान को ही प्रत्याख्यान कह दिया है इससे यह समझना कि जब आत्मतत्त्व का ज्ञान हो गया तो पुनः विषयों में प्रवृत्ति होना असंभव है इसके पूर्व का ज्ञान श्रद्धा से सम्बन्धित है प्रत्याख्यानरूप ज्ञान चारित्र से सम्बन्धित है । इसी बात को गाथा ३५ अ०, ४० ज० में खोल दिया है । आगे मोह आदि अज्ञानभाव से एवं धर्मद्रव्य आदि ज्ञेयपदार्थ से सम्बन्ध हटाने की प्रेरणा दी है पुनः “अह-मिवको छलु सुद्धो” गाथा ३८ अ०, ४३ ज०, में तो आत्मा के साथ अणुमात्र भी परद्रव्य का सम्बन्ध नहीं है ऐसी भावना को बृढ़ करते हुये महत्त्वपूर्ण गाथा अवतरित की है इसे हृदय

पटल पर अंकित कर लेना चाहिये । यद्यपि सभी गाथायें अंकित करने योग्य हैं फिर भी यह अधिक स्मरणीय है ।

यहाँ तक श्रीअमृतचंद्रसूरि के अनुसार गाथायें ३८ हैं एवं श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार गाथायें ४३ हैं । श्रीजयसेनाचार्य ने यहाँ तक 'जीवाधिकार' नाम से प्रथम अधिकार पूर्ण कर दिया है किन्तु अमृतचंद्रसूरि ने 'जीवाजीवाधिकार' नाम से एक ही अधिकार रखा है ।

आगे श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार अजीवाधिकार प्रारम्भ होता है ।

इसमें आचार्य श्रीकुंदकुंददेव ने जीव के विषय में विपरीत अभिप्रायरूप आठ मत स्थापित किये हैं पुनः यह कहा है कि सब दुर्बुद्धि हैं ये परमार्थवादी नहीं हैं क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं । पुनः गाथा ४६ अ०, ५१ ज०, में कहते हैं कि व्यवहारनय की अपेक्षा से यह जीव के ही हैं अथवा उनरूप ही जीव है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है । इसकी टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ रखी हैं । सो ही देखिये—“व्यवहारो हि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव ।” व्यवहारनय तीर्थ की प्रवृत्ति का निमित्त है अतः उसका दिखलाना न्यायोचित है । यदि व्यवहारनय को नहीं माने तो शरीर से जीव भिन्न है अतः त्रस स्थावर जीवों को राख के समान मर्दन कर डालेंगे, उन्हें हिंसा का पाप नहीं लगेगा, पुनः कर्मबंध न होने से मोक्ष नाम की कोई वस्तु ही नहीं ठहरेगी । वहीं पर आप उस महत्त्वपूर्ण विषय को पढ़कर यह समझ लेंगे कि अमृतचंद्रसूरि व्यवहारनय का कितना अधिक पक्ष रखते हैं । अनंतर गाथा ४६ अ०, ५४ ज०, है 'अरसमरूवसगंध' यह गाथा जीव के स्वरूप को कहती है श्रीकुंदकुंददेव ने इस गाथा को अपने कई ग्रंथों में लिया है । आगे बताया है कि जीव के वर्ण, गंध आदि से लेकर गुण-स्थान पर्यंत कुछ भी नहीं हैं चूँकि ये पुद्गलद्रव्य के निमित्त से ही बने हैं । यहाँ टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने इन्हें अनुभूति से भिन्न कहा है । इसी को श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं क्योंकि यह भिन्नता का अनुभव शुद्धोपयोगी मुक्ति को ही होता है अतः दोनों आचार्यों के कथन में मतभेद नहीं है । आगे पुनः श्रीकुंदकुंददेव स्वयं व्यवहार निश्चय समन्वयपरक गाथा ५६ अ०, ६१ ज०, को कहते हैं पुनः खुलासा करते हैं कि ये सब वर्णादि से गुणस्थान पर्यंत भाव संसारी जीव के तो हैं किन्तु मुक्त जीव के नहीं हैं । पुनरपि आगे कहते हैं कि ये सभी भाव संसारी जीव के भी तादात्म्यरूप

नहीं हैं प्रत्युत दूध और पानी के समान ही एकमेकरूप से हैं यही कारण है कि ये जीव के स्वभाव या स्वरूप नहीं हैं । इनमें जैसे कुंदकुंददेव की गाथायें कंठाग्र करने योग्य हैं वैसे ही सरल, मधुर व सरस होने से श्रीअमृतचंद्रसूरि के कलश काव्य भी कंठाग्र कर लेने चाहिये । साथ ही श्रीजयसेनाचार्य की टीका को अच्छी तरह मनन करना चाहिये ।

निश्चय प्रमुख गाथायें कौन-कौन सी हैं पुनः व्यवहार प्रमुख गाथायें कौन-कौन सी हैं ? देखिये —

आचार्य श्रीकुंदकुंददेव ने संगलाचरण करके स्वसमय-परसमय का लक्षण किया है अनंतर छठी गाथा तक निश्चयनय प्रमुख व्याख्यान किया है पुनः गाथा ७ अ० से 'ववहा-रेणुवदिस्सदि' से लेकर १० अ० तक कथन किया है । अनंतर ११-१२ अ० गाथा में दोनों नयों को कहकर आगे ११ वीं अ०, १३ वीं गाथा ज० में शुद्धनय को मुख्य करके आगे १२ वीं अ०, १४ वीं ज० में दोनों नयों का समन्वय किया है ।

इसके बाद गाथा १५ से १८ तक शुद्धनय की प्रमुखता है पुनः १९वीं में दोनों नयों का समन्वय करके २०, २१ में उदाहरण दिया है । आगे अप्रतिबुद्ध का लक्षण बतलाकर गाथा २८, २९, ३० अ० में उसे समझाने का प्रयास किया है । पुनः जीव और शरीर को एक मानने वाले द्वारा प्रश्न उठाकर व्यवहारनय से ठीक ही है कहते हुये तीर्थ-करादि की स्तुति को सही बतलाया है (गाथा ३५ तक) । आगे निश्चयनय के आश्रित स्तुति को तीन गाथाओं में ३६, ३७, ३८ अ० में बतलाया है । उसमें 'साधु' शब्द तीनों गाथाओं में है । पुनः ज्ञान और त्याग-चारित्र्य एक साथ होते हैं ऐसा ३९ वीं में कहकर ४० वीं गाथा अ० में उदाहरण दिया है पुनः जीव को मोहादि भावों से एवं ज्ञेयपदार्थ धर्मद्रव्यादि से पृथक् करके 'अहमिक्को खलु सुद्धो' ऐसी ४३ वीं अ० महत्त्वपूर्ण गाथा दी है जिसे प्रत्येक समयसार पाठकों को हृदय पटल पर अंकित कर लेना चाहिये ।

आगे ४४ से ४८ अ० तक जीव के बारे में आठ मान्यतायें रखी हैं पुनः उन्हें पौद्गलिक कहकर जीव को चैतन्यमात्र सिद्ध कहा है । गाथा अ० ५०वीं में अष्ट विध कर्म को भी पौद्गलिक कह दिया है फिर व्यवहारनय की मुख्यता से 'ववहारस्स दरीसण' ऐसी ५१वीं गाथा कही है । यह गाथा टीकासमेत विशेष अभ्यसनीय है । पुनः व्यवहारनय की पुष्टि हेतु उदाहरणरूप में दो गाथायें रखी हैं । आगे शुद्धनिश्चयनय से जीव का लक्षण बताकर जीव के वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यंत कुछ भी नहीं है यह कथन गाथा ६० तक

७ गाथाओं में कहा है पुनः आचार्य श्रीकुंदकुंद ने ही स्वयं गाथा ६१ में कह दिया कि 'ये सब वर्णादि व्यवहारनय से जीव के हैं किन्तु निश्चयनय से नहीं हैं यह उभयनय समन्वयात्मक गाथा समयसार के स्वाध्यायीजनों को विस्मृत नहीं करना चाहिये । अन्यथा द्वादशांग का उपदेश ही व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि द्वादशांग में जीव की इन मिश्रित अवस्था को लेकर ही कथन किया गया है । पुनः ये जीव के क्यों नहीं हैं ? ऐसा निश्चयनय की अपेक्षा गाथा ६२ में कहकर पुनरपि व्यवहारनय की अपेक्षा को दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहा है । आगे गाथा ६६ से ७१ तक यह सिद्ध किया है कि वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य नहीं है यह निश्चयनय प्रधान कथन है । इसके बाद आगे गाथा ७२ में कहते हैं कि ये जीव के हैं ऐसा जो परमात्म में कहा है वह व्यवहारनय से है अतः यह व्यवहारनयप्रधान गाथा है । आगे गाथा ७३ में गुणस्थानरूप आत्मा के परिणामों को भी पौद्गलिक कह दिया है यह निश्चयनय प्रधान गाथा है ।

गाथाओं की संख्या :

श्रीअमृतचंद्रसूरि ने यहाँ तक 'जीवाजीवाधिकार' नाम से पहला अधिकार रखा है । इन्होंने 'अहमिक्को खलु सुद्धो' गाथा तक अड़तीस गाथायें मानी हैं और यहाँ पर 'पूर्वरंगः समाप्तः' कहा है । आगे गाथा ३६ से लेकर 'मोहणकम्मस्सुदया' तक अड़सठ गाथायें मानी हैं । इन ६८ गाथाओं में यह प्रथम अधिकार पूर्ण किया है ।

श्रीजयसेनाचार्य ने "सुद्धो सुद्धादेसो" इस १२वीं गाथा को १४ नम्बर पर लिया है क्योंकि बीच में दो गाथायें और मानी हैं और यहाँ तक पीठिका कहो है । यथा—

'इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता'

पुनः 'भूयत्थेणाभिमदा' से जीवाधिकार प्रारम्भ कर 'अहमिक्को खलु सुद्धो' तक (गाथा ४३ तक) गाथा २६ में इस अधिकार को पूर्ण किया है और कहा है कि—“अष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः इति प्रथमरंगः ।”

इस अधिकार में एक गाथा कौन सी अधिक है यह समझ में नहीं आया है । आगे 'त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकारः कथ्यते' ऐसा कहा है । अर्थात् पीठिका में १४ गाथा + जीवाधिकार में २६ गाथा + और अजीवाधिकार में ३० गाथा ये सब—७० गाथायें हैं । इन्हें श्रीजयसेनाचार्य ने श्रीकुंदकुंददेवकृत ही माना है । यह गाथाओं का अन्तर प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय ग्रंथ में भी है । क्यों है ? इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता है ।

श्रीजयसेनाचार्य ने गाथाओं की संख्या में 'दंडकान् विहाय' ऐसा पाठ रखा है। यथा—'इति दंडकान् विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यंत' सो इसमें यह समझ में नहीं आया है कि 'दंडकों को छोड़कर' इस पद से क्या लेना ?

गाथा ३३ अ०, ३८ ज०, में मूल में 'मोह' पद है। टीकाकार श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि 'एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेष' 'स्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि।'।

इसी गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि 'एवं रागद्वेष इत्यादि दंडको ज्ञातव्यः।'।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि गाथा में 'मोह' के स्थान में 'राग' द्वेष, आदि पद लगा-लगाकर गाथाएँ बहुत सी बनायी जा सकती हैं। यथा—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो निच्छयविद्वहि ॥३॥

इसी में पद परिवर्तन से—

जिदरागस्स दु जइया खीणो रागो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणरागो भण्णदि सो निच्छयविद्वहि ॥

हो सकता है ऐसे ही कोई गाथा इसमें अधिक हो, जो भी हो अच्छी तरह से विचार करना उचित है।

इस प्रकार यहाँ तक यह जीवाजीवाधिकार का सारांश हुआ है।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित समयसार प्राभृत ग्रंथ में

श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्य-

कृत तात्पर्यवृत्तिटीका के रहस्य को प्रकाशित करने-

वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत इस

"ज्ञानज्योति" नामा भाषा टीका

में यह जीवाजीवाधिकार नामक

पहला अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ कर्तृकर्मधिकारः ॥२॥

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः ।

मंदाक्रांता छंदः—

एकः कर्ता चिदहमिह क्षेत्रे कर्म कोपादयोऽमी, इत्यजानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिः ।

ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं साक्षात्कुर्वन्निस्पृधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥४६॥

कर्ता-कर्म अधिकार

अब जीव और अजीव ये दोनों ही कर्ता-कर्म के वेष में प्रवेश करते हैं । जैसे दो पुरुष आपस में कोई स्थांग रचकर नृत्य की रंगभूमि में प्रवेश करते हैं वैसे ही यहाँ अलंकार भाषा में कथन समझना । उसमें पहले इस स्थांग के रहस्य को ज्ञान समझ लेता है, उसी अभिप्राय सहित कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—इस संसार में 'मैं चंतन्य स्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ और ये क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं' अज्ञानी जनों की ऐसी जो कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति है उसको सब ओर से शमन करती हुई ज्ञानज्योति स्फुरायमान होती है । वह ज्ञानज्योति परम उदात्त है—किसी के अधीन नहीं है, अत्यन्त धीर है—किसी भी प्रकार से आकुलता रूप नहीं है, और पर की सहायता के बिना भिन्न-भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने के स्वभाववाली है इसलिये यह समस्त लोकालोक को साक्षात् करने वाली है—प्रत्यक्ष जानने वाली है ॥४६॥

शार्दूलविक्रीडित (वर्णिक) छन्द—

मैं हूँ एक एक आत्म जीव कर्ता, क्रोधादि ये कर्म हैं ।

अज्ञानी कर कर्म कर्तुं प्रवृत्ती में नित्य तमय रहे ॥

ज्ञानी ज्ञान विभूति व्यक्तहि करे, ओ धीर निष्कर्म है ।

सो ही द्रव्य पृथक् प्रकाशित करे, ज्ञाता-सुदृष्टा कहे ॥४६॥

(७४ ज०) जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आवासवाण दोहणंपि ।

अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टवे जीवो ॥६६ अ०॥

(७५ ज०) कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।

जीवस्सेवं बंधो भणितो खलु सच्चदरसोहिं ॥७० अ०॥ (युग्मं)

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्त्रययोर्द्वयोरपि ।

अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६६॥

क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति ।

जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदशभिः ॥७०॥

आत्मख्याति.—यथात्र आत्मा तादात्म्यसिद्धसंबन्धयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंक-
मात्मतया ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति तथा

अन्वयार्थ—(जीवः यावत् आत्मास्त्रययोः द्वयोः अपि तु विशेषांतरं न वेत्ति) यह जीव जब तक आत्मा और आस्त्रव इन दोनों के भी भिन्न-भिन्न लक्षण को नहीं जानता है (तावत् सः अज्ञानी क्रोधादिषु वर्तते) तब तक यह अज्ञानी हुआ क्रोध आदि कषायों में प्रवृत्ति करता है । (क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयः भवति) क्रोधादि में वर्तन करते हुये इस जीव के कर्मों का संचय होता है (एवं जीवस्य बंधः खलु सर्वदशभिः भणितः) इस प्रकार से जीव के साथ कर्मों का बंध होता है ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है ।

आत्मख्याति—जिस प्रकार यह आत्मा अपने में और ज्ञान में तादात्म्य सिद्ध संबंध होने से एकरूपता के कारण उन दोनों में भेद न देखते हुये निःशंक होकर आत्म-

(७४ ज०) यह जीव नहीं जाने जब तक मेरी आत्मा शुद्धात्मा है ।

इससे क्रोधादिक आस्त्रव का संबंध नहीं जीवात्मा है ॥

तब तक बहिरात्म अवस्था में क्रोधादिरूप बन जाता है ।

वह अज्ञानी निज भाव छोड़ परभावों में रम जाता है ॥६६अ०॥

(७५ ज०) क्रोधादिक भावों में प्रवृत्ति करने से आस्त्रव होता है ।

सब रागद्वेष भावों से नित कर्मों का संचय होता है ॥

बस इसी संचयन को निश्चय ही कर्मबंध कहते ज्ञानी ।

सर्वज्ञदेव की वाणी को नहिं माने वह है अज्ञानी ॥७० अ०॥

संयोगसिद्धसंबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्त्रययोः स्वयमज्ञानेन विशेषमज्ञानं यावदभेदं न पश्यति तावद-
शंकमात्मतया क्रोधादी वर्तते । तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेऽपि
स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति । तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवन-
मात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता । यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेऽप्यो
भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म । एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्म-
प्रवृत्तिः । एवमस्यात्मनः^१ स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्तिरूप
परिणामं निमित्तमाश्रीकृत्य स्वयमेवपरिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति । एवं जीवपुद्गलयोः

रूप—अपने रूप से ही ज्ञान में वर्तन करता है—ज्ञानरूप से परिणत होता है वहाँ ज्ञान
में प्रवृत्त होते हुये इस जीव के ज्ञान क्रिया स्वभावरूप होने से उसका प्रतिषेध नहीं
किया जा सकता इसी हेतु से यह आत्मा जानता है । उसी प्रकार से आत्मा और
क्रोधादि आस्त्रय में संयोग सिद्ध संबंध है । यह आत्मा स्वयं अज्ञान से इन दोनों के भेद
को न जानता हुआ जब तक इन आत्मा और क्रोधादि में भेद को नहीं देखता है तब
तक ही निःशंक होकर आत्मरूप से क्रोधादि में प्रवृत्त होता है और उनमें प्रवृत्त हुए इस
जीव के क्रोधादि क्रियायें परभावरूप हैं अतः इनका प्रतिषेध होने पर भी उनमें स्वभावभूत
का अध्यास—आरोप होने से यह जीव क्रोध करता है, राग करता है और मोह करता है
अर्थात् यह क्रोधी, रागी और मोहीरूप परिणति करता है अतः जो यह आत्मा है वह
स्वयं अज्ञान रूप होने से ज्ञानरूप से परिणति मात्र जो सहज उदासीन अवस्था है—मात्र
ज्ञाता होने रूप अवस्था है उसको छोड़कर अज्ञान में ही व्यापार करता हुआ—प्रवृत्त होता
हुआ वह 'कर्ता' प्रतिभासित होता है । जो ज्ञान मात्र—जानने मात्र रूप होने वाली
प्रवृत्ति, उनसे भिन्नरूप किये गये हैं ऐसे अंतरंग में उत्पन्न हुये क्रोधादि भाव वे 'कर्म'
प्रतिभासित होते हैं । इस प्रकार से यह अनादिकाल से चली आई अज्ञान से उत्पन्न हुई
कर्ता और कर्म की प्रवृत्ति हो रही है ।

इस तरह यह आत्मा स्वयं अज्ञान से कर्ता-कर्मभाव से क्रोधादि कषायों में वर्तन
करता है तब उस जीव के इन क्रोधादि की प्रवृत्ति रूप परिणाम को निमित्त मात्र करके
स्वयं ही परिणमन करते हुये ये पौद्गलिक कर्म संचित हो जाते हैं । इस प्रकार जीव और
पुद्गल में परस्पर अवगाह लक्षण संबंधरूप बंध सिद्ध हो जाता है । पुनः वही बंध अनेक

१. 'एवमप्यात्मनः' इत्यपिपाठः ।

परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्धः सिद्ध्येत् । सचानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः
कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तं ॥६६॥७०॥

(भूमिका)—अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररंगभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयेन
कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृंगारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दण्ड-
कान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यंतं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थ-
पीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका । अथवा जो खलु संसारत्थो जीवो इत्यादि
गाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन
शुद्धजीवस्वरूपमिति पंचास्तिकायप्राभूते यत्पूर्वं संक्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं
पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका ।

वस्तु में एकसंतानरूप से इतरेतराश्रय दोष रहित होने से कर्ता और कर्म की प्रवृत्ति में
निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त है ॥६६-७०॥

भावार्थ—यह आत्मा अपने ज्ञानरूप तादात्म्य स्वभाव से जैसे परिणमन करता है
वैसे ही संयोग से उत्पन्न हुये क्रोधादि भावों से भी परिणमन करता है । जब तक ज्ञान
तथा क्रोधादि में भेद नहीं विदित होता है तब तक यह आत्मा क्रोधादि भावों का कर्ता है
और ये क्रोधादि भाव उस आत्मा के कर्म हैं । प्रवृत्ति यद्यपि अनाविकालीन है फिर भी
भेदज्ञानी महामुनि इसका अन्त कर सकते हैं वही इस अधिकार में बतायेंगे ।

भूमिका—आगे पूर्वोक्त जीवाधिकार के रंगमंच में जीव और अजीव ही यद्यपि
शुद्धनिश्चयनय से कर्ता और कर्म के भाव से रहित हैं फिर भी व्यवहारनय से कर्ता-कर्म के
वेष में होकर शृंगार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं इस प्रकार दण्डकों को छोड़कर
अठत्तर गाथा पर्यंत नव स्थलों से व्याख्यान करेंगे इस तरह पुण्यपाप आदि सात पदार्थ
की पीठिकारूप से तीसरे अधिकार में यह समुदाय पातनिका हुई । अथवा 'जो खलु संसार-
त्थो जीवो' इत्यादि तीन गाथाओं द्वारा जो पुण्यपापादि सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल
के संयोगरूप परिणाम से बने हुये हैं अतः वे शुद्धनय से शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा
पंचास्तिकायप्राप्त ग्रन्थ में जो पहले संक्षेप से कहा था उसी को इस समय व्यक्त करने
के लिये पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों का व्याख्यान करेंगे यह पीठिकासमुदाय के कथन

प्रथमतस्तावत् जाव ण वेदि विसेसंतरं इत्यादिगाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यंत व्याख्यानं करोति । तत्र गाथाद्वयमज्ञानिजीवमुख्यत्वेन, गाथाचतुष्टयं संज्ञानिजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथ क्रोधाद्यास्त्रयशुद्धात्मनोर्यावत्कालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषांतरं भेदज्ञानं शुद्धात्मक्रोधाद्यास्त्रयस्वरूपयोर्द्वयोः अण्णाणी ताव बु सो तावत्कालपर्यंतमज्ञानी बहिरात्मा भवति । स जीवः । अज्ञानी सन्निक करोति । क्रोधादिसु बट्टदे जीवो यथा ज्ञानमहं इत्यभेदेन वर्तते तथा क्रोधाद्यास्त्रयरहितनिर्मलात्मानुभूतिलक्षण-निजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधोहमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति । अथ—

का तात्पर्य कहा गया है यह दूसरी पातनिका हुई । इसमें प्रथम ही 'जाव ण वेदि विसेस-तरं' इत्यादि गाथा को आदि करके पाठ के क्रम से छह गाथा पर्यंत व्याख्यान करेंगे । इनमें भी दो गाथायें तो अज्ञानी जीव की मुख्यता से और चार गाथायें संज्ञानी जीव की मुख्यता से कहेंगे यह प्रथम स्थल में समुदाय पातनिका हुई ।

उत्थानिका—आगे क्रोधादि आस्त्रय और शुद्धात्मा में जब तक यह जीव भेदविज्ञान को नहीं समझता है तब तक यह अज्ञानी रहता है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जितने काल तक यह आत्मा, शुद्धात्मा और क्रोधादि आस्त्रय इन दोनों के स्वरूप में विशेष अंतर—भेदज्ञान नहीं कर पाता है तब तक ही यह अज्ञानी है—बहिरात्मा रहता है । वही जीव अज्ञानी हुआ क्या करता है ? जैसे 'ज्ञान में हूँ' इस तरह अभेद से वर्तन करता है वैसे ही क्रोधादि आस्त्रय से रहित निर्मल आत्मा की अनुभूति लक्षण निज शुद्धात्मा के स्वभाव से जो पृथक् हैं उन क्रोधादिकों में 'मैं क्रोध हूँ' इस प्रकार से अभेदरूप से वर्तन करता है—परिणमन करता है । तब उत्तम क्षमादिस्वरूप परमात्मा से विलक्षण इन क्रोधादि में वर्तन करते हुए इस जीव को क्या फल मिलता है ? परमात्मा के प्रच्छादक कर्मों का संचय—आस्त्रय होता है—आना होता है । पुनः जैसे तेल की मालिस

क्रोधादिषु वदंतस्स तस्स उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य जीवस्य । किं फलं भवति, कम्मस्स संचओ होवि परमात्मप्रच्छादककर्मणः संचयः आस्रव आगमनं भवति । जीवस्सेवं बंधो भणिवो खलु सत्त्वदरसीहि तैलम्रक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसंबंधेन मलबंधवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणाः स्वशुद्धात्मावाप्तिस्वरूपमोक्षविलक्षणो बंधो भवति । जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः । किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति । अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुंचति तस्माद्वन्धो भवति । बंधात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः । एवमज्ञानिजीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं ॥७४॥७५॥

करने पर धूलि आकर चिपक जाती है वैसे ही आत्मा के ऊपर कर्मों की धूलि चिपक जाने से मलादि से तेल के संबंध के समान प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश ये चार प्रकार का बंध हो जाता है जो कि अपनी शुद्धात्मा की प्राप्तिस्वरूप मोक्ष से विलक्षण—विपरीत है । जीव के साथ इस प्रकार का बंध होना यह सर्वदर्शी सर्वज्ञदेव ने कहा है । यहाँ विशेष बात यह है कि जब तक यह जीव क्रोधादि आस्रवों से भिन्न शुद्धात्मा के स्वरूप को स्वसंवेदन ज्ञान के बल से नहीं जानता है—नहीं अनुभवता है तब तक यह अज्ञानी रहता है और अज्ञानी होता हुआ अज्ञान से होने वाली कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता है इसीलिये इसके कर्मबंध होता है तथा बंध से संसार में परिभ्रमण करता है यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना । इस तरह अज्ञानी जीव के कथनरूप से दो गाथाएँ पूर्ण हुई ॥७४-७५॥

विशेषार्थ—आत्मा भिन्न है और क्रोधादि विकारी भाव भिन्न हैं । इन दोनों का स्वरूप अलग-अलग है । आत्मा चिच्छैतन्य स्वरूप है और रागादि भाव पुद्गल के निमित्त से होने से अचेतन हैं यह पहले कह आये हैं । ऐसा भेदज्ञान तो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती को भी हो जाता है अतः श्रद्धान की अपेक्षा से कथञ्चित् चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती भेदज्ञानी माने जाते हैं । उनके अपने-अपने गुणस्थान के योग्य कर्म प्रकृतियों की व्युत्पत्ति हो जाने से उतने-उतने रूप से कर्ता-कर्म प्रवृत्ति नहीं है इस विषय को आचार्य आगे स्वयं कहेंगे । यहाँ अज्ञानी—बहिरात्मा से सच्चे श्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि को लेना और ज्ञानी-आत्मा से छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि को समझना, मध्य के अविरत व

कदाऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत् :—

(७६ ज०) जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तह्वेव ।

णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७९ अ०॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।

ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥७९॥

आत्मख्यातिः—इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः, तेन ज्ञानस्य भवनं खलवात्मा । क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञान-भवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न यथा क्रोधादिरपि । यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा

देशव्रती अंशरूप से—धृद्धा की अपेक्षा से ही भेदज्ञानी आगे चार गाथाओं में ज्ञानी जीव के लक्षण में आप स्वयं देखेंगे ।

उत्थानिका—इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव कब होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यदा अनेन जीवेन आत्मनः च तथा एव आस्रवाणां विशेषांतरं ज्ञातं भवति) जिस समय इस जीव को आत्मा और वैसे ही आस्रवों का विशेष अंतर ज्ञात हो जाता है (तदा तु तस्य बंधः न) उसी समय उसके बंध नहीं होता है ।

आत्मख्याति—इस संसार में वस्तु अपने स्वभावमात्र है और अपने रूप होना—ही स्वभाव है इस हेतु से ज्ञान का होना—परिणमना ही आत्मा है तथा क्रोधादि का होना—परिणमना क्रोधादि हैं इसलिये जो ज्ञान का परिणमन है वह क्रोधादि का भी परिणमन हो ऐसा नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञान के होने पर ज्ञान ही होता हुआ प्रतीत होता है वैसे क्रोधादि नहीं मालूम होते । जो क्रोधादि का होना—परिणमन करना है वह ज्ञान का होना नहीं है क्योंकि जैसे क्रोधादि के होने पर क्रोधादि होते हुये देखे जाते हैं वैसे ही ज्ञान भी नहीं देखा जाता । इस प्रकार से आत्मा

(७६ ज०) जिस समय जीव निज आत्मा को शुद्धात्मस्वरूप समझता है ।

आस्रव को भिन्न समझ उससे तहि आस्रवमय परिणमता है ॥

अज्ञानभाव को छोड़ तभी सम्यक्ध्यानी बन जाता है ।

नूतन कर्मों का बंध न कर शुद्धात्मा में रम जाता है ॥७९ अ०॥

क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवन्ती विभाव्यन्ते न तस्य ज्ञानमपि तद्वत्तमनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वं इत्येवमात्मात्मस्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति-निवर्तते तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबंधोपि निवर्तते । तथा सति ज्ञानमात्रादेव बंधनि-रोधः सिद्ध्येत् ॥७१॥

(उत्थानिका)—अथ कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति ।

और क्रोधादि इन दोनों में निश्चित ही एक वस्तुत्व नहीं है अतः आत्मा और आस्रव में भिन्न लक्षण दिखने से जब यह आत्मा दोनों के भेद को जान लेता है तब उसके अनादि-कालीन भी यह अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है । पुनः इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के दूर हो जाने पर अज्ञान के निमित्त से होने वाला यह पुद्गलद्रव्य कर्म का बंध भी दूर हो जाता है और ऐसा होने पर तो ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है ॥७१॥

भावार्थ—ज्ञान और आत्मा एक हैं जैसे कि अग्नि और उसकी उष्णता । क्रोधादि भाव आस्रव तथा ज्ञान, ये दोनों लक्षण से भिन्न होने से पृथक्-पृथक् वस्तु हैं । ज्ञान में क्रोधादि नहीं हैं और क्रोधादि में ज्ञानगुण नहीं है । ऐसा भेदविज्ञान जब हो जाता है तभी यह आत्मा उन आस्रवों से छूट जाता है । यही कारण है कि समयसार में ज्ञानमात्र से कर्मों से छूटना—मुक्त होना माना है । यह मान्यता सांख्य के समान एकांतरूप नहीं है बल्कि यहाँ वही ज्ञान इष्ट है जो पूर्ण चारित्र के साथ रहता है इसी बात को स्वयं ग्रन्थकार अगली तीन गाथाओं में कहेंगे तथा टीकाकार भी स्पष्ट करेंगे । अभी आप श्रीजयसेनाचार्य के अभि-प्राय को देखिये । वास्तव में यह ज्ञानमात्र अर्थात् भेदविज्ञान चतुर्थ, पंचम, छठे गुणस्थान-वर्ती जनों का नहीं प्रत्युत पूर्णरूप से बारहवें गुणस्थानवर्ती का है और प्रारम्भिकरूप से सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों से शुरू होता है ।

उत्थानिका—किस काल में यह कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर होती है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति :—जइया यदा श्रीधर्मलब्धिकाले इमेण जीवेण अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन अप्पणो आसवाण य सहेव णादं होदि विसेसंतरं तु यथा शुद्धात्मनस्तथैव काम-क्रोधाद्यास्त्रवाणां च ज्ञातं भवति विशेषांतरं भेदज्ञानं तइया तदा काले सम्यग्ज्ञानी भवति । सम्यग्ज्ञानी सद् किं करोति, अहं कर्ता भावक्रोधादिरूपभंतरंगं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्तृकर्म-प्रवृत्तिं मुञ्चति । ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्विकल्पसमाधौ सति ण बंधो न बंधो भवति से तस्य जीवस्येति ॥७६॥

तात्पर्यवृत्ति—जब श्रीधर्म की लब्धि—प्राप्ति के काल में यह प्रत्यक्षीभूत जीवात्मा अपनी शुद्धात्मा का और काम क्रोध आदि आस्त्रवों का जैसे का तैसा ज्ञान कर लेता है—भिन्न-भिन्न लक्षण जान लेता है तब उसी काल में यह सम्यग्ज्ञानी हो जाता है । सम्यग्ज्ञानी होकर क्या करता है ? 'मैं इन भावों का कर्ता—करने वाला हूँ और ये अंतरंग में होने वाले क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं—मेरे द्वारा बनाये गये हैं' इस अज्ञान से होने वाली कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को छोड़ देता है । तब कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के दूर हो जाने पर—निर्विकल्प समाधि के होने पर इस जीव के बंध नहीं होता है ॥७६॥

भावार्थ—यहाँ पर श्रीजयसेनाचार्य ने शुद्धात्मा के ध्यान में स्थित होने को ही 'श्रीधर्म की लब्धि' कहा है क्योंकि वहीं पर वीतरागता आती है अतः शुद्धोपयोग ही कारण-समयसाररूप 'श्रीधर्म' है । पुनः कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव निर्विकल्प समाधि में माना है । पहले निर्विकल्पध्यान को शुक्लध्यान कह चुके हैं । देखिये गायत्रि ६-१० में श्रुतकेवली का लक्षण करते हुये स्वसंवेदनज्ञान को शुक्लध्यान कहा है । वीतराग स्वसंवेदनज्ञान, निर्विकल्पध्यान, शुक्लध्यान और शुद्धोपयोग परिणति ये सब पर्यायवाची ही हैं । इसी विषय को आप अगली गायत्रि की टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि के शब्दों में पढ़ेंगे ।

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत् ;—

(७७ ज०) आसृवाणं अशुचितं च विपरीतभावं च ।

दुःखस्य कारणं ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो ॥७२ अ०॥

ज्ञात्वा आसृवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च ।

दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

आत्मख्यातिः—जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वासृवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवातिनिर्मलश्चिन्मात्रत्वेनोपलभ्यमानत्वादत्यंतं शुचिरेव जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वासृवाः भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादन्यस्वभावः^१

उत्थानिका—ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आसृवाणं अशुचित्वं च विपरीतभावं च) आसृवों के अशुचिपने को, विपरीतभाव को और (दुःखस्य कारणानि च इति ज्ञात्वा) ये दुःखों के कारण हैं इस बात को जानकर जीवः ततः निवृत्तिं करोति) जीव उनसे निवृत्त हो जाता है ।

आत्मख्याति—जैसे जल में सेबाल मलिन होने से जल को मलिन कर देती है वैसे ही ये कर्मों के आसृव भी कलुषता को प्राप्त होने से अशुचिरूप—अपवित्र या मलिन हो हैं किन्तु भगवान् आत्मा तो नित्य ही अतिनिर्मल चिच्चैतन्यमात्र से उपलब्ध हो रहा है अतः वह अत्यन्त शुचि-पवित्र ही है । ये आसृव जडस्वभाव होने से पर के द्वारा जानने योग्य हैं अतः निश्चित ही अन्य स्वभाव वाले—आत्मा से भिन्न स्वभाववाले हैं, किन्तु भगवान् आत्मा तो नित्य ही विज्ञानघनस्वभावरूप होने से स्वयं जाननेवाला है—अनुभव करने वाला है अतः वह ज्ञान से अभिन्नस्वभावी है । आकुलता को उत्पन्न करने वाले होने से ये आसृव निश्चित ही दुःखों के कारण हैं किन्तु भगवान् आत्मा तो नित्य ही अनाकुल स्वभाववाला

(७७ ज०) ये आसृव हैं अपवित्र तथा जड पुद्गल आत्मभिन्न सदा ।

सर्वदा दुःख के कारण हैं इनका स्वभाव विपरीत कहा ॥

ये आसृव भाव जान करके जो जीव उसे तज देता है ।

वह रत्नत्रय वैराग्य भाव से निज स्वरूप पा लेता है ॥७२ अ०॥

1. अन्यस्वभाव एव इति पाठांतरम् ।

एव । आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद् दुःखस्याकारणमेव । इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्माश्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्त्तते । तेभ्योऽनिवर्त्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः । ततः क्रोधाद्याश्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पीद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिद्ध्येत् । किञ्च यदिदमात्माश्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानं ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किवास्रवेभ्यो निवृत्तं ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रिया

होने से कार्यकारणभाव से रहित है अतः दुःख का कारण ही नहीं है । इस प्रकार विशेष अन्तर देखने से जिस समय ही यह आत्मा अपने में और आस्रवों में भेद को जान लेता है उसी समय क्रोधादि आस्रवों से निवृत्त हो जाता है—दूर हो जाता है—छूट जाता है । यदि उन क्रोधादि आस्रवों से दूर नहीं हुआ है तो फिर उसके वास्तव में भेदज्ञान नहीं हुआ है ऐसा समझना । इसलिये क्रोधादि आस्रवों के अभाव से अविनाभावी ऐसे ज्ञानमात्र से ही अज्ञानजन्य पीद्गलिक कर्मों के बंध का निरोध सिद्ध हो जाता है । यहाँ प्रश्नोत्तरमाला से समझना होगा—जो यह आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है वह अज्ञान है या ज्ञान ? यदि अज्ञान है तब तो उसमें आस्रव से भेदज्ञान न होने से उस ज्ञान में कुछ अन्तर ही नहीं रहा । यदि वह ज्ञान है तो पुनः प्रश्न होता है कि वह ज्ञान आस्रवों में प्रवृत्तिरूप है या आस्रवों से निवृत्तिरूप ? यदि वह ज्ञान आस्रव में प्रवृत्ति कर रहा है तब तो उसके उन आस्रवों से भेदज्ञान न होने से—आस्रव से अभिन्नता ही रहने से उस ज्ञान की कुछ विशेषता नहीं रही, और यदि आस्रवों से निवृत्तिरूप है तब पुनः ज्ञान से ही बंध का निरोध कैसे नहीं रहा ? अर्थात् ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध हो गया । पुनः ऐसा सिद्ध हो जाने पर तो अज्ञान के अंशरूप ऐसे क्रियानय का खंडन हो गया समझना । जो आत्मा और आस्रव का भेदज्ञान भी आस्रवों से दूर नहीं हुआ है तो फिर वह ज्ञान—भेदज्ञान ही नहीं होता है इस प्रकार से ज्ञान के अंशरूप ज्ञाननय का भी खंडन किया गया समझना अर्थात् एकांत से ज्ञान भी बंध का निरोध करने वाला नहीं है और एकांत से क्रिया भी—चारित्र्य

नयः । यत्त्वात्मास्त्रयोर्भेदज्ञानमपि नास्त्रयेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः^१ ॥७२॥

मालिनी छंदः—

परपरणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः ।

ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥४७॥

भी बंध का निरोध करने वाला नहीं है । ज्ञान और क्रिया इन दोनों से ही मोक्ष होता है ऐसा निश्चित है ॥७२॥

काव्यार्थ—यह परिणति को छोड़ता हुआ, भेद के कथनों को खंडित करता हुआ यह अखंड और अत्यन्त प्रखंड ज्ञान उत्कृष्ट रीति से उदय को प्राप्त हो रहा है । अहो ! ऐसे ज्ञान में परब्रह्म के कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति को भला कैसे अवकाश मिल सकता है ? और पौद्गलिक कर्म बंध भी भला कैसे हो सकता है ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकता है ॥४७॥

भावार्थ—यहाँ आत्माओं को अशुचि, जड़स्वभावी, दुःख और दुःख के फलरूप कहा है । द्रव्यास्त्रय पौद्गलिक होने से जड़ हैं ही हैं किन्तु भावास्त्रय—क्रोधादि भाव भी कथंचित् पुद्गलकर्म के उदय से होने से पुद्गल ही हैं—जड़ ही हैं । यद्यपि इनका उपादान कारण आत्मा है फिर भी आचार्य ने जैसे गुणस्थान आदि को पौद्गलिक अचेतन कह दिया है वैसे ही इन क्रोधादि भावों को भी अचेतन कह दिया है । यहाँ ज्ञानमात्र से बंध का अभाव माना है सो श्रीअमृतचंद्रसूरि ने टीका में यह सिद्ध कर दिया है कि जो क्रिया—चारित्र्य से सहित है अर्थात् सराग और वीतराग दोनों प्रकार के चारित्र्य से सहित है वही भेदविज्ञान है वह शुद्धोपयोग की परिणतिरूप है तथा बारहवें गुणस्थान के योग्य है क्योंकि वहीं पर कर्म बंध का निरोध होता है । इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में कह

शार्ङ्गलविष्णोदित (वर्णिक छन्द) —

ज्यों मोही परिणती सर्व तजता, त्यों भेद वादं नगो ।

सर्व पूर्ण अखण्ड रूप महिमा, ओ तेज पूज लसे ॥

ऐसा ज्ञानहि श्रेष्ठ व्यक्त यह जो उद्योतमानं सदा ।

कर्ता कर्म प्रवृत्ति दूर जब ही, पौद्गल्य बन्धन हटा ॥४७॥

१. एकान्तेन ज्ञानमपि न बन्धनिरोधकं, एकान्तेन क्रियामपि न बन्धनिरोधिका इति सिद्ध । उभाभ्यामेव मोक्षः । इति नया मन्दिर धर्मपुरा प्राचीन प्रती टिप्पणं ।

(उत्थानिका)—अथ कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति ।

तात्पर्यवृत्तिः—क्रोधाद्यास्त्रवाणां संबन्धि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं, विपरीत-भावं, ध्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबन्धि निर्मलात्मानुभूति-रूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखण्डकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानंतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामायिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्त्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः । इति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः । किं च यच्चात्मास्त्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्वागाद्यास्त्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्र्यं वीतरागसम्यक्त्वं

रहे हैं अतः यह बात सर्वत्र ध्यान रखने की है कि श्रीजयसेनाचार्य ने श्रीअमृतसंद्रसूरि की टीका का खूब अच्छी तरह अभ्यास किया था और उसी के अनुसार ही हम जैसे अल्पज्ञों के लिये सरल सुबोध टीका रची है ।

उत्थानिका—ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध कैसे होता है ? ऐसा पूर्वपक्ष रखने पर आचार्यदेव परिहार करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो क्रोधादि आस्त्रव हैं वे कलुषता रूप होने से अशुचि—अपवित्र हैं, जडरूप होने से जीवात्मा से विपरीतरूप हैं और ध्याकुलता लक्षण वाले होने से दुःख के कारण हैं । तथा अपनी आत्मा तो निर्मल आत्मा की अनुभूतिरूप होने से शुचिरूप—पवित्र है, सहजशुद्ध अखण्ड केवलज्ञानरूप है अतः ज्ञाता—जानने वाला है और अनाकुलतालक्षण-वाला होने से अनंतसुखरूप है । इस प्रकार से आस्त्रव और आत्मा के दोष और गुणों को जानकर पश्चात् इस स्वसंवेदनज्ञान के अनंतर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की एकाग्रपरिणतिरूप परमसामायिक में स्थित होकर ये जीव—शुद्धोपयोगी मुनि क्रोधादि आस्त्रवों का अभाव कर देते हैं । इस प्रकार ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध हो जाता है इस कथन से यहाँ सांख्य आदि मतों में प्रवेश नहीं होता है । क्योंकि जो यह आत्मा और आस्त्रव में होने वाला भेदज्ञान है वह रागादि आस्त्रवों से रहित है या नहीं ? यदि रहित है तब तो उस भेदज्ञान के मध्य ही ठंडई के समान अभेदनय से वीतराग चारित्र्य और वीतराग सम्यक्त्व

च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बन्धनिरोधसिद्धिः । यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ॥७७॥

मिले हुये ही हैं इसलिये सम्यग्ज्ञान से ही बंध के अभाव की सिद्धि हो जाती है और यदि वह भेदज्ञान रागादि आस्रवों से रहित नहीं है तब तो वह सम्यक्—समीचीन भेदज्ञान ही नहीं है यहाँ ऐसा अभिप्राय लेना ॥७७॥

विशेषार्थ—आप पाठक यहाँ अच्छी तरह से समझ चुके होंगे कि इस समयसार ग्रन्थ में आचार्य श्रीकुंदकुंददेव को महामुनियों को प्राप्त होने वाला भेदज्ञान जो कि अध्यात्मभाषा में शुद्धोपयोग नाम वाला है और सिद्धांत की भाषा में शुक्लध्यान नाम वाला है वही विवक्षित है । यही बात श्रीअमृतचंद्रसरि के द्वारा कहे गये भेदविज्ञान में सभी स्थलों में लगा लेना चाहिये । श्रीजयसेनाचार्य ने तो सर्व स्थलों में खुलासा किया ही है । इसी से यह बात सिद्ध है कि यह ग्रन्थ मूलाचार के अनुसार चर्या में निष्णात महामुनियों के ध्यानाभ्यास को बढ़ाने के लिये ही है । हम और आप तो मात्र श्रद्धान के ही अधिकारी हैं । दूसरी बात यह भी है कि यदि कोई समयसार ग्रंथ को पढ़कर बृह् श्रद्धानी और चारित्रधारी मुनि नहीं बना तो उसका समयसार पढ़ना व्यर्थ रहा और जिसने चारित्रधारी बनकर भी समयसार नहीं पढ़ा उसने आत्मा को नहीं समझा है अतः ज्ञाननय और क्रियानय इन दोनों में मंत्री स्थापित करके ज्ञान के फलरूप ऐसे ज्ञान के बिना नहीं होने वाले सम्यक् चारित्र को अवश्य ही धारण करना चाहिये । जब तक मुनि न बन सको तब तक अणुव्रती—उपासक बनकर मुनियों की उपासना करते हुये ऐसे उत्कृष्ट भेदज्ञान को प्राप्त करने की भावना भाते रहना चाहिये । तीसरी बात यह है कि सांख्य ने एकांत से ज्ञानमात्र से ही मोक्ष मानी है सो यहाँ एकांत नहीं है यहाँ तो पहले प्रारम्भिक अवस्था में भेदरत्नत्रय था पुनः अभेदरत्नत्रय में तीनों ही एकरूप हो गये हैं उसे ही सम्यग्ज्ञान या ज्ञानमात्र या भेदज्ञान कह दिया है अतः अनेकांत दृष्टि से ही यह कथन संगत है और यही समयसार का सार है ।

केन विधिनायमास्त्रवेभ्यो निवर्त्तत इति चेत्; —

(७८ ज०) अहमिक्को खलु शुद्धो निम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।

तस्मिं ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३अ०॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।

तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७३॥

आत्मव्याप्तिः—अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञान-
घनस्वभावभावत्वादेकः । सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः । पुद्गलस्वा-
मिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः । चिन्मात्रस्य महसो
वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः । गगनादिवत्पारमार्थिको

उत्थानिका—किस विधि से यह आस्त्रवों से दूर होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर
कहते हैं—

अन्वयार्थ—(अहं खलु एकः शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः) मैं निश्चित ही एक
हूँ, शुद्ध हूँ, निर्मम हूँ और ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ (तस्मिन् स्थितः तच्चित्तः एतान् सर्वान्
क्षयं नयामि) ऐसे निज में स्थित उसी चैतन्य में लीन हुआ मैं इन सभी—आस्त्रवों को क्षय
कर देता हूँ ।

आत्मव्याप्ति—यह मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप हूँ अतः
अनादि-अनंत, नित्य उदयरूप विज्ञानघन स्वभाववाला होने से ही 'एक' हूँ । संपूर्ण कारक—
कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण इन षट्कारकों के समूह की प्रक्रिया
से उत्तीर्ण—पार हुआ—रहित हुआ निर्मल अनुभूतिमात्र होने से 'शुद्ध' हूँ । पुद्गल ही
जिनका स्वामी है ऐसे क्रोधादि विभाव भावों के अखिल—असंख्यात लोकप्रमाण भेदों से
उनके स्वामीरूप से नित्य ही परिणमन न करने से मैं निर्मम—ममता रहित हूँ । चिच्चै-

(७८ ज०) मैं हूँ निश्चय से एक शुद्ध ममता विरहित शुद्धात्मा हूँ ।

सम्बन्धदर्शन अहं ज्ञान चरण से पूर्ण एक जीवात्मा हूँ ॥

चैतन्य स्वभावी आत्मा में मैं लीन सदा ही रहता हूँ ।

इसलिए सभी आस्त्रव भावों को जान उन्हें क्षय करता हूँ ॥७३ अ०॥

वस्तुविशेषोस्मि तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षययामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त्त इव जगित्येवोद्वांसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानधनभूतः खल्वयमात्मास्त्रवेभ्यो निवर्त्तते ॥७३॥

तन्मयात्र, तेजोमय, मैं वस्तुस्वभाव से ही सामान्य—दर्शन और विशेष—ज्ञान से परिपूर्ण होने से ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, ऐसा मैं आकाशादि के समान पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ, इसलिये अब मैं इन विशेषणों से विशिष्ट अपनी आत्मा में ही सर्व परद्रव्य की प्रवृत्ति को दूर करके निश्चल स्थित होता हुआ, संपूर्ण परद्रव्य के निमित्त से होने वाली जो विशेष चेतन में ही चंचल तरंगें उठ रही थीं, उनका निरोध करके इस आत्मा का ही अनुभव करता हुआ अपने अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न होने वाले इन संपूर्ण भावों का—रागादि आस्रवभूत विभावभावों का ही क्षय करता हूँ इस प्रकार से अपनी आत्मा में ही निश्चय करके शीघ्र ही समस्त विकल्पों को धमन करने वाला—छोड़ देने वाला मैं अकल्पित—कल्पना रहित या विकल्प रहित, अचल—स्थिर और अमल ऐसी आत्मा का अवलंबन लेता हुआ, विज्ञानधनभूत ऐसा मैं निश्चित ही आस्रवों से रहित होता हूँ । जैसे भंवरो ने बहुत काल से पकड़े हुये थे पुनः छोड़ दिया ऐसा जहाज समुद्र के भंवरो से छूटकर शीघ्र ही चलकर गंतव्य स्थान पर पहुँच जाता है वैसे ही आत्मा भी आस्रवरूप भंवरो से छूटकर संसार समुद्र को पारकर शीघ्र ही मोक्ष में पहुँच जाता है ॥७३॥

विशेषार्थ—जो ज्ञानी आत्मा अपनी आत्मा को 'एक,' 'शुद्ध,' निर्मम और दर्शन-ज्ञान से लबालब परिपूर्ण हूँ ऐसी आत्मा में ही स्थित होकर उसमें एकाग्रपरिणति से तन्मय हो जाऊँगा तभी इन सभी आस्रव के भाव स्वरूप विभावभावों को समाप्त कर दूँगा । यहाँ गाथा में जो वर्तमान की क्रिया है वह भविष्यत् अर्थ को भी सूचित करती है क्योंकि जिस समय यह क्षय करने का विकल्प उठ रहा है उस समय छठे गुणस्थानवर्ती मुनि की अवस्था है—चित्तन है पुनः अनेकों बार छठे, सातवें में आते-जाते हुये थे ही मुनि जब निर्विकल्प होकर शुद्ध आत्मा में लीन हो जाते हैं तब दशवें गुणस्थान के ऊपर पहुँचते ही सांपरायिक आस्रव समाप्त हो जाता है मात्र ईर्ष्यापथ आस्रव रह जाता है जो कि केवली भगवान् के भी माना है वह एक समय के लिये आया और गया होने से कुछ

(उत्थानिका)—अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्मा क्रोधाद्यास्त्रवेभ्यो निवर्तते इति चेत् ।

तात्पर्यवृत्तिः—अहं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्ष शुद्धचित्मात्रज्योतिरहं इवको अनाद्यनंततटकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः खलु स्फुटं शुद्धो यः कर्तृकर्मकरणासंप्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीयविकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धश्च निम्नमो निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावान्ममत्वरहितः । णाणदंसणसमग्गो प्रत्यक्ष-

महत्त्व ही नहीं रखता है । वह भावना तो अधिरती व देशव्रती भी भा सकते हैं कोई बाधा नहीं है चूंकि भावना ही भवनाशिनी मानी गई है । यदि कोई कहे मैं अव्रती हूँ फिर भी निश्चयनय से चौथे गुणस्थान में ही आस्रवों का क्षय कर देता हूँ, तो यह कथन तो हास्यास्पद ही है । निश्चयनय से तो आत्मा पूर्ण शुद्ध है, मात्र ज्ञानदर्शनस्वरूप है, कभी कर्म बंध न उसके था, न है अतः वह सिद्ध स्वरूप है पुनः आस्रव भावों के नष्ट करने का विषय ही नहीं उठता है, अतः यह अवस्था आस्रवों के नष्ट करने की गुणस्थानों में ही घटती है । हाँ, पहले गुणस्थान में आस्रव के सत्तावन भेद में पञ्चपन भेद सभी हैं । आगे चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि निकल गये हैं यह सब क्रम आस्रवत्रिभंगी ग्रंथ से समझ लेना चाहिये । तात्पर्य यही निकला कि यह गाथा छठे सातवें गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिये भावनारूप है और आगे श्रेणी में चढ़ने वालों के लिये क्रिया रूप है या परिणतिरूप है । इसे श्रीजयसेनाचार्य के शब्दों में देखिये ।

उत्थानिका—किस भावना की विधि से यह आत्मा क्रोधादि आस्रवों से दूर होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—मैं कैसा हूँ ? मैं निश्चयनय से स्वसंवेदनज्ञान से प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्य-मात्र ज्योतिस्वरूप हूँ । एक हूँ—अनादि अनंत, टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव वाला होने से एक हूँ । स्पष्टरूप से शुद्ध हूँ—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण

प्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्रः परिपूर्णः । एवं गुणविशिष्टपदार्थविशेषोऽस्मि भवामि । तस्मिन्निदो तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः । तच्चित्तो तच्चित्तः सहजानन्दैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा सत्त्वे एदे ख्यं जेमि सर्वनितात्रिरास्त्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांस्तान् कामक्रोधाद्यास्त्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः ॥७८॥

इन छह कारकों के विकल्पसमूह से रहित होने से शुद्ध हैं । निर्मम हैं—निर्मोही जो शुद्धात्मतत्त्व, उससे विलक्षण जो मोह है उसके उदय से उत्पन्न हुये क्रोधादि कषायसमूह का स्वामी न होने से ममता से रहित हैं । और ज्ञानदर्शन समग्र हैं—प्रत्यक्ष में प्रतिभासमय विशुद्ध ज्ञान और दर्शन, इन दोनों से परिपूर्ण हैं इन उपर्युक्त विशेषणों से सहित मैं जीव पदार्थ हूँ । इन कथित लक्षणों से सहित अपनी शुद्धात्मा के स्वरूप में स्थित हूँ । तच्चित्त—सहज आनंद लक्षण जो एक सुखरूप समरसीभाव उसमें तन्मय होकर मैं 'आस्त्रवरहित परमात्मा नामक जो पदार्थ है उससे पृथक्भूत इन समस्त काम क्रोधादि आस्त्रों का विनाश करता हूँ, यहाँ यह अभिप्राय हुआ ॥७८॥

भावार्थ—जो मुनि इस प्रकार शुद्ध निश्चयनय से अपनी आत्मा को शुद्ध समझ कर उसमें लीन हो जाते हैं वे ही सर्व आस्त्र भावों से अपने को पृथक् कर शुद्ध परमात्मा हो जाते हैं क्योंकि इसमें परमात्मा की निरास्त्रव कहा है । यह आस्त्रवरहित अवस्था परमात्म अवस्था में ही होती है अतः शुद्धनय से अपनी आत्मा को शुद्ध, एक, निर्मम आदि समझकर आस्त्र के नष्ट करने के लिये जो पुरुषार्थ हैं शुद्धात्मा के ध्यान से पूर्व जो महाव्रत, सप्तति आदि क्रियायें हैं उनमें आदर करना चाहिये । जो निश्चयनय के आश्रित इस शुद्धोपयोग के अभिलाषी तो हैं किन्तु व्यवहार चारित्र्य धारण करना नहीं चाहते और चारित्र्यधारी की उपासना नहीं करते हैं अथवा उनकी निन्दा, अवहेलना आदि करते हैं वे इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये और आस्त्रों से अपने को दूर करने के लिये कैसे समर्थ हो सकते हैं ? वे तो इस समयसार से बहुत ही दूर हैं । आगे इसे ही और खुलासा कर रहे हैं ।

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत् —

(७६ ज०) जीवणिबद्धा एए अध्रुव अणिच्चा तहा असरणा य ।

दुःखा दुःखफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४ अ०॥

जीवनिबद्धा एए अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।

दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तन्ते तेभ्यः ॥७४॥

आत्मख्यातिः—जनुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वासवाः, न पुनरविरुद्ध-
स्वभावत्वाभावाज्जीव एव । अपस्माररयवद्वर्द्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वासवाः ध्रुवश्चिन्मात्रो
जीव एव । शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्ज्वलमानत्वादनित्याः खल्वासवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो
जीव एव । बीज^१ निर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत् त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वासवाः,

उत्थानिका—ज्ञान और आस्रव की निवृत्ति का समकाल कैसे है ? ऐसा पूछने
पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एते जीवनिबद्धाः अध्रुवाः तथा अनित्याः च अशरणाः) ये आस्रव
जीव के साथ बंधे हुये हैं, अध्रुव हैं तथा अनित्य हैं और अशरण हैं (दुःखानि च दुःखफला
इति ज्ञात्वा तेभ्यः निवर्तन्ते) दुःखरूप हैं और दुःखमय फल देने वाले हैं ऐसा जानकर जीव
उनसे निवृत्त हो जाता है ।

आत्मख्याति—ये आस्रव लाख के वृक्ष के समान बध्य और घातक स्वभाववाले
होने से निश्चित ही जीव के साथ बंधे हुए हैं अतः जीव के अविरुद्ध स्वभाव का अभाव
होने से जीव ही नहीं हैं । अर्थात् जैसे पीपल आदि के वृक्ष में लाख उत्पन्न होती है उससे
वृक्ष बंध जाता है बाद में उसके निमित्त से वृक्ष नष्ट हो जाता है वैसे ही ये आस्रव जीव के
साथ बध्य-घातक—नष्ट होने योग्य और नष्ट करने वाले होने से जीव से विरुद्ध स्वभावी हैं

(७६ ज०) जीवात्मा के संग लगे हुए क्रोधादिक आस्रवभाव सभी ।

विद्युत् सम चंचल अध्रुव हैं नहि नित्य अवस्था प्राप्त कभी ॥

अशरण और दुःखस्वरूप तथा दुःखफल ही देने वाले हैं ।

आस्रव को समझ भेदजानी नहि इनमें फंसने वाले हैं ॥७४ अ०॥

सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव । नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद् दुःखानि खत्वास्त्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव । आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद् दुःखफलाः खत्वास्त्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव । इति विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितधनौषघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छविततया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथातथास्त्रवेभ्योनिवर्तते । यथायथास्त्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति । तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यग्नास्त्रवेभ्यो निवर्तते । तावदास्त्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्त्रनिवृत्त्योः समकालत्वं ॥७४॥

और जीव इनसे विपरीत स्वभाववाला ही है । मृगी रोग के वेग के समान बढ़ते हैं, घट जाते हैं अतः ये आस्त्रव अध्रुव हैं किन्तु जीव तो चैतन्यमात्र ध्रुव ही है । शीत-बाह ज्वर के वेग के समान क्रम से उत्पन्न होते हैं—बढ़ते हैं अतः ये आस्त्रव अनित्य ही हैं किन्तु जीव तो विज्ञानघन स्वभाववाला नित्य ही है । वीर्य के पतन के क्षण में क्षीण हुये अत्यंत काम सेवन के संस्कार के समान इनका रक्षण करना अशक्य होने से ये आस्त्रव अशरण ही हैं किन्तु जीव तो सहज चैतन्यशक्तिवाला होने से स्वयं ही गुप्त-रक्षित हुआ शरण सहित ही है । ये आस्त्रव नित्य ही आकुलता स्वभाववाले होने से दुःखरूप ही हैं किन्तु जीव तो नित्य ही अनाकुलस्वभावी होने से दुःख रहित ही है । आगामीकाल में आकुलता के उत्पादक, पुद्गल परिणाम के हेतु होने से ये आस्त्रव दुःख के फलस्वरूप ही हैं किन्तु जीव तो सकल भी पुद्गल के परिणाम का हेतु न होने से दुःख का फल नहीं है ।

इस प्रकार के विकल्प के अनंतर ही अर्थात् ये आस्त्रव जीव से निवृद्ध, अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःखरूप और दुःख के फलरूप ही हैं तथा जीव इनसे विपरीत-स्वयं सिद्ध-स्वभावी, ध्रुव, नित्य, शरणमूल, सुखरूप और सुख के फलरूप ही है । इस तरह आस्त्रव और जीव के स्वभाव के जान लेने पर इन दोनों का भेदज्ञान होते ही कर्म का विपाक—उदय शिथिल हो जाने से मेघ का सघन पटल विघटित होते ही दिशाओं के निर्मल हो जाने के समान स्वतन्त्रप्रसर को प्राप्त हुआ, स्वाभाविकचैतन्यशक्ति के उबीघमान होने से जैसे-जैसे यह जीव विज्ञानघन स्वभावी होता है वैसे-वैसे ही आस्त्रवों से दूर हो जाता है और जैसे-जैसे आस्त्रवों से रहित होता है वैसे-वैसे ही विज्ञानघनस्वभाववाला हो जाता है । यह जीव तब विज्ञानघनस्वभावी होता है जब कि सम्यक्प्रकार से आस्त्रवों से रहित होता है और तभी आस्त्रवों से रहित होता है कि जब सम्यक् प्रकार से विज्ञानघनस्वभावी होता है इसीलिये ज्ञान और आस्त्रव की निवृत्ति का—अभाव समकाल सिद्ध है ॥७४॥

विशेषार्थ—यहाँ पर गाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने स्वयं ही कहा है कि जब यह जीव आस्रवों को जीव से निबद्ध-सम्बन्धित, अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःखरूप और दुःस्र के फल रूप समझ लेता है तभी इनसे निवृत्त हो जाता है—छूट जाता है। इसी विषय को श्री-अमृतचंद्रसूरि ने समकाल में अर्थात् एककाल में घटाया है स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब यह जीव, आस्रव और जीव के पृथक्-पृथक् लक्षणों को जान लेता है तभी उसी क्षण के बाद—उन विकल्पों के बाद तत्क्षण ही भेदविज्ञानी हुआ आस्रवों से रहित हो जाता है। भेदज्ञान को और आस्रवों से छूटने की प्रवृत्ति एक साथ घटित हो जाती है। “इति ज्ञाना-स्रवनिवृत्योः समकालत्वं।” इस वाक्य ने स्वयं सिद्ध कर दिया है कि ज्ञान का होना और आस्रव का अभाव एकसाथ सिद्ध है। अब आप स्वयं सोचिये कि यह अवस्था कब होती है? यदि आप कहें कि निश्चयनय से उपयोग में या चिन्तन में यह अवस्था चौथे गुण-स्थान में घटित हो जाती है तो यह बात सम्भव नहीं है चूंकि आगम से बाधा आती है। देखिये, निश्चयनय से तो आत्मा में कर्म निबद्ध ही नहीं हैं व्यवहारनय से ही बंधे हुये हैं अतः निश्चयनय से आत्मा सदा काल गुणस्थान भावों से रहित शुद्ध-बुद्ध ही है। यदि दूसरा पथ लें कि उपयोग से दूर हो जाते हैं तो उपयोग से दूर होना ध्यानस्थ मुनि के ही घटेगा क्योंकि वहाँ पर ही शुद्धोपयोग है। हाँ, चिन्तन में तो श्रद्धा से यह विश्वास करना होता है कि ये आस्रव उपर्युक्त स्वभावी हैं और जीव इनसे भिन्न स्वभावी है लेकिन आस्रवों से दूर नहीं हो पाता है अतः यह अवस्था आठवें गुणस्थान से शुद्धोपयोग या शुक्तध्यान से शुरू होकर बारहवें में ही घटती है वहाँ पर यह जीव आस्रवों से रहित निरास्रव होता है।

निष्कर्ष यह निकला कि यहाँ समयसार में कहा गया ज्ञान या भेदज्ञान हम और आप जैसे चतुर्थ, पंचम या छठे गुणस्थानवर्तियों को नहीं होता है वह भेदज्ञान महामुनियों के ध्यान में निर्विकल्पसमाधि में ही सम्भव है। यही बात पुनः पुनः श्रीजयसेनाचार्य अपनी तात्पर्यवृत्ति टीका में कहते हैं अतः श्रीजयसेनाचार्य पूर्णतया श्रीअमृतचंद्रसूरि के अभिप्राय को समझने वाले थे और उन्हीं के अनुरूप टीका लिखने वाले थे यह निश्चित हो जाता है।

अब देखिये श्रीअमृतचंद्रसूरि के कलशकाव्य में क्या है ?

शार्दूलविक्रीडित—इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
 स्वयं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिष्णुवानः परं ।
 अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
 ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगत् साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

(उत्थानिका)—अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रव-
 निवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति ।

काव्यार्थ—इस प्रकार पूर्वकथित विज्ञान से शीघ्र ही परद्रव्य से उत्कृष्ट निवृत्ति
 करके—सर्वथा दूर होकर के विज्ञानघन स्वभावरूप केवल अपने आप में निर्भयता से
 आरुढ़ होता हुआ अज्ञान अपने को निःशंकता आस्तिक्य भाव से स्थिर करता हुआ
 अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेशों का जो अभाव
 कर देता है वह स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगत् का साक्षी पुराण पुरुष—आत्मा अब
 प्रकाशमान हो रहा है ॥४८॥

भावार्थ—आत्मा पुराण पुरुष है क्योंकि वह अनादिनिधन है । 'ज्ञानीभूत' पद से
 ऐसा समझना कि पहले अज्ञानी था पुनः ज्ञानी—भेदज्ञानी होता है । यह आत्मा जब पर
 द्रव्यों से पूर्ण निवृत्त हो जाता है तब कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को समाप्त कर जगत् को
 साक्षात् करता हुआ शोभायमान होता है । यह स्थिति महामुनियों के ध्यान में प्रगट होकर
 उसे पूर्णज्ञानी—केवलज्ञानी बना देती है क्योंकि भेदज्ञान ही जब निश्चल ध्यानरूप में
 परिणत हो जाता है तब वह कर्ता कर्म से छुड़ा देता है ।

उत्थानिका—आगे जिस काल में ही स्वसंवेदन ज्ञान होता है उसी काल में रागादि
 आस्रव दूर हो जाते हैं इसलिये भेदज्ञान और आस्रव के अभाव का एक ही काल है ऐसा
 दिखलाते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—

इत्येवं सुप्रसिद्ध आत्म जब ही, है द्रव्य सर्व जहे ।
 जो विज्ञान स्वभाव रूप घन हो निष्कंप आत्मा लहे ॥
 जो अज्ञान स्वभाव कर्म करना, के दुःख से दूर है ।
 जो मध्यम प्रकाश ज्ञानमय ही, सो सर्वदर्शी कहे ॥४८॥

तात्पर्यवृत्तिः—एदे जीवणिबद्धा एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा संबद्धा औपाधिकाः । न पुनः निरुपाधिस्फटिकवच्चुद्धजीवस्वभावाः । अध्रुव विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणिकाः । ध्रुवः शुद्धजीव एव । अणिच्छा शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छंतीत्यनित्या विनश्वराः नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव । तथा असरणा य तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातुं धर्तुं रक्षितुं न शक्यत इत्यशरणाः सशरणी निर्विकारबोधस्वरूपः शुद्धजीव एव । दुःखा आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवंति काम-क्रोधाद्यास्रवाः अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूपः शुद्धजीव एव । दुःखफलाणि य आगामिनारकादिदुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खत्वास्रवाः । वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव । णादूण णिबत्तदे तेषु इति भेदविज्ञानानंतरमेव इत्थंभूतान्मिथ्यात्वरगाद्यास्रवान् ज्ञात्वा-स्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेद-

तात्पर्यवृत्ति—ये क्रोधादि आस्रव जीव के साथ निबद्ध हैं—संबद्ध हैं—लगे हुये हैं अतः औपाधिक हैं इसी हेतु से ये उपाधिरहित स्फटिक के समान शुद्ध जीव के स्वभाव नहीं हैं । बिजली के चमत्कार—चमक के समान अध्रुव हैं—अतीव क्षणिक हैं, इसी हेतु से शुद्ध जीव ही ध्रुव है । शीतज्वर या उष्णज्वर के वेग के समान अस्थिरता की अपेक्षा से क्रम से स्थिर नहीं रहते हैं इसलिये अनित्य हैं—विनश्वर हैं किन्तु इससे विपरीत चिच्चमत्कारमात्र शुद्ध जीव ही नित्य है । उसी प्रकार तीव्र काम के उद्रेक के समान रक्षित करना शक्य न होने से ये आस्रव अशरण हैं किन्तु निर्विकार ज्ञानस्वरूप शुद्ध जीव ही शरणसहित है । ये काम क्रोधादि आस्रव आकुलता को उत्पन्न करने वाले होने से दुःखरूप हैं किन्तु अनाकुलता लक्षण वाला होने से शुद्धजीव ही पारमार्थिक सुखस्वरूप है । ये आस्रव निश्चित ही आगामी काल में नरक आदि के दुःखरूप फल के कारण हैं अतः दुःखफलरूप हैं किन्तु शुद्ध जीव ही एक वास्तविक सुखफलस्वरूप है ।

इस प्रकार के भेदविज्ञान के अनंतर ही उपर्युक्त मिथ्यात्व, रागादि आस्रवों को जानकर जिस क्षण में ही यह आत्मा आस्रवों से छूटता है उसी क्षण में ज्ञानी होता है जैसे कि मेघपटल के दूर होते ही सूर्य प्रगट हो जाता है इसलिये भेदज्ञान के साथ आस्रव के अभाव का समानकाल होना सिद्ध है ।

ज्ञानेन सहास्रवनिवृत्तेः समानकालत्वं सिद्धमिति । ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भिः व्याख्यानं पुनः अज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूप-मुख्यत्वेन कृतं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं कथं घटत इति । तन्न । जीवाजीवी यदि नित्यमेकांतेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति । यदि च एकांतेन परिणामिनौ तन्मयौ भवतस्तदैक एव पदार्थः । किंतु कथंचित्परिणामिनौ भवतः । कथंचित्कोर्यः ? यद्यपि जीवः शुद्धनिश्चयेन स्वरूपं न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदय-वशाद्वागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति । यद्यपि रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूपं न त्यजति स्फटिकवत् । तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति । कदाचित्पुनश्चिदानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । तदा काले द्रव्यभावरूपाणां

प्रश्न—पुण्य पाप आदि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान करेंगे ऐसी आपने पूर्व में प्रतिज्ञा की थी पुनः यहाँ अज्ञानी और संज्ञानी जीव के स्वरूप की मुख्यता से व्याख्यान किया है सो पुनः पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिका का व्याख्यान कैसे घटित होगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, यदि जीव और अजीव ये दो पदार्थ नित्य ही एकांतरूप से अपरिणामी हैं तब तो जीव और अजीव ये दो ही पदार्थ रहेंगे । यदि एकांत से परिणामी माने जायें तब तो दोनों एकमय हो जाने से कोई एक ही पदार्थ सिद्ध होगा किंतु ऐसी बात नहीं है प्रत्युत ये दोनों कथंचित् परिणामी हैं अतः सात पदार्थ बन जाते हैं ।

प्रश्न—कथंचित् शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—यद्यपि यह जीव शुद्ध निश्चयनय से अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है फिर भी व्यवहारनय की अपेक्षा से कर्मोदय के वशीभूत होने से रागादि रूप उपाधि परिणामों को ग्रहण करता है । यद्यपि यह रागादि उपाधि परिणामों को ग्रहण करता है तो भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता है स्फटिक के समान । इस प्रकार से जीव को कथंचित्

समयसार

पुण्यपापास्रवबंधपदार्थानां कर्तृत्वं घटते । तत्र ये भावरूपाः पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा ये द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति । यः पुनः सम्यग्दृष्टिरंतरात्मा स ज्ञानी जीवः स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्र्याविनाभाविवीतजनसून्याबुद्धि-भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जंरामोक्ष-पदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्ता भवति । कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवंचनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थं वा 'बहिर्बुद्ध्या ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षा-निदानबंधरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्मारोधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्याय-साधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति । अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः । यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीयदेशान्तरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्ता

परिणामी स्वीकार करने पर यह अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव विषय-कषायरूप अशुभोपयोग परिणामों को करता है । कदाचित् पुनः चिदानन्द एक स्वभाववाले शुद्धात्मा को छोड़कर भोगों की आकांक्षा आदि निदान स्वरूप शुभोपयोग परिणाम को करता है तब उस समय इस जीव के द्रव्य भावरूप पुण्य, पाप, आस्रव और बंध इन चार पदार्थों का कर्तृत्व घट जाता है । उनमें जो भावरूप पुण्य-पाप आदि हैं वे जीव के परिणाम हैं और जो द्रव्यरूप हैं वे अजीव के परिणाम हैं ऐसा समझना ।

पुनः जो सम्यग्दृष्टि, अंतरात्मा संज्ञानी जीव है वह मुख्यवृत्ति से निश्चयरत्नत्रय लक्षण शुद्धोपयोग के बल से निश्चयचारित्र्य से अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम की परिणति को करता है तब उस काल में उस परिणाम से यह द्रव्य—भावरूप संवर, निर्जंरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है । कदाचित् पुनः निर्विकल्प समाधिरूप परिणाम के अभाव में विषय कषायों से बचने के लिये, शुद्धात्मभावना के साधन हेतु बाह्य बुद्धि से ख्याति, पूजा, लाभ, भोगाकांक्षा, निदानबंध से रहित होता हुआ शुद्धात्मा लक्षणवाले अर्हत और सिद्ध तथा शुद्धात्मा के आराधक आचार्य, शुद्धात्मा के प्रतिपादक उपाध्याय और शुद्धात्मा के साधक साधु परमेष्ठी इन पाँचों परमेष्ठी के गुणस्मरण आदिरूप शुभोपयोग परिणाम को करता है । इस विषय में

पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति । तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्मा आराधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्मा आराधनारहितः सन् करोति । एवमज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते । नास्ति विरोधः । एवं संज्ञानिजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमांतराधिकारो व्याख्यातः ॥७६॥

दृष्टांत देकर खुलासा करते हैं कि—जैसे कोई देवदत्त नाम का मनुष्य अन्य देश में स्थित अपनी स्त्री के निमित्त वहाँ से—अपनी स्त्री के पास से भाये हुये पुरुषों का सम्मान करता है, उनसे बातलाप करता है, अपनी स्त्री के निमित्त उनको स्वीकार करके उनके साथ स्नेह करना, कुछ देना आदि व्यवहार भी करता है । उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भी शुद्धात्मा के स्वरूप की उपलब्धि के निमित्त शुद्धात्मा के आराधक, प्रतिपादक और साधक आचार्य, उपाध्याय और साधु इनके गुणस्मरण, दान आदि को स्वयं शुद्धात्मा की आराधना से रहित होता हुआ करता है ।

इस प्रकार अज्ञानी और संज्ञानी जीव के स्वरूप का व्याख्यान करने पर ये पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष नाम के सातों पदार्थ जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम से बने हैं इस तरह पीठिका का व्याख्यान घटित हो जाता है इसमें कोई विरोध नहीं है ।

इस तरह संज्ञानी जीव के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें हुई हैं । ऐसे ही पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिका के अधिकार में छह गाथाओं द्वारा यह प्रथम अन्तराधिकार कहा गया है ॥७६॥

विशेषार्थ—इस गाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि “ये आस्रव जीव में लगे हुये हैं, अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःख और दुःख के फल हैं ऐसा जानकर उनसे दूर हो जाता है ।” यहाँ यह बात विचार करने योग्य है कि “ये आस्रव जीव में बंधे हुये हैं” यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा है क्योंकि निश्चयनय से तो जीव आस्रवों से स्पर्शित ही नहीं है । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने इस गाथा की उत्थानिका में ही कह दिया है कि “ज्ञान और आस्रव के अभाव का एक काल है—एक समय है ।” यहाँ यह ज्ञान भेदविज्ञानरूप है जो कि

वीतरागी महामुनि को होता है यह ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान का ही है चूंकि वहीं पर सांपरायिक आस्रव का अभाव हो जाता है । आगे इसी की टीका में यह भी कहा है कि “जैसे-जैसे यह विज्ञानघन स्वभाव होता है वैसे-वैसे यह आस्रवों से छूटता है और जैसे-जैसे यह आस्रवों से छूटता है वैसे-वैसे यह विज्ञानघन स्वभाव होता है ।” इन पंक्तियों से गुणस्थानों में जिस-जिस क्रम से आस्रव दूर होते हैं उस-उस क्रम से भेदज्ञान वृद्धिगत होता चला जाता है । आस्रव के ५ मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय और १५ योग ऐसे सत्तावन (५७) भेद होते हैं । पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि सभी आस्रव हैं, योग के अन्तर्गत आहारक, आहारकमिश्र नहीं होने से ५५ आस्रव हैं । चतुर्थ गुणस्थान में पांच मिथ्यात्व चार अनन्तानुबंधी की कषायें निकल गई हैं । आगे छठे में मिथ्यात्व, अविरति दोनों नहीं हैं कषायों में भी संज्वलन और नोकषायें हैं । दशवें गुणस्थान के ऊपर ही कषायों का सर्वथा अभाव हो जाने से यह जीव निरास्रव होता है । हां, योग के निमित्त से यहाँ भी ईर्ष्यापथ आस्रव है किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है ।

इसी गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि जीव और पुद्गल यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव से परिणमनशील नहीं माने जायेंगे तो नव पदार्थ की व्यवस्था ही नहीं बनेगी अतः कथंचित् ये दोनों द्रव्य विभावभाव से परिणमन करते ही हैं । विषय कषायों में निमग्न हुआ मिथ्यादृष्टि अशुभोपयोगी ही है । कोई सम्यग्दृष्टि शुद्धात्मा के अनुभव से रहित है अतः शुभोपयोगी है । कोई मिथ्यादृष्टि भी शुभोपयोगी होता है । अशुभोपयोगी और शुभोपयोगी दोनों ही आत्मा द्रव्य भाव, दोनों रूप पुण्य-पाप, आस्रव और बंध इन चार पदार्थों के कर्ता होते ही हैं । जो शुद्धोपयोगी वीतरागी महामुनि हैं वे निर्विकल्पध्यान में स्थित होकर संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थों के कर्ता होते हैं । इनके अतिरिक्त जो सम्यग्दृष्टि हैं चतुर्थ, पंचम या छठे गुणस्थानवर्ती हैं वे अपने-अपने गुणस्थान के योग्य षट् आवश्यक क्रिया आदि में तीन होते हुये पुण्य, आस्रव, बंध और एकदेशरूप संवर, निर्जरा के कर्ता होते हैं ।

यहाँ श्रीजयसेनाचार्य ने बहुत ही अच्छा कहा है कि जब तक कोई मुनि निर्विकल्प-ध्यान में स्थित नहीं हो पाता है तब तक उसका कर्तव्य है कि वह पंचपरमेष्ठी के गुणों के स्मरण आदि रूप भक्ति करता रहे चूंकि यह उपासना शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये साधन है । ‘उन्हें दान आदि भी देवे’ इसमें श्रावकों की मुख्यता है । उदाहरण से स्पष्ट किया है

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्; --

(८० अ०) कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।

ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणो ॥७५ अ०॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं ।

न करोत्येवमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

कि जैसे कोई व्यक्ति अथवा रामचन्द्र जैसे महापुरुष ने भी सीता के समाचार को लाने वाले हनुमान का सम्मान किया था बड़े प्रेम से उनसे सीता के समाचार पूछे थे इत्यादि । वैसे ही शुद्धात्मा की आराधना आदि में लगे हुये आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन परमेष्ठी आज विद्यमान हैं इनकी उपासना, भक्ति, आराधना, इन्हें आहारदान आदि देना आदि क्रियाओं से उनकी उपासना करे यह गुरुभक्ति शुद्धात्मा के लिये साधनभूत है ।

श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी अपनी टीका में एक पद रखा है कि "इति विकल्पानंतरं शिथिलितकर्मविपाको" आस्रव के और जीव के लक्षण का ज्ञानरूप विकल्प जो हुआ था उसके अनंतर अर्थात् निर्विकल्प अवस्था में पहुँचने पर कर्मोदय शिथिल होकर विज्ञानघनस्वभावी होकर आस्रव से छूट जाता है । यही बात श्रीजयसेनाचार्य ने कही है कि निर्विकल्पध्यान में यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होता हुआ आस्रवों से छूट जाता है अतः दोनों टीकाकारों का एक ही अभिमत है ऐसा समझना चाहिये । अन्तर यही है कि श्रीअमृतचंद्रसूरि की पंक्तियाँ गूढ़ हैं और श्रीजयसेनाचार्य की पंक्तियाँ सरल हैं बस और कोई अन्तर नहीं है ।

उत्थानिका—यह आत्मा ज्ञानी हुआ यह कैसे जाना जायेगा ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(कर्मणः परिणामं च तथा एव नोकर्मणः च परिणामं न करोति) कर्म के परिणाम तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता है (यः आत्मा एनं जानाति सः ज्ञानी भवति) जो आत्मा इसको जानता है वह ज्ञानी होता है ।

(८० अ०) जो जीव कर्म नोकर्मों को पुद्गल का कर्ता मान रहा ।

नहि आत्मा इनका उपादान शुद्धात्मा उसको जान रहा ॥

वे परमसमाधी में स्थित मुनिजन ज्ञानी कहलाते हैं ।

व्यवहार क्रियाओं से छुटकर बस निश्चय में रम जाते हैं ॥७५ अ०॥

आत्मख्यातिः—यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्श-
रसगंधवर्णशब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि
परमार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण
कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव
व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा । किंतु परमार्थतः पुद्गलपरिणा-
मज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनो-
र्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वा-
त्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात् । न
चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबन्धव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणाम-
निमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात् ॥७५॥

आत्मख्याति—जो नियम से मोह रागद्वेष और सुख दुःख आदि रूप से अंतरंग
में उत्पन्न होने वाले कर्म के परिणाम तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण एवं शब्द, बंध, संस्थान,
स्थूलता और सूक्ष्मता आदि रूप से बाहर में उत्पन्न होने वाले नोकर्म के परिणाम हैं ये
समस्त भी परमार्थ से पुद्गलपरिणाम और पुद्गल के ही हैं । जैसे घड़ा और मिट्टी में
व्याप्य-व्यापक भाव के सद्भाव से कर्ता-कर्मपना है वैसे ही पुद्गलद्रव्य से स्वतंत्र व्यापक
कर्तारूप से हुये स्वयं व्याप्यरूप होकर कर्मरूप से किये गये हैं अतः पुद्गल के कर्म हैं ।
किंतु पुद्गलपरिणाम और आत्मा में घड़े और कुंभकार के समान व्याप्य-व्यापक भाव का
अभाव होने से कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती है अतः यह आत्मा कर्म और नोकर्म
को नहीं करता है । किंतु परमार्थ से देखा जाये तो पुद्गलपरिणाम का ज्ञान और पुद्गल
इन दोनों में घट और कुंभकार के समान व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्ता
कर्मत्व की सिद्धि न होने पर आत्मा के परिणाम और आत्मा में घड़े और मिट्टी के समान
व्याप्य-व्यापक भाव का सद्भाव होने से आत्मद्रव्यरूप कर्ता स्वतंत्र व्यापक होकर स्वयं
व्याप्यमान है अतः पुद्गलपरिणाम के ज्ञान को कर्मरूप से करते हुये जो यह आत्मा को
जानता है वह अत्यंत भिन्न ज्ञानी हुआ ज्ञानी ही है, कर्म नोकर्म का कर्ता नहीं है । ऐसा
होने पर ज्ञाता—आत्मा के पुद्गल परिणाम व्याप्य नहीं हैं क्योंकि पुद्गल और आत्मा में

शार्दूलविक्रीडित—व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नेवातदात्मन्यपि,
 व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
 इत्युद्दामविवेकधस्मरमहो भारेण भिदस्तमो,
 ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४६॥

ज्ञेय-ज्ञायक भाव का संबंध व्यवहार मात्र से है तो भी पुद्गलपरिणाम निमित्तक ज्ञान ही ज्ञाता-आत्मा में व्याप्य है ऐसा समझना ॥७५॥

विशेषार्थ—जो सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहे वह व्यापक है तथा जो किसी एक प्रकार में व्याप्त होकर रहे वह व्याप्य है । जैसे वृक्षपना यह व्यापक है क्योंकि सभी प्रकार के वृक्षों में व्याप्त होकर रहता है तथा आस्रत्व या निबत्त्व व्याप्य है क्योंकि वह एक प्रकार के वृक्ष में व्याप्त होकर है । घड़े में और मिट्टी में व्याप्य-व्यापक भाव है, घड़ा व्याप्य है और मिट्टी व्यापक है । मिट्टी घड़ा, सकोरा, सराव आदि सभी में है किंतु घड़ा एक प्रकार विशेष में ही है । इस प्रकार से पुद्गल ब्रह्मकर्म के निमित्त से हुये रागद्वेषादि परिणाम यहाँ कर्म हैं तथा स्पर्श, रसादि नोकर्म हैं ये सब पुद्गल के द्वारा ही बनाये गये हैं इसलिये ये 'कर्म' हैं तथा पुद्गल इनका कर्ता है । इस प्रकार पुद्गल ही इन कर्म नोकर्म के कर्ता हैं तथा ये पौद्गलिक विभाव सर्व ही पुद्गल के कर्म हैं । इनमें ही व्याप्य-व्यापक भाव घटित है, जैसे कुंभकार और घड़े में व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है । यद्यपि कुंभकार कर्ता है घड़ा कर्म है फिर भी इनमें निमित्त-निमित्तिक संबंध होने से कर्ता कर्मपना घटित है । यही कारण है कि आत्मा अपने परिणामों का कर्ता है और जाननेरूप क्रिया का कर्ता होने से वह ज्ञान ही आत्मा का कर्म है, उसी में व्याप्य-व्यापक भाव है । इसलिये यह आत्मा जब पुद्गल के कर्म नोकर्म को नहीं करता है, मात्र जानता है—ज्ञाता बना रहता है वही ज्ञानी है । यह अवस्था निर्विकल्पध्यान में ही घटित होती है ।

अब श्रीअमृतचन्द्रसूरि कलशकाव्य को कहते हैं—

शार्दूलविक्रीडित छन्द—व्याप्यव्यापक भावरूप एक में अन्य स्वरूप नहीं ।
 द्वयं ओ गुण भाव भावक बिना कर्ता न कर्म स्थितौ ॥
 ऐसा श्रेष्ठ विवेक भेद कर जो, मिथ्यान्धकार नशो ।
 सो ज्ञानी यह ग्रन्थ शोभित अहो, कर्तृत्व शून्य कहे ॥४६॥

(भूमिका)—अतः परं यथाक्रमेणकादशगाथापर्यंतं पुनरपि संज्ञानीजीवस्य विशेष-
व्याख्यानं करोति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीवः कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवोपादानरूपेण
निश्चयेन कर्म नो कर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेन जानाति यः
स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण 'कम्मस्स य परिणामं,' इत्यादिप्रथमगाथा । ततः परं पुण्य-
पापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकं । अथ

काव्यार्थ—व्याप्य-व्यापक भाव संबंध तो तत्स्वरूप में ही होता है अतत्स्वरूप में
नहीं । और व्याप्य-व्यापक भाव के संभव के बिना—हुए बिना कर्त्ताकर्म की स्थिति कंसी ?
अर्थात् कर्त्ताकर्म की स्थिति नहीं हो सकती है । ऐसे प्रबल विवेकरूप और सबको घासीमूत
करने के स्वभाव वाले ज्ञान प्रकाश के भार से अज्ञानांधकार को भेदता हुआ यह आत्मा
ज्ञानस्वरूप होकर उस समय कर्तृत्व से रहित हुआ शोभित होता है । ४६।

भावार्थ—यह कर्त्ता-कर्म का सम्बन्ध जब छूट जाता है तब वह आत्मा ज्ञानी हो
जाता है । यह पूर्णज्ञान तो केवलज्ञानी के होता है उससे पूर्व श्रेणी में महामुनि निर्विकल्प-
ध्यान में अनुभव करते हैं । वे मात्र ज्ञाता द्रष्टा ही रहते हैं । शिर पर अंगोठी जला देने
पर भी उन्हें भान नहीं होता है वे ही ज्ञानी कहलाते हैं । इससे पहले श्रद्धान मात्र से
अपने आप को ज्ञाता द्रष्टा समझते हैं, विश्वास करते हैं किन्तु राग-द्वेष आदि रूप से तद्रूप
परिणत हो जाने से ज्ञानी नहीं हो पाते हैं । आगे यही बात श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं ।

भूमिका—अब इससे आगे यथाक्रम से ग्यारह गाथा पर्यंत पुनरपि संज्ञानी जीव
का विशेष व्याख्यान करते हैं । उसमें ग्यारह गाथाओं में से 'यह जीव मिट्टी और कलश के
समान उपादान रूप से निश्चयनय से कर्म और नोकर्म का कर्त्ता नहीं है, ऐसा जानता
हुआ जो स्वसंवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा को जानता है वह ज्ञानी है । इस प्रकार कथनरूप
से 'कम्मस्स य परिणामं' इत्यादि पहली गाथा है । इसके बाद व्यवहारनय से पुण्य-
पापादि परिणामों को यह जीव करता है किन्तु निश्चयनय से नहीं करता है इस कथन

कर्मत्वं स्वपरिणामत्वं सुखदुःखादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण 'णवि परिणमदि' इत्यादिगाथात्रयं । तदनंतरं पुद्गलोपि वर्णादिस्वपरिणाम-स्यैव कर्त्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण 'णवि परिणमदि' इत्यादिसूत्रमेकं । अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथन-मुख्यतया 'जीवपरिणाम' इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण 'णिच्छयणयस्स' इत्यादिसूत्रमेकं । ततश्च व्यवहारेण जीवः पुद्गलकर्मणां कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण 'ववहारस्सदु' इत्यादिसूत्रमेकं । एवं ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति ।

की मुख्यता से एक गाथा सूत्र कहेंगे । पुनः कर्मरूप स्वपरिणाम को और सुख दुःखादिकर्म के फल को जानते हुये भी यह आत्मा उदय में आये हुये परद्रव्य को नहीं करता है इस प्रकार प्रतिपादन करने रूप से 'णवि परिणमदि' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे । अनंतर पुद्गल भी वर्णादि रूप अपने परिणाम का ही कर्त्ता है ज्ञानादिरूप जीव के परिणाम का कर्त्ता नहीं है ऐसे कथनरूप से 'णवि परिणमदि' इत्यादि एक गाथा सूत्र कहेंगे । इसके बाद जीव और पुद्गल में परस्पर में निमित्तरूप से कर्त्तापिता होते हुये भी परस्पर में उपादानरूप से कर्त्तापिता नहीं है इस कथन की मुख्यता से 'जीव परिणाम' आदि तीन गाथायें कहेंगे । पुनः निश्चय से जीव का अपने परिणामों के साथ ही कर्त्ता-कर्म भाव है और भोक्ता-भोग्य भाव है ऐसे प्रतिपादन रूप से 'णिच्छयणयस्स' इत्यादि एक गाथा सूत्र कहेंगे । अनंतर व्यवहारनय से यह जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है ऐसे कहनेरूप से 'ववहारस्स दु' इत्यादि एक गाथा सूत्र कहेंगे । इस तरह ज्ञानी जीव के विशेष व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं द्वारा द्वितीयस्थल की समुदायपातनिका कही गई है । अब आगे की उत्थानिका कहेंगे ।

उत्थानिका—यह आत्मा ज्ञानीभूत है यह कैसे जाना जायेगा ? ऐसा प्रश्न होने पर भावायंदेव कहते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेथ परिणामं ण करेदि एव-
मादा जो जाणदि यथा भूतिका कलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मणः नोकर्मणश्च परि-
णामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं न करोत्यात्मेति यो जानाति 'सो हवदि णाणी'
स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति इति ज्ञानीभूतजीवलक्षण-
कथनरूपेण गाथा गता ॥८०॥

(उत्थानिका)—अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति :—

(८१ ज०^१) कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।

धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

तात्पर्यवृत्ति—जैसे मिट्टी कलश को उपादानरूप से करती है उसी प्रकार से कर्म
और मोक्षार्थ के जो परिणाम हैं जबको इस पुद्गल ग्रन्थ के द्वारा उपादानरूप से किया जाने
से यह आत्मा उनको नहीं करता है ऐसा जो जानता है वही आत्मा ज्ञानी होता है । वह
आत्मा निश्चय से शुद्ध आत्मा को परमसमाधि के बल से भावित करता हुआ ज्ञानी होता
है । इस प्रकार ज्ञानी हुये जीव के लक्षण को कहने रूप से एक गाथा पूर्ण हुई ॥८०॥

भावार्थ—यहाँ श्रीजयसेनाचार्य ने स्पष्ट कह दिया है कि जो मुनि शुद्धोपयोग में
स्थित होकर परमसमाधि नामक शुक्लध्यान के बल से शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं—
जानते हैं वे ही ज्ञानी कहलाते हैं । इस ग्रंथ में सर्वत्र 'ज्ञानी' शब्द से शुद्धोपयोगी, निर्वि-
कल्पध्यानी ही विवक्षित हैं ।

उत्थानिका—पुण्य पाप आदि परिणामों को यह आत्मा व्यवहारनय से करता है
ऐसा प्ररूपित करते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा धर्मादीन् परिणामान् कर्ता भणितः स केन उपायेन सः कर्ता
न) आत्मा धर्मादि परिणामों का कर्ता कहा गया है और किसी नय से यह इनका कर्ता
नहीं भी है । (यः जानाति सः ज्ञानी भवति) जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी होता है ।

(८१ ज०) यह आत्मा व्यवहारिक नय से पुद्गल भावों का कर्ता है ।

जो पुण्य पाप रागादिभाव उनसे नहि वह छुट सकता है ॥

पर निश्चय नय से वही जीव त्रैकालिक शुद्ध कहाता है ।

वह मात्र जानता कर्ता नहि जिससे ज्ञानी बन जाता है ॥

१. इसकी आत्मख्याति टीका नहीं है ।

कर्ता आत्मा भणितः न च कर्ता केन स उपायेन ।

धर्मादीन् परिणामान् यः जानाति स भवति ज्ञानी ॥

तात्पर्यवृत्तिः—कर्ता आत्मा भणितो कर्तात्मा भणितः न च कर्ता सो न च कर्ता भवति स आत्मा केन उपायेन केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत्, निश्चयेन अकर्ता व्यवहारेण कर्तेति । कान् । धर्मादी परिणामे पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् जो जाणदि सो हवदि जाणी ख्यातिपूजालाभादिसमस्त रागादिविकल्पोपाधिरहित-समाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयव्यवहाराभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्व-कथनरूपेण गाथा गता ॥८१॥

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्; —

(८२ ज०) णवि परिणमइ ण गिल्लइ उत्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए ।

जाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६ अ०॥

तात्पर्यवृत्ति—यह आत्मा कर्ता भी है और कर्ता नहीं भी है, किसी उपाय से—किसी नय विभाग से । अर्थात् निश्चयनय से यह पुण्य-पाप आदि कर्मजनित उपाधि परिणामों का कर्ता नहीं है और व्यवहारनय से यह इन परिणामों का कर्ता है । ख्याति, पूजा, लाभादि, समस्त रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित समाधि में स्थित होकर जो मुनि ऐसा जानते हैं वे ज्ञानी हैं । इस प्रकार निश्चय व्यवहार की अपेक्षा अकर्तृत्व और कर्तृत्व के कथनरूप से गाथा पूर्ण हुई ॥८१॥

उत्थानिका—पुद्गलकर्म को जानते हुये इस जीव का पुद्गल के साथ कर्ता कर्म-भाव है या नहीं ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी पुद्गलकर्मनिकविधं जानन् अपि) ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को जानते हुये भी (खलु परद्रव्यपर्याये न परिणमति न गृह्णाति न अपि उत्पद्यते) निश्चित ही परद्रव्य की पर्यायों में न परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न उनरूप से उत्पन्न ही होता है ।

(८२ ज०) पुद्गल की नानाभेद रूप जो कर्म अवस्था मानी है ।

उनको उस रूप जानकर भी नहि उसमें परिणति ठानी है ॥

ऐसा सहजानन्दी ज्ञानी नहि उनको ग्रहण कभी करता ।

परद्रवरूप पर्यायों में निश्चय से नहि वह रह सकता ॥७६ अ०॥

नापि परिणति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपययि ।

जानी जानन्तपि खलु पुद्गलकर्मनिकविधं ॥७६॥

आत्मख्यातिः—यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गल-द्रव्येण स्वयमंतर्व्यापिकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्तपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापिको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वणस्य पुद्गलस्य न जानती ज्ञानिगः पुद्गलेन सह न कर्तुं कर्मभावः ॥७६॥

(उत्थानिका)—अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति निरूपयति :---

आत्मख्याति—यह ज्ञानी पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म को जानता है । कर्म का स्वरूप सामान्यरूप से तीन प्रकार है—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य । सिद्ध हुये को ग्रहण करना प्राप्य है, वस्तु की अवस्था का पलटना—विकाररूप होना विकार्य है और जो अवस्था पहले नहीं थी फिर उत्पन्न हो जाये उसे निर्वर्त्य कहते हैं । वह पुद्गल का परिणाम तीनों ही स्वरूप से पुद्गलद्रव्य से व्याप्य—व्याप्त होने योग्य है सो यह पुद्गलद्रव्य आप अन्तर्व्यापक होता हुआ आदि, मध्य और अन्त तीनों भावों में व्याप्त होकर उसको ग्रहण करता है, उसरूप परिणमन करता है, उसस्वरूप से उपजता है, इस प्रकार वह परिणाम पुद्गलद्रव्य के द्वारा ही किया गया है, इस विषय को ज्ञानी जानता है फिर भी आप उसमें अन्तर्व्यापक होकर बाहर में स्थित परद्रव्य के परिणाम को आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर न उसरूप परिणमन करता है, न उसको ग्रहण करता है और न उसरूप उपजता ही है । जैसे मिट्टी कलशरूप होती है, उसको तादात्म्यरूप से ग्रहण करती है और उसको उत्पन्न करती है, वैसे ही यह ज्ञानी इस मिट्टी से होने वाले कलश की तरह कर्मरूप से ग्रहण आदि नहीं करता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि जो प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य लक्षण वाले, व्याप्यलक्षण परद्रव्य का परिणामस्वरूप कर्म है उसे नहीं करते हुये मात्र उस पुद्गलकर्म को जानते हुये भी ज्ञानी जीव का पुद्गल के साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है ॥७६॥

उत्थानिका—पुद्गलकर्म को जानते हुये जीव का पुद्गल के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है ऐसा निरूपण करते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—पुद्गलकर्म अणेर्यावहं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारण-
भूतेन क्रियमाणं पुद्गलकर्मनिकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं जाणंती वि हु विशिष्टभेदज्ञानेन
जानन्तपि हु स्फुटं सः । कः कर्त्ता, णाणी सहजानंदैकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्त्रयोर्भेद-
ज्ञानी णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्यपज्जाये तत्पूर्वोक्तं परद्रव्यपर्यायरूपं
कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृह्णाति न च तदा-
कारेणोत्पद्यते । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धा-
भावात् । तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो
नास्तीति ॥८२॥

तात्पर्यवृत्ति—कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य उपादानकारणभूत है । इस पुद्गल के
द्वारा किये गये पुद्गलिक कर्म मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति के भेद से भेवरूप अनेक प्रकार
के हैं । विशिष्ट भेदज्ञान के द्वारा स्पष्टरूप से जानते हुये भी सहजानंद एकस्वभाव निज-
शुद्धात्मा और रागादि आलस्य इन दोनों में भेद करने वाला भेदज्ञानी—महामुनि निश्चयनय
से उन पूर्वोक्त परद्रव्य पर्यायभूत कर्मरूप से न परिणमन करता है न तादात्म्यरूप से उन्हें
ग्रहण करता है और न तदाकार से उत्पन्न ही होता है जैसे कि मिट्टी स्वयं उपादानरूप
से ही कलशरूप परिणत हो जाती है अतः यह मिट्टी कलश में तादात्म्यरूप से है और
तद्रूप ही है वैसे ही यह आत्मा पुद्गल कर्मरूप नहीं होता है ।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—मिट्टी और कलश के समान इस जीव का उन पुद्गल कर्मों के साथ
तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है । इससे यह तात्पर्य हुआ कि पुद्गल कर्म को जानते हुये
जीव का पुद्गल के साथ निश्चय से कर्त्ता-कर्मभाव नहीं है ॥८२॥

विशेषार्थ—‘कुंभकारः घटं करोति—निर्मापयति’ कुंभकार घट को कर्त्ता है—
बनाता है । इस वाक्य में कुंभकार घट का कर्त्ता है किन्तु वह निमित्तरूप से करता है ।
मिट्टी स्वयं घटरूप से परिणत होती है अतः वही मिट्टी ही घटाकार बनी है वह घट
मिट्टी की ही अवस्था—पर्याय विशेष होने से विकार्य है । इस हेतु से घट का उपादान
कारण मिट्टी है । उसी प्रकार से कर्मों का उपादान कारण पुद्गलद्रव्य है जीव के परि-

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति इति चेत्; —

(८३ ज०) नापि परिणमति ण गिल्लवि उत्पज्जति ण परद्वयपर्याये ।

जाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अपीयविहं ॥७७ अ०॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्वयपर्याये ।

जानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ॥७७॥

णाम उसके लिये निमित्त हैं यह बात आगे इसी ग्रंथ में ग्रंथकार स्वयं कहेंगे । यहाँ जानी की यह जानने रूप अवस्था निर्विकल्प ध्यान में अनुभवरूप है । अथवा उपादानरूप से यह जानी इन कर्मरूप से न परिणत ही होता है न इन्हें ग्रहण ही करता है और न इनरूप उत्पन्न ही होता है । यह ध्यान चतुर्थगुणस्थान से छठेगुणस्थान तक है आगे निर्विकल्प-ध्यान में मात्र आत्मा का ज्ञायक भाव ही रह जाता है पुनः बीतराग की चरमसीमा में पहुँचने के बाद जब केवलज्ञान हो जाता है तब यह पूर्णज्ञानी आत्मा साक्षात् ही इन कर्मों का अकर्ता हो जाता है ।

उत्थानिका—अपने परिणाम को जानते हुये जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्म-भाव क्या है क्या नहीं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जानी स्वकपरिणामं अनेकविधं जानन् अपि खलु परद्वयपर्याये न परिणमति न गृह्णाति न उत्पद्यते अपि) जानी अपने अनेक प्रकार के परिणामों को जानता हुआ भी निश्चय से परद्वय और उनकी पर्यायरूप से न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनरूप से उत्पन्न ही होता है ।

(८३ ज०) जानी मुनि अपनी आत्मा के नाना विभाव पर्यायों को ।

परद्वय समझकर निश्चय से परिणमन कभी उसरूप न हो ॥

जाता दृष्टा बस बना रहे नहि उसको कभी ग्रहण करता ।

उतमें उत्पन्न न होता है क्योंकि कर्ता वह नहि इनका ॥७७ अ०॥

आत्मख्यातिः—यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यातेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादि-मध्यातेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७७॥

(उत्थानिका)—अथ स्वपरिणामं संकल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणाम-निमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसंबन्धो नास्तीति दर्शयन्ति—

आत्मख्याति—ये प्राप्य विकार्यं और निर्वर्त्यं इन तीन प्रकार के लक्षण से व्याप्य कर्म आत्मा के अपने परिणाम हैं । यह ज्ञानी आत्मा जिस हेतु से इन अपने परिणामरूप कर्म को आप स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आवि, मध्य और अन्त में व्याप्य कर उन्हीं को ग्रहण करता हुआ, उन्हींरूप परिणमन करता हुआ और उन्हींरूप से उत्पन्न होता हुआ अपने परिणामरूप कर्म को करता है उन कर्म को जानते हुये यह ज्ञानी स्वयं अन्तर्व्यापक है । “जैसे कि मिट्टी कलश को व्याप्त होकर करती है” किन्तु इससे भिन्न यह आत्मा आप उस बाह्य में स्थित परद्रव्य के परिणाम में आदि मध्य अन्त में व्याप्त होकर न तो उसे ग्रहण करता है, न उसरूप परिणमन करता है और न उसरूप उत्पन्न ही होता है । इसी हेतु से प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य इन तीन रूप से व्याप्य लक्षण, परद्रव्य के परिणाम रूप कर्म न करते हुये मात्र अपने परिणाम को जानते हुये भी ज्ञानी का पुद्गल द्रव्य के साथ कर्ता कर्म भाव नहीं है ॥७७॥

भावार्थ—आत्मा का अपने ही परिणामों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है अतः उन परिणामों को करने से वे परिणाम इसके कर्म हैं किन्तु उससे भिन्न परद्रव्य के—पौद्गलिक कर्मों के उदय से होने वाले परिणाम इस ज्ञानी आत्मा के कर्म नहीं हैं । ज्ञानी आत्मा इन भावकर्मों को न करते हुये मात्र इनका जायक भाव से ज्ञाता रहता है ऐसा यहाँ अभिप्राय है । इसी बात को श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में कह रहे हैं ।

उत्थानिका—संकल्प विकल्परूप अपने परिणाम को जानते हुये इस जीव का उन परिणाम के निमित्त से उदय में आये हुये कर्मों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है ऐसा दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—सगपरिणामं अणोपशमिहं क्षायोपशमिकं संकल्प-विकल्परूपं स्वेनात्म-
नोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं स्वपरिणाममनेकविधं णाणी जाणंतो वि ह्व निर्विकारस्व-
संवेदनज्ञानी जीवः स्वपरमात्मनोविशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि ह्व स्फुटं णवि परिणमदि ण
गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदब्बपज्जाये तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागतं
पुद्गलकर्मपर्यायरूपं मृत्तिकाकलशरूपेणैव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन
गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च । कस्मात् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह
परस्परुपादानकारणाभावादिति । एतावता किमुक्तं भवति स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणाम-
निमित्तमुदयागतं कर्म जानतोपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥८३॥

तात्पर्यवृत्ति—उपादानकारणभूत अपनी आत्मा के द्वारा किये गये क्षायोपशमिक,
संकल्पविकल्परूप अनेक प्रकार के अपने परिणामों को यह निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानी जीव
अपनी परमात्मा के विशिष्ट भेदज्ञान के द्वारा स्पष्ट जानता है फिर भी पूर्वोक्त अपने
परिणाम के निमित्तभूत उदयागत, पुद्गल कर्म के पर्यायरूप से मिट्टी के द्वारा बने हुये कलश
के समान यह शुद्धनिश्चयनय से न परिणमन करता है, न तन्मयरूप से उन्हें ग्रहण करता
है और न उन पर्यायरूप से उत्पन्न ही होता है क्योंकि मिट्टी और कलश के समान उन
पुद्गल कर्मों के साथ जीव का परस्पर में उपादान कारण नहीं है । इस कथन से यह कहा
गया समझना चाहिये कि अपने क्षायोपशम परिणाम के निमित्त से उदय में आये हुये कर्मों
को जानते हुये भी इस जीव का उन भावकर्म के साथ निश्चयनय से कर्ता कर्मभाव
नहीं है ॥८३॥

भावार्थ—यह ज्ञानी आत्मा जब शुद्धोपयोगरूप परिणाम करता है तब उदय में
आये हुये कर्म को जानते हुये भी उन भावकर्म से परिणत नहीं होता है । यह श्रद्धा
निश्चयनय की अपेक्षा चतुर्थगुणस्थान से छठे तक रहती है आगे उपयोग में कर्तृत्व भाव
नहीं रहता है चूंकि आचार्यश्री ने निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानी पद दिया है तथा विशिष्ट
भेदज्ञान से जानना पद रखा है । आगे यह भी कहा है कि शुद्धनिश्चयनय से यह उन कर्म-
रूप परिणत नहीं होता है । पुनः यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि जीव का इन कर्मों
के साथ अग्नि की उष्णता के समान तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है । हाँ, निमित्त नैमित्तिक
सम्बन्ध तो है ही है । जैसे कि जल में उष्णता अग्नि के संयोग से पाई जाती है ।

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्; —

(८४ ज०) णवि परिणमदि ण गिह्लदि उप्पज्जवि ण परद्ववपज्जाए ।

णाणी जाणंतो वि हु पुद्गलकम्मफलमणंतं ॥७८ अ०॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।

ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतं ॥७८॥

आत्मख्यातिः—यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्म-फलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद्गृह्णता तथा परिणमता तथो-त्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं

उत्थानिका—पुद्गलकर्म के फल को जानते हुये इस जीव का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव है या नहीं ? ऐसा पूछने पर कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ज्ञानी अनंत पुद्गलकर्मफलं जानन् अपि खलु परद्रव्यपर्याये न परिण-मति न गृह्णाति न अपि उत्पद्यते) ज्ञानी आत्मा अनंत भेदरूप पुद्गलकर्म के फलों को जानते हुये भी निश्चित ही परद्रव्य और उनको पर्यायरूप से न परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न उनरूप से उत्पन्न ही होता है ।

आत्मख्याति—ये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य से व्याप्य लक्षण वाले जो सुख दुःख आदिरूप पुद्गलकर्म के फल हैं उनको यह पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तरंग में व्याप्त करके आदि, मध्य और अन्त में उन्हीं से व्याप्त होकर उनको ग्रहण करते हुये तथा उनरूप से परिणत होते हुये और उनरूप से ही उत्पन्न होते हुये उन कर्म के फल को करता है किन्तु ज्ञानी आत्मा इन कर्मों के फलों को जानते हुये भी स्वयं आप में अन्तर्व्यापक होकर रहता है अतः बाहर में स्थित परद्रव्य के परिणाम को मिट्टी के कलश के समान आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त करके न उन फलों को ग्रहण करता है न उनरूप से परिणमन करता है और न उनरूप से

(८४ ज०) शुद्धात्म में बसने वाले ज्ञानीमुनि कर्म अनंतों के ।

फल सुख-दुख आदि जानकर भी नहीं हर्ष-विषाद करें उनमें ॥

उन फल स्वरूप सहि परिणमते उत्पन्न न उनमें होते हैं ।

निश्चय से उनका ग्रहण नहीं बस निज फल को ही भोक्ते हैं ॥७८ अ०॥

मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च^१ । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन^२ सह न कर्तृकर्मभावः ॥७८॥

(उत्थानिका)—अथ पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्य-कर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति—

तात्पर्यवृत्तिः—पुद्गलकर्मफलमर्णतं उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रिय-माणं सुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षायानन्तकर्मफलं जाणी जाणतो वि हु वीतरागशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्न-सुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुटं ण परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परद्ववपज्जाये वर्तमानसुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणैव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति

उत्पन्न ही होता है इसलिये प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य से व्याप्यलक्षणवाले परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को नहीं करते हुये तथा सुख दुःखादि रूप पुद्गलकर्म के फलों को जानते हुये भी इस ज्ञानी का पुद्गल कर्म के साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है ॥७८॥

उत्थानिका—पुद्गलकर्म के फल को जानते हुये इस जीव का पुद्गल कर्मफल के निमित्तभूत द्रव्य कर्मों के साथ निश्चय से कर्ताकर्म का भाव नहीं है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उदय में आये हुये जो द्रव्यकर्म हैं वे उपादान कारणभूत हैं, उनके द्वारा किये गये सुख दुःखरूप जो फल हैं वे शक्ति की अपेक्षा अनन्त हैं । इन कर्म के फलों को जो वीतराग शुद्ध आत्मा के संवेदन से उत्पन्न सुखामृत रस, उससे तृप्त हुये भेदज्ञानी—महामुनि हैं वे निर्मल विवेकरूप भेदज्ञान के द्वारा जानते हुये भी स्पष्टरूप से शुद्धनय से वर्तमान के सुख दुःखरूप से परिणमन नहीं करते हैं । ये सुख दुःखरूप जो कर्म के फल हैं वे शक्ति की अपेक्षा को निमित्त करके उदय में आते हैं, परपर्यायरूप होने से पुद्गलकर्म ही हैं । ये ज्ञानी आत्मा इन पुद्गल कर्मों के फलों को जानते हुये भी मिट्टी के कलश के

१. किन्तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्मस्वयमन्तव्यपि को भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेऽप्यप्यतमेव गृह्णाति, तथैव परिणमति, तथैवोत्पद्यते च इति अधिकाः पाठः, दिल्ली, नया मन्दिर प्रती ।

२. पुद्गलफलेन इति पाठान्तरं ।

न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावादिति । किं च विशेषः । यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमति न गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते तर्हि किं करोति ज्ञानी जीवः, मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजा-लाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः । एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥८४॥

समान उत्तरूप से न तो परिणमन करते हैं न सन्मयरूप से उन्हें ग्रहण करते हैं और न उन पर्यायरूप से उत्पन्न ही होते हैं ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्योंकि मिट्टी और कलश के समान उन द्रव्य के साथ जीव का तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध नहीं है ।

विशेष यह है कि यह जीव पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से न परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न तदाकार से उत्पन्न ही होता है ।

प्रश्न—तब यह करता क्या है ?

उत्तर—यह ज्ञानी जीव मिथ्यात्व, विषय, कषाय, ख्याति, पूजा, लाभ, भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध, शल्या आदि विभाव परिणामों के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के विकल्प से शून्य है । पूर्ण कलश के समान चिदानन्द एक स्वभाव से भरा हुआ है । ऐसी शुद्धात्मा का ज्ञानी मुनि निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर ध्यान करते हैं ऐसा अभिप्राय समझना ।

इस प्रकार यह आत्मा निश्चय से द्रव्य कर्मादिक परद्रव्य रूप से परिणमन नहीं करता है इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥८४॥

विशेषार्थ—गाथा ७५ श्रीअमृतस्रंदसूरि, ८० जयसेनाचार्य के अनुसार इन पाँच गाथाओं में आचार्यदेव ने यह कहा है कि “जो आत्मा कर्मादि को करता नहीं है मात्र जानता है वह ज्ञानी है ।” प्रथम गाथा में कहा है जो कर्म और नोकर्म को कर्ता नहीं है मात्र जानता है वह ज्ञानी है । दूसरी गाथा में कहा है जो धर्मादि—पुण्यपापादि को करता

नहीं है जानता है वह जानी है। तीसरी में कहा है कि जो आत्मा पुद्गलकर्मों को ग्रहण आदि नहीं करता है मात्र जानता है वह जानी है, अग्रे चौथी में भी श्रायोपशमिक जन्य स्वपरिणाम को ग्रहणादि नहीं करता है मात्र जानता है ऐसे ही पाँचवीं गाथा में कहा है कि यह आत्मा पुद्गलकर्म के फलों को ग्रहणादि नहीं करता है मात्र जानता ही है।

यहाँ विचार करने का यह विषय है कि यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से इन कर्मों को ग्रहण नहीं करता है न इनरूप से परिणत होता है और न इन कर्म, कर्मफल आदि रूप से उत्पन्न ही होता है मात्र जानता है—ज्ञाता द्रष्टा बना रहता है। निश्चयनय की अपेक्षा एकोद्विग्य से लेकर सम्पूर्ण संसारी जीव राशि में यह व्यवस्था घटित हो जावेगी क्योंकि “सर्वे सुद्धा ह्युद्धणया” यह वाक्य है अतः चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि, देश-व्रती श्रावक व महाव्रती मुनि इन गाथाओं द्वारा कथित जानी आत्मा का श्रद्धान करते हैं वे अभी इस लक्षण वाले जानी नहीं बन पाये हैं। इसी बात को अन्त में पाँचवीं गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि “तर्हि किं करोति जानी जीवः ? तत्र वह जानी आत्मा क्या करता है ? वह मिथ्यात्व विषय कषाय आदि विभाव परिणाम के कर्तृत्व-भोक्तृत्वविकल्पों से शून्य होकर पूर्ण कलश के समान चिदानन्दस्वभाव से भरित ‘शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः’ शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर ध्यान करता है यह भावार्थ है। यह अवस्था महामुनि के शुद्धोपयोग में लीन होने पर निश्चयधर्मध्यान में या शुक्लध्यान में श्रेणी आरोहण में ही घटित होती है। यहाँ समयसार में अनेक स्थलों पर खुलासा है कि ‘जानी आत्मा’ कहने से शुद्धोपयोगी महामुनि जब ध्यान में स्थित होते हैं तभी मानी जाती है। श्रीजयसेनाचार्य ने तो सरल शब्दों में यह बात अनेक जगह कही ही है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि के वचनों का भी यही अभिप्राय है। क्योंकि पुद्गलकर्मों का उदय आने पर उसरूप से सुख-दुःख या हर्ष-विषाद आदि से परिणत न होना यह स्थिति ध्यान में ही घटेगी उससे पूर्व नहीं, यहाँ यही समझना चाहिये।

जीवपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्—

(८५ ज०) णवि परिणमदि ण गिल्लवि उप्पज्जदि ण परदब्बपज्जाए ।

पुग्गलदब्बं पि तहा परिणमइ सएहि भावेहि ॥७६ अ०॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।

पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकर्मभावेः ॥७६॥

आत्मख्यातिः—यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत् पुद्गलद्रव्यं स्वयमेतद्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । किंतु प्राप्त्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वय-

उत्थानिका—जीव के परिणाम को और जीव के स्वपरिणाम के फल को न जानते हुये पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्त्ता-कर्मभाव क्या होता है क्या नहीं होता है ? ऐसा पूछने पर कहने हैं—

अन्वयार्थ—(पुद्गलद्रव्यं अपि तथा परद्रव्यपर्याये नापि परिणमति न गृह्णाति न उत्पद्यते) पुद्गल द्रव्य भी उसी प्रकार से परद्रव्य और उनकी पर्यायरूप से न तो परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न उनरूप से उत्पन्न ही होता है किंतु (स्वकर्म भावेः परिणमति) अपने भावों से ही परिणमन करता है ।

आत्मख्याति—जिस हेतु से यह पुद्गलद्रव्य जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को भी नहीं जानता है । आप स्वयं अंतरंग में व्याप्त होकर परद्रव्य-जीवद्रव्य के परिणाम को मिट्टी के कलश के समान आवि, मध्य और अंत में व्याप्त करके न उनको ग्रहण करता है न उनरूप से परिणमन करता है और न उनरूप से उत्पन्न ही होता है किन्तु प्राप्त करने योग्य, विकृत होने योग्य और बनने योग्य—प्राप्य,

(८५ ज०) जैसे जीवात्मा पुद्गलमय नहि कभी परिणमन करता है ।

वैसे ही पुद्गल भी परकी पर्याय ग्रहण नहि करता है ।

परद्रव्य रूप परिणमन नही उत्पन्न न उनमें होता है ।

पुद्गल तो पुद्गलमय परिणामों से ही परिणत होता है ॥७६ अ०॥

मंतव्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्य च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणाम-फलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७६॥

स्वधरा छंदः—जानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणति पुद्गलव्याप्यजानन्,
व्याप्तुव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहो नित्यमत्यंतभेदात् ।
अजानात्कर्तृकमंभ्रममतिरनयोर्भाति तादन्न यावत्,
विज्ञानाच्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

विकार्यं और निर्वर्त्य इन तीन प्रकार से व्याप्यलक्षण स्वभाववाले कर्म को स्वयं-आप अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंत में उन्हें व्याप्त करके उन्हें ही ग्रहण करता है, उन्हींरूप से परिणमन करता है और उन्हींरूप से उत्पन्न होता है । इसी हेतु से प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य से व्याप्यलक्षणवाले परद्रव्य-जीवद्रव्य के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को स्वयं नहीं जानते हुये इस पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ कर्ता कर्मभाव नहीं है ॥७६॥

भावार्थ—जैसे जीव अपने शुद्ध परिणामों का ही उपादानरूप से कर्ता है अतः वे परिणाम ही उसके कर्म हैं । वैसे ही पुद्गलद्रव्य भी अपने परिणामरूप स्वभाव का ही कर्ता है और वे ही उसके कर्म हैं । एकद्रव्य दूसरे द्रव्य का न कर्ता है और न कर्म ही है । प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामरूप स्वभाव का ही कर्ता है और उसका अपना जो परिणामरूप कार्य है वही कर्म है । यह उपादानरूप से कथन है अथवा निश्चयनय की अपेक्षा कथन है । वैसे ही व्यवहारनय से निमित्त-नमित्तिक भाव से एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य के साथ कर्ता कर्म-भाव है ही है । इसे आचार्यदेव स्वयं अगली गाथाओं में कह रहे हैं ।

काव्यार्थ—जानी आत्मा तो अपनी और पर की परिणति को जानता हुआ प्रवर्तता है और पुद्गलद्रव्य तो अपनी तथा पर की परिणति को नहीं जानता हुआ भी प्रवर्तता है ।

शार्दूलविक्रीडित छन्दः—

जाने अन्य स्व की प्रवृत्ति बुझ जो, पुद्गल्य जाने नहीं ।
दोनों नित्यहि भेद अन्तर कहे, जो व्याप्य व्यापे नहीं ॥
यावत् ज्योहि करीतवत् नहि भिदे, ना ज्ञान ज्योति जगे ।
तावत् कर्तुं सुकर्म रूप मति ही, अज्ञान रूप लखे ॥५०॥

(उत्थानिका)—अथ जीवपरिणामं, स्वपरिणामं, स्वपरिणामफलं च जडस्वभाव-
त्वादजानतः पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति—

तात्पर्यवृत्तिः—एषः परिणमदि न गिह्णदि उपपज्जदि न परदध्यपज्जाए यथा जीवो
निश्चयेनानंतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न
तत्पर्यायरूपेणोत्पद्यते । पुद्गलद्वयं पि तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमंतर्ध्यापकं भूत्वा मृत्तिका-
द्रव्यकलशरूपेणैव चिदानंदकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन

इस प्रकार इन दोनों में सदा ही अत्यन्त भेद होने से ये दोनों परस्पर अंतरंग में व्याप्य-
व्यापक भाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं । फिर भी जीव का पुद्गल के साथ कर्ता कर्म-
भाव है ऐसी भ्रान्तबुद्धि अज्ञान के निमित्त से तभी तक उत्पन्न होती है जब तक कि भेद-
ज्ञान को करने वाली विज्ञानज्योति आरे की तरह निर्वयता या उग्रता से जीव और पुद्गल
में तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नहीं होती है । ५०।

भावार्थ—जब भेद विज्ञान प्रगट हो जाता है तब एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ
कर्ता कर्मभाव समाप्त हो जाता है । यह भेदविज्ञान ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही
कर्ताकर्म का भाव समाप्त करता है उससे पूर्व जितने-जितने रूप से कर्म प्रकृतियों की
व्युत्पत्ति होती जाती है उतने-उतने रूप में ही भेदज्ञान वृद्धिगत होता चला जाता है ।
चतुर्थगुणस्थान से छठेगुणस्थान तक श्रद्धान रूप से भेदज्ञान रहता है आगे ओणी में
बुद्धिपूर्वक कर्ता कर्मभाव नहीं रहता है और वीतरागी मुनि के सर्वथा इसका अभाव हो
जाता है ऐसा अभिप्राय है ।

उत्थानिका—यह पुद्गलद्रव्य जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को और अपने
परिणाम के फल को नहीं जानता है क्योंकि यह जडस्वभाव वाला है अतः निश्चयनय से
पुद्गल का जीव के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे जीव निश्चयनय से अनंत सुखादिस्वरूप को छोड़कर पुद्गल-
द्रव्यरूप से न परिणमत करता है, न तन्मयरूप से उन्हें ग्रहण करता है और न उनपर्याय-
रूप से उत्पन्न ही होता है । उसी प्रकार से पुद्गलद्रव्य भी स्वयं—आप अंतरंग में व्यापक

गृह्णाति न च जीवपर्यायिणोत्पद्यते । तर्हि किं करोति परिणमइ सर्वाहं भार्वाहं परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुणधर्मैरिति । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावादिति । एवं पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता ॥८५॥

होकर मिट्टीद्रव्य और कलशरूप के समान चिदानंद एकलक्षणवाले जीवस्वरूप से न परिणमन करता है, न जीवस्वरूप को तन्मय होकर ग्रहण करता है और न जीवपर्याय से उत्पन्न ही होता है ।

प्रश्न—तब क्या करता है ?

उत्तर—अपने वर्णादि स्वभावों से—परिणामों से—गुणों से—धर्मों से परिणमन करता है अर्थात् अपने ही वर्णादिस्वभाव परिणाम हैं, गुण हैं और धर्म हैं उनरूप से ही परिणमन करता है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्योंकि इस पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है जैसे मिट्टी का कलश के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है वैसे पुद्गल का जीव के साथ नहीं है, ऐसा समझना । इस प्रकार पुद्गलद्रव्य भी जीव के साथ परिणमन नहीं करता है इत्यादि व्याख्यान की मुख्यता से एक गाथा पूर्ण हुई ॥८५॥

विशेषार्थ—कातंत्रध्याकरण में सूत्र है । 'यः करोति स कर्ता' जो क्रिया को करता है वह कर्ता नाम से कहा जाता है पुनः 'यत्क्रियते तत्कर्म' जो कर्ता के द्वारा किया जाता है वह कारक 'कर्म' नाम से कहा जाता है । यहाँ कर्म के तीन भेद कहे हैं—प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य । जैसे ग्रामं गच्छति—ग्राम को जाता है वह प्राप्य कर्म का उदाहरण है यहाँ ग्राम प्राप्य—प्राप्त करने योग्य है, वहाँ कर्ता को पहुँचना है । विकार्य कर्म का उदाहरण है जैसे 'काष्ठानि दहति' लकड़ियों को जलाता है क्योंकि दहनक्रियारूप परिणाम से परिणत होने की शक्ति काष्ठ में है । पुनः निर्वर्त्य का उदाहरण यह है कि 'घटं करोति' कोई कुम्हार घड़े को करता है—बनाता है यह घट मिट्टी से घड़ेरूप बनाया गया है अतः यह निर्वर्त्य है ।

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह; —

(८६ ज०) जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गला परिणमन्ति ।

पुद्गलकर्मणिमित्तं तथैव जीवो वि परिणमइ ॥८० अ०॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति ।

पुद्गलकर्मणिमित्तं तथैव जीवोपि परिणमति ॥८०॥

यहाँ आचार्यश्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि यह जीव इन प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप से पौद्गलिक कर्म को नहीं करता है प्रत्युत अपने भावों को करता है अतः पुद्गलद्रव्य ही इन तीन रूप से परिणत होकर कर्मरूप बन जाता है । यही कारण है कि यह जीव इन पौद्गलिक कर्मों का उपादान रूप से कर्ता नहीं है । हाँ निमित्तरूप से कर्ता अवश्य है सो यहाँ विवक्षित नहीं है अतः जैसे यह आत्मा इन पौद्गलिक कर्मों के स्वरूप से न परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है और न इनरूप से उत्पन्न ही होता है वैसे ही पुद्गल भी जीव के भावरूप से न परिणमन करता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न इनरूप से उत्पन्न ही होता है ।

उत्थानिका—जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम इन दोनों में परस्पर में निमित्तमात्रपना है फिर भी इन दोनों में कर्ता कर्मभाव नहीं है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवपरिणामहेतुं पुद्गलाः कर्मत्वं परिणमन्ति) जीव के परिणामों को हेतु करके पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं । (जीवः अपि पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा एव परिणमति) जीव भी पुद्गलकर्म का निमित्त पाकर उसी प्रकार—कर्मरूप से परिणमन कर जाता है । (जीवः कर्मगुणान् न अपि करोति तथैव कर्म जीवगुणान्) जीव कर्म के गुणों को नहीं करता है । और उसी प्रकार से कर्म भी जीव के गुणों को नहीं करता है । (तु द्वयोः अपि अन्योन्यनिमित्तेन परिणामं जानीहि) फिर भी इन दोनों में परस्पर में निमित्तमात्र से

(८६ ज०) ज्यों जीवात्मा के रागद्वेष परिणाम निमित्तों को पाकर ।

पुद्गल भी कर्मरूप बनते संबंधी भावों को लाकर ॥

त्यों ही पुद्गल कर्मों के भी उदयादिक हेतु को पाकर ।

रागादिभावमय परिणमता यह जीव निमित्त स्वयं पाकर ॥८० अ० ॥

(८७ ज०) णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।

अण्णोण्णमिस्सेण दु परिणमं जाण दोल्लम्पि ॥८९ अ०॥

(८८ ज०) एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।

पुद्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सब्बभावाणं ॥८९ अ०॥ (त्रिकलम्)

नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।

अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणमं जानीहि द्वयोरपि ॥८९॥

एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।

पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ॥८९॥

आत्मख्यातिः—यतो जीवपरिणमं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति पुद्गलकर्म-
निमित्तीकृत्य जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः
परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य^१ पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां

परिणमन जानो । (एतेन कारणेन तु आत्मा स्वकेन भावेन कर्ता) इसी कारण से तो आत्मा
अपने भावों से कर्ता होता है (तु पुद्गलकर्मकृतानां सर्वभावानां कर्ता न) किन्तु पुद्गलकर्म
के द्वारा किये गये सर्व भावों का यह कर्ता नहीं है ।

आत्मख्याति—जिस हेतु से जीव के परिणामों को निमित्त करके ये पुद्गल वर्गणायें
कर्मरूप से परिणत हो जाती हैं । और पुद्गलकर्म को निमित्त बनाकर यह जीव भी परिण-
मन कर जाता है—रागद्वेष आदि भावों से परिणत हो जाता है । इस प्रकार जीव के

(८७ ज०) नहि उपादान से जीवात्मा कर्मादिरूप परिणमता है ।

नहि कर्म भि जीवस्वरूप बने वह पुद्गलमय ही रहता है ॥

नहि उपादान परिणमन करे फिर भी निमित्त बन जाते हैं ।

घट औ कुम्हार की भाँति निमित्त नैमित्तिक भाव धराते हैं ॥८९ अ०॥

(८८ ज०) इसलिए वास्तविकता यह है आत्मा निज भावों का कर्ता ।

निज आत्मभाव के द्वारा ही चैतन्य स्वरूप रमण करता ॥

पुद्गलकर्मों से बने हुए भावों का नहि वह कर्ता है ।

निश्चय तो ऐसा ही कहता व्यवहार नहीं कह सकता है ॥८९ अ०॥

कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रोभवेनेनैव द्वयोरपि परिणामः । ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाञ्जीवः स्वभावस्य कर्त्ता कदाचित्स्यात् । मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्त्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः । ततःस्थितमेतञ्जीवस्य स्वपरिणामेरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च ॥८०॥८१॥८२॥

परिणाम और पुद्गल के परिणाम में परस्पर में—एक दूसरे के प्रति हेतु रूप का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है इसलिये जीव के पुद्गल परिणामों के कर्त्ता कर्मपने की और पुद्गलकर्म के भी जीव के परिणामों के कर्त्ता-कर्मपने की सिद्धि नहीं है । हाँ, इनमें परस्पर में निमित्त—नैमित्तिक भाव मात्र का होना निषिद्ध नहीं है अतः परस्पर में एक दूसरे के प्रति निमित्तमात्र होने से ही इन जीव और पुद्गल के—दोनों में ही परिणमन देखा जाता है । इस कारण से मिट्टी के द्वारा बने कलश के समान ही अपने भाव के द्वारा अपने भाव को करने से यह जीव अपने स्वभाव का कर्त्ता कदाचित् होता है किन्तु जैसे मिट्टी के द्वारा वस्त्र नहीं बन सकता वैसे ही अपने भावों से परभावों का करना अशक्य होने से यह जीव पुद्गल भावों का कदाचित् भी कर्त्ता नहीं हो सकता है यह निश्चय है । इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जीव का अपने परिणामों के साथ ही कर्त्ताकर्मभाव और भोक्ता तथा भोग्य भाव स्थित है ॥८०—८१—८२॥

भावार्थ—श्रीकुंदकुंददेव ने स्वयं कहा है कि जीव के परिणाम का निमित्त लेकर ही पुद्गल कर्मरूप से बन जाते हैं और कर्मों के निमित्त से जीव भी रागद्वेषादि कर्मरूप से परिणमन कर जाता है । निमित्तमात्र से इन दोनों में एक दूसरे के प्रति कर्त्ताकर्मभाव है अतः अर्थापत्ति से यह ध्वनित हो जाता है कि इन दोनों में उपादान कर्तृत्व नहीं है फिर भी संसार और मोक्ष की व्यवस्था इसी निमित्त के निमित्त से ही देखी जा रही है । अब श्रीजयसेनाचार्य के सरल शब्दों को देखिये ।

(उत्थानिका)—अथ यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्येन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावं इत्यावेदयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—जीवपरिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति यथा कुंभकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसंबन्धिमिथ्यात्वरगादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्णा-योग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति पुग्गलकम्मणांमिच्च तद्देव जीवो वि परिणमदि यथैव च घटनिमित्तेन एवं घटं करोमीति कुंभकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्महेतुं लब्ध्वा जीवोपि निर्विकारचित्त्वमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरगादिविभावेन परिणम-तीति । अथ—एवमि कुब्बदि कम्मगुणे जीवो यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्गलकर्मगुणान्नकरोति । कम्मं तद्देव जीवगुणे कर्म च तथैवा-नंतज्ञानादिजीवगुणान्न करोति अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाणवोण्हंपि यद्यप्युपादान-

उत्थानिका—यद्यपि जीव और पुद्गल के परिणाम में परस्पर में निमित्तमात्रता है फिर भी निश्चयनय से इनमें कर्ताकर्मभाव नहीं है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—जैसे कुंभकार के निमित्त से मिट्टी घटरूप से परिणमन कर जाती है वैसे ही जीव से सम्बन्धित मिथ्यात्व रागादि परिणाम का निमित्त पाकर कर्मवर्णा योग्य पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से परिणमन कर जाते हैं । जैसे घट के निमित्त से इस प्रकार 'मैं घट को करता हूँ—बनाता हूँ' इन भावों से कुंभकार परिणत होता है वैसे ही उदय में आये हुये पुद्गलकर्मों का निमित्त प्राप्त कर यह जीव भी निर्विकार चित्-चैतन्य चम-त्कार परिणति को नहीं प्राप्त करता हुआ मिथ्यात्व रागादि विभाव भावों से परिणमन कर जाता है । यद्यपि इन दोनों में परस्पर के निमित्त से परिणमन होता है फिर भी निश्चयनय से जीव वर्णादि पुद्गलकर्म के गुणों को नहीं करता है और कर्म भी उसी प्रकार से अनंतज्ञानादिरूप जीव के गुणों को नहीं करता है । यद्यपि उपादानरूप से ये दोनों एक दूसरे के गुणों को नहीं करते हैं फिर भी परस्पर में निमित्तभाव से घड़े और कुंभकार के समान जीव और पुद्गल के परिणाम को—परिणमन को तुम जानो । इसी कारण से पूर्व में कथित इन दो गाथा सूत्रों के व्याख्यान से यह आत्मा निर्मल आत्मा की अनुभूतिलक्षण शुद्ध उपादानकारण के द्वारा अध्याबाध अनंत सुख आदि शुद्ध भावों का

रूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुम्भकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीव-
पुद्गलयोरिति । अथ—एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण एतेन कारणेन पूर्व-
सूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्यावा-
धानंतमुखादिशुद्धभावानां कर्ता । तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां
कर्ता भवत्यात्मा । कथं ? यथा मृत्तिकाकलशस्येति पुद्गलकर्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावानं
पुद्गलद्रव्यकर्मकृताणां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायिणामिति ।
एवं जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥८६॥८७॥८८॥

कर्ता है और इनसे विलक्षण अशुद्ध उपादान कारणभूत परिणामों से रागादि अशुद्ध
भावों का कर्ता है ।

प्रश्न—कैसे ?

उत्तर—जैसे कि मिट्टी उपादानरूप से कलश को बनाती है वैसे ही जीव अपने
उपादानभावों से अपने शुद्ध-अशुद्ध भावों का कर्ता है किन्तु पुद्गल द्रव्यकर्म के द्वारा किये
गये सर्वभावों का कर्ता नहीं है अर्थात् ज्ञानावरण आदि पौद्गलिककर्म पर्यायों का कर्ता
नहीं है । इस प्रकार से जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारण के व्याख्यान की
मुख्यता से तीन गाथाएँ पूर्ण हुई हैं ॥८६—८७—८८॥

भावार्थ—पहले पाँच गाथाओं से (७५, ७६, ७७, ७८, ७९ अ० ८०, ८१, ८२,
८३, ८४ ज०) आचार्यदेव ने यह कहा था कि यह आत्मा कर्म, नोकर्म, भावकर्म और
कर्म के फलों को नहीं करता है मात्र जानता है वैसे ही पुद्गल भी कर्म आदि को न जानते
हुये भी अपने कर्मरूप से ही परिणत होता है । यह सब कथन निश्चयनय की अपेक्षा से
था । पुनः यहाँ आचार्यदेव ने ८०, ८१, ८२, अ० ८६, ८७, ८८, ज० में कहा है कि जीव
और पुद्गल एक दूसरे के परिणामों का निमित्त करते हुये कर्मरूप परिणत होते हैं यह
व्यवहारनय की अपेक्षा से कथन है । आगे पुनः निश्चयनय की और व्यवहारनय की
प्रधानता लेकर भी जीव के कर्तृत्व भोक्तृत्व को सिद्ध कर रहे हैं । टीकाकार श्रीअमृतचंद्रसूरि
ने भी जो कुछ कहा है उसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में खुलासा कर दिया है ।

(८६ ज०) निश्चयनयस्य एवं आत्मा आप्णायमेव हि करोति ।

वेदयति पुनो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३ अ०॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।

वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥८३॥

आत्मख्यातिः—यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारा-
वारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापिको भूत्वादिमध्यांतेषू-
त्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुन-
रन्यत् । यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं

अन्वयार्थ—(निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मानं एव हि करोति) निश्चयनय का
यह कथन है कि आत्मा आत्मा को ही करता है (पुनः आत्मा तं च एव आत्मानं तु वेदयते
तु जानीहि) पुनः वह आत्मा अपनी आत्मा को ही भोगता है ऐसा तुम जानो ।

आत्मख्याति—जैसे समुद्र की तरंगों के उठने और विलय होने की अवस्था में पवन
का चलना और न चलना ही निमित्त है फिर भी समुद्र की इन दोनों अवस्थाओं में भी
पवन और समुद्र में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्ता कर्म की सिद्धि नहीं है अतः
समुद्र ही स्वयं-आप अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंत में तरंगों के उठने और तरंगों
के मिटने रूप दोनों अवस्था में व्याप्त होकर तरंग सहित व तरंगरहितरूप अपने को एक
ही करता हुआ प्रतिभासित होता है किन्तु वह अन्य किसी को नहीं करता है । उसी प्रकार
वही समुद्र उस पवन और समुद्र में भाव्य-भावक भाव का अभाव होने से परभाव को पररूप
से अनुभव करना अशक्य होने से उठती हुई तरंगों और मिटती हुई तरंगों रूप अपने को एक
ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है न कि अन्य किसी का अनुभव करता हुआ ।

(८६ ज०) निश्चयनय की दृष्टी से आत्मा आत्मा का ही कर्ता है ।

वह अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा का ही अनुभोक्ता है ॥

हे शिष्य ! जानकर तुम ऐसा कर्तृत्वबुद्धि का त्याग करो ।

निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बनकर निज आत्मा में अनुराग करो ॥८३ अ०॥

त्वात्मानमनुभवन्तात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । तथा ससंसारनिःसंसारवस्थयोः पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभविनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापिको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारवस्थे व्याप्य ससंसारनिःसंसारं वात्मानं कुर्वन्तात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् । तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्तात्मानमेकमेवानुभवन्प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ॥८३॥

उसी प्रकार पुद्गलकर्म के उदय का सम्भव होना जिसको निमित्त है ऐसी संसार सहित अवस्था और पुद्गलकर्म के उदय का असम्भव—नहीं हो सकना जिसको निमित्त है ऐसी संसार रहित अवस्था, इन दोनों अवस्थाओं में भी पुद्गलकर्म और जीव में व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से कर्ता-कर्मपने की सिद्धि नहीं होती है अतः जीव ही स्वयं—आप अंतरंग में व्यापक होकर आदि, मध्य और अंत में संसार सहित और संसार रहित अवस्थाओं को उत्पन्न करते ससंसार अथवा निःसंसाररूप अपने को करते हुये अपनी आत्मा को एक ही करते हुये प्रतिभासित होवे न पुनः अन्य-दूसरेरूप । उसी प्रकार यह जीव ही भाव्य भावक भाव का अभाव होने से परभाव को पर के द्वारा अनुभव करने में अशक्य है अतः ससंसार या निःसंसाररूप आत्मा एक अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होवे अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न होवे ॥८३॥

भावार्थ—आत्मा की संसार सहित अवस्था और संसार रहित अवस्था, ये दोनों ही पुद्गलकर्म के उदय के होने से और कर्मोदय के न होने से ही होती हैं फिर भी इन दोनों ही अवस्थाओं में यह आत्मा आप ही परिणमन करता है इसलिये अपने भावों का ही कर्ता-भोक्ता है । यह पुद्गलकर्म तो निमित्तमात्र है अतः निश्चयनय से यह आत्मा उन कर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं है । जैसे कि समुद्र चाहे तरंगों ले रहा हो चाहे स्तब्ध हो यद्यपि तरंगित होने में पवन का न चलना निमित्त है और तरंगित न होने में पवन का न चलना निमित्त है फिर भी वह समुद्र दोनों अवस्थाओं में एक ही है । वैसे ही यह आत्मा भी दोनों अवस्थाओं में एक ही है । अब श्रीजयसेनाचार्य के सरल शब्दों में देखिये ।

(उत्थानिका)—अथ तत एतदायाति—जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति ।

तात्पर्यवृत्तिः—निश्चयनयस्स एवं भावा अप्पाणमेव हि करेदि यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च । एवं यद्यपि द्रव्यकर्मादयासद्भावसद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिक-सुखदुःखाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति । अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति । न केवलं करोति वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं वेदयत्यनुभवति भुंक्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धो-

उत्थानिका—अब उपर्युक्त कथन से यह अर्थ आ जाता है कि जीव का अपने ही परिणामों के साथ निश्चयनय से कर्ता कर्मभाव और भोक्ता-भोग्यभाव होता है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यद्यपि पवन निमित्त होता है तो भी निश्चयनय से देखा जाय तो समुद्र ही कल्लोलों को करता है उन कल्लोलों रूप से परिणत होता है यह तो उदाहरण है । उसी प्रकार से यद्यपि द्रव्य कर्मों के उदय का सद्भाव न होना यह जीव के शुद्ध भाव में निमित्त है और द्रव्यकर्मों के उदय का सद्भाव होना यह जीव के अशुद्ध भाव में निमित्त है फिर भी निश्चयनय से निर्विकार परम स्वसंवेदनज्ञान से परिणत हुआ यह आत्मा ही उपादानरूप से अपने केवलज्ञानादि शुद्ध भावों को करता है और वैसे ही अशुद्धभाव से परिणत हुआ आत्मा ही अपने उपादानरूप से सांसारिक सुख दुःखादि अशुद्ध भावों को करता है । यहाँ पर परिणामों का परिणमन होना ही कर्तापिना है ऐसा जानना चाहिये । यह आत्मा केवल कर्ता है इतना ही नहीं है किन्तु यह वेदन भी करता है, अनुभव भी करता है—भोगता है—परिणमन करता है । किसका ? यह आत्मा अपनी शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखरूप शुद्ध उपादान से शुद्धात्मा का अनुभव करता है—उसरूप ही परिणत होता है और अशुद्ध उपादान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव करता है । यहाँ अनुभव करने को ही भोक्तापना कहा है अतः यह आत्मा ही अपने शुद्ध या अशुद्ध भावों का कर्ता

पादानेनाशुद्धात्मानं च । स कः कर्ता ? आत्मेति जानीहि । एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्व-
व्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥८६॥

है तथा यह आत्मा ही शुद्ध-अशुद्ध भावों का भोक्ता है यह अभिप्राय हुआ, ऐसा जानो । इस प्रकार से निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के व्याख्यान की मुख्यता से एक गाथा पूर्ण हुई ॥८६॥

भावार्थ—इस गाथा में आचार्यदेव ने कह दिया है कि निश्चयनय से यह आत्मा आत्मा का ही कर्ता है और आत्मा का ही भोक्ता है । टीकाकार श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि संसार सहित अवस्था में कर्मोदय का होना निमित्त है और निःसंसार—मुक्त अवस्था में कर्मोदय का न होना निमित्त है । इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने शुद्धात्मा और अशुद्धात्मा के रूप से दो भेद में कर दिया है । अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि निश्चयनय के शुद्धनिश्चयनय और अशुद्धनिश्चयनय ऐसे दो भेद हो जाते हैं । शुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा अपने शुद्ध—कर्मों के विकार से रहित, सिद्धस्वरूप ही भावों का कर्ता-भोक्ता है और अशुद्धनिश्चयनय से यह रागादि अशुद्ध भावों का कर्ता है तथा सांसारिक सुख-दुःखादि भावों का भोक्ता है । यह अवस्था संसारी और मुक्त जीवों में घटती है फिर भी शुद्धनिश्चयनय से संसार में भी यह आत्मा अशुद्धभावों का कर्ता-भोक्ता नहीं है । यह श्रद्धान चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक होता है । आगे ध्यान में—निर्विकल्प समाधि में यह आत्मा अपने शुद्धोपयोग में लीन होकर शुद्धभावों को अनुभव में लाता है पुनः शुक्लध्यान के बल से कर्मों का नाश कर पूर्ण शुद्ध-मुक्त—संसार रहित सिद्ध आत्मा बन जाता है । अब अगली गाथा में आचार्यदेव यह बतलायेंगे कि यह आत्मा पुद्गलकर्मों का भी कर्ता-भोक्ता है ।

अथ व्यवहारं दर्शयति :—

(६० ज०) व्यवहारस्य तु आत्मा पुद्गलकर्मं करोति नैकविधं ।

तं चैवपुणो वेदयद् पुद्गलकर्मं अण्येयविधं ॥८४ अ०॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधं ।

तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मनैकविधं ॥८४॥

आत्मख्यातिः—यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोप-योगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढी-स्ति तावद्व्यवहारः, तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन

उत्थानिका—अब व्यवहार को दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यवहारस्य तु आत्मा नैकविधं पुद्गलकर्म करोति) व्यवहारनय का ऐसा मत है कि यह आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को करता है (पुनः तदेव अनेक-विधं पुद्गलकर्म वेदयते) पुनः उसी अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म को भोगता है ।

आत्मख्याति—जैसे अंतरंग में व्याप्य-व्यापक भाव से मिट्टी के द्वारा कलश के किये जाने पर और भाव्य-भावक भाव से मिट्टी के द्वारा ही उसका अनुभव किया जाने पर भी कुंभकार बाहर में व्याप्य-व्यापक भाव से कलश के होने में सम्भव ऐसे अनुकूल व्यापार को करता हुआ तथा कलश में भरे हुये जल के उपयोग से हुई तृप्ति को भाव्य-भावक भाव से अनुभव करता हुआ वह कलश को करता है—बनाता है और अनुभव करता है—भोगता है । इस प्रकार से लोगों का अनादि कालीन व्यवहार रूढ़ि में आ रहा है ।

(६० ज०) व्यवहारदृष्टि से वही जीव नानाविध कर्मों का कर्ता ।

उत्तं ही पुद्गल कर्मों के भी नानाविध सुख दुःख को भरता ॥

कर्ता भोक्तापन की बातें व्यवहार नयाश्रित होती हैं ।

नहि निश्चयनय से औपाधिक पर्याय जीव में होती हैं ॥८४ अ०॥

पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चैत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोस्ति तावद्व्यवहारः ॥६४॥

(उत्थानिका)—अथ लोकव्यवहारं दर्शयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारस्स वु आदा पुद्गलकर्म करेदि अणेयविहं यथा लोके यद्यपि मृत्पिण्ड उपादानकारणं तथापि कुम्भकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुक्तं इति लोकानामनादिरूढोस्ति व्यवहारः । तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादान-कारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्थाभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मनिकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं

उसी प्रकार से अंतरंग में व्याप्य-व्यापक भाव से पुद्गल द्रव्य के द्वारा ये कर्म किये जाते हैं और भाव्य भावक भाव से पुद्गल द्रव्य के द्वारा ही अनुभव में आते हैं फिर भी बाहर में व्याप्य-व्यापक भाव से अज्ञान से यह जीव पुद्गलकर्म के होने के अनुकूल परिणाम को—रगदि शब्द को करता हुआ पुद्गलकर्म के उदय से होने वाली विषयों की समीपता से हुई सुख दुःख की परिणति को भाव्य भावक भाव से अनुभव करता हुआ पौद्गलिक कर्म को करता है और उनका अनुभव भी करता है । इस प्रकार से अज्ञानी जनों का यह अनादिकालीन व्यवहार संसार में प्रसिद्ध है ॥६४॥

भावार्थ—जैसे कुम्भकार घड़े को बनाता है और उसमें जल आदि भरकर उसको पीते हुये उस घड़े का अनुभव भी करता है किन्तु फिर भी मिट्टी के सदृश वह उपादान-रूप से घड़ा नहीं बन गया है । वैसे ही जीव भी अपने परिणामों के निमित्त से पौद्गलिक कर्म को करता है और उसके उदय में आने पर सुख दुःखादि फलों को भी भोगता है । फिर भी वह जीव उपादान रूप से इन पुद्गलकर्मों को करता-भोगता नहीं है । अतः व्यवहारनय से ही यह पौद्गलिक कर्मों का कर्ता भोक्ता है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब लोक व्यवहार को दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे लोक में यद्यपि घड़े के लिये मिट्टी का पिण्ड उपादान कारण है फिर भी कुम्भकार घड़े को करता है और उसका फल जल भरना या मूल्यादि लेकर देना आदि भोगता है यह लौकिक जनों का अनादिरूढ़ व्यवहार है । वैसे ही कर्म के लिये कर्म वर्गणायोग्य पुद्गलद्रव्य उपादान कारण है फिर भी व्यवहारनय के अभिप्राय से यह आत्मा मूलोत्तर प्रकृतियों के भेदों से भिन्न अनेक प्रकार के पौद्गलिक कर्मों को करता है

करोति तं चेव य वेदयदे पुद्गलकर्म अणेष्विहं तथैव च तदेवोदयागतं पुद्गलकर्मनिकविधं
 इष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयस्वशुद्धात्मोपलभसंजा-
 तसुखामृतरसास्वादरहितानामनादिरूढोस्ति व्यवहारः । एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्व-
 कथनमुख्यतया गाथा गता । इति ज्ञानिजीवस्य विशेषध्यानरूपेणैकादशगाथाभिध्वितीयां-
 तराधिकारो व्याख्यातः ॥६०॥

और उसी प्रकार से उन्हीं पौद्गलिक कर्मों के उदय में आने पर अनेक प्रकार के पुद्गल-
 कर्मों को इष्ट अनिष्ट पञ्चेन्द्रियों के विषय रूप से वेदन करता है—अनुभव करता है—
 भोगता है । इस प्रकार विषयों से रहित जो शुद्धात्मा उसकी उपलब्धि से उत्पन्न हुये
 सुखामृत रस के आस्वाद से रहित ऐसे अज्ञानी जीवों का यह अनादिकाल से प्रसिद्ध व्यव-
 हार चला आ रहा है । इस तरह व्यवहारनय से जीव के सुख दुःख के कर्तृत्व भोक्तृत्व के
 कथन की मुख्यता से एक गाथा पूर्ण हुई है ।

इस प्रकार ज्ञानी जीव के विशेष ध्याहारूप से ग्यारह गाथाओं द्वारा यह द्वितीय
 अंतराधिकार कहा गया है ॥६०॥

विशेषार्थ—पहले पाँच गाथाओं में कहा था कि जीव कर्मादिरूप से परिणमन नहीं
 करता है मात्र जानता है । पुनः गाथा ७६ अ०, ८५ ज०, में कहा है कि पुद्गलद्रव्य भी
 वर्णादि रूप से परिणमन करता है जीवरूप नहीं बनता है । पुनः तीन गाथाओं में जीव
 और पुद्गल में परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव बताया । इसके बाद आचार्यदेव ने ८३ अ०
 ८६ ज० में निश्चयनय की अपेक्षा कथन किया है कि यह जीव निश्चयनय से कर्मों का
 कर्ता भोक्ता न होकर अपने शुद्ध भावों का ही कर्ता भोक्ता है । बाद में तत्क्षण ही गाथा
 ८४ अ० ६० ज० में कह दिया कि व्यवहारनय से यह आत्मा कर्मों का कर्ता भोक्ता भी
 है । यह विशेष ध्यान देने योग्य विषय है कि पहले छह गाथाओं में निश्चयनय से जीव
 को ज्ञायकभाव मात्र वाला कह दिया पुनः निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध बतला दिया कि
 जिससे एकांत मान्यता से लोग संसार-मोक्ष की व्यवस्था को ही न समाप्त कर दें ।
 आगे तत्क्षण ही निश्चय व्यवहारनयों की अपेक्षा से दो गाथायें कह दीं । इसी प्रकार सर्वत्र
 इस समयसार में पहले शुद्धनयाश्रित कथन करते हैं पुनः निश्चयनय और व्यवहारनय की
 व्यवस्था घटित कर देते हैं । ऐसे उभयनयात्मक कथन को देखकर भी जो एकांत दुराग्रही

अथैनं दूषयति :—]

(६१ ज०) यदि पुद्गलकर्ममिणं कुर्व्यदि तं चेव वेदयदि आदा ।

दो किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ॥८५ अ०॥

यदि पुद्गलकर्मदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।

द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतं ॥८५॥

आत्मख्यातिः—इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोस्ति भिन्ना, परिणामोपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किमसकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्या यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्य-

बन जाते हैं और इन महान् शास्त्र को शास्त्र बनाकर व्यवहार क्रियाओं का लोप कर संयमियों की निन्दा करने लगते हैं । उनके तीव्र मिथ्यात्व कर्म का उदय हो समझना चाहिये ।

उत्थानिका—आगे इस व्यवहार को दूषण देते हुये आचार्य कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यदि आत्मा इदं पुद्गलकर्म करोति च तत् एव वेदयते) यदि यह आत्मा इस पुद्गलकर्म को करता है और उसी को भोगता है तब तो (सः द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति जिनावमतं) वह आत्मा दो क्रिया से अभिन्न ठहरेगा ऐसा प्रसंग आ जावेगा तो यह जिनदेव का मत नहीं है ।

आत्मख्याति—इस लोक में नियम से संपूर्ण भी क्रियायें परिणामन लक्षण वाली होने से वे परिणाम से भिन्न नहीं हैं । परिणाम भी परिणामी से भिन्न नहीं है क्योंकि परिणाम और परिणामी ये दोनों ही अभिन्न—एक वस्तु ही हैं । इसलिये जो कोई भी क्रियायें हैं वे सभी भी क्रियावान्—द्रव्य से भिन्न नहीं हैं । इस प्रकार से क्रिया और कर्ता-द्रव्य इन दोनों में अभिन्नता होने पर वस्तुस्थिति से ऐसी बात सिद्ध होने पर जैसे यह

(६१ ज०) पुद्गलकर्मों के करने में आत्मा ही उपादान यदि है ।

सुखदुःख अनुभव करने में भी भोक्ता यह उपादान से है ॥

ऐसी ऐकान्तिक कथनी से द्विक्रियावाद आ जाएगा ।

यह जिनशासन में इष्ट नहीं वह दोनों नय बतलाएगा ॥८५ अ०॥

व्यापकभावेन पुद्गलकर्माणि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततोऽयं स्वपरसमवेत-
क्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनु-
भवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ॥८५॥

(भूमिका)—अतः परं पञ्चविंशतिगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं
करोति । तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य संक्षेपव्याख्यान-
रूपेण जदिपुगलकम्ममिणं इत्यादि गाथाद्वयं भवति । तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये पुगल-
कम्मणिमित्तं इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतंत्रं । तदनंतरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वा-

जीव व्याप्य-व्यापक भाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्य-भावक भाव से उसी—
अपने परिणाम का अनुभव करता है वैसे ही यदि यह जीव व्याप्य-व्यापक भाव से पुद्गल-
कर्मों को करे और भाव्य-भावक भाव से उन्हीं पुद्गलकर्मों को ही भोगे—उनका अनुभव
करे तब तो अपनी और पर की ऐसी मिली हुई दो क्रियाओं में अभेद का प्रसंग आ जाने
पर स्व-पर को-अपना और पर का परस्पर में विभाग समाप्त हो जावेगा पुनः अनेक
द्रव्यरूप—दो द्रव्यरूप ही एक आत्मा का अनुभव करते हुये यह आत्मा मिथ्यादृष्टि हो
जाने से सर्वज्ञदेव के मत से बाह्य हो जावेगा ॥८५॥

विशेषार्थ—क्रिया परिणामन लक्षण वाली ही होती है चाहे वह परिणामन परि-
स्पंदात्मक हो या अपरिस्पंदात्मक । यह क्रिया क्रियावान् द्रव्य से अलग कहीं नहीं रहती
है । ऐसे क्रियावान् दो ही द्रव्य हैं जीव और पुद्गल । इनसे भिन्न धर्म, अधर्म, आकाश
और काल ये निष्क्रिय द्रव्य हैं । जीव द्रव्य अपने चैतन्यरूप परिणाम से व्याप्य-व्यापक
भाव रूप हो रहा है और अपने ही भावों में भाव्य-भावक रूप भी हो रहा है । अतः यह
जीव इन अपने ही भावों से तो तादात्म्यरूप है पुद्गल कर्मों के साथ संयोग संबंध रखता
है । यदि कदाचित् यह आत्मा पुद्गल कर्मों के साथ भी तादात्म्य संबंध स्थापित कर ले
तो यह दो क्रियावादी बन जाये किन्तु ऐसा सर्वज्ञदेव के मत में संभव नहीं है । आगे
श्रीजयसेनाचार्य बहुत ही सरल शब्दों में कहते हैं ।

भूमिका—इससे आगे पच्चीस गाथा पर्यंत दो क्रियावादी के निराकरण रूप से
व्याख्यान करते हैं । उनमें चेतन और अचेतन में एक उपादान कर्तृत्व मानना ही द्विक्रिया
वादित्व है, उसका संक्षेप से व्याख्यान करते हुये 'जदि पुगलकम्ममिणं' इत्यादि दो गाथायें
हैं । पुनः इसका विवरण बारह गाथाओं में है उनमें से 'पुगलकम्मणिमित्तं' इत्यादि गाथा

कर्तृत्वमुख्यतया परमष्णानंकुब्धवि इत्यादिद्वितीयपट्कं । अतःपरं तस्यैव द्विक्रियावादिनः पुनरपि विशेषव्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवन्ति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहार-नयमुख्यत्वेन व्यवहारस्स दु इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं निश्चयनयमुख्यतया जो पुगलदब्बाणं इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्वमुख्यत्वेन जीवंहि हेदुभूदे इत्यादिसूत्र-चतुष्टयमिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्म-तापन्नमनेकांतेन सम्मतमप्येकांतनयेन मन्यते । किं मन्यते भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात् । तान् द्विक्रिया-वादिनो दूषयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—जदि पुगलकम्ममिणं कुब्धवि तं चेव वेदयदि आवा यदि चेतपुद्गल-कर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा बोकिरिया-

के क्रम से पहले छह गाथायें स्वतन्त्र हैं । इसके बाद अज्ञानी और ज्ञानी जीव के कर्तृत्व और अकर्तृत्व की मुख्यता से 'परमष्णानं कुब्धवि' इत्यादि छह गाथायें हैं । अनंतर उसी द्विक्रियावादी का पुनरपि विशेष व्याख्यान करने के लिए उपसंहाररूप से ग्यारह गाथायें हैं । इन ग्यारह गाथाओं में व्यवहारनय की मुख्यता से 'व्यवहारस्स दु' इत्यादि तीन गाथायें हैं । पुनः निश्चयनय की मुख्यता से जो 'पुगलदब्बाणं' इत्यादि चार गाथायें हैं । इसके बाद द्रव्यकर्मों का उपचार से कर्तृत्व है ऐसी मुख्यता से 'जीवं हि हेदुभूदे' इत्यादि चार गाथायें हैं । इस तरह पच्चीस गाथाओं के द्वारा तृतीयस्थल में यह समुदाय पातनिका कही गई है ।

उत्थानिका—अब जो पहले कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व के विषय में नयविभाग कहा गया है वह अनेकांत से सम्मत है फिर भी उसे कोई यदि एकांतनय से मानता है कि यह आत्मा भावकर्म के समान द्रव्यकर्म को भी करता है तब तो इस प्रकार से चेतन और अचेतन के कार्य में एक उपादान कर्तृत्व लक्षण द्विक्रियावादिता हो जायेगी । यहाँ उसी द्विक्रियावादी को दूषण देते हुये आचार्य कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यदि यह आत्मा पुद्गलकर्मों के उदय को (बंध को) उपादानरूप से करता है और पुनः उन्हीं कर्मों के उदय को उपादानरूप से भोगता है—अनुभव करता है तब तो

वाचित्तं पसजदि तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति । अथवा दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो तत्र पाठांतरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नः प्रसजति प्राप्नोति स पुरुषः । सम्मं जिणावमदं तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसंमतं । यश्चेदं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मा उपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणां शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ॥६१॥

चेतन आत्मा की क्रिया और अचेतन—पुद्गल की क्रिया इन दोनों की क्रियाओं का उपादान रूप से कर्ता होने से यह दो क्रियावादी हो जावेगा । अथवा 'दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो' ऐसा पाठांतर मानने पर तो वह आत्मा चेतन और अचेतन इन दोनों की क्रिया से अव्यतिरिक्त—अभिन्न हो जावेगा । किन्तु यह व्याख्यान तो जिनेन्द्रदेव के यहाँ अच्छी तरह से अमान्य है । और जो ऐसा कथन स्वीकार कर लेता है वह जीव निश्चय सम्यक्त्व को न प्राप्त करते हुये मिथ्यादृष्टि हो जाता है । यह निश्चयसम्यक्त्व कैसा है ? निजशुद्धात्मा में ही उपादेय रूप से रुचि—श्रद्धानस्वरूप है, निर्विकार चिच्चमत्कार लक्षणवाला है और शुद्ध उपादान कारण से ही उत्पन्न होता है ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के अभाव में यह मिथ्यादृष्टि हो जाता है ॥६१॥

विशेषार्थ—यहाँ निश्चयसम्यक्त्व के अभाव में मिथ्यादृष्टि कहा है सो ऐसा है कि यदि कोई जीव सर्वथा एकांत से पुद्गलकर्मों के कर्तापने को उपादानरूप से श्रद्धान कर लेता है और कर्मोदय जन्य फल को भी सर्वथा एकांत से उपादानरूप से भोगने वाला अपने को मान लेता है । ये सुख दुःख आदि फल कर्मोदय निमित्तक हैं ऐसा नहीं समझता है तो वह व्यवहार में भी मिथ्यादृष्टि ही है । उसे शुद्धोपयोग में तल्लीनतारूप निश्चयसम्यक्त्व तो है ही नहीं, व्यवहार या सरागरूप चतुर्थगुणस्थान का सम्यक्त्व भी नहीं है । हाँ, व्यवहार-सम्यग्दृष्टि ऐसी मान्यता को छोड़कर निमित्त-नैमित्तिक संबंध से ही कर्मों का कर्ता भोक्ता अपने को समझता है अतः वह भी चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में सराग सम्यग्दृष्टि रहता है आगे गुणस्थानों में शीतराग अथवा निश्चयसम्यग्दृष्टि बन जाता है ।

कृतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत् :—

(६२ ज०) जह्या दु अत्तभावं पुद्गलभावं च दोवि कुर्वन्ति ।

तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो ह्वेति ॥८६ अ०॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति ।

तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति ॥८६॥

आत्मख्यातिः—यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वन्तमात्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादि-
नस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः । मार्चकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा
किल कुलानः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परि-
णतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वव्यापा-

उत्थानिका—दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला मिथ्यादृष्टि कंसे है ? ऐसा
पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्मात् तु आत्मभावं च पुद्गलभावं द्वौ अपि कुर्वन्ति) जिस हेतु से
आत्मा के भाव को और पुद्गल के भाव को इन दोनों को भी करते हैं (तेन तु द्विक्रिया-
वादिनः मिथ्यादृष्टयः भवन्ति) उसी हेतु से ये दो क्रियावादी मिथ्यादृष्टि होते हैं ।

आत्मख्याति—जिस हेतु से, नियम से आत्मा के परिणाम को और पुद्गल के
परिणाम को करते हुये आत्मा को मानते हैं इसी हेतु से ये द्विक्रियावादी होने से मिथ्या-
दृष्टि ही हैं ऐसा सिद्धांत है । अतः एक द्रव्य से दो द्रव्य के परिणाम को करते हुये प्रति-
भासित मत होवो । जैसे कुंभकार कलश के होने के अनुकूल अपने व्यापाररूप परिणाम—
इच्छा को जो कि अपने से अभिन्न है उनको करते हुये तथा अपने से अभिन्न परिणतिमात्र
क्रिया के द्वारा किये हुये उस कलश को करता हुआ प्रतिभासित होता है । यद्यपि वही
कुंभकार कलश बनाने के अहंकार से सहित है तो भी अपने व्यापार-कार्य के अनुरूप मिट्टी

(६२ ज०) द्विक्रियावाद के मत में आत्मा स्वपर भाव का कर्ता है ।

जीव र पुद्गल दोनों भावों का वह निश्चित अनुभोक्ता है ॥

दो क्रिया एक की कहने से वे मिथ्यादृष्टी होते हैं ।

नय शैली से जो कथन करें वे सम्यग्दृष्टी होते हैं ॥८७ अ०॥

रानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणति-
मात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति । तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्म-
परिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः
प्रतिभातु मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं
पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रति-
भातु ॥८६॥

का कलश परिणाम जो कि मिट्टी से अभिन्न है और मिट्टी से अभिन्नरूप परिणतिमात्र
क्रिया से किये गये को करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता है । अर्थात् कुम्भकार घड़ा बनाने
के भाव को अपनी हस्त आदि क्रिया को आप करते हुये मिट्टी से बनने वाले घड़े
को भिन्नरूप से ही करता है स्वयं आप घट नहीं बन जाता है । वैसे ही आत्मा भी अज्ञान
से पुद्गलकर्म के परिणाम के अनुकूल अपनी आत्मा के परिणाम को जो कि आत्मा से
अभिन्न हैं उन्हें ही करता हुआ प्रतिभासित होवे और अपनी आत्मा से अभिन्न परिणति-
मात्र क्रिया से किये गये उन पौद्गलिक कर्म को करता हुआ ही प्रतिभासित होवे । पुनः
पुद्गलकर्म परिणाम के करनेरूप अहंकार से भरा हुआ होते हुये भी यह आत्मा अपने
परिणाम के अनुरूप पुद्गल के परिणाम को जो कि पुद्गलद्रव्य से अभिन्न हैं उनको और
पुद्गल से अभिन्नरूप परिणतिमात्र क्रिया से किये गये उन कर्म को करता हुआ प्रतिभासित
मत होवे ॥८६॥

भावार्थ—जैसे कुम्भकार घड़े के बनाते समय अपने घड़े बनाने के भाव को करता
है और अपने हाथ से चाक घुमाने आदि की क्रिया को भी करता है अतः वह अपने परि-
णाम और क्रिया से अभिन्न है फिर भी मिट्टी घड़ेरूप से परिणत होते हुये घड़े से अभिन्न
होते हुये भी वह कुम्भकार से भिन्न ही है । वैसे ही यह आत्मा भी पौद्गलिक कर्मों को
कर्मरूप से करते समय भी अपने रागद्वेषादि परिणामों को ही करता है अतः उस आत्मा
के विभाव परिणाम और उनसे होने वाली क्रियायें तो आत्मा से अभिन्न हैं फिर भी
पुद्गल वर्णणायें जो कर्मरूप परिणत हो रही हैं उनका परिणमन व उनसे पूर्व या पश्चात्
उन कर्मों में कर्मरूप से होने वाली परिणति अथवा कर्मों में होने वाले बंध, उदय, सत्त्व
आदि परिणाम ये सब पुद्गल द्रव्य से ही अभिन्न हैं । जीव से तो भिन्न ही हैं । इसी हेतु

आर्या छंदः—यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तुतत्कर्म ।

या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

आर्या छंदः—एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।

एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥

से यह आत्मा वो द्रव्य की क्रिया न करने से दो क्रियावादी नहीं है फिर भी ऐसा जो मान लेते हैं वे मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं ।

इसी बात को कलश काव्यों में कहते हैं—

काव्यार्थ—जो परिणमित होता है वह कर्ता है, परिणमन करने वाले का जो परिणाम है वही कर्म है और परिणमन करने वाले की जो परिणति है वही क्रिया है ये तीनों ही वास्तव में भिन्न नहीं हैं ॥५१॥

भावार्थ—आत्मा रागादि भावों से परिणत होता है अतः वही कर्ता है उसके रागादि भाव ही कर्म हैं और उनरूप से परिणति होना ही उस आत्मा की क्रिया है वस्तु-रूप से ये तीनों ही अभिन्न हैं चूंकि एक आत्मा में ही होते हैं ।

काव्यार्थ—एक ही सदा परिणमन करता है एक का ही सदा परिणाम होता है और एक की ही परिणतिरूप क्रिया होती है क्योंकि अनेकरूप होते हुये भी वस्तु एक ही है ॥५२॥

भावार्थ—यह अवस्था चाहे जीव में घटा लीजिये चाहे पुद्गल में । कोई भी एक द्रव्य ही अपने रूप से परिणमन करता है उस एक वस्तु में ही एक अवस्था से दूसरी अवस्था का होना परिणाम है और उनरूप परिणति ही क्रिया है । संसार में जीव अनेक परिणामों को करते हुये भी एक ही है ऐसे ही पुद्गल में समझना ।

सखी छन्द (१४ मात्रा)—कर्ता परिणामी ही है, परिणाम हि कर्म कहे हैं ।

जो परिणति वो हि क्रिया है, त्रय नाम जो एक हुआ है ॥५१॥

सखी छन्द (१४ मात्रा)—इक वस्तु परिणमन करती, परिणाम सदा इक घरती ।

परिणति भी इक रूपहि है, बहु रूप जो होकर इक है ॥५२॥

आर्या छंदः—नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।

अभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

आर्या छंदः—नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न नैकस्य ।

नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

काव्यार्थ—दो द्रव्य एक होकर परिणमत नहीं करते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता है और दो द्रव्यों की एक परिणति—क्रिया नहीं होती, क्योंकि जो अनेक—भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं वे सदाकाल अनेक—भिन्न-भिन्न ही रहते हैं ॥५३॥

भावार्थ—यद्यपि संसार में जीव और पुद्गल दोनों मिलकर ही एक होकर मनुष्य देव आदि पर्यायें धारण कर रहे हैं । दोनों का मिलकर ही रागादि भावरूप या नाना स्कंधरूप शरीर आदि परिणाम दिखता है दोनों की मिलकर ही क्रियायें दिखती हैं जैसे कि पुरुष और स्त्री के संयोग से ही पुत्र उत्पन्न होता है वैसे ही दोनों के संयोग से ही यह संसार बना है । फिर भी पुरुष और स्त्री कभी एकरूप या एक दूसरे रूप नहीं हो जाते हैं वैसे ही ये दोनों द्रव्य भी कभी एकरूप या एक-दूसरे रूप नहीं हो जाते हैं । इनमें भी संयोग संबंध ही है तादात्म्य नहीं है । कुम्भकार और घड़े के समान भी घटित कर लेना चाहिये । इसीलिये यह जीव उपादानरूप से पुद्गल कर्मों का कर्ता न होने से दो क्रियावादी नहीं है ऐसा समझना ।

काव्यार्थ—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते हैं, एक द्रव्य के दो कर्म भी नहीं होते हैं वैसे ही एक द्रव्य की दो क्रियायें भी नहीं होती हैं क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं हो सकता है ॥५४॥

भावार्थ—एक जीव के दो द्रव्य कर्ता नहीं होते हैं न हि एक द्रव्य के दो कर्म भी संभव हैं । यह सब कथन उपादान की अपेक्षा है निमित्त नैमित्तिक संबंध तो दो द्रव्यों में—जीव-पुद्गल में चला ही आ रहा है । जब यह जीव अपने को ही अपने कर्ता कर्म, क्रियारूप मान लेता है तभी पुद्गल से छूट कर मुक्त हो जाता है ।

सखी छन्द (१४ मात्रा)—द्वि द्रव्य परिणमत न इक सा, परिणाम न इक सा होता ।

द्वि द्रव्य की इक परिणति ना, जो अनेक एक हुए ना ॥५३॥

सखी छन्द (१४ मात्रा)—इक कर्म के द्वि कर्ता ना, इक कर्तु के कर्म द्विधा ना ।

इक कर्म की द्वि न क्रियायें, चूंकि इक में अनेक न पायें ॥५४॥

शार्दूलविक्रीडित—आसंसारत एव धावति परं कुर्वेहमित्युच्चकैः,
 दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
 तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं मद्येकवारं ब्रजेत्,
 तत्किं ज्ञानघनस्य बधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

अनुष्टुप्—आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
 आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

काव्यार्थ—इस संसार में अनादिकाल से मोही—अज्ञानी जीवों का 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसे परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकार रूप अज्ञानांधकार जो कि अत्यंत दुर्निवार है वह चला आ रहा है । आचार्य कहते हैं कि अहो ! परमार्थनय से—शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनय के ग्रहण करने से यदि वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो जाये तो फिर ज्ञानघनस्वरूप आत्मा को पुनः बंधन कैसे हो सकता है ? अर्थात् पुनः कर्म बंधन नहीं हो सकता है ॥५५॥

भावार्थ—अनादिकाल से यह आत्मा परद्रव्य के कर्तापने के अहंकार को करते हुये कर्मबन्धन से बंध रहा है । यदि यह शुद्धनय का आश्रय लेकर अपने को पर का कर्ता न माने तभी वह ज्ञानघनस्वरूप शुद्ध हो जावेगा पुनः इसको कर्म का बंध न होकर मोक्ष की प्राप्ति हो जावेगी ।

काव्यार्थ—यह आत्मा अपने आत्म भावों को करता है और परद्रव्य परभावों को करता है क्योंकि जो अपने भाव हैं वे अपने स्वरूप हैं और जो पर के भाव हैं वे पर ही हैं ऐसा नियम है ॥५६॥

वीर छन्द (मात्रिक)—निश्चय से मोही के जब, जग है पर का कर्ता हूँ ।
 ऐसा अहंकार मिथ्यातम, दुर्निवार संस्कार कहूँ ॥
 वह मिथ्यातम भेदज्ञान से, हो विलीन इक बार जभी ।
 फिर ज्ञानपुंजनिधि का बंधन, क्यों हो सकता अहो कभी ॥५५॥

वीर छन्द (मात्रिक)—आत्मा नित अपने में निश्चल, आत्म भाव का कर्ता है ।
 और अन्य पर द्रव्य कहे, वो परभावों का कर्ता है ॥
 अतः यही निश्चित करना, जो आत्म भाव आत्मा ही है ।
 अह अपने से भिन्न भाव वे, पर स्वभाव में पर ही हैं ॥५६॥

(उत्थानिका)—अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छं-
स्तमेवार्थं प्रकारांतरेण दृढयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—जह्या दु अत्तभावं पुद्गलभावं च दोषि कुर्वन्ति यस्मादात्मभावं
चिद्रूपं पुद्गलभावं चाचेतनं जडस्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वन्ति तेण दु मिच्छादिद्वी
दोकिरियावादिणो हन्ति ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिनः पुरुषाः मिथ्यादृष्टयो
भवन्तीति । तथाहि—यथा कुम्भकारः स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि

भावार्थ—यह जीवात्मा अपने रागादि विभाव भाव या शुद्ध भावों को ही करता
है वैसे ही पर—पुद्गलद्रव्य अपने वर्णादि भावों को ही करता है । आत्मा के भाव आत्म-
स्वरूप हैं चूँकि आत्मा ही उनका उपादान कारण हैं वैसे ही पुद्गल के भाव वर्णादिरूप
मूर्तिक होने से पौद्गलिक ही हैं । अथवा आत्मा मति, श्रुत आदि क्षायोपशमिक भावों को
और केवलज्ञान दर्शन आदि शुद्ध भावों को करता है । वैसे ही पुद्गलद्रव्य अपने भावों को
करता है । द्रव्याधिकनय की अपेक्षा से एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं बनता है । पर्यायार्थिक-
नय की अपेक्षा से तो संसार में जीव और पुद्गल ये दोनों मिलकर ही नर नारकादि पर्यायों
धरते हैं फिर भी यह शुद्धद्रव्याधिकनय की अपेक्षा है और शुद्धपर्यायार्थिकनय की भी अपेक्षा
है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि कैसे हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते
हुये आचार्यदेव उसी अर्थ को दूसरी तरह से दृढ़ करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जिस हेतु से चिद्रूप आत्मभाव को और अचेतन जडरूप पुद्गलभाव को
इन दोनों को भी उपादानरूप से जो जीव करते हैं उसी हेतु से चेतन-अचेतन इन दोनों की
क्रिया को करने वाले या कहने वाले होने से वे पुरुष मिथ्यादृष्टि होते हैं । उसे ही स्पष्ट
करते हैं—जैसे कुम्भकार अपने परिणाम को—घट बनाने के भावों को उपादानरूप से करता
है वैसे ही यदि घट को भी उपादानरूप से करता है तब तो वह कुम्भकार अचेतन घटरूप
हो जावेगा । अथवा घट चेतनरूप—कुम्भकाररूप हो जावेगा किन्तु ऐसा तो होता नहीं । उसी
प्रकार से जीव भी यदि उपादानरूप से पुद्गलद्रव्यकर्म को करता है तब वह जीव अचेतन
पुद्गलद्रव्यपने को प्राप्त हो जावेगा । अथवा पुद्गलकर्म भी चैतन्यरूप जीवपने को प्राप्त

यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति । घटस्य वा चेतन-
त्वं कुम्भकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति । यथा जीवोपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति
तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति । पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति ।
किं च । शुभाशुभं कर्म कुर्वेहमिति महाहंकाररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति । तर्हि
केषां नश्यतीति चेत्, विषयसुखानुभवानन्दवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यव-
स्थापिते चिदानन्दैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितानामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन
निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनावलेन संज्ञानिनामेव विलयं विनाशं गच्छति ।
तस्मिन्महाहंकारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बंधो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्यविषये इदं
करोमीदं न करोमीति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्व-
भावेन भरितावस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरंतर भावना कर्तव्येति भावार्थः । इति द्विक्रिया-
वादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं ॥६२॥

हो जायेंगे । दूसरी बात यह है कि “मैं शुभ-अशुभ कर्म को करता हूँ ।” यह महाअहंकाररूप
अंधकार मिथ्याज्ञानी जनों का नष्ट नहीं होता है ।

प्रश्न—तो वह किनका नष्ट होता है ?

उत्तर—विषयसुख अनुभव के आनन्द से वर्जित, वीतराग स्वसंवेदन से वेदन करने
योग्य, भूतार्थनय से एकत्व से व्यवस्थापित, चिदानन्द एक स्वभाव वाले, शुद्धपरमात्म द्रव्य में
स्थित हुये संज्ञानी जीवों के ही वह कर्तृत्व का अहंकार नष्ट हो जाता है । समस्त शुभ
अशुभ परभावों से शून्य, निर्विकल्पसमाधिलक्षण शुद्धोपयोग की भावना के ध्यान के बल से
ही वह विनाश को—विलय को प्राप्त हो जाता है । उस महा अहंकाररूप विकल्पजाल के नष्ट
हो जाने पर पुनः कर्मबंध नहीं होता है ऐसा जानकर बाह्यद्रव्यों के विषय में ‘मैं यह करता
हूँ, यह नहीं करता हूँ’ ऐसा दुराग्रह छोड़कर रागादि विकल्पजाल से शून्य और पूर्ण कलश
के समान चिदानन्द एकस्वभाव से पूर्ण-लबालब भरे हुये ऐसे अपने परमात्मा में ही निरंतर
भावना करना चाहिये यहाँ ऐसा अभिप्राय है । इस तरह द्विक्रियावादी का संक्षेप से
व्याख्यान करते हुये वो गाथायें पूर्ण हुई ॥६२॥

(६३ ज०^१) पुद्गलकर्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।

पुद्गलकर्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं ।

पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं ॥

(उत्थानिका)—अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं करोति;—

तात्पर्यवृत्तिः—पुद्गलकर्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं उदयागतं द्रव्यकर्मनिमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसंवित्तिपरिणामशून्यः सत्करोत्यात्मनः संबंधिनं

भावार्थ—यहाँ श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में स्पष्ट किया है कि जब कोई महामुनि निर्विकल्पध्यानमय शुद्धोपयोग में लीन हो जाते हैं तभी वे कर्मबंधों से छूट पाते हैं। इससे पहले जो उपादानरूप से भी अपने भावों के समान ही पुद्गलकर्मों का कर्ता मानते रहते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। जब उपादान और निमित्त की सही व्यवस्था समझ लेते हैं तभी सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं।

उत्थानिका—अब उसी का विशेष व्याख्यान करते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा यथा पुद्गलकर्मनिमित्तं आत्मनः भावं करोति) आत्मा जैसे पुद्गलकर्म के निमित्त से होने वाले अपने भाव को करता है। (तथा पुद्गलकर्मनिमित्तं आत्मनः भावं वेदयति) वैसे ही पुद्गलकर्म के निमित्त से आत्मा के भाव को ही भोगता है।

तात्पर्यवृत्ति—जैसे यह आत्मा उदय में आते हुये द्रव्य कर्मों को निमित्त बनाकर निर्विकार स्वसंवित्ति परिणाम से शून्य होता हुआ अपनी आत्मा से संबंधित सुख-दुःखादि भाव—परिणामों को करता है वैसे ही यह आत्मा उदय में आये हुये द्रव्य कर्म का निमित्त

(६३ ज०) यह आत्मा पुद्गल कर्मों का उदयादि निमित्त से कर्ता है।

उसके निमित्त उत्पन्न हुए निज भावों का ही कर्ता है ॥

उन पुद्गल कर्म निमित्तों से आत्मा में जो वेदन होता।

उन ही भावों का भोक्ता है परभाव रूप वह नहि होता ॥

1. यह गाथा श्रीभक्तचंद्रसूरि की टीका में नहीं है।

सुखदुःखादिभावं परिणामं पुद्गलकम्मणिमित्तं तह वेववि अण्णो सार्वं तथैवोदयागतद्रव्य-
कर्मणिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावानुत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव कर्मोदयजनित-
स्वकीयरगादिभावं वेदयत्यनुभवति । न च द्रव्यकर्मरूपपरभावमित्यभिप्रायः ॥६३॥

(६४ ज०) मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णणं ।

अविरदि जोगो मोहो क्रोधाद्या इमे भावा ॥६४॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं ।

अविरतियोगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥६४॥

प्राप्त कर स्वशुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये वास्तविक सुख के आस्वाद का अनुभव
न करते हुये उन्हीं कर्मोदय से उत्पन्न रागादि भावों को भोगता है—अनुभव करता है ।
किन्तु इनसे भिन्न द्रव्यकर्मरूप परभावों को—पौद्गलिक कर्मों को न करता है और न
उनको भोगता है ॥६३॥

भावार्थ—यह आत्मा पुद्गलकर्म के निमित्त रागादि भावरूप परिणत होकर
द्रव्यकर्मों का बंध कर लेता है । यह भावकर्म आत्मा के भाव हैं और उनसे होने वाले द्रव्य-
कर्म पुद्गल की पर्यायें हैं । ऐसे ही आत्मा पौद्गलिक कर्मों के उदय से सुख-दुःखादि भावों
को करते हुये उन कर्मों के फल का भोक्ता है फिर भी पौद्गलिक कर्मों का भोक्ता न
होकर रति—अरति या हर्ष-विषाद आदि भावों को करते हुये उन्हीं का अनुभव करने
वाला है ।

उत्थानिका—आत्म भावों को आत्मा करता है और परभावों को पर करता है
इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं पुनः द्विविधं जीवः अजीवः) मिथ्यात्व दो प्रकार का है जीव
और अजीवरूप (अज्ञानं अविरतियोगः मोहः क्रोधाद्याः भावा इमे तथा एव) अज्ञान, अवि-
रति, योग, मोह और क्रोधादि भाव ये भी वैसे ही जीव और अजीव के भेद से दो-दो
प्रकार के हैं ।

(६४ ज०) एकांत कथन मिथ्यात्वं कथा दो भेद रूप वह होता है ।

जो है अजीव अरु जीव रूप सब भेद इन्हीं में होता है ॥

अज्ञान अविरती योग मोह क्रोधादिक भाव कहे जो भी ।

उन सबके दो-दो भेद हुए जीव रूप अजीव माने वो भी ॥६४ अ०॥

आत्मख्यातिः—मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदव-
ज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्य-
स्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव । यथा च नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकार-
मात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव । तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्य-
स्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव । तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावा-
श्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ॥८७॥

(उत्थानिका)—अथ चिद्रूपानात्मभावानात्मा करोति तथैवाचिद्रूपान् द्रव्यकर्मादि-
परभावान् परः पुद्गलः करोतीत्याख्यातिः—

आत्मख्याति—जो ये मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव हैं वे प्रत्येक ही मयूर और दर्पण के समान जीव और अजीव से भाव्यमान होने से जीव और अजीव इन दोनों रूप हैं । इसी को स्पष्ट करते हैं—जैसे नील, कृष्ण, हरित और पीले आदि भाव स्वद्रव्य के स्वभावरूप मयूर के द्वारा भाये गये होने से मयूररूप ही हैं । और जैसे नील, कृष्ण, हरित, पीलादि भाव दर्पण में उसकी स्वच्छता के विकारमात्र हुये होने से वह दर्पण के द्वारा भाव्यमान होने से दर्पण ही हैं, मात्र वे मयूर के भिन्न रंग उस दर्पण में झलक रहे हैं । वैसे ही मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव अपने द्रव्य के स्वभावरूप अजीव के द्वारा भावित होने से अजीव ही हैं और वैसे ही मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि भाव चैतन्य के विकार मात्ररूप से जीव के भावित किये गये होने से जीव ही हैं ॥८७॥

भावार्थ—जैसे मयूर के चित्र विचित्र वर्ण मयूर में ही हैं और दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब झलकने से वहाँ मात्र दर्पण की स्वच्छता गुण ही उस मयूर रूप बन गया है । वहाँ मयूर के एक अणु मात्र भी वर्ण उस दर्पण में नहीं गये हैं । वैसे ही मिथ्यात्व आदि द्रव्यकर्म पुद्गल के होने से पुद्गलिक—अजीव ही हैं उनके निमित्त से जीव के स्वभाव में विकार आ जाने से वे जीव के विकारीभाव ही जीव रूप हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—चैतन्यरूप आत्म भावों को यह आत्मा करता है और अचेतनरूप द्रव्यकर्मादि पर भावों को परद्रव्य—पुद्गल ही करता है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—मिच्छत्तं पुन दुर्बिहं जीवमजीवं मिथ्यात्वं पुनद्विविधं जीवस्वभावम-
जीवस्वभावं च तद्देव अज्ञानं अविरतिं जीवो मोहो कोहादीया इमे भावा तथैव चाज्ञान-
मविरतियोगो मोहः क्रोधादयोऽमी भावाः पर्यायाः जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवन्ति मयूरमुकुरं-
दवत् । तद्यथा—यथा मयूरेण भाव्यमाना अनुभूयमाना नीलपीताद्याकारविशेषा मयूर-
शरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना
अनुभूयमानाः सुखदुःखादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव । यथा च मुकुरदेन
स्वच्छतारूपेण भाव्यमानाः प्रकाशमानमुखप्रतिबिम्बादिविकारा मुकुरंद एव अचेतना एव
तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणः ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाः
पुद्गल एव अचेतना एवेति ॥६४॥

तात्पर्यवृत्ति—मिथ्यात्व के दो भेद हैं—जीवस्वभावरूप और अजीवस्वभावरूप ।
उसी प्रकार से अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि जो ये भाव—पर्याय हैं वे सभी
जीवरूप और अजीवरूप से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं जैसे कि मयूर और दर्पण । उसी
का स्पष्टीकरण—जैसे कि मयूर के द्वारा भावित—अनुभव में किये गये नीले, पीले आदि
जो आकार विशेष हैं वे मयूर के शरीर के आकार से परिणत होने से मयूर ही हैं चेतन ही
हैं । वैसे ही निर्मल आत्मा की अनुभूति से च्युत हुये जीव के द्वारा भाव्यमान—अनुभूति
में आने वाले सुख-दुःख आदि जो विकल्प हैं वे जीव ही हैं, अशुद्धनिश्चयनय से चैतन्य-
स्वरूप ही हैं । और जैसे दर्पण की स्वच्छतारूप से भावित हुये प्रकाशमान मुख के प्रति-
बिम्ब आदि जो विकार हैं—दर्पण में झलक रहे हैं वे सब दर्पण ही हैं अचेतन ही हैं ।
वैसे ही उपादान भूत, कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल द्रव्य के द्वारा किये गये होने से वे ज्ञानावरण
आदि द्रव्यकर्म की पर्यायें पुद्गल ही हैं, अचेतन ही हैं, ऐसा समझना ॥६४॥

काविह जीवाजीवाविति चेत् :—

(६५ ज०) पुद्गलकर्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।

उवओगो अणाणं अविरद मिच्छं च जीवो दु ॥८८ अ०॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।

उपयोगोऽज्ञानमविरतिमिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥८८॥

आत्मख्यातिः—यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्तश्चैतन्यपरिणामा-
दन्यत् मूर्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तत्पुद्गलकर्मणोऽन्य-
श्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ॥८८॥

(उत्थानिका)—अथ कतिविधौ जीवाजीवाविति पृष्ठे प्रत्युत्तरमाहः—

तात्पर्यवृत्तिः—पुद्गलकर्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं पुद्गलकर्मरूपं
मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीवः । उवओगो अणाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु

उत्थानिका—कौन-कौन जीव अजीव हैं ? ऐसा पूछने पर यहाँ कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं योगः अविरतिः अज्ञानं पुद्गलकर्म अजीवः) मिथ्यात्व, योग,
अविरति और अज्ञान ये जो पुद्गलकर्म हैं वे अजीव हैं । (च अज्ञानं अविरतिः मिथ्यात्वं
उपयोगः तु जीवः) और अज्ञान, अविरति तथा मिथ्यात्व ये जो उपयोगरूप हैं वे जीव हैं ।

आत्मख्याति—जो ये नियम से मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं
वे अमूर्तिक चैतन्यपरिणाम से भिन्न हैं अतः मूर्तिक पुद्गलकर्म हैं । और जो मिथ्यादर्शन,
अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य हैं अतः चैतन्य के विकार
हैं ॥८८॥

उत्थानिका—कितने प्रकार के जीव अजीव हैं ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—पुद्गलकर्मरूप मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान ये अजीव हैं
और उपयोगरूप-भावरूप शुद्धात्मा आदि तत्त्वभाव के विषय में विपरीत परिच्छिप्ति—

(६५ ज०) मिथ्यात्व योग अविरति अज्ञान जो ये कारण कहलाए हैं ।

पुद्गल वर्गणा रूप होने से वे अजीव बतलाए हैं ॥

वे ही अज्ञान तथा अविरति मिथ्यात्व विपर्यय जब होते ।

उपयोग स्वरूप भाव होने से जीव रूप परिणत होते ॥८८ अ० ।

उपयोगरूपो भावरूपः शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तविकारपरिणामो जीवस्या-
ज्ञानं निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः । विपरीताभिनिवेशोपयोग-
विकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीवः । जीव इति कोर्थः ।
जीवरूपा भावप्रत्यया इति ॥६५॥

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत् :—

(६६ ज०) उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स ।

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥६६ अ०॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।

मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥६०॥

जाननेरूप क्रिया का विकाररूप जो परिणाम है वह जीव का अज्ञानभाव है । निर्विकार स्व-
संवेदन से विपरीत अव्रत परिणामरूप जो विकार भाव है वह अविरति है । विपरीत
अभिनिवेश-अभिप्रायरूप उपयोग का जो विकाररूप शुद्धजीवादि पदार्थ के विषय में विपरीत
श्रद्धान है वह मिथ्यात्व है । ये अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीवरूप हैं । जीव इसका
क्या अर्थ ? ये जीवरूप साव प्रत्यय हैं—भाव आस्रव हैं ऐसा समझना ॥६५॥

उत्थानिका—मिथ्यादर्शन आदि चैतन्यपरिणाम के विकार कैसे हैं ? ऐसा पूछने पर
कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मोहयुक्तस्य उपयोगस्य अनादयः परिणामाः त्रयः) मोह से युक्त
उपयोग के अनादिकालीन परिणाम तीन प्रकार के हैं । (मिथ्यात्वं अज्ञानं च अविरतिभावः
ज्ञातव्यः) ये मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति इन भावरूप जानने चाहिये ।

(६६ ज०) मोही संसारी प्राणी के तीनों अनादि परिणाम कहे ।

क्योंकी उसका उपयोग सदा तीनों स्वरूप परिणमन करे ॥

मिथ्या, अज्ञान तथा अविरति ये भाव विकारी होते हैं ।

ये कहे अशुद्ध जीव में ही नहि शुद्ध जीव के होते हैं ॥६६ अ०॥

आत्मख्यातिः—उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः । स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः । यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणाम-समर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकाञ्चनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोह-युक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः ॥८६॥

आत्मख्याति—यह उपयोग अपने स्वरूपपरिणामन से ही समस्त वस्तुओं के स्वभाव-भूत स्वरूप परिणाम की सामर्थ्य होने पर भी अनादिकाल से भिन्न वस्तुभूत मोह से युक्त हो रहा है । अर्थात् प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावरूप से ही परिणामन करने वाली है । ऐसे ही यह आत्मा का उपयोग भी यद्यपि स्वभावरूप से परिणामन की सामर्थ्य वाला है फिर भी वह अनादिकाल से मोहनीय कर्म के उदय से युक्त हो रहा है । इस उपयोग के मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन भेदरूप परिणाम के विकार हैं । ये वैसे ही हैं कि जैसे स्फटिक मणि की स्वच्छता में पर के निमित्त से परिणाम में विकार हुआ देखा जाता है । जैसे स्फटिक की स्वच्छता में अपने स्वरूप-उज्ज्वलतारूप परिणाम की सामर्थ्य होने पर किसी समय नीले, हरे, पीले जो तमाल, केला और सुवर्णपात्र हैं उनके समीपवर्ती आश्रय से युक्त होने से नीला, हरा, पीला ऐसे तीन प्रकार के परिणाम का विकार दीखता है । उसी प्रकार आत्मा के उपयोग के अनादिकालीन मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति स्वभाव-रूप अन्य वस्तुभूत मोह से युक्त होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकार के परिणाम के विकार जानना चाहिये ॥८६॥

भावार्थ—आत्मा का उपयोग यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध ज्ञान दर्शनस्वरूप है फिर भी अनादिकाल से मोहकर्म के निमित्त से यह आत्मा का उपयोग मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकार का हो रहा है । इसी अपेक्षा से ये तीनों भेद जोवरूप ही हैं । इनके प्रतिपक्षी ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र भाव हैं वे इन तीनों भी अनादि परिणामों को दूर कर जीव को शुद्ध बनाने वाले हैं ।

(उत्थानिका)—अथ शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत्,—

तात्पर्यवृत्तिः—उपयोगस्स अणार्हं परिणामा तिणिण उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य संबन्धित्वेनादिसंतानापेक्षया त्रयः परिणामा ज्ञातव्याः । कथंभूतस्य तस्य । मोहयुक्तस्स मोहयुक्तस्य । के ते परिणामाः । मिच्छन्तं अण्णारं अविरदिभावो य णादब्बो मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति । तथाहि—यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः संभवन्ति । तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थः ॥६६॥

उत्थानिका—शुद्ध चैतन्यस्वभावी जीव के मिथ्यादर्शन आवि विकार भाव कैसे हुये ? इसी को कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उपयोग लक्षणवाला होने से यह आत्मा उपयोग ही है उस उपयोग से सम्बन्धित अनादि संतान की अपेक्षा से तीन परिणाम जानना चाहिये । वह उपयोग कंसा ? मोह से सहित है । वे परिणाम कौन से हैं ? मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिभाव ये तीन हैं ऐसा जानना । उसी का स्पष्टीकरण—यद्यपि शुद्धनिश्चयनय से यह जीव शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाला है फिर भी अनादिकालीन मोहनीय आवि कर्म बंध के वश से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरतिरूप तीन परिणाम के विकार हैं । इनमें शुद्धजीव का स्वरूप ही उपादेय है और मिथ्यात्व आवि विकार परिणाम हेय हैं—छोड़ने योग्य हैं ऐसा यहाँ अभिप्राय है ॥६६॥

विशेषार्थ—आत्मा के उपयोग के तीन प्रकार हैं ये अनादिकालीन हैं । प्रश्न यह होता है कि जो अनादि होता है उसका अंत कैसे होगा ? जैसे सुमेरु पर्वत अनादि है अतः अनंत है । किंतु ऐसी बात सर्वथा नहीं है, भगवान् महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की पिता-पुत्र परंपरा अनादि थी किन्तु भगवान् महावीर ने विवाह नहीं किया अतः उनकी पिता-पुत्र का अंत हो गया । बीज-वृक्ष की परंपरा अनादि है फिर भी आज एक बीज को जला दिया जाये तो उसकी आगे की परम्परा समाप्त हो जायेगी । ऐसे मोह से सहित इस उपयोग के अनादि से तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति । इन्हें ही मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं । इनको नष्ट करने के लिये ही सम्यग्दर्शन,

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति :—

(६७ ज०) एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो निरंजणो भावो ।

जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥६० अ०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः ।

यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥६०॥

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य माने गये हैं । यह रत्नत्रय ही व्यवहार और निश्चय से दो भेदरूप हैं । पहले व्यवहाररत्नत्रय साधन है, उसी के द्वारा निश्चयरत्नत्रय जो कि साध्य है वह प्राप्त किया जाता है । यह निश्चयरत्नत्रय ध्यान की एकाग्र परिणति में शुक्लध्यानरूप परिणत हो जाता है । यही ध्यानान्ति इन मिथ्यात्व आदि के मूलकारण मोहनीय कर्म को जलाकर भस्मसात् करके घातिया-अघातिया आदि सारे कर्मों को क्रम-क्रम से जला करके जीव को अथवा जीव के उपयोग को पूर्णशुद्ध केवलज्ञानमय लोकालोकप्रकाशी बना देता

। इसलिये अनादिकालीन भी अशुद्ध उपयोग शुद्ध किया जा सकता है । इस समयसार को पढ़कर उपयोग को शुद्ध करने के प्रकार को—उपाय को अपनाना ही उपयोगी है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब आत्मा के इन तीन प्रकार के परिणाम के विकारों का कर्तृत्व विखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(एतेषु च उपयोगः शुद्धः निरंजनः त्रिविधः भावः) इन तीनों भावों में आत्मा का उपयोग शुद्ध निरंजन है तो भी वह मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इन तीन भावरूप हैं । (सः उपयोगः यं भावं करोति सः तस्य कर्ता) वह उपयोग जिस भाव को करता है वह उसी का कर्ता हो जाता है ।

(६७ ज०) यद्यपि यह आत्मा शुद्ध तथाश्रित शुद्ध निरंजन है जानी ।

तो भी अनादि से तीनों ही परिणामरूप है अज्ञानी ॥

ये भाव उदय में आने पर उपयोग उसी में रहता है ।

अतएव निजात्म अवस्था तज इन अशुभभाव का कर्ता है ॥६० अ०॥

आत्मख्यातिः—अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुवतत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शना-
ज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तु
सर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः
कर्तृत्वमुपलोकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्ता
स्यात् ॥६०॥

(उत्थानिका)—अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुप-
दिशति;—

आत्मख्याति—यह आत्मा का उपयोग अनादिकाल से भिन्न वस्तुरूप—अपने से
भिन्न जो मोह है उससे युक्त है अतः आत्मा में उत्पन्न होने वाले मिथ्यादर्शन, अज्ञान,
अविरति इन भावरूप परिणाम के विकार जो कि निमित्तभूत हैं उनके होने पर भी परमार्थ
से देखा जाये तो यह आत्मा शुद्ध है, निरंजन है, अनादि निधनवस्तु है सर्वस्वभूत
चैतन्यमात्र भावरूप से एक प्रकार का है ऐसा होते हुये भी अशुद्ध, कर्मांजन सहित और
अनेक भाव को प्राप्त होता हुआ तीन प्रकार का होकर स्वयं—आप अज्ञानी होता हुआ इन
भावों के कर्तापने को प्राप्त हो जाता है तब विकार भावों से परिणमन करके आत्मा के
जिस-जिस भाव को करता है तभी वह आत्मा का उपयोग उस-उस भाव का कर्ता बन
जाता है ॥६०॥

भावार्थ—आत्मा का लक्षण उपयोग है वह लक्षण अपने लक्ष्यरूप आत्मा से
अभिन्न है । यही कारण है कि आचार्यदेव ने उपयोग के तीन भेद कर दिये हैं । पुनः कह
दिया है कि यह आत्मा तो इन विकारस्वरूप भावों का कर्ता नहीं है प्रत्युत उपयोग ही
मिथ्यात्व अज्ञान, अविरति इन भावों से परिणत होता है अतः यह उपयोग ही इन तीनों
भावों का कर्ता है ।

उत्थानिका—आत्मा के जो मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के परिणाम के विकार हैं
वे ही कर्ता हैं ऐसा उपदेश देते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—एतेषु य एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यद्वयागतेषु निमित्तभूतेषु सत्सु उबओगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा त्रिविहो कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति । परमार्थेन तु सुद्धो शुद्धो रागादिभावकर्मरहितः निरंजणो निरंजनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माजनरहितः । पुनश्च कथंभूतः । भावो भावः पदार्थः अखंडैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र्यपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा जं सो करेदि भावं यं परिणामं करोति स आत्मा उबओगो चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूपः । तस्स सो कत्ता निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युतः सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्ता भवति । न च द्रव्यकर्मण इति भावः ॥६७॥

तात्पर्यवृत्ति—उदय में आये मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्य के होने पर उनके निमित्त से यहाँ उपयोग शब्द से आत्मा ही है क्योंकि ज्ञान दर्शनमय जो उपयोग है वह आत्मा का ही लक्षण होने से आत्मा से अभिन्न है, जैसे काली, नीली और पीली इन रंग की किसी वस्तुरूप उपाधि से परिणत हुआ स्फटिक पाषाण तीन प्रकार का—तीन रंग का हो जाता है वैसे ही यह उपयोग भी मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति से परिणत हुआ तीन प्रकार का हो जाता है । परमार्थ से तो यह आत्मा का उपयोग शुद्ध है—रागादि भाव कर्म से रहित है, निरंजन है—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्माजन से रहित है, अखंड एक प्रतिभासमय ज्ञान स्वभाव से एक प्रकार का है तो भी पूर्वोक्त मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र्यरूप परिणाम के विकार से तीन प्रकार का होकर जिस परिणाम को करता है वह आत्मा चैतन्य से अनुस्यूत परिणामरूप उपयोग कहलाता है क्योंकि वह उपयोग लक्षणवाला होने से उपयोगरूप है । यह आत्मा निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानरूप परिणाम से च्युत होता हुआ उन्हीं मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के विकाररूप परिणामों का कर्ता होता है फिर भी वह द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है ऐसा भाव समझना ॥६७॥

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याहुः—

(६८ ज०) जं कुण्ड भावमादा कर्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

कम्मत्तं परिणमदे तस्मिं सयं पुद्गलं दव्वं ॥६९ अ०॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।

कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ॥६९॥

आत्मख्यातिः—आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्साधकवत् तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते । तथाहि—यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात् । तस्मिन्स्तु ध्यानभावे सकल-साध्यभावानुकूलतया निमित्तमाश्रीभूते सति साधकं कर्तारभन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यते विषय्याप्तयो,

उत्थानिका—आत्मा के तीन प्रकार के परिणामरूप विकार का कर्तृत्व होने पर पुद्गलद्रव्य स्वतः ही कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं ऐसा दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा यं भावं करोति सः तस्य भावस्य कर्ता भवति) आत्मा जिस भाव को करता है वह उस भाव का कर्ता हो जाता है । (तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वं परिणमते) और उन भावों का कर्ता होने पर स्वयं पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से परिणमन कर जाता है ।

आत्मख्याति—यह आत्मा नियम से आप ही उसरूप से परिणमन करके जिस भाव को करता है यह उसी भाव का कर्ता हो जाता है मंत्र के साधक के समान । तथा उस आत्मा के भावों का निमित्त मिलने पर पुद्गलद्रव्य स्वयं ही कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं । उसी को कहते हैं—जैसे कोई मंत्र को सिद्ध करने वाला पुरुष जिस प्रकार के ध्यानरूप भाव से स्वयं परिणमन करता हुआ ध्यान का कर्ता होता है और ध्यानभाव के होने पर समस्त साध्य होने योग्य वस्तु की अनुकूलता से उस ध्यानभाव के निमित्तमात्र होने पर उस साधक—कर्ता के बिना भी स्वयं ही विषय की ध्याप्ति बाधित हो जाती है

(६८ ज०) जो जीव जिस समय जिन भावों से जिन भावों को करता है ।

उन ही भावों का कर्ता बन परपरिणति को निज कहता है ॥

इस तरह विकारी होने पर जो पुद्गल परमाणु आते ।

वे आत्मा के संग बन्ध करके स्वयमेव कर्मसंज्ञा पाते ॥६९ अ०॥

विडम्ब्यंते योषितो, ध्वंस्यंते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेतात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्त्ता स्यात् । तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमाश्रीभूते सत्यात्मानं कर्त्तारिमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ॥६१॥

(उत्थानिका)—अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्म-
वर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—जं कुणदि भावमावा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं भावं मिथ्या-
त्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सस् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति
कर्मत्तं परिणमदे तस्मिं सयं पुग्गलं द्रव्वं तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति
कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति । किंवत् गारुडा-
दिमंत्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशांतरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमंतरेणापि विषापहारबंध-

अर्थात् अन्यत्र दूसरे का विष उतर जाता है । अथवा किसी के मंत्र के निमित्त से स्त्रियां विडम्बना को प्राप्त हो जाती हैं, या कोई बंधा हुआ था उसके लिये मंत्र करने से उसके बंधन खुल जाते हैं इत्यादि कार्य मंत्र के ध्यान की सामर्थ्य से देखे जाते हैं । वैसे ही यह आत्मा अज्ञान से अपने द्वारा किये गये मिथ्यादर्शन आदि भावों से परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शन आदि भावों का कर्त्ता होता है और उन मिथ्यादर्शन आदि भावों के अपनी अनुकूलता से निमित्तमात्र होने पर इस कर्त्ता आत्मा के बिना भी पुद्गलद्रव्य स्वयं ही मोहनीय आदि कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं ॥६१॥

उत्थानिका—जब यह आत्मा मिथ्यात्व आदि तीन प्रकार के परिणाम विकार का कर्त्ता होता है तब आत्मा के विकार भाव होने पर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य स्वतः ही उपादानरूप से कर्मभाव से परिणत हो जाते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ यह आत्मा जिन भावों को—मिथ्यात्व आदि विकार परिणामों को करता है वह उन्हीं भावों का कर्त्ता हो जाता है और उन तीन प्रकार के विकार परिणामों के करने पर कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलद्रव्य स्वयं ही उपादानरूप से द्रव्यकर्मरूप परिणत हो जाते हैं जैसे गारुड़ आदि मंत्र से परिणत हुये पुरुष के परिणाम के होने पर जो कि पुरुष किसी अन्य देश में स्थित है तो भी स्वयं

विध्वंसस्त्रीविडम्बनादिपरिणामवत् । तथैव च मिथ्यात्वरगादिविभावविनाशकाले निश्चय-
रत्नत्रयरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमंत्रस्य सामर्थ्येन निर्जोजविषवत् स्वयमेव नीरसी-
भूय पूर्ववद्धं द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः । एवं स्वतंत्रव्याख्यान-
मुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं ॥६८॥

ही उस पुरुष के व्यापार के बिना भी विष का दूर होना, बंधन का खुल जाना और
स्त्रियों द्वारा विडम्बना करना आदि परिणामदेखे जाते हैं उसी प्रकार से मिथ्यात्व रागादि-
विभाव परिणाम के विनाश काल में निश्चय रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग परिणाम के होने
पर गारुड मंत्र की सामर्थ्य से शक्ति रहित विष के समान स्वयं ही नीरस होकर पूर्व में
बंधे हुये द्रव्यकर्म जीव से पृथक् होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते हैं ऐसा अभिप्राय
समझना । इस प्रकार स्वतंत्र व्याख्यान की मुख्यता से छह गाथायें पूर्ण हुई ॥६८॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा में जो 'स्वयं' शब्द आया है वह पुद्गल के कर्मरूप से
परिणमन करने में पुद्गल द्रव्य की उपादानरूपता का सूचक तो है ही साथ ही जीव के
विकारी भावों की साधकतम भी बतला रहा है । इसीलिये टीकाकार श्री अमृतचंद्रसूरि
ने मंत्र के साधक का दृष्टांत दिया है । जब कोई भी मंत्रवादी जिस किसी भी उद्देश्य
से मंत्र जाप करता है तब उस मंत्र के सिद्ध हो जाने पर उसका कार्य अनायास ही सिद्ध
हो जाता है । जैसे गारुडिक मंत्रवादी अपने स्थान पर बैठकर मंत्र जपता है और दूर में
स्थित भी जिसके लिये मंत्र जपा था उसका विष उतर जाता है । या कोई जेल में बेड़ियों
से बंधा है तो मंत्रवादी के मंत्र के प्रभाव से उसकी बेड़ियाँ खुल जाती हैं । या किसी
महिला को बश में करने के लिये या उसमें मूतादि की चेष्टा दिखाकर नचाने आदि रूप
से महिला को विडम्बित करने के लिये किसी पुरुष ने मन्त्र सिद्ध किया तो वह महिला
दूर रहकर भी नाना चेष्टाओं के द्वारा अनेक क्रियाये करती हुई देखी जाती है । संसार
अवस्था में वैसे ही जीव में विभावरूप से परिणत होने की एक वैभाविक शक्ति है उसके
निमित्त से जीव के रागी, द्वेषी, मोही आदि होते ही पौद्गलिक कर्मवर्गणायें जीव के
प्रदेशों में चिपट कर कर्मरूप से—ज्ञानावरण आविरूप से बंध जाती हैं । तथा जब कोई
महामुनि निर्विकल्प ध्यान में लीन होते हैं तब उनके कर्मबंधन स्वयं ही निर्जीर्ण हो
जाते हैं आगे उसी ध्यान के प्रभाव से—शुक्लध्यान की महिमा से सर्व घातिया कर्म

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह; —

(६६ ज०) परमप्पाणं कुब्बं अप्पाणं पि य परं करितो सो ।

अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारको होवि ॥६२ अ०॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः ।

अज्ञानमयो जीवः कर्मणः कारको भवति ॥६२॥

नष्ट हो जाते हैं । जब मन्त्र में यह शक्ति है कि विष उतर जाये तो पुनः उन शुद्धात्मा के ध्यान में तो अचिन्त्य शक्ति है ही है कि जिसके प्रभाव से बंधे हुये पौद्गलिक कर्म भी आत्मा से पृथक् हो जावें । अतः सरागचारित्र को धारण कर वीतरागचारित्र को प्राप्त करने की भावना भाते रहना चाहिये ।

यहाँ यह बात भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि यह आत्मा संसार में जिस भाव को करता है उसी भाव का कर्ता माना जाता है तथा उसी भाव के आश्रय से कर्म-वर्गणायें आकर आत्मा के साथ एकमेक होकर बंध जाती हैं । इसलिये जैसे यह गाथा उपयोगी है कि—अहमिवको खलु सुद्धो वंसण्णाणमइयो सबारुधी ।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥४३॥

जैसे ही यह गाथा भी रट कर रखना चाहिये—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होवि तस्स भावस्स ।

कम्मत्तं परिणमवे तम्हि सयं पोगलं वव्वं ॥६८॥

उत्थानिका—अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा अभिप्राय व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—(परं आत्मानं कुर्वन् च आत्मानं अपि परं कुर्वन्) पर को अपने करता हुआ और अपनी आत्मा को भी पररूप करता हुआ (सः अज्ञानमयः जीवः कर्मणां कारकः भवति) वह अज्ञानमयी जीव कर्मों का कर्ता हो जाता है ।

(६६ ज०) अज्ञानमयी यह जीव निरंतर पर को अपना कहता है ।

निजशुद्धात्मा में पर बुद्धी कर करके उसको तजता है ॥

ऐसी बहिरात्म अवस्था ही संसार भ्रमण करवासी है ।

बस इसीलिए सब कर्मों का कर्ता आत्मा बन जाती है ॥६२ अ०॥

आत्मख्यातिः—अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिज्जनि सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिज्जनि सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणो (ज्ञानविरुद्धस्य) कर्ता प्रतिभाति ॥६२॥

आत्मख्याति—यह आत्मा निश्चित ही अज्ञान से पर में और अपने में परस्पर में विशेष भेदज्ञान के नहीं होने से पर को तो अपने करता हुआ और अपने को पर के करता हुआ स्वयं अज्ञानमयी होता हुआ कर्मों का करने वाला प्रतिभासित होता है । उसी को स्पष्ट कहते हैं—जैसे शीत और उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ, पुद्गल परिणाम की अवस्था जो कि शीत उष्णरूप है वह पुद्गल से अभिन्न है अतः नित्य ही आत्मा से अत्यंत भिन्न है वैसे ही उस प्रकार के अनुभव कराने में समर्थ जो रागद्वेष, सुख-दुःखादि रूप पुद्गल परिणाम की अवस्था है वह पुद्गल से अभिन्न होने से आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है और उस निमित्त से हुये उस प्रकार के रागद्वेषादि भावों का अनुभव तो आत्मा से अभिन्न होने से पुद्गल से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है । फिर भी उन रागद्वेषादि भावों का और उनके अनुभव का अज्ञान से परस्पर में विशेषरूप—अन्तर रूप भेदज्ञान न होने से इनमें एकत्व का निश्चय हो गया है अतः जैसे शीत उष्णरूप से आत्मा परिणमन करता है वैसे ही रागद्वेषादि तथा सुख-दुःखादिरूप भी यह आत्मा स्वयं परिणत होने में असमर्थ है तो भी रागद्वेषादि पुद्गल परिणाम की अवस्था को उसके अनुभव का निमित्तमात्र होने से अज्ञान स्वरूप से आप परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान को ही अज्ञान रूप प्रगट करता है तब स्वयं अज्ञानमयी होकर 'यह मैं राग करता हूँ,' इत्यादि प्रकार से ज्ञान से विरुद्ध रागादि भावों का कर्ता हो जाता है ॥६२॥

(उत्थानिका)—अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते । तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाहुः—

तात्पर्यवृत्तिः—परं परद्रव्यं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं अप्पाणं कुर्वन्नि परद्रव्यात्मनोर्भेद-ज्ञानाभावादात्मानं करोति अप्पाणं पि य परं करन्ती शुद्धात्मानं च परं करोति यः सो अप्पाणमजो जीवो कस्माणं कारगो होदि स चाज्ञानमयो जीवः कर्मणां कर्ता भवति । तद्यथा—यथा कोपि पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानु-भवस्य चैकत्वाभ्यासाद्धेदमजानन् शीतोहमुष्णोहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणतेः कर्ता भवति । तथा जीवोपि निष्कण्डुहात्मानुभूतेभिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्नि-मित्तसुखदुःखानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनोः समस्तरागादिविकल्परहित-स्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखी दुःखीति प्रकारेण परिणमत्कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः ॥६६॥

उत्थानिका—निश्चयनय से वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान का अभाव ही अज्ञान कह-लाता है, इसलिये अज्ञान से ही कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा तात्पर्य अर्थ प्रगट करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यह अज्ञानी जीव परद्रव्य में और आत्मा में भेदज्ञान के न होने से भावकर्म और द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य को अपने करता है और अपनी शुद्धात्मा को पररूप करता है इसी हेतु से यह कर्मों का कर्ता हो जाता है—उसे ही कहते हैं—जैसे कोई पुरुष शीत उष्णरूप पुद्गल परिणाम—पर्याय की अवस्था में और शीत उष्ण के अनुभवरूप अपने भावों में इन दोनों में एकपने का अभ्यास होने से इनके भेद को न जानता हुआ 'मैं शीत हूँ, मैं उष्ण हूँ' इस प्रकार से शीत उष्ण परिणति का कर्ता होता है । वैसे यह जीव भी अपनी शुद्ध आत्मा की अनुभूति से भिन्न, उदय में आये हुये पुद्गल परिणाम की अवस्था में और उन पौद्गलिक कर्म के निमित्त से हुये सुख दुःख के अनुभव में इन दोनों में एकत्व का आरोप होने से परद्रव्य और आत्मा में समस्त रागादि विकल्प रहित स्व-संवेदन ज्ञान के न होने से इनके भेद को न जानता हुआ 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार से परिणमन करता है अतः कर्मों का कर्ता होता है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥६६॥

ज्ञातास्तु न कर्म प्रभवतीत्याहुः—

(१०० ज०) परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।

सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होवि ॥६३ अ०॥

परमात्मानमकुर्वन्तात्मानमपि च परमकुर्वन् ।

स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥६३॥

आत्मख्यातिः—अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिजज्ञेति सति परमात्मानमकुर्वन्तात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः

भावार्थ—एक तो पौद्गलिक कर्म और दूसरा उनके उदय में आने पर अपनी आत्मा में होने वाले रागद्वेष और सुख दुःख आदि भाव ये दो हैं । इनमें एकत्व का अभिप्राय होने से यह जील मिथ्यादुष्टि होता है और कर्मों का कर्ता होता है आगे इन दोनों में भेदज्ञान हो जाने से चतुर्थगुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक श्रद्धान में इन दोनों में एकत्व न करने से उन-उन गुणस्थानों के योग्य कर्मों की प्रकृतियों की बंधव्युत्पत्ति कर देता है । आगे जब भीतरागी मुनि होकर निर्विकल्पध्यान में भेदविज्ञानी बनता है तब कर्म बंध से छूट जाता है । इसी बात को अगली गाथा में कहेंगे ।

उत्थानिका—ज्ञान से कर्म नहीं बंधते हैं ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(परं आत्मानं अकुर्वन् च आत्मानं अपि परं अकुर्वन्) पर को अपनेरूप न करता हुआ और अपने को भी पररूप न करता हुआ (ज्ञानमयः सः जीवः कर्मणां अकारकः भवति) ज्ञानी हुआ वह जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता है ।

आत्मख्याति—यह आत्मा ज्ञान से पर में और आत्मा में परस्पर विशेष ज्ञान-भेद विज्ञान के होने पर अन्य-पर को अपने रूप नहीं करता हुआ और अपने को पररूप नहीं करता हुआ स्वयं—आप ज्ञानमयी होकर कर्मों का कर्ता नहीं होता है । उसे ही कहते

(१०० ज०) जब वही आत्मा अपने को पररूप नहीं परिणमित करे ।

पर को निजरूप नहीं माने निजपर का भेद विज्ञान करे ॥

तब वही जीव ज्ञानी बनकर कर्मों का कर्ता नहि बनता ।

उसके नहि नूतन कर्म बंध वह परमसमाधी में रमता ॥६३ अ०॥

शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यन्तभिन्नायास्त-
न्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परवि-
शेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपे-
णाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोहं
जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता
प्रतिभाति ॥६३॥

हैं—जैसे शीत-उष्ण के अनुभव को कराने में समर्थ ऐसी शीत-उष्णरूप पुद्गल परिणाम
की जो अवस्था है वह पुद्गल से अभिन्नरूप होने से नित्य ही आत्मा से अत्यन्त भिन्न
है उसी प्रकार रागद्वेष, सुख-दुःख आदिरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था है, वह राग-
द्वेष, सुख-दुःखादिरूप अनुभव कराने में समर्थ है ऐसी अवस्था जिसकी निमित्त है और
उस शीत उष्ण वस्तु के निमित्त से होने वाला जो अनुभव है वह आत्मा से अभिन्न
होने से पुद्गल से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है । ज्ञानी आत्मा को अपने ज्ञान से इन दोनों
में परस्पर भेद विज्ञान के हो जाने पर दोनों के पृथक्-पृथक् भाव का विवेक हो जाता है
तब शीत उष्ण के समान अपनेरूप से उन्हें परिणमन कराना अशक्य होने से रागद्वेषादि
भाव और सुख-दुःखादिरूप से अज्ञानभाव से किंचित् भी परिणमन न करता हुआ ज्ञान को
ज्ञानरूप ही प्रगट करता हुआ स्वयं—आप ज्ञानमयी हुआ 'यह मैं जानता हूँ, राग करने
रूप परिणमन करने वाला तो पुद्गल है' इत्यादि प्रकार से ज्ञान से विरुद्ध सम्पूर्ण भी
रागादि कर्मों का कर्ता नहीं होता है ॥६३॥

भावार्थ—पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से ही आत्मा में रागादि भाव होते हैं ।
अशुद्धनिश्चयनय से यह आत्मा के भाव हैं क्योंकि इनका उपादान कारण आत्मा ही है
फिर भी शुद्धनिश्चयनय से पुद्गलकर्मोदय से होने से पौद्गलिक भी कहे जाते हैं । जब
आत्मा निर्विकल्पध्यान में स्थित हो जाता है तब वह संपूर्ण रागादि भावों से रहित होता
हुआ कर्मों का अकर्ता हो जाता है और तब उसके नूतन कर्म नहीं बंधते हैं पुराने बंधे हुए
कर्म निर्जोर्ण हो जाते हैं तभी कर्मों से छूट जाता है ।

(उत्थानिका)—अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह ।

तात्पर्यवृत्तिः—परं परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यंतरे रागादिकं भावकर्मरूपं द्रव्यकर्मरूपं वा अप्पाणमकुर्वी भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसम्बन्धमकुर्वन् अप्पाणं पि य परं अकुर्वन्तो शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं निजात्मानं च परमकुर्वन् सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवीतति । तथाहि—यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशाद्भेदज्ञानात् शीतोहमुष्णोहमिति परिणतेः कर्ता न भवति । तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेभिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावानुभूतिसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोह-

उत्थानिका—वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान के होने पर कर्म नहीं उत्पन्न होते हैं ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—बाह्य में शरीर आदिक और अभ्यंतर में रागादिक भाव ये परद्रव्य हैं अथवा भावकर्म और द्रव्यकर्मरूप परद्रव्य है । निर्मल आत्मा की अनुभूति को करने वाला भेदज्ञानी आत्मा भेदविज्ञान के बल से इन परद्रव्य को अपनी आत्मा के नहीं करता है और शुद्ध द्रव्य गुणपर्याय स्वभाव वाली अपनी आत्मा को पररूप नहीं करता है ऐसा भेदज्ञानी जीव कर्मों का कर्ता नहीं होता है । उसे ही कहते हैं—जैसे कोई पुरुष शीत उष्णरूप, पुद्गल परिणाम की अवस्था में और उसी प्रकार से शीत उष्ण के अनुभवरूप आत्मा में भेदज्ञान के होने से 'मैं शीत हूँ, मैं उष्ण हूँ' इस परिणति का कर्ता नहीं होता है । वैसे ही यह जीव भी निज शुद्ध आत्मा की अनुभूति से भिन्न, पुद्गल परिणाम—पर्यायों की अवस्था में और उन पुद्गल के निमित्त से होने वाले सुख दुःख के अनुभव में इन दोनों में जो कि अपनी शुद्ध आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुख के अनुभव से भिन्न हैं ऐसे उपर्युक्त पुद्गल की पर्यायों में और उस अन्य आत्मा के विभाव भावों में भेदज्ञान का अभ्यास होने से पर में और आत्मा में भेदज्ञान के हो जाने पर राग, द्वेष, मोह परि-

परिणामकुर्वाणः कर्मणां कर्ता न भवति । ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभि-
प्रायः ॥१००॥

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्—

(१०१ ज०) त्रिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं ।

कर्त्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥६४ अ०॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोहं ।

कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥६४॥

आत्मख्यातिः—एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सवि-
कारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य
भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्प-

णाम को नहीं करते हुये कर्मों का कर्ता नहीं होता है । इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान
से कर्म नहीं उत्पन्न होते हैं ऐसा समझना ॥१००॥

उत्थानिका—अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होते हैं ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एषः त्रिविधः उपयोगः अहं क्रोधः आत्मविकल्पं करोति) यह तीन
प्रकार का उपयोग 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा आत्मा में विकल्प करता हूँ (सः तस्य आत्मभावस्य
उपयोगस्य कर्ता भवति) वह आत्मा उस अपने भावरूप उपयोग का कर्ता होता है ।

आत्मख्याति—यह विकार सहित चैतन्य का परिणाम नियम से सामान्य की
अपेक्षा एक अज्ञानरूप है फिर भी विशेष की अपेक्षा मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति
रूप से तीन प्रकार का हो जाता है । यह परिणाम पर में और आत्मा में अभेद श्रद्धान से,
अभेद ज्ञान से और अभेद चारित्र्य से संपूर्ण भी भेद का लोप करके भाव्य-भावक भाव को

(१०१ ज०) पूर्वोक्त कथित मिथ्यात्व आदि त्रय भावों को जो करते हैं ।

मैं क्रोधरूप हूँ यह विकल्प आत्मा में करने लगते हैं ॥

उस समय उन्हीं का आत्मभाव उपयोग का कर्ता बन जाता ।

वैभाविक यह उपयोग कहा स्वाभाविक रूप नहीं ध्याता ॥६४ अ०॥

मुत्पादयति । ततोयमात्मा क्रोधोहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोह-रागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुघ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूहानि ॥६४॥

(उत्थानिका)—अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह—

तात्पर्यवृत्तिः—तिविहो एसुवओगो त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षण-त्वादुपयोग आत्मा अस्सविषय्यं करेदि स्वस्थभावस्थाभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति । केन रूपेण, कोहोहं क्रोधोहमित्यादि कत्ता तस्सुवओगस्स होवि सो स जीवः तस्य क्रोधाद्युप-योगस्य विकल्पस्य कर्ता भवति । कथंभूतस्य, अत्तभावस्स आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन

प्राप्त हुये ऐसे चेतन और अचेतन का सामान्य आधाररूप से अनुभव करने से “मैं क्रोध हूँ” इस प्रकार आत्मा में विकल्प को उत्पन्न करता है । इसलिये यह आत्मा ‘मैं क्रोध हूँ’ इस भ्रांति से विकार सहित चैतन्य परिणाम से परिणमन करता हुआ उस विकार सहित चैतन्य परिणाम रूप अपने आत्म भाव का कर्ता होता है । इसी प्रकार से क्रोध पद के परिवर्तन से मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । इसी रीति से अन्य भी विभाव परिणामों को समझ लेना चाहिये ॥६४॥

उत्थानिका—अज्ञान से कर्म कैसे बंधते हैं ? ऐसा प्रश्न होने पर दो गाथाओं द्वारा आचार्य कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—तीन प्रकार का यह प्रत्यक्षीभूत हुआ उपयोग है वह आत्मा ही है क्योंकि आत्मा उपयोग लक्षणवाला है । यह आत्मा स्वस्थ भाव के अभाव से असत्य विकल्प—मिथ्या विकल्प को करता है । ‘मैं क्रोध हूँ’ इत्यादिरूप से जो विकल्प हैं वे मिथ्याविकल्प हैं उन विकल्पों के होने पर यह जीव उन क्रोधादि विकल्परूप उपयोग का कर्ता होता है । ये विकल्प अशुद्धनिश्चयनय से आत्मा के ही भाव हैं—जीव के ही परिणाम हैं, इसे ही कहते हैं—यह उपयोग स्वरूप आत्मा सामान्य की अपेक्षा अज्ञान-रूप से एक प्रकार का है फिर भी विशेष की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप से तीन प्रकार का होकर भाव्य-भावक भाव को प्राप्त क्रोधादि में

जीवपरिणामस्येति । तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञान-
चारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयोः ।
भाव्यभावकभावापन्नयोः कोर्थः ? भाव्यः क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रंजकश्चांतरा-
त्मभावनाविलक्षणो भावक्रोधः । इत्थंभूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमज्ञानन्निर्विकल्पस्वरूपाद्
भ्रष्टः सन् क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्ध-
निश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहराग-
द्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन
प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा
ज्ञातव्या इति ॥१०१॥

और आत्मा में 'मैं क्रोध हूँ' इस प्रकार से आत्मा में विकल्प को उत्पन्न करता है । इन
क्रोधादि में और आत्मा में भेदज्ञान का अभाव होने से इनके भेद को न जानता हुआ यह
आत्मा निर्विकल्प स्वरूप से भ्रष्ट होता हुआ ही 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्पों को
करता है ।

प्रश्न—भाव्य-भावक का क्या अर्थ है ?

उत्तर—क्रोधादि भाव से परिणत आत्मा भाव्य है और भावक—रंजक—रंजित
करने वाला अंतरात्मा को भावना से विलक्षण जो भावक्रोध है वही भावक है अर्थात्
आत्मा भाव्य है और भावक्रोध भावक है ।

यह आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से उन्हीं क्रोधादि उपयोगरूप परिणाम का कर्ता
होता है ऐसा यहाँ अभिप्राय समझना । इसी प्रकार से क्रोध पद को बवल कर मान,
माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र चक्षु, घ्राण, रसना और
स्पर्शन इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । इस प्रकार से अविक्षिप्त चित्त
स्वभाव वाली शुद्ध आत्मा से विलक्षण, असंख्यात लोक प्रमाण विभाव परिणाम जानने
चाहिये ॥१०१॥

विशेषार्थ—जीव का उपयोग सामान्यतया एक अज्ञानरूप ही है वह चैतन्य का
विकारी परिणाम है वही उपयोग विशेष की अपेक्षा से तीन प्रकार का हो जाता है मिथ्या-

दर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप । यहाँ गाथा में उपयोगरूप आत्मभाव का कर्ता जीव को माना है । इसे ही श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी सिद्ध किया है । गाथा में 'कोहोहं' के पाठ के स्थान में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने मान, माया, लोभ आदि रूप से परिवर्तन करने को कहा है जैसे—

तिविहो एतुवजोणो अप्पविद्यप्पं करेइ माणोहं ।

कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥

इत्यादि प्रकार से सोलह गाथायें बनाई जा सकती हैं । श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा में 'अप्पविद्यप्पं' के स्थान में 'अस्सविद्यप्पं' पाठ माना है और उसका अर्थ किया है 'असद्विकल्पं' मिथ्याविकल्पं ।

श्रीजयसेनाचार्य द्वारा गाथाओं में पाठ भेद प्रायः देखा जाता है । कौन सा पाठ श्रीकुंदकुंददेव के मुखकमल से निकला हुआ है वर्तमान में ऐसा निर्णय करना सर्वथा कठिन है क्योंकि केवली, श्रुतकेवली के सिवाय यह निर्णय नहीं किया जा सकता है अतः हमारा कर्तव्य है कि हम दोनों आचार्यों के पाठ को प्रमाणीक मानें, दुराग्रह न करें इसी में सम्यग्दर्शन की सुरक्षा है जैसा कि धवला टीका में जगह-जगह आता है । धवला में जहाँ दो प्रकार के वचन आये हैं तब वहाँ प्रश्नोत्तर चला है—यथा—“दोण्हं वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे ? केवली सुदकेवली वा जाणादि ण अण्णो तहा णिण्णया-मावादो । वट्टमाणकालाइरिएहिं वज्जोभीरुहिं दोण्हं पि संगहो कायव्वो अण्णहा वज्जभीरुस-विणासादो त्ति ।”

प्रश्न—दोनों प्रकार के वचनों में से किस वचन को सत्य माना जाये ?

समाधान—इस बात को केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता, क्योंकि इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है । इसलिये पापभीरु वर्तमान के आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिये । अन्यथा पापभीरुता का विनाश हो जायेगा ।

(१०२ ज०) त्रिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।

कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥६५ अ०॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकं ।

कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥६५॥

आत्मख्यातिः—एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नृत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः सामानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतन्महर्षिगणान्मनो विकल्पमुत्पादयति । ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोहमाकाशमहं

उत्थानिका—पुनः इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(एषः उपयोगः त्रिविधः धर्मादिकं आत्मविकल्पं करोति) यह तीन प्रकार का उपयोग धर्मद्रव्य आदि में अपनेपने का विकल्प करता है (सः तस्य उपयोगस्य आत्मभावस्य कर्ता भवति) वह उस उपयोगरूप आत्मभाव का कर्ता होता है ।

आत्मख्याति—सामान्य की अपेक्षा से यह सविकार चैतन्य परिणाम एक अज्ञान-रूप ही है फिर भी विशेष की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याविरतिरूप से तीन प्रकार का हो जाता है । जब यह पर में और अपने में अविशेष दर्शन से—विशेष श्रद्धान न होने से, अविशेष ज्ञान से—विशेष ज्ञान के न होने से और अविशेष विरति से—विशेष विरति के न होने से समस्त भेदों का लोप करके ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त पर—धर्मादि द्रव्यों में और अपने में सामानाधिकरण का अनुभव करने से “मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ, मैं आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव भी हूँ” इस प्रकार से आत्मा में विकल्प को उत्पन्न करता है इसलिये यह आत्मा “मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्म-द्रव्य हूँ, मैं आकाशद्रव्य हूँ, मैं काल द्रव्य हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं भिन्न जीव भी हूँ,” इस

(१०२ ज०) पूर्वोक्त कथित मिथ्यात्व आदि त्रय भावों को जो करते हैं ।

धर्मादि द्रव्य को आत्मरूप निज भाव समझने लगते हैं ॥

उस समय उन्हीं का आत्मभाव उपयोग का कर्ता बन जाता ।

वैभाविक परिणति में पड़कर स्वाभाविक रूप नहीं पाता ॥६५ अ०॥

कालोऽहं पुद्गलोहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधि-
चैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं ॥६५॥

(उत्थानिका)—अथ ।

तात्पर्यवृत्तिः—तिविहो एसुवओगो सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्या-
दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधः सन्नेष उपयोग आत्मा अस्सन्नियप्पं करेदि धम्मादी परद्वया-
त्मनोज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्-
भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्पमुत्पादयति । कत्ता तस्सुवओगस्स होदि
सो अत्तभावस्स निर्मलात्मानुभूतिरहितस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन
कर्ता भवति । ननु धर्मास्तिकायोहमित्यादि कोपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति ? अत्र परिहारः ।

प्रकार की भ्रांति से उपाधि सहित धर्मस्थ चरित्रात्म से परिणमन करता हुआ उस उपाधि
सहित चैतन्य परिणामरूप आत्मभाव का कर्ता होता है इसलिये यह बात स्थित हुई कि
अज्ञान ही कर्तापने का मूल कारण है ॥६५॥

उत्थानिका—आगे इसे ही कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यह उपयोगस्वरूप आत्मा सामान्य से 'अज्ञानरूप' से एक प्रकार
का होते हुये भी विशेष की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप से
तीन प्रकार का हो रहा है अतः यह आत्मा ज्ञेय-ज्ञायकभाव को प्राप्त जो परद्वय और
आत्मा हैं इनमें विशेष श्रद्धान के न होने से, विशेष ज्ञान के न होने से और विशेष परिणति-
रूप चारित्र के अभाव से भेदज्ञान के अभाव में भेदों को न जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय
हूँ' इत्यादि प्रकार से आत्मा में असत् विकल्पों को उत्पन्न करता है तब यह निर्मल
आत्मानुभूति से रहित मिथ्याविकल्परूप जीव परिणामों का ही अशुद्धनिश्चयनय से कर्ता
होता है ।

प्रश्न—'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' ऐसा तो कोई भी नहीं कहता है पुनः यह विकल्प
कैसे घटेगा ?

धर्मास्तिकायोयमिति योसौ परिछित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते । यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति । तथा तद्धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः । ततः स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति ॥१०२॥

उत्तर—इसका परिहार यह है कि 'यह धर्मास्तिकाय है' इस प्रकार का जो यह जाननेरूप विकल्प मन में रहता है वही उपचार से धर्मास्तिकाय कहलाता है जैसे घट के आकाररूप विकल्प से परिणत हुआ ज्ञान 'घट' कहलाता है । वैसे ही 'यह वही धर्मास्तिकाय है' इत्यादिरूप विकल्प जब यह आत्मा ज्ञेय तत्त्व के विचार के समय करता है तब शुद्धात्मा के स्वरूप को भूल जाता है और तब उस धर्मास्तिकाय का विकल्प करने पर 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' यह विकल्प भी उपचार से घटित हो जाता है ऐसा अभिप्राय समझना । इससे यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा के संवेदन के अभावरूप जो अज्ञान है वही कर्म के कर्तृत्व का कारण है ॥१०२॥

भावार्थ—यह आत्मा जब अपने से भिन्न जीव द्रव्य तथा पुद्गल आदि पाँच द्रव्य इन छहों द्रव्यों का चिंतन करता है तब अपने शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं हो पाता है अतः इन विकल्पों के समय नूतन कर्मों का बंध होता है और जब यह निर्विकल्पध्यान में लीन हो जाता है तब इन ज्ञेय पदार्थों के चिंतन से दूर हटकर आत्मा में रत्नत्रय की एकाग्र परिणतिरूप से तन्मय हो जाता है तभी कर्मों का बंध समाप्त हो जाने से यह कर्मों का कर्ता नहीं होता है । यहाँ आचार्यदेव ने मूल गाथा में ही रत्नत्रय को महत्त्व दिया है क्योंकि उससे विपरीत उपयोग के मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप से तीन भेद किये हैं । यहाँ भी श्री अमृतचंद्रसूरि के अनुसार गाथा में 'अप्यवियप्यं' पाठ है और श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार 'अस्तवियप्यं' पाठ है ऐसा अन्तर समझ लेना ।

(१०३ ज०) एवं पराणि द्रव्याणि अप्ययं कुणवि मंदबुद्धीओ ।

अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥६६ अ०॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।

आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥६६॥

आत्मख्यातिः—यत्किंल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, ^१तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं । तथाहि—यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्तमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावको परात्मानावेकीकुर्वन्निविकारानुभूति-

उत्थानिका— यह अज्ञान ही कर्तृत्व का मूलकारण है इसे ही दिखाते हैं

अन्वयार्थ—(एवं तु मंदबुद्धिः पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति) ऐसे पूर्वकथित-रोति से यह अज्ञानी आत्मा परद्रव्यों को अपने करता है और (अज्ञानभावेन आत्मान अपि च परं करोति) अज्ञान भाव से अपने को भी पररूप करता है ।

आत्मख्याति—जो यह आत्मा 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि के समान और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादि के समान परद्रव्यों को अपने करता है और अपने को परद्रव्यरूप करता है । ऐसा यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तु के संबंध से रहित अमर्यादरूप, विशुद्ध, चैतन्यधातुमय है तो भी अज्ञान से ही सविकार उपाधि सहित किये गये अपने चैतन्यपरिणामरूप से उस प्रकार के अपने आत्मभाव का कर्ता प्रतिभासित होता है । इस प्रकार आत्मा के भूताविष्ट पुरुष की तरह या ध्यानाविष्ट पुरुष की तरह अज्ञान ही कर्तृत्व का मूल कारण प्रतिष्ठित, होता है । इसे ही कहते हैं—जैसे कोई भूत से ग्रसित हुआ पुरुष अज्ञान से भूत को और

(१०३ ज०) संसारी मन्दबुद्धि प्राणी परद्रव्यों को निज मान रहे ।

आश्चर्य किन्तु निज आत्मा को ही पर का कर्ता जान रहे ॥

अज्ञानभाव ही मात्र जीव के निजानन्द का बाधक है ।

परमात्म अवस्था की प्राप्ति में भेदज्ञान ही साधक है ॥६६ अ०॥

मात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरवित्तचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । यथा चापरीक्षकाचायदिशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रं कषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायको परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोद्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ॥६६॥

आत्मा को एकरूप करते हुये अमानुषोचित विशेष चेष्टा का आलंबन लेकर अत्यन्त भयंकर आरम्भ से—क्रियाओं से हुआ अमानुषी व्यवहार से उस प्रकार चेष्टारूप भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है । उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ही परको और आत्मा को भाव्य-भावकरूप एक करता हुआ निर्विकार अनुभूतिमात्र भावक के अयोग्य अनेक प्रकार भाव्यरूप क्रोधादि विकार से मिश्रित चैतन्य के विकार सहित परिणाम से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है । जैसे कोई मोही पुरुष अपरीक्षक (अज्ञानी) आचार्य के आदेश से भैसे का ध्यान करने लगा, वह अज्ञान से भैसे को और अपने को एकरूप करता हुआ अपने में बादल को स्पर्श करते हुये सींग वाले महान भैसे के अध्यास आरोप से मनुष्य के योग्य छोटी कुटी के द्वार से निकलने से व्युत—रहित हुआ उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है । उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ही ज्ञेय जो पर और ज्ञायक जो आत्मा इनको एकरूप करता हुआ आत्मा में परद्रव्य के अध्यास—आरोप के निश्चय से मन के विषयरूप किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवद्रव्य उनसे रुकी हुई जो शुद्ध चैतन्य धातु, उससे तथा इंद्रियों के विषयरूप किये जो रूपी पदार्थ उनसे ढका गया जो अपना केवल मात्र एक ज्ञान उससे तथा मृतक शरीर में मूर्छित हुआ परम अमृतरूप विज्ञानघन आत्मा उससे उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है ॥६६॥

(उत्थानिका)—एवं एवं पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण ।

तात्पर्यवृत्तिः—पराणि द्रव्याणि अप्ययं कुणदि क्रोधोहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोह-
मित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि
आत्मानं करोति । सः कः कर्ता, मंदबुद्धीओ मंदबुद्धिनिर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः
अप्याणं अवि य परं करेदि शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति
रागादिषु योजयतीत्यर्थः । केन, अण्णाणभावेण अज्ञानभावेनेति । ततः स्थितं क्रोधादिविषये
भूताविष्टदृष्टांतेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टांतेनैव शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपमज्ञानं कर्म-
कर्तृत्वस्य कारणं भवति । तद्यथा—यथा कोपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदम-
जानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तंभचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता

उत्थानिका—इसे ही श्रीजयसेनाचार्य कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—इस प्रकार पूर्वोक्त गाथा दो में कथित प्रकार से 'मैं क्रोध हूँ'
इत्यादि के सदृश और 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादि के सदृश क्रोधादि स्वकीयपरिणामरूप
परद्रव्यों को तथा धर्मास्तिकायादि ज्ञेयरूप परद्रव्यों को अपने करता है वह मंदबुद्धि आत्मा
निर्विकल्प समाधि लक्षण भेद विज्ञान से रहित होता हुआ शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव आत्मा
को भी स्वस्वरूप से भिन्न पररूप करता है—अज्ञान भाव से रागादि भावों में लगाता है
ऐसा समझना, इसलिये यह बात स्थित हुई कि क्रोधादि के विषय में भूताविष्ट दृष्टांत के
समान और धर्मादि ज्ञेयपदार्थों के विषय में ध्यानाविष्ट के दृष्टांत के समान ही शुद्धात्मा
के संवेदन के अभावरूप अज्ञान ही कर्म के कर्तृत्व का कारण है ऐसा समझना । इसे ही
कहते हैं—जैसे कोई भी पुरुष भूतादि ग्रहों से ग्रसित है अतः वह भूत में और अपने में भेद
को नहीं जानता हुआ अमानुषोचित शिलास्तंभ को चलाना आदि अद्भुत व्यापार करते
हुये उस व्यापार-कार्य को करता है अतः उसका कर्ता होता है वैसे ही यह जीव भी
बीतराग परम सामायिक से परिणत शुद्धोपयोग लक्षण भेदज्ञान के अभाव से काम क्रोधादि
भाव और शुद्धात्मा इन दोनों में भेद को नहीं जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' 'मैं काम हूँ'
इत्यादि विकल्पों को करता हुआ कर्मों का कर्ता होता है । इस प्रकार क्रोधादि के विषय
में यह भूताविष्ट पुरुष का दृष्टांत कहा गया है ।

भवति । तथा जीवोपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्काम-
क्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोहं कामोहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्ता
भवति । एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तो गतः । तथैव च यथा कश्चिन् महामहिषादि-
ध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोहं गरुडोहं कामदेवोहमग्निरहं दुग्धधारा-
समानामृतराशिरहमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वणिः सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति । तथा च
जीवोपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां
शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता
भवति । तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबंधो भवतीति । एवं धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थ-
विषये ध्यानदृष्टान्तो गतः । हे भगवन् धर्मास्तिकायोयं जीवोयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे

इसी प्रकार से जैसे कोई मनुष्य बहुत बड़े भैसे का ध्यान करता हुआ भैसे में
और अपने में इन दोनों में भेद को नहीं जानता हुआ 'मैं महामहिष हूँ—बहुत विशाल
भैंसा हूँ, या मैं गरुड़ हूँ, मैं कामदेव हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं दूध की धारा के समान अमृत की
राशि हूँ' इत्यादिरूप से अपने में विकल्पों को करता हुआ उन विकल्पों का कर्ता होता
है । उसी प्रकार से यह जीव भी सुख दुःखादि में समताभावना से परिणत जो शुद्धोपयोग
लक्षण भेदज्ञान उसके अभाव से धर्मादिद्रव्यरूप ज्ञेयपदार्थों में और शुद्धात्मा में भेद को
नहीं जानता हुआ 'मैं धर्मास्तिकाय हूँ' इत्यादिरूप में अपनी आत्मा में विकल्प को करता
है तब वह उसी विकल्प का कर्ता होता है पुनः इन विकल्पों का कर्ता होने पर उस जीव
के द्रव्य कर्मों का बंध हो जाता है । इस प्रकार से धर्मादि द्रव्यरूप ज्ञेयपदार्थ के विषय में
ध्यान का दृष्टान्त दिया गया है ।

प्रश्न—हे भगवन् ! 'यह धर्मास्तिकाय है, यह जीव है' इत्यादिरूप से ज्ञेयतत्त्व के
विचार का विकल्प करने पर यदि कर्मबंध होता है तब तो ज्ञेयतत्त्वों का विचार करना—
उनका चिंतन करना ही व्यर्थ है उनका विचार करना ही नहीं चाहिये ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि तीन गुप्ति से परिणत निर्विकल्प समाधि के
समय यद्यपि ज्ञेयतत्त्व का विचार नहीं करना चाहिए फिर भी उस तीन गुप्तिरूप ध्यान के
अभाव में शुद्धात्मा को उपादेय मानकर आगम भाषा में तो मोक्ष को उपादेय मानकर

क्रियमाणे यदि कर्मबंधो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः । नैवं वक्तव्यं । त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषाय-
वन्धनार्थं कर्तव्यः । तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधो भवति परंपरया निर्वाणं च भव-
तीति नास्ति दोषः । किन्तु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा
साक्षादुपादेयः कर्तव्यः इति ज्ञातव्यं । ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतराग-
विशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं
विषयसुखानुभवानंदरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति । शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं
स्वसंवेदनज्ञानं वीतरागमिति । इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति
भावार्थः ॥१०३॥

सरागसम्यक्त्व के काल में विषय कषायों को दूर करने के लिये इन ज्ञेय तत्त्वों का विचार करना ही चाहिये । इन ज्ञेयतत्त्वों के चिंतन से मुख्यरूप से तो पुण्यबंध होता है और परम्परा से निर्वाण होता है अतः कोई दोष नहीं है कि भी तत्त्वविचार के समय में वीत-
राग स्वसंवेदनज्ञान से परिणत शुद्धात्मा को ही साक्षात् उपादेय करना चाहिये ऐसा समझो ।

प्रश्न—आप 'वीतराग स्वसंवेदन के विचार के काल में' ऐसा कहते हुये बार-बार 'वीतराग विशेषण' क्यों लगाते हैं क्या सराग भी स्वसंवेदन ज्ञान है ?

उत्तर—हाँ है, देखो, विषयसुखों के अनुभव से हुआ आनंदरूप स्वसंवेदनज्ञान सर्वजनों में प्रसिद्ध है वह सराग ही तो है और इससे विलक्षण शुद्धात्मा के सुख की अनु-
भूतिरूप जो स्वसंवेदनज्ञान है वह वीतराग है । यह व्याख्यान सराग वीतराग के भेद से दो
भेदरूप जो कहा है वह सर्वत्र स्वसंवेदनज्ञान के व्याख्यान के समय लगा लेना चाहिये । इस-
लिये यह बात सिद्ध हुई कि शुद्धात्मा की अनुभूति लक्षण सम्यग्ज्ञान से कर्मों का कर्तृत्व
नष्ट हो जाता है ॥१०३॥

विशेषार्थ—आत्मा में जो क्रोधादि भाव उत्पन्न होते हैं वे भाव्य हैं और आत्मा
भावक है । वैसे ही ये धर्मद्रव्य आदि परद्रव्य ज्ञेय हैं और आत्मा ज्ञायक है । इन भाव्यभावक

ततः स्थितमेतद् जानान्तश्च कर्तृत्वं; —

(१०४ ज०) एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविद्भिं परिकहिदो ।

एवं खलु जो जाणवि सो मुच्चवि सम्बकत्तित्तं ॥६७ अ०॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।

एवं खलु यो जानाति स मुञ्चति सर्वकर्तृत्वं ॥६७॥

और ज्ञेयज्ञायक भावों को दूर कर आत्मा को मात्र ज्ञायक भावरूप शुद्ध सिद्ध किया गया है । इस गाथा की टीका में जो श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भूताविष्ट और ध्यानाविष्ट के दृष्टान्त दिये थे उन्हें ही श्रीजयसेनाचार्य ने खोला है और यह स्पष्ट किया है कि स्वसंवेदनज्ञान के दो भेद हैं—सराग और चीतराग ।

स्व अर्थात् अपना सं—अच्छी तरह से वेदन—अनुभव करना स्वसंवेदनज्ञान है । मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं खाता हूँ, मैं पीता हूँ, मैं जाता हूँ, इत्यादिरूप से जो 'अहं' प्रत्यय से जो अपना अनुभव आता है वही स्वसंवेदनज्ञान है । आबालगोपाल प्रसिद्ध स्वसंवेदनज्ञान सराग कहलाता है और निर्विकल्पध्यान में शुद्धात्मा का जो अनुभव होता है वह चीतराग स्वसंवेदनज्ञान है । यह चीतरागी महामुनि के विशेष ध्यान में या शुक्ल ध्यान में होता है और वहीं पर कर्मों का कर्तृत्व समाप्त हो जाता है । हाँ, सरागसम्यग्दृष्टि के तो श्रद्धान में यह विषय आ जाता है और अपने गुणस्थान के योग्य प्रकृतियों की व्युत्पत्ति होने से उतने उतनेरूप से कर्मों का कर्तृत्व घटता चला जाता है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—इसलिये यह स्थित हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व नष्ट हो जाता है—

अन्वयार्थ—(एतेन तु सः आत्मा कर्ता निश्चयविद्भिः परिकथितः) इस पूर्वकथित प्रकार से वह आत्मा कर्ता है ऐसा निश्चयनय के वेत्ताओं ने कहा है (एवं खलु यः जानाति सः सर्वकर्तृत्वं मुञ्चति) ऐसा नियम से जो जानता है वह सर्व कर्तृत्व को छोड़ देता है ।

(१०४ ज०) निश्चयज्ञाता मुनि ने आत्मा को निज का कर्ता माना है ।

निज आत्मा में ही रम करके उसके गुण को पहचाना है ॥

जो भी प्राणी दृढ़ता पूर्वक ऐसी श्रद्धा कर लेते हैं ।

वे कर्तापिन को दूर भगा क्रम से सिद्धि वर लेते हैं ॥६७ अ०॥

आत्मख्यातिः—येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति । यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति, ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—
 ब्रह्मायमात्मा किलाज्ञानीसन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धं न मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात् ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति ततः क्रोधाहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारंवारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति । ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिद्धयता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात् । ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः कषायास्तैः सह

आत्मख्याति—जिस हेतु से यह आत्मा अज्ञान से पर में और अपने में एकत्व के विकल्प को अपनेरूप करता है उसी हेतु से यह आत्मा निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है और जो आत्मा ऐसा जान लेता है वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है इसलिये वह अकर्ता प्रतिभासित होता है । उसे ही खुलासा करते हैं—इस संसार में यह आत्मा निश्चित ही अज्ञानी होता हुआ अज्ञान से अनादि काल से आज तक प्रसिद्ध पुद्गलकर्म और आत्मा के मिलित स्वाद का अनुभव करने से अपनी भेदज्ञान की शक्ति को मुद्रित—बंद कर चुका है अतः भेदविज्ञान से दूर हो जाता हुआ अनादि काल से ऐसा ही हो रहा है इसलिये परद्रव्य और अपने को एकरूप से ही जानता है इसीलिये 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि विकल्पों को अपने में करता है इसी कारण निर्विकल्प स्वरूप, अकृत्रिम अपने विज्ञानघन स्वभाव से प्रभ्रष्ट—रहित होता हुआ बार-बार अनेक विकल्पों से परिणमन करता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है । जब यह जीव ज्ञानी हो जाता है तब ज्ञान से, जब से वह ज्ञान प्रगट हुआ है—सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ है तभी से लेकर प्रसिद्ध हुआ पुद्गल से भिन्न आत्मा के स्वाद का अनुभव करने से जिसकी भेद के अनुभव की शक्ति उन्मुद्रित—प्रगट हो चुकी है ऐसा भेदज्ञानी हो जाता है तब ऐसा जानता है कि अनादि निधन निरन्तर स्वाद में आता हुआ समस्त अन्य रसों के स्वादों से विलक्षण, अत्यन्त मधुर, एक चैतन्यरस स्वरूप तो यह आत्मा है और कषाय तो इससे भिन्न रसवाली हैं । इन कषायों के साथ जो एकत्व का विकल्प करना है वह अज्ञान से ही है इस प्रकार वह आत्मा पर—कषायों को और अपने को भिन्न-भिन्नरूप से जानता है । इसलिये 'मैं एक अकृत्रिम ज्ञानरूप ही हूँ, मैं कृत्रिम व अनेक क्रोधादि रूप भी नहीं हूँ' इसलिये 'मैं क्रोध हूँ' ज्ञानी अपने में ऐसा विकल्प किंचित् भी नहीं करता है इसी हेतु से वह समस्त भी कर्तापने को दूर कर देता

यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानो जानाति । ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनामपि न करोति ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति । ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते । ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानधनो भूतोऽत्यन्तमकर्ता प्रतिभाति ॥६७॥

वसंततिलका—अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्तपि रज्यते यः ।

पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृह्या मां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालां ॥५७॥

है तब पुनः नित्य ही परम उदासीन अवस्था को जानता हुआ ही स्थित हो जाता है और तभी वह आत्मा निर्विकल्प हुआ अकृत्रिम एक विज्ञानधन होकर अत्यन्तरूप से अकर्ता हुआ प्रतिभासित होता है अर्थात् सर्वथा कर्मों का अकर्ता होकर शोभायमान होता है ॥६७॥

इसी विषय में कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—निश्चय से स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञान के निमित्त से यह जीव घास के साथ एकमेक हुये सुन्दर भोजन को खाने वाले हाथी आदि पशुओं के समान राग करता है—राग का और अपनी आत्मा का मिश्रित स्वाद लेता है वह वही और इक्षुरस से बने हुये श्रीखंड के मधुर और खट्टे ऐसे मिश्रित स्वाद की अति लोलुपता से श्रीखंड को पीता हुआ भी स्वयं उसके रस भेद को न जानकर दूध के लिये गाय को दुहता है ॥५७॥

भावार्थ—जैसे कोई श्रीखंड को पीकर उसके स्वाद में लुब्ध होकर श्रीखंड के बनाने की प्रक्रिया न जानकर मात्र दूध के लिये गाय दुहने लगता है वैसे ही यह आत्मा भी अज्ञानी होने से आत्मा और रागादि में भेद न जानकर और विषयों में स्वाद मानकर पौद्गलिक कर्मोदय में ही आत्मा का स्वाद लेता रहता है वह घास से मिश्रित हलुआ खाने वाले हाथी के समान मूर्ख है ऐसा यहाँ कहा गया है ।

वीर छन्द (मात्रिक)—ज्यों गजादि तृण मिश्रित सुन्दर अन्नादिक आहार करें ।

स्वयं ज्ञानमय होकर त्यों नर, मिथ्यापन से राग करें ॥

ज्यों मदमत्त श्रीखंड पीकर रस स्वादिक से गाय दुहे ।

आत्मिक सुख की इच्छा से ज्यों मूढ़ विषय में मग्न रहे ॥५७॥

शार्बलविक्रीडितं—अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,
 अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
 अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्,
 शुद्धज्ञानभया अपि स्वयममो कर्त्रीभवत्याकुलाः ॥१८॥

वसंततिलका—ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाः पयसोविशेषं ।
 चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१९॥

काव्यार्थ—अज्ञान के कारण मृग मरीचिका में जल की बुद्धि होने से हिरण उसे पीने के लिये दौड़ते हैं । अज्ञान के कारण ही अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का भ्रम होने से लोग भय से भागते हैं । इसी प्रकार अज्ञान से ये जीव पवन से तरंगित समुद्र की तरह विकल्पों के समूह को करने से स्वयं शुद्धज्ञानमय होने पर भी आकुलित होते हुये अपने आप ही परद्रव्य के कर्ता बनते हैं ॥१८॥

भावार्थ—यद्यपि ये जीव निश्चयनय से शुद्ध ज्ञानमय हैं तो भी अज्ञान के निमित्त से नाना विकल्पों को करते हुये कर्मों के कर्ता हो रहे हैं ।

काव्यार्थ—जैसे हंस दूध और पानी के अंतर को जानता है वैसे ही जो जीव ज्ञान के निमित्त से विवेकवाला—भेदज्ञानी होकर पर के और अपने भेद को जानता है वह अचल चैतन्य धातु में सदा आरूढ़ होता हुआ मात्र जानता ही है, किञ्चित् मात्र भी कर्ता नहीं होता है । अर्थात् जैसे हंस दूध और जल के भेद को जानकर दूध को ही पीता है वैसे ही यह आत्मा स्वपर को जानकर ज्ञाता ही बना रहता है कर्मों का कर्ता नहीं होता है ॥१९॥

वीर छन्द (मात्रिक)—भ्रम से मृग गण जल मति से ज्यों मृग जल पीने दौड़ रहे ।
 त्यों तम में जन जन रस्सी में सर्प जान कर भाग रहे ॥
 जलधि स्वभाव ज्यों स्थिर फिर भी वायु जाल से लहराते ।
 स्वयं ज्ञान मय शुद्ध जीव त्यों, व्याकुलपन से कर्तुं रहे ॥१८॥

वीर छन्द (मात्रिक)—जिस प्रकार से हंस दूध जल, भिन्न विशेष समझता है ।
 वैसे शुद्ध विवेचन द्वारा, निज पर भेद परखता है ॥
 वह नित निश्चल आत्म मूर्ति का आश्रय केवल सेता है ।
 मात्र जानता करता नहि कुछ 'अमय' ज्योति में रमता है ॥१९॥

संवाक्कांता छन्द — ज्ञानादेव उदलनपयसो रौढ्यशैत्यव्यवस्था,
 ज्ञानादेवोल्लसति लव स्वादभेदव्युदासः ।
 ज्ञानादेव स्वरसविकसन्तित्यचैतन्यधातोः,
 क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिदती कर्तृभावं ॥६०॥

अनुष्टुप्—अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमजसा ।
 स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

भावार्थ—यह ज्ञाता मात्र बने रहने की स्थिति श्रेणी में स्थित मुनियों के ही होती है वहाँ निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर वे कर्मों के कर्तृत्व से छूटकर मात्र ज्ञाता द्रष्टा बने रह जाते हैं ।

काव्यार्थ—अग्नि की उष्णता और जल की शीतलता की व्यवस्था ज्ञान से ही जानी जाती है, लवण और व्यंजन के स्वाद का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है । उसी प्रकार अपने रस से विकासरूप हुआ नित्य चैतन्य धातु का तथा क्रोधादि भावों का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है । यह भेद ही कर्तृत्व के भाव का भेदन करता हुआ प्रगट होता है ॥६०॥

भावार्थ—चैतन्य धातु और क्रोधादि विकारी भाव परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं ऐसा भेदज्ञान जब प्रगट हो जाता है तब वही भेदज्ञान कर्तृत्व के भाव को समाप्त कर देता है ।

काव्यार्थ—इस प्रकार अज्ञानरूप तथा ज्ञानरूप भी आत्मा को ही करता हुआ यह आत्मा प्रगटरूप से अपने आत्मभाव का ही कर्ता होता है वह कदाचित् भी परभाव का कर्ता नहीं होता है ॥६१॥

रोला छन्द (मात्रिक)---

स्पर्श ज्ञान से अग्नि उष्ण, जल शीत कहे है । रसना ज्ञान से लवण, स्वाद का भेद भये है ॥
 ज्ञान ज्योति क्रोधादि आत्म में भेद करे है । स्व रस सुशोभित कर्तृ भाव को त्याग करे है ॥६०॥

रोला छन्द (मात्रिक)---

तत्त्व दृष्टि से ज्ञान रूप आत्मा को मानो । अज्ञानी अज्ञान रूप का कर्ता जानो ॥
 फिर भी आत्मा आत्म भाव का कर्ता ही है । निश्चय से पर भावों का कर्ता न कभी है ॥६१॥

अनुष्ठुप्—आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।

परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणो ॥६२॥

(उत्थानिका)—ततः स्थितमेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्म-
कर्तृत्वं ।

तात्पर्यवृत्तिः—एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो एतेन पूर्वोक्त-
गाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्ता भणितः । कैनिश्चयविद्धिनिश्चयज्ञैः
सर्वज्ञैः । तथाहि—वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथा-
त्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरगादिरूपस्या-

काव्यार्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है वह स्वयं ज्ञान ही है फिर भला वह ज्ञान से अन्य
किसका कर्ता है ? अर्थात् ज्ञान को ही करता है । जो कहते हैं कि यह आत्मा परभाव का
कर्ता है ऐसा कहना तो व्यवहारी लोगों का मोह ही है ॥६२॥

यह कलश काव्य आगे की गाथा की उत्थानिका रूप है ऐसा समझना । अब सरल
शब्दों में श्रीजयसेनाचार्य के भाव देखिये ।

उत्थानिका—इसलिये यह बात सिद्ध हो गई कि शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्ज्ञान
से कर्मों का कर्तृत्व नष्ट हो जाता है—

तात्पर्यवृत्ति—इन पूर्वोक्त तीन गाथाओं के व्याख्यान के द्वारा अज्ञानभाव से यह
आत्मा निश्चयनय के ज्ञाता सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कर्ता कहा गया है । उसे ही कहते हैं—
वीतराग परमसामायिक संयम से परिणत जो अभेदरत्नत्रय है उससे प्रतिपक्षभूत अज्ञान
भाव से जिनका कि तीन गाथाओं में व्याख्यान किया जा चुका है ऐसे अज्ञान भाव से जब
यह आत्मा परिणमन करता है तब उन्हीं मिथ्यात्व, रागादिरूप अज्ञान भाव का यह कर्ता
हो जाता है और तभी इसके द्रव्यकर्मों का बंध हो जाता है । जब यह आत्मा चिदानंद एक
स्वभाव शुद्धात्मा की अनुभूतिरूप परिणाम से परिणमन करता है तब सम्यग्ज्ञानी होकर

रोला छन्द (मात्रिक)—

आत्मा ही खुद ज्ञान का रूप फिर किसका कर्ता ? ज्ञान सिवाय न अन्य, किसी का कर्ता धर्ता ।

जो पर भावों का कर्ता आत्मा को माने । उन व्यवहारी जीवों का अज्ञान बखाने ॥६२॥

ज्ञानभावस्य कर्ता भवति ततश्च द्रव्यकर्मबन्धो भवति । यदा तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानु-
भूतिपरिणामेन परिणमति तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरगादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य
कर्ता न भवति । तत्कर्तृत्वाभावेहि द्रव्यकर्मबन्धोपि न भवति । एवं खलु जो जाणबि सो
मुंचदि सब्यकत्तित्तं एवं गाथापूर्वाद्धिव्याख्यानप्रकारेण मनसि योसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स
सरागसम्यग्दृष्टिः सन्तशुभकर्मकर्तृत्वं मुंचति । निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टि-
भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुंचति । एतज्ज्ञानात्कर्म प्रभइत्ति संज्ञानाप्रश्यतीति स्थितं ।
इत्यज्ञानिसंज्ञानिजीवप्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतं । एवं द्विक्रियावादिनिरा-
करणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गताः ॥१०४॥

मिथ्यात्व रागादि भावकर्मरूप अज्ञान भावों का कर्ता नहीं होता है और भावकर्मों के कर्तृत्व का अभाव होने पर तो द्रव्यकर्मों का बंध भी नहीं होता है । इस प्रकार गाथा पूर्वाद्धि के व्याख्यान के प्रकार से अपने मन में जो वस्तु के स्वरूप को जानता है वह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभ कर्म के कर्तापने को छोड़ देता है । पुनः निश्चय चारित्र से अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ और अशुभ ऐसे सम्पूर्ण कर्मों के कर्तृत्व को छोड़ देता है । इस तरह अज्ञान से कर्म उत्पन्न होते हैं और संज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं यह बात सिद्ध हो गई ।

इस प्रकार अज्ञानी और संज्ञानी जीव के प्रतिपादन की मुख्यता से द्वितीय स्थल में छह गाथायें पूर्ण हुई हैं । इसी तरह द्विक्रियावादी के निराकरण करने में विशेष व्याख्यान रूप से बारह गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥१०४॥

विशेषार्थ—इस गाथा ६७ अ०, १०४ ज० की टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने स्पष्ट कह दिया है कि “निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन हुआ आत्मा ही अत्यंत-पूर्णरूप से अकर्ता हो जाता है ।” इसी की टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि यह सराग सम्यग्दृष्टि होता हुआ अशुभकर्म के कर्तापने को छोड़ता है पुनः निश्चयचारित्र के साथ अविनाभावी ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर शुभ और अशुभ सर्व कर्मों के कर्तापने को छोड़ देता

है । अब विचार यह करना है कि ये सरागसम्यग्दृष्टि किस गुणस्थान तक हैं और वीतराग सम्यग्दृष्टि कहाँ से होते हैं ? श्रीजयसेनाचार्य के अभिप्रायानुसार तो सप्तम गुणस्थान से कथंचित् वीतराग सम्यग्दृष्टि माने जा सकते हैं परन्तु वास्तव में तो सिद्धान्त की भाषा में वीतराग चारित्रवाले वीतराग सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें गुणस्थान से ही होते हैं । देखिये, अनगार धर्माभूत में भी कहा है । यथा—

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छुमादिव्यक्तिलक्षणम् ।

विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥५१॥

टीका में—दर्शनं सरागं स्यात् “सरागे असंयतसम्यग्दृष्ट्यादौ ।” “विरागे तूपशांत-
कषायाविगुणस्थानवर्तिनि दर्शनं स्यात् । किंविशिष्टं ? विरागकं वीतरागम् ।” “आत्मशुद्धि-
मात्रं” ।

इस उद्धरण से यह निश्चित है कि सरागसम्यग्दर्शन सरागचारित्रधारी मुनि जो दशवें गुणस्थान तक हैं वहाँ तक है, उनके अशुभकर्मों का ही कर्तृत्व छूटता है आगे ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टि हैं ये सर्वथा शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के कर्तृत्व से छूट जाते हैं ।

अथवा कथंचित् अध्यात्म भाषा की अपेक्षा से छठे गुणस्थान तक अशुभकर्मों का कर्तृत्व छूटता है । पुनः आगे सातवें गुणस्थान से लेकर दशवें तक शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के कर्ता-पने से छूट जाता है । यदि कोई चौथे गुणस्थान में ही सर्व कर्मों के कर्तृत्व से छूटने की बात कहे तो वह असंभव है । हाँ, निश्चयनय की अपेक्षा से तो चतुर्थगुणस्थानवर्ती भी सिद्ध ही हैं वहाँ कर्तृत्व-अकर्तृत्व की बात ही नहीं है ।

तथा हि:—

(१०५ ज०) व्यवहारेण तु आत्मा करेदि घटपटरथाणि द्रव्याणि ।

करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥६८अ०॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्यानि ।

करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥६८॥

आत्मख्याति:—व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ॥६८॥

(भूमिका)—अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणाविषये विशेषव्याख्यानं करोति ।

उत्थानिका—उसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(व्यवहारेण तु आत्मा घटपटरथान्, द्रव्याणि करोति) व्यवहारनय से तो यह आत्मा घट, वस्त्र, रथ आदि वस्तुओं को करता है (च करणानि च कर्माणि इह विविधानि नोकर्माणि) इंद्रिय आदि करणों को तथा कर्मों को और इस संसार में नाना प्रकार के शरीर आदि नोकर्मों को भी करता है ।

आत्मख्याति—जैसे यह आत्मा अपने विकल्पों और व्यापारों के द्वारा घट वस्त्र आदि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कार्यों को करता हुआ व्यवहारी जनों को प्रतिभासित होता है वैसे ही यह आत्मा क्रोधादि परद्रव्यात्मक समस्त अंतरंग कर्म-क्रियाओं को भी करता है इन दोनों में कोई अंतर नहीं है और यह सब व्यवहारी जनों का अज्ञान ही है ॥६८॥

भूमिका—अब आगे पुनरपि उपसंहाररूप से ग्यारह गाथा पर्यंत द्विक्रियावादी के निराकरण के विषय में विशेष व्याख्यान करेंगे ।

(१०५ ज०) यह आत्मा व्यवहारिक नय से घट पट रथ आदिक द्रव्यों का ।

कर्ता है तथा इंद्रियों का भी है कर्ता परद्रव्यों का ॥

जो विविध कर्म नोकर्म कहे उनका भी कर्ता आत्मा है ।

केवल व्यवहारिक नय से ही निश्चय से तो परमात्मा है ॥६८ अ०॥

(उत्थानिका)—तद्यथा—परभावानात्मा करोतीति यद्व्यवहारिणो वदन्ति स व्यामोह इत्युपदिशति:—

तात्पर्यवृत्तिः—व्यवहारेण वु एवं^१ करेदि घटपटरथाणि द्रव्याणि यतो यथा अन्यो-
न्यव्यवहारेणं वु पुनः घटपटरथादि बहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा करणाणि य कर्माणि
य नोकर्माणीह विविहाणि तथाभ्यन्तरेण करणाणीन्द्रियाणि कर्माणि न नोकर्माणि इह जगति
विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेण विशेषेण करोतीति मन्यन्ते, ततोस्ति व्यामोहो मूढत्वं
व्यवहारिणां ॥१०५॥

स न सन्; —

(१०६ ज०) यदि सो परद्रव्याणि य करिज्ज नियमेण तम्मओ होज्ज ।

जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥६६ अ०॥

उत्थानिका—यह आत्मा परमावों को करता है ऐसा जो व्यवहारी लोग कहते हैं
वह व्यामोह ही है ऐसा उपदेश देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे यह आत्मा परस्पर के व्यवहार से इस प्रकार घट, वस्त्र, रथ
आदि बाह्य वस्तुओं को ईहा-इच्छा पूर्वक करता है वैसे ही यह अभ्यन्तर में भी करण-
इन्द्रियों को, विविध प्रकार के कर्म-नोकर्मों को, इस संसार में क्रोधादि भावकर्मों को व
ज्ञानावरण आवि द्रव्य कर्मों को ईहापूर्वक विशेषरीति से करता है ऐसा लोग मानते हैं इस-
लिये यह मूढत्व व्यवहारी लोगों का ही है ऐसा समझना ॥१०५॥

उत्थानिका—यह सत्य नहीं है—यह व्यवहार का मानना परमार्थ नहीं है—

अन्वयार्थ—(यदि सः परद्रव्याणि कुर्यात् च नियमेन तन्मयो भवेत्) यदि वह
परद्रव्यों को करे तो वह नियम से उसरूप हो जावे (यस्मात् न तन्मयः तेन सः तेषां कर्ता
न भवति) परन्तु वह तद्रूप नहीं होता है इसीलिये वह उन परद्रव्यों का कर्ता नहीं होता है ।

(१०६ ज०) यदि कभी मान भी लें ऐसा आत्मा पर द्रव्यों का कर्ता ।

तो क्या परद्रव्यों के संग में वह खुद भी तन्मय हो सकता ?

लेकिन आत्मा तो तन्मय नहि हो सकता परद्रव्यों के संग ।

तो फिर कैसे हो सकता पर का कर्ता पर द्रव्यों के संग ॥६६ अ०॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥६६॥

आत्मख्यातिः—यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्य-
थानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात् न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोस्ति । ततो व्याप्यव्यापक-
भावेन न तस्य कर्तास्ति ॥६६॥

(उत्थानिका)—अयं स व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—जदि सो परद्रव्याणि य करिज्ज नियमेण तन्मओ होज्ज यदि स
आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकांतरूपेण करोति तदा तन्मयः स्यात् जह्मा ण तन्मओ तेण सो
ण तेसि हवदि कत्ता यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानंतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह
तन्मयो न भवति । ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभि-
प्रायः ॥१०६॥

आत्मख्याति—यदि नियम से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्मों को करता है तब तो
परिणाम और परिणामी भाव के अन्यरूप न होने से वह नियम से तन्मय—तद्रूप हो जावेगा
किंतु ऐसा तो है नहीं, यदि ऐसा माना जाय तो अन्य द्रव्य के अन्यद्रव्यमय हो जाने से द्रव्य
का विनाश हो जावेगा इसलिये एकद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप से तन्मय नहीं होता है अतः व्याप्य-
व्यापक भाव से परद्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं है ॥६६॥

उत्थानिका—यह व्यामोह सत्य नहीं है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यदि यह आत्मा परद्रव्यों को नियम से—एकांतरूप से करता है तब
वह तन्मय—तद्रूप ही हो जावेगा । जिस हेतु से वह सहज शुद्ध स्वाभाविक अनंतसुख आवि-
रूप अपने स्वरूप को छोड़कर परद्रव्य के साथ तन्मय नहीं होता है उसी हेतु से यह आत्मा
उन परद्रव्यों का उपादानरूप से कर्ता नहीं होता है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥१०६॥

निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न कर्तास्ति:—

(१०७ ज०) जीवो ण करेदि घटं णेव पटं णेव सेसगे दव्वे ।

जोगुवओगा उत्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१०० अ०॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।

योगोपयोगावुत्पादको च तयोर्भवति कर्ता ॥१००॥

आत्मख्याति:—यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति नित्यकर्तृत्वानुषंगान्निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात् । अनित्यो योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारो योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिद-ज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥१००॥

उत्थानिका—यह आत्मा निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी कर्ता नहीं है—

अन्वयार्थ—(जीवः घटं न करोति पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि नैव) जीव घट को नहीं करता है और न पट को ही करता है न शेष द्रव्यों को ही करता है (अ योगोपयोगौ उत्पादको तयोः कर्ता भवति) ये योग और उपयोग उनको उत्पन्न करने वाले हैं अतः आत्मा इन योग और उपयोग का ही कर्ता होता है ।

आत्मख्याति—जो कुछ ये घटादिक या क्रोधादिकरूप परद्रव्यात्मक कर्म हैं उन सबको यह आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से नहीं करता है अन्यथा तन्मय होने से एकरूपता का प्रसंग प्राप्त हो जावेगा, तथा इन्हें निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी नहीं करता है अन्यथा नित्य ही आत्मा को कर्तापने का प्रसंग बना रहेगा । प्रश्न होता है कि तब इन्हें कौन करता है ? सो ही बताते हैं कि योग और उपयोग ही निमित्तरूप से इन घट पटादि के कर्ता हैं क्योंकि ये अनित्य हैं । ये योग और उपयोग तो आत्मा के विकल्प और व्यापाररूप हैं । इन योग और उपयोगरूप आत्मविकल्प और व्यापार को अज्ञान से यह आत्मा करता है अतः यह आत्मा भी कदाचित् इन योग-उपयोग का कर्ता हो जावे फिर भी यह आत्मा उन परद्रव्यस्वरूप कर्मों का कर्ता नहीं हो सकता है ॥१००॥

(१०७ ज०) नहि जीव कभी घट का कर्ता पट का कर्ता नहि होता है ।

नहि शेष द्रव्य का भी कर्ता वह नहीं किसी का भोक्ता है ॥

उपयोग योग जो जीवद्रव्य के घटपटादि में निमित्त बने ।

बस इसीलिए आत्मा उनका कर्ता माना जाता जग में ॥१०० अ०॥

(उत्थानिका)—अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति—

तात्पर्यवृत्तिः—जीवो न करोति घटं णेव पटं णेव सेसगे दब्बे न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि । कुत इति चेत् ? नित्यं सर्वकालं कर्मकर्तृत्वानुषंगात् । कस्तर्हि करोति ? जोगुणयोगा उत्पादगा य आत्मनो विकल्प-व्यापाररूपौ विनश्वरौ योगीपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः । सो तेसि हवदि कत्ता सुखदुःख-जीवितमरणादिसमताभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धक-स्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित्कर्ता भवति । न सर्वदा । अत्र योगशब्देन बहिरंगहस्तादिव्यापारः उपयोगशब्देन अंतरंगविकल्पो गृह्यते । इति परंपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात् । यदि पुनः मुख्यवृत्त्या

उत्थानिका—यह आत्मा केवल उपादानरूप से कर्मों का कर्ता नहीं है ऐसी ही बात नहीं है किन्तु यह तो निमित्तरूप से भी घटादि कर्मों का कर्ता नहीं है ऐसा उपदेश देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यह जीव केवल-मात्र उपादानरूप से घट वस्त्र आदि अन्य शेष द्रव्यों को नहीं करता है इतनी ही बात नहीं है बल्कि यह जीव तो निमित्तरूप से भी इनका कर्ता नहीं है । क्यों ? क्योंकि पुनः यह जीव नित्य ही—सर्वकाल ही कर्मों का कर्ता बना रहेगा । तो पुनः कौन इन्हें करता है ? आत्मा के जो ये योग और उपयोग हैं जो कि आत्मा के विकल्प और व्यापाररूप हैं, विनश्वर हैं वे ही इन कर्मों के उत्पादक होते हैं । जिस काल में सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि में समताभावना से परिणत, अभेदरत्नत्रयलक्षण भेदविज्ञान के अभाव से यह आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाववाले परमात्मस्वरूप से भ्रष्ट होता है तब उस समय यही जीव उन योग और उपयोग का कदाचित् कर्ता होता है, न कि हमेशा कर्ता होता है । यहाँ 'योग' शब्द से बहिरंग के हाथ आदि का व्यापाररूप कार्य लेना है और 'उपयोग' शब्द से अंतरंग के आत्मा का विकल्प लेना है । इस प्रकार परम्परा से निमित्तरूप से घटादि के विषय में जीव का कर्तृत्व माना जाता है । यदि पुनः मुख्यरूप से निमित्तरूप कर्तृत्व स्वीकार कर लिया जाये तो जीव तो सदाकाल स्थायी रहने वाला होने से नित्य है तो हमेशा जीव कर्मों का कर्ता ही बना रहेगा तो पुनः मोक्ष का ही अभाव हो

निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः । इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१०७॥

जाहेगा इसलिये योग उपयोग ही उन बाह्य कर्मों के कर्ता हैं और जीव उन योग-उपयोग का कर्ता है ऐसा समझना । इस प्रकार व्यवहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥१०७॥

विशेषार्थ—यहाँ जीव के योग और उपयोग को कर्मों का कर्ता कहा है आत्मा के प्रदेशों में जो मन वचन काय के निमित्त से परिस्पंदन होता है वह योग कहलाता है । 'उपयोगो लक्षणम् । स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदाः' ।^१ सूत्रों के अनुसार उपयोग यह जीव का लक्षण है, उसके मूल में दो भेद हैं—ज्ञान और दर्शन । ज्ञानोपयोग के आठ और दर्शनोपयोग के चार भेद हो जाते हैं । नियमसार में श्रीकुंदकुंददेव ने स्वभाव और विभाव की अपेक्षा से इन ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग के दो-दो भेद किये हैं । मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार ज्ञान तथा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये तीन अज्ञान, ये सातों ही ज्ञानोपयोग विभावरूप हैं, मात्र एक केवलज्ञान ही स्वभावरूप है । ऐसे ही चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन विभाव, दर्शनोपयोग हैं तथा केवलदर्शन यह स्वभाव दर्शनोपयोग है ।^२ इसे ही क्षायोपशमिक और क्षायिक नाम से भी जानते हैं ।

इसमें मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा भेद करके इन्हें पाँच इंद्रिय और मन से गुणा करने पर पुनः बहु, बहुविध आदि बारह भेदों से गुणा करने पर तथा व्यंजनावग्रह के भी भेद जोड़ने पर इस मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं । उसमें से यहाँ पर मानस मतिज्ञानरूप उपयोग विवक्षित है । यह इन बारह उपयोगों के अवांतर भेदों में से एक भेद ही है । तथा प्रत्येक कर्म के असंख्यात भेद भी माने गये हैं ।

वैसे ही यहाँ योग के तीन भेदों में काय योग को ही मुख्यरूप से विवक्षित किया है । जैसा कि श्रीजयसेनाचार्य ने टीका में कहा है कि "अत्र योगशब्देन बहिरंगहस्तादि-व्यापारः उपयोगशब्देन, चांतरंगविकल्पो गृह्यते ।" यह सामान्यतया मनुष्यों की अपेक्षा से कथन है । वास्तव में विचार करके देखा जाये तो ये योग-उपयोग एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक सभी में पाये जाते हैं । उन सबके भी कर्मबंध हो रहा है चाहे हस्तादि व्यापार-क्रियायें हों चाहे नहीं हों । एकेन्द्रियादि में, गर्भस्थ जीवों में, मूर्च्छित में, अण्डे में

१. तत्त्वार्थसूत्र, अ० २ सूत्र ८-९ । २. नियमसार गाथा १० से १४ तक ।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्; —

(१०८ ज०) जे पुद्गलद्रव्याणां परिणामा होति जाणनावरणा ।

ण करेवि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि जाणी ॥१०९अ०॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि ।

न करोति साक्षात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०९॥

आत्मख्याति:—ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणाम-
वत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणानि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति
ज्ञानी किन्तु तथा य गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्य-

सभी अवस्था में प्रतिसमय कर्मबंध हो रहा है वहाँ योग और उपयोग सामान्यरूप हैं,
विशेषरूप नहीं हैं ।

अतः जीव के योग-उपयोग ही कर्म के कर्ता हैं और वे जीव में ही होते हैं, इस कारण
कथञ्चित् जीव भी योग उपयोग का कर्ता होने से कर्मों का भी कर्ता हो जाता है । व्यवहार-
नय से यह पुद्गलकर्मों का कर्ता है, अशुद्धनिश्चयनय से रागादि भावकर्मों का कर्ता है और
शुद्धनिश्चयनय से अपने शुद्धभावों का ही कर्ता है इसलिये एकांत दुराग्रह नहीं ग्रहण करना
चाहिये ।

उत्थानिका—ज्ञानी आत्मा ज्ञान का ही कर्ता होता है—

अन्वयार्थ—(ये ज्ञानावरणानि पुद्गलद्रव्याणां परिणामाः भवन्ति) जो ये ज्ञाना-
वरण आदि पुद्गलद्रव्यों के परिणाम हैं (तानि आत्मा न करोति) उन्हें यह आत्मा नहीं
करता है (यः जानाति सः ज्ञानी भवति) जो ऐसा जानता है वह ज्ञानी होता है ।

आत्मख्याति—जो ये निश्चित ही पुद्गलद्रव्य के परिणाम ज्ञानावरण कर्म हैं वे
पुद्गलद्रव्य के साथ व्याप्त होते हुये ही ज्ञानावरणरूप होते हैं । जैसे कि गोरस से व्याप्त
दूध और वही के ही मीठे और खट्टे परिणाम-स्वाद होते हैं । जैसे गोरस का अध्यक्ष जो

(१०८ ज०) जो पुद्गल द्रव्यों की परिणति कर्मादि रूप से होती है ।

ज्ञानावरणादि प्रकृतियों की स्वाभाविक स्थिति होती है ॥

आत्मा वास्तव में उन कर्मों का कर्ता भी नहीं होता है ।

जो निज में स्थित होता है वह सम्यग्ज्ञानी होता है ॥१०९ अ०॥

परिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य ज्ञानात्त्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तराय-सूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि-षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥१०१॥

(उत्थानिका)—अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च परभावस्येति कथयति—

गोपाल है वह तटस्थ है तो वह गोरस को जानता ही है उस गोरस को देखते हुये अपने परिणाम से व्याप्त हुआ उसको व्याप्त कर देखता ही है । वैसे ही ज्ञानी आत्मा इन पुद्गलद्रव्य के परिणाम को करता नहीं है किन्तु पुद्गल परिणाम को निमित्त करने वाले ऐसे अपने ज्ञान को अपने से व्याप्य करके उसको व्याप्त कर जानता ही है अतः ज्ञानी आत्मा अपने ज्ञान का ही कर्ता होता है । इसी प्रकार से 'ज्ञानावरण' के स्थान में कर्म सूत्रों को लगाकर पदपरिवर्तन करके आठों कर्मों को लगा लेना चाहिये । जैसे कि दर्शना-वरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन सात पदों के परिवर्तन से सात गाथा सूत्र बनेंगे । वैसे ही इन सातों के साथ-साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन ये सूत्र भी व्याख्यान करने योग्य हैं । इसी प्रकार से अन्य भी परिणाम जान लेने चाहिये ॥१०१॥

भावार्थ—जैसे गोरस—दूध, दही का स्वामी गोपाल उन गोरस रूप से परिणत नहीं होता है अतः मध्यस्थ होता हुआ वह पुरुष उनको अपने देखने रूप परिणामों से व्याप्तकर उन गोरस को देख रहा है । वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा इन पुद्गलद्रव्य के परिणामभूत कर्मों को जानते हुये मात्र अपने ज्ञान रूप परिणाम से इन्हें व्याप्त कर जानता है इनको करता नहीं है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता होता है परभाव का कर्ता नहीं होता है, ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—जैसे पुद्गलदध्वाणं परिणामा होतीं णाणआवरणा ये कर्मवर्गणायोग्य-पुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवन्ति ण करेदि ताणि आदा तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन भूतिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत् जो जाणदि सो हवदि णाणी इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधी स्थितः सन् स ज्ञानी भवति । न च परिज्ञानमात्रेण । इदमत्र तात्पर्यं । वीतरागस्वसंवेदन-ज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता । किंवदिति चेत् । पीतत्वादि-गुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति । न च मिथ्यात्वरगादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानामशुद्धोपादान-रूपेण मिथ्यात्वरगादिभावानां च तद्रूपेण परिणमन्नेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं भोक्तृत्वं च । न च

तात्पर्यवृत्तिः—जो कर्म वर्गणा के योग्य पुद्गल के परिणाम हैं—ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मरूप से पुद्गल की पर्यायें हैं उन पर्यायों को व्याप्य-व्यापक भाव से मिट्टी के कलश के समान यह आत्मा करता नहीं है, गोरस के स्वामी के समान । इस प्रकार से जो जानता है—मिथ्यात्व विषय और कषायों का परित्याग करके निर्विकल्पसमाधि में स्थित होता हुआ जानता है वह ज्ञानी होता है, न कि जानने मात्र से ज्ञानी होता है, यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना । वीतरागस्वसंवेदन ज्ञानी जीव शुद्धनय से शुद्धोपादानरूप से शुद्धज्ञान का ही कर्ता है ।

प्रश्न—किनके समान यह जीव शुद्धज्ञान का ही कर्ता है ?

उत्तर—जैसे सुवर्ण अपने पीतत्व आदि गुणों का कर्ता है, अग्नि अपने उष्ण गुणों का कर्ता है और सिद्ध परमेष्ठी भगवान् अपने अनंतज्ञान आदि गुणों के कर्ता हैं ।

ऐसे ही यह शुद्धनय से मिथ्यात्व रागादि भावरूप अज्ञान भावों का कर्ता नहीं है क्योंकि यह आत्मा शुद्धोपादानरूप से शुद्धज्ञानादि भावों का कर्ता है और अशुद्ध उपादानरूप से मिथ्यात्व रागादि भावों का कर्ता होता है । इस जीव का तद्रूप से परिणमन करना ही कर्तृत्व है ऐसा जानना चाहिये और भोक्तृत्व भी ऐसा ही जानना चाहिये । यहाँ पर जैसे कुंभकार हाथ से चाक को घुमाना आदि व्यापार क्रिया करते हुये इच्छापूर्वक घड़े को बनाता है ऐसा कर्तृत्व जीव का भावों के विषय में नहीं है ।

हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकुंभकारवदिति । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरण-
वेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञैः सप्तभिः कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभ-
नोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणिरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेण
शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः ॥१०८॥

इसी प्रकार से ज्ञानावरण पद के परिवर्तन से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन सातों कर्मों के भेदों के साथ भी गाथा पढ़नी चाहिये । उसी प्रकार से मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन सोलह सूत्रों का भी व्याख्यान करना चाहिये । इसी तरह शुद्धात्मा की अनुभूति से विलक्षण असंख्यात लोक प्रमाण अन्य भी विभाव परिणाम जानने चाहिये ॥१०८॥

विशेषार्थ—यहाँ इस अधिकार में पुनः पुनः आचार्यदेव ने कहा है कि जो कर्मादि को करता नहीं है मात्र जानता है वह ज्ञानी है । श्री अमृतचंद्रसूरि ने भी कई स्थलों पर ऐसा कहा है कि—

“ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते । ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यन्तमकर्ता प्रतिभाति ।” यह आत्मा नित्य ही उदासीनावस्था को प्राप्त होकर जानता हुआ स्थित होता है इसीलिये यह निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक, विज्ञानघन होकर अत्यन्तरूप से कर्मों का अकर्ता हो जाता है । इसी विषय को बार-बार श्री जयसेनाचार्य ने भी कहा है कि जो आत्मा निर्विकल्पध्यान में स्थित हो जाता है वही कर्मों का अकर्ता होता है । यहाँ पर भी आचार्यश्री ने यही कहा है कि “इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति । न च परिज्ञानमात्रेण ।” ऐसा जो जानता है—मिथ्यात्व, विषय, कषायों का परित्याग कर निर्विकल्पध्यान में स्थित होता हुआ जानता है वही ज्ञानी होता है न कि जानने मात्र से । इन पंक्तियों से यही समझना कि जब महामुनि श्रेणी में आरोहण कर निर्विकल्पध्यान में आरुढ़ हो जाते हैं तभी वे बीतरागी होकर ज्ञाता दृष्टा रह जाते हैं उन्हीं के कर्मों का स्थिति और अनुभाग बंध न होने से कर्मों का कर्तृत्व समाप्त हो जाता है । यह जानने

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् :—

(१०६ ज०) जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।

तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२अ०॥

यं भावं सुहमसुहं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।

तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०२॥

आत्मख्यातिः—इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानधनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वाद्यं भिदानः सुभमशुभं वा योयं भावमज्ञान-

रूप ज्ञानावस्था चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में नहीं घट सकती है ऐसा श्रद्धान करना चाहिये । पुनः अपने-अपने गुणस्थान के योग्य कषायों को मंद करना चाहिये । यहाँ गोरसाध्यक्ष का उवाहरण दिया है । जैसे तटस्थ-मध्यस्थ भाव वाला गोपाल दूध को देखकर 'यह मीठा है' और बही को देखकर 'यह खट्टा है' ऐसा जान रहा है । बिना दूध बही पिये भी उसे ज्ञान हो रहा है अतः उसकी आत्मा में ज्ञान के साथ व्याप्य-व्यापक भाव है, दूध-बही के साथ नहीं । वैसे ही ज्ञानी आत्मा का ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ व्याप्य-व्यापक संबंध नहीं है । हाँ, निमित्त-नैमित्तिक संबंध है ।

उत्थानिका—अज्ञानी जीव भी परभाव का कर्ता नहीं है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा यं शुभं अशुभं भावं करोति सः तस्य खलु कर्ता) आत्मा जिन शुभ या अशुभ भावों को करता है वह उन भावों का ही कर्ता है (तत् तस्य कर्म भवति) वह भाव ही उस कर्ता आत्मा का कर्म होता है (सः आत्मा तस्य तु वेदकः) और वह आत्मा उस कर्म का अनुभव करने वाला होता है ।

आत्मख्याति—इस संसार में यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञान से पर में और आत्मा में इन दोनों में एकत्व का निश्चय करके मंद और तीव्र स्वाद-अनुभवरूप जो

(१०६ ज०) शुभ अशुभ रूप जिन भावों को संसारी आत्मा करता है ।

बस किसी दृष्टि से वही जीव उन सब भावों का कर्ता है ॥

उन भावों को ही कर्म रूप यह जीव ग्रहण जब करता है ।

भोक्ता भी स्वयं बने प्राणी कर्मों के फल को चखता है ॥१०२ अ०॥

रूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद् भवति कर्त्ता स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद् भवति कर्म । स एव च आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वात् भवत्यनुभाव्यः । एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्त्ता स्यात् ॥१०२॥

(उत्थानिका)—अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति—

तात्पर्यवृत्तिः—जं भावं सुहृमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमंदस्वादाभ्यां सुखदुःखरूपाभ्यां वा विदानंदैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाणः सन् यं भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मनः स्वतंत्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य

पुद्गलकर्म के उदय की दो अवस्थायें हैं, उनसे यद्यपि स्वयं अचलित विज्ञानघनरूप से एक स्वाद—एक अनुभवरूप है तो भी उस अपने अनुभव को भेदरूप करता हुआ शुभ या अशुभरूप से जिस अज्ञानरूप भाव को करता है । वह आत्मा उस काल में उस भाव से तन्मय हो जाने से उस भाव में व्याप्त होकर रहता है अतः वह उसी भाव का कर्त्ता हो जाता है और वह भाव भी उस काल में उस जीव से तन्मय होने से आत्मा से व्याप्यरूप होने से वह आत्मा का कर्म हो जाता है । वही आत्मा उस समय तन्मय होने से उस भाव को अनुभव करने वाला होने से वह भोक्ता हो जाता है और वह उस आत्मा का भाव भी उस समय तन्मय होने से उस आत्मा का भाव्य होने से वह अनुभव में आने योग्य कर्म हो जाता है अर्थात् आत्मा ही अपने भावों का भोक्ता होता है और वह भाव भोग्य हो जाता है । इस प्रकार से अज्ञानी आत्मा भी परभावों का कर्त्ता नहीं होता है ऐसा समझना ॥१०२॥

उत्थानिका—यह अज्ञानी आत्मा भी अपने रागादिस्वरूप अज्ञान भावों का ही कर्त्ता होता है किन्तु ज्ञानावरण आदि परद्रव्यों का कर्त्ता नहीं है, ऐसा निरूपण करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—साता और असाता कर्मों के उदय की जो अवस्थायें जो कि तीव्र या मंद अनुभवरूप हैं या सुख-दुःख रूप हैं इन दोनों अवस्थाओं के द्वारा चिदानंद एक स्वभाव से एक ही आत्मा के दो भेद करते हुये यह आत्मा जिन शुभ या अशुभ भावों को करता है तब यह आत्मा स्वतंत्ररूप से व्यापक होने से उन भावों का ही स्पष्टरूप से कर्त्ता होता

भावस्य खलु स्फुटं कर्ता भवति तं तस्म होदि कस्मं तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति । तेनात्मना क्रियमाणत्वात् सो तस्म दु वेदगो अप्पा स आत्मा तस्य तु शुभाशुभ- रूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतन्त्ररूपेण भोक्तृत्वात्, न च द्रव्यकर्मणः । किं च विशेषः । अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरगादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः । स चाशुद्धनिश्चयो यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । हे भगवन्, रागादीनामशुद्धोपा- दानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति । तत्कथ्यते । औपा- धिकमुपादानमशुद्धं, तप्तायःपिडवत्; निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं, पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्,

है और वही शुभ-अशुभरूप भाव ही उस आत्मा के भाव कर्म हो जाते हैं क्योंकि वे कर्म उस आत्मा के द्वारा ही किये गये हैं । वही आत्मा उन शुभ-अशुभरूप भाव कर्मों का अनुभव करने वाला भोक्ता होता है क्योंकि वह आत्मा स्वतन्त्ररूप से उन भावों को ही भोग रहा है, द्रव्यकर्मों को नहीं भोग रहा है । इसी को विशेषरीति से कहते हैं—यह अज्ञानी जीव अशुद्ध निश्चयनय से अशुद्ध उपादानरूप से मिथ्यात्व रागादि भावों का ही कर्ता होता है, द्रव्य कर्मों का कर्ता नहीं होता है । और वह अशुद्ध निश्चयनय भी यद्यपि द्रव्यकर्मों के कर्तृत्वरूप असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से 'निश्चय' इस नाम को प्राप्त हो जाता है तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा यह 'व्यवहार' ही है ।

प्रश्न—हे भगवन् ! अशुद्ध उपादानरूप से यह आत्मा रागादि भावों का कर्ता होता है ऐसा जो आपने कहा है वह उपादान शुद्ध-अशुद्ध के भेद से दो भेदरूप कैसे हो जाता है ?

उत्तर—सो ही कहते हैं, उपाधि से होने वाला औपाधिक उपादान अशुद्ध है जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला । उपाधिरहित—निरुपाधिकरूप उपादान शुद्ध है जैसे सोने के पीलापन आदि गुण अथवा सिद्ध जीवों के अनंतज्ञानादि गुण या अग्नि के उष्णता आदि गुण ये निरुपाधि भाव हैं । उपादानकारण के व्याख्यान के समय सर्वत्र यही व्याख्यान

अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणानामस्तिवत् । इदं व्याख्यानमुपादानकारण-
व्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः ॥१०६॥

न च परभावः केनापि कर्तुं पायेत :—

(११० ज०) जो जह्य गुणे द्रव्ये सो अण्णहि दु ण संक्रमदि द्रव्ये ।

सो अण्णमसंकतो कह तं परिणामए द्रव्यं ॥१०३ अ०॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिन् न संक्रामति द्रव्ये ।

सोऽन्यदसंकृतः कथं सत्परिणामयति द्रव्यं ॥१०३॥

आत्मख्यातिः—इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चि-
दात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसौम्यो

शुद्ध उपादान—अशुद्ध उपादानरूप से स्मरण कर लेना चाहिये—जान लेना चाहिये ऐसा
यहाँ अभिप्राय है ॥१०६॥

उत्थानिका—किसी के द्वारा परभावों को करना शक्य नहीं है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः यस्मिन् द्रव्ये गुणे सः अन्यस्मिन् तु द्रव्ये न संक्रामति) जो द्रव्य
जिस द्रव्य में और जिस गुण में रहता है वह अन्य द्रव्य में संक्रमण नहीं करता है । (सः
अन्यत् असंक्रान्तः तत् द्रव्यं कथं परिणामयति) वह अन्य में संक्रमण नहीं करता हुआ उस
अन्य द्रव्य को कैसे परिणाम सकता है ? अर्थात् कभी नहीं परिणाम सकता ।

आत्मख्याति—इस संसार में जितनी कुछ भी वस्तु विशेष हैं वे जिस किसी चेतन-
स्वरूप या अचेतनस्वरूप द्रव्य में तथा अपने गुणों में अपने निजरस से ही अनादिकाल से
वर्तन कर रहे हैं । सो नियम से अचलित जो वस्तु स्थिति की मर्यादा है उसके भेदन में
असमर्थ हैं इसलिए वे अपने स्वभाव में ही रहते हैं । वे चेतन-अचेतन द्रव्य या उनके गुण

(११० ज०) सच तो है जो गुण जिन द्रव्यों में सतत वर्तता रहता है ।

वह उसे छोड़ कर अन्य द्रव्य मय कभी नहीं परिणमता है ॥

तो सोचो अन्य द्रव्य कैसे पर को निज रूप बना सकता ।

यह केवल मन की भ्रान्ती है स्वीकार न निश्चय कर सकता ॥१०३ अ०॥

भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यांतरं गुणान्तरं वा संक्रामेत । द्रव्यांतरं गुणान्तरं वाऽसंक्रामश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् । अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ॥१०३॥

(उत्थानिका)—अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते—

तात्पर्यवृत्तिः—जो जह्मि गुणो दब्धे सो अण्ण दु ण संक्रमदि दब्धे यो गुणश्चेतन-
स्तथैवाचेतनो वा तस्मिन्नेवाचेतने दब्धे अनादिसम्बन्धे स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः
सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रमत्येव सोपि सो अण्णमसंकतो कहं तं परिणामए दब्धं स चेतनोऽचेतनो
वा गुणः कर्ता अन्यद्विन्नं द्रव्यांतरमसंक्रांतः सन् कथं द्रव्यांतरं परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादान-
रूपेण न कथमपि ॥११०॥

अन्य किन्हीं द्रव्यरूप या गुणरूप से संक्रमण नहीं करते हैं । अतः भिन्न द्रव्यरूप या भिन्न गुणरूप से संक्रमण न करते हुये यह आत्मा अन्य किसी वस्तु विशेष को भला कैसे परिणमा सकता है ? अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप कथमपि परिणमन नहीं कर सकता है । इसीलिये किसी के द्वारा भी अन्य परभावों को करना शक्य नहीं है ऐसा नियम है ॥१०३॥

उत्थानिका—किसी के द्वारा भी उपादानरूप से परभावों को करना शक्य नहीं है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो चेतन या अचेतनरूप गुण जिस किसी चेतन या अचेतन द्रव्य में अनादिसम्बन्ध से स्वभाव से ही—स्वतः ही प्रवर्तित है, वह अन्य द्रव्य में संक्रमण नहीं कर सकता है—अन्य द्रव्यरूप कभी नहीं हो सकता है । और वह भी चेतन या अचेतन गुण कर्ता रूप होता हुआ अन्य किन्हीं भिन्न द्रव्यरूप से संक्रमण नहीं करता हुआ अन्य द्रव्य रूप में अपने को कैसे परिणमन करायेगा ? उपादानरूप से कोई भी गुण किसी अन्य द्रव्य रूप से कैसे परिणत होगा ? अर्थात् किसी प्रकार से भी नहीं होगा ऐसा समझना ॥११०॥

भावार्थ—यहाँ श्रीअमृतचन्द्रसूरि की गूढ़ टीका के भाव को खोलते हुये श्रीजय-सेनाचार्य ने कहा है कि अन्य गुण अन्य द्रव्य में उपादानरूप से संक्रमित नहीं होता है अतः यहाँ एकांत नहीं ग्रहण करना चाहिये । यहाँ गाथा में 'गुणे दब्धे' पाठ है किन्तु जयसेना-चार्य ने 'गुणो दब्धे' पाठ लिया है इस पाठ भेद से अर्थ में भी किंचित् भेद हो जाता है ।

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता :—

(१११ ज०) द्रव्यगुणस्स य आदा ण कुणदि पुगलमयहि कम्महि ।

तं उभयमकुर्वन्तो तहि कहं तस्स सहे कत्ता ॥१०४ अ०॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।

तदुभयमकुर्वन्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१०४॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्य-
गुणांतरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः द्रव्यांतरसंक्रम-
मंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता

कोई चेतन या अचेतन गुण किसी अन्य द्रव्य में नहीं जाता है अग्नि का गुण जल में नहीं जाता है किंतु निमित्त की अपेक्षा जाता भी है ।

उत्थानिका—अतः यह स्थित हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है—

अन्वयार्थ—(आत्मा पुद्गलमये कर्मणि च द्रव्यगुणस्य न करोति) आत्मा पुद्गलमय कर्म में उनके द्रव्य और गुणों को नहीं करता है (तस्मिन् तदुभयं अकुर्वन् सः तस्य कर्ता कथं) उसमें उन दोनों की नहीं करते हुये वह आत्मा उनका कर्ता कैसे हो सकता है ?

आत्मख्याति—जैसे मिट्टीमय कलशरूप कर्म में मिट्टी द्रव्य और मिट्टी का गुण ये दोनों अपने स्वभाव से ही वर्तमान हैं क्योंकि एक द्रव्य और उसका गुण, अन्यद्रव्य और अन्यगुणरूप से संक्रमण करने में वस्तु स्थिति से ही निषिद्ध है । कुम्भकार कभी भी अपने द्रव्य को या अपने गुणों को उस कलश में नहीं मिलाता है अतः भिन्नद्रव्यरूप से संक्रमण किये बिना अन्य वस्तु को परिणामन कराना अशक्य है यही कारण है कि वह कुम्भकार उन पर के द्रव्य या गुणों को उस कलश में नहीं लगाता हुआ परमार्थ से वह उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता है । उसी प्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरण आदि कर्म में पुद्गल द्रव्य

(१११ ज०) जैसे कुम्हार घट को रचकर उस रूप न तन्मय हो जाता ।

वैसे आत्मा कर्मों को कर पुद्गल में ही नहिं खो जाता ॥

गुण और द्रव्य दोनों स्वरूप जब जीवात्मा नहिं बनता है ।

तब बोलो उनका उपादान क्यों जीव स्वयं बन सकता है ? ॥१०४ अ०॥

प्रतिभाति । तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते । द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् । ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गल कर्मणामकर्ता ॥१०४॥

(उत्थानिका) — ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति —

तात्पर्यवृत्तिः — द्रव्यगुणस्य य आदा ण कुणदि पुग्गलमयहि कम्महि यथा कुंभकारः कर्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य संबंधि जडस्वरूपं वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा संबंधिस्वरूपमृत्तिका कलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसंबन्धि जडस्वरूपं वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसंबन्धिस्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति तं उभयमकुर्वंतो तहि कहुं तस्स सो कत्ता तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादि तद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्ता भवति न कथमपि ।

और पुद्गल ये गुण स्वभाव से ही विद्यमान हैं । उनमें यह आत्मा अपने आत्मद्रव्य को और अपने गुणों को उन कर्मों में नहीं लगा सकता है । क्योंकि एकद्रव्य या गुण भिन्नद्रव्य या भिन्नद्रव्य के गुणरूप से संक्रमण नहीं कर सकता है । और अन्य द्रव्य या गुणरूप से संक्रमण किये बिना अन्य किसी वस्तु को अपने रूप परिणमन कराना अशक्य ही है इसलिये उन द्रव्य और गुण दोनों को उस अन्य में नहीं मिलाता हुआ यह आत्मा वास्तव में उन पुद्गलकर्मों का कर्ता भला कैसे प्रतिभासित होगा ? इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि यह आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता ही है ॥१०४॥

उत्थानिका — यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता है —

तात्पर्यवृत्ति — जैसे कुंभकार मिट्टी के कलशरूप कर्म के विषय में मिट्टी द्रव्य सम्बन्धी जडस्वरूप की अथवा मिट्टी के वर्णादि गुण से सम्बन्धित गुणस्वरूप को मिट्टी के कलश के समान ही तन्मयरूप से नहीं करता है । वैसे आत्मा भी पुद्गलिक द्रव्य कर्म के विषय में पुद्गलद्रव्य कर्म सम्बन्धी जडस्वरूप को अथवा पुद्गलद्रव्य के वर्णादि गुण सम्बन्धि स्वरूप को तन्मयरूप से नहीं करता है । पुनः इन दोनों को अर्थात् पुद्गलद्रव्य कर्म के स्वरूप को

चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति । यथा स्फटिको निर्मलोपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोप्यमूर्त्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगद् करोति । तन्निरस्तं । कस्मादिति चेत् ? मूर्त्तस्फटिकस्य मूर्त्तेन सहोपाधिसंबन्धो घटते तस्य पुनः सदा मुक्तस्यामूर्त्तस्य कथं मूर्त्तोपाधिः ? न कथमपि सिद्ध-जीववत् । अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्त्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्त्तस्य मूर्त्तोपाधिदृष्टान्तो घटत इति भावार्थः । एवं निश्चयनयमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥१११॥

और वर्णादिरूप उनके गुणों को तन्मयरूप से नहीं करते हुए उन पुद्गलकर्म के विषय में वह जीव कर्ता कैसे हो सकता है ? अर्थात् किसी प्रकार से भी नहीं हो सकता है । तात्पर्य यह है कि यह आत्मा अपने से भिन्न चेतन अथवा अचेतन किन्हीं भी पररूप से परिणमन नहीं करता है । इससे क्या कहा गया समझना ? जैसे स्फटिक पाषाण निर्मल—स्वच्छ होते हुए भी जपापुष्प आदि पर उपाधि से परिणमन करते हुए लाल आदि बन जाता है वैसे ही कोई भी 'सदाशिव' नामक आत्मा सदा मुक्त होते हुए भी, अमूर्तिक होते हुए भी पर की उपाधि से परिणमन करके जगत् का कर्ता होता है उसका यहाँ खंडन किया गया है ।

प्रश्न—ऐसा क्यों ?

उत्तर—मूर्तिक स्फटिक का मूर्तिक वस्तु—जपापुष्प आदि के साथ उपाधि सम्बन्ध घटित हो जाता है किन्तु सदा मुक्त और अमूर्तिक सदाशिव का मूर्तिक के साथ उपाधि सम्बन्ध कैसे है ? अर्थात् किसी प्रकार से भी नहीं है जैसे कि सिद्ध जीव अमूर्तिक हैं मुक्त हैं उनके साथ मूर्तिक कर्मों का उपाधि सम्बन्ध नहीं है ।

अनादि काल से कर्म से बद्ध जीव जो कि शक्तिरूप से या शुद्ध निश्चयनय से अमूर्तिक है ऐसा होते हुए भी व्यक्ति रूप से और व्यवहार से उस मूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्म उपाधि से सम्बन्धरूप दृष्टान्त घट जाता है ऐसा भावार्थ हुआ । इसी प्रकार निश्चयनय की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥१११॥

विशेषार्थ—आचार्यवेद ने यहाँ यह कहा है कि जैसे तिल में तेल का सम्बन्ध सदा से है या सुवर्णपाषाण खान से निकला तब अशुद्ध ही था वैसे ही यह संसारी आत्मा अनादि-

अतोऽन्यस्तूपचारः—

(११२ ज०) जीवहि हेतुभूते बंधस्य तु पस्सिदूण परिणामं ।

जीवेण कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५ अ०॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं ।

जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५॥

आत्म यातिः—इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादिनिमित्तभूतेष्व्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनाग्निमितीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति

काल से कर्मों से बंधा हुआ है यही कारण है कि यह कथंचित् भूतिक बना हुआ है और परद्रव्यों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए रागादि भावों से नये-नये कर्म बाँधता रहता है । किन्तु जब यह जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जानकर उसमें लीन हो जाता है तब कर्मों से छूट जाता है । वंशेषिक सम्प्रदाय के समान कोई एक 'सदाशिव' नाम से परमात्मा नहीं है जो कि सदाकाल से मुक्त, शुद्ध ही था पुनः अवतार लेकर अशुद्ध हो गया । हाँ, शुद्ध निश्चयनय से प्रत्येक आत्मा सदा शुद्ध ही है अतः शुद्धनय से सभी संसारी सदाशिव ही हैं । जैन सिद्धान्त के अनुसार कोई पहले शुद्ध हो पश्चात् अशुद्ध बने ऐसा नहीं है ।

उत्थानिका—इससे अतिरिक्त जो निमित्त नैमित्तिक भाव हैं वे सब उपचार ही हैं—

अन्वयार्थ—(जीवे हेतुभूते बंधस्य तु परिणामं दृष्ट्वा) जीव को निमित्तभूत होने पर कर्मबंध का जो परिणाम होता है उसे देखकर (जीवेन कर्म कृतं उपचारमात्रेण भण्यते) जीव ने कर्म किये हैं ऐसा उपचारमात्र से कहा जाता है ।

आत्मख्याति—इस संसार में नियम से देखा जाय तो स्वभाव से ही यह आत्मा पौद्गलिककर्म के लिये निमित्तभूत नहीं है तो भी अनादिकाल से अज्ञान से उसके लिये निमित्तभूत हुए अज्ञानभाव से परिणमन कर जाता है अतः वह पुद्गलकर्म का निमित्त हो जाता है तब जो पौद्गलिककर्म बंध जाते हैं तब आत्मा ने इन कर्मों को किया है ऐसा विकल्प

(११२ ज०) कर्मों के आश्रय और बंध में जीव निमित्त बना करता ।

यदि जीव न हो तो केवल पुद्गल कर्मबंध नहीं कर सकता ॥

बस इसीलिए उपचार मात्र से जीव भी कर्ता कहलाता ।

व्यवहार धर्म इस हेतु से ही हेय नहीं माना जाता ॥१०५ अ०॥

निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः । स तूपचार एव न तु (पुनः) पर-
मार्थः ॥१०५॥

(उत्थानिका)--- अतः कारणत्वात् द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः—

तात्पर्यवृत्तिः—जीवस्मि हेतुभूदे बंधस्तु दु पस्सिदूण परिणामं परमोपेक्षासंयम-
भावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरगादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते
जीवे सति मेघाढंबरचंद्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेन्द्रचापादिपरिणत-
पुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं

निर्विकल्प विज्ञान घन आत्मस्वरूप से भ्रष्ट हुए विकल्प सहित ऐसे जनों को होता है वह
विकल्प तो उपचार ही है परमार्थ नहीं है ॥१०५॥

भावार्थ—जो निर्विकल्पध्यान में लीन हैं उनके कर्मों के करने का विकल्प नहीं है
किन्तु जो विकल्प में लगे हुए हैं ऐसे छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों तक यह विकल्प होता है ।
इसे ही श्री जयसेनाचार्य कहते हैं ।

उत्थानिका—इस कारण से जो यह आत्मा द्रव्यकर्म को करता है ऐसा जो कहा
जाता है वह उपचार ही है—

तात्पर्यवृत्ति—परमोपेक्षा नामक संयम की भावना से परिणत जो अभेद रत्नत्रय
लक्षण भेदज्ञान है उस भेदज्ञान के अभाव में मिथ्यात्व रागादि की परिणति के लिये निमित्त
रूप से कारणभूत जीव के होने पर कर्म वर्गणा योग्य पुद्गलों का ज्ञानावरण आदि रूप से
द्रव्यकर्म बंधरूप परिणाम हो जाता है उस परिणाम या कर्मबंध रूप पर्याय को देखकर जीव
ने यह कर्म किये हैं ऐसा उपचारमात्र से कहा जाता है । जैसे कि बादलों का घिर आना
या सूर्य अथवा चन्द्रमा का परिवेष आदि के योग्य काल का होना होता है तब उसके निमित्त
से पानी बरसना, इन्द्रधनुष आदि रूप से पुद्गलों का परिणत हो जाना आदि कार्य दिखायी
देते हैं । वैसे ही जीव में रागादि भाव के होने पर पुद्गलवर्गणाओं का कर्मरूप से परिणमन

पर्यायं दृष्ट्वा जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमसेण जीवेन कृतं कमेति भण्यते उपचार-
मात्रेणेति ॥११२॥

कथं इति चेत्; —

(११३ ज०) जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।

तह व्यवहारेण कदं ज्ञानावरणादि जीवेण ॥१०६ अ०॥

योधः कृते युद्धे राजा कृतमिति जल्पते लोकः ।

तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

आत्मख्यातिः—यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयम-
परिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न तु परमार्थः । तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरि-

हो जाता है अतः जीव के भावों को निमित्त मानकर यह कर्मबंध जीव ने किया ऐसा कथन
उपचारमात्र से होता है ॥११२॥

भावार्थ—यहाँ परमोपेक्षा लक्षण जो निर्विकल्पध्यान अवस्था है उसे ही भेदज्ञान
कहा है । उसके अभाव में ही यह कर्मों का कर्ता होता है तभी तक जीव कर्मों को करता
रहता है आगे भेदज्ञानी होकर कर्मों को नहीं करता है । यह अवस्था ग्यारहवें-बारहवें गुण
स्थान में ही घटती है ।

उत्थानिका—यह उपचार कैसा है सो ही विखाते हैं—

अन्वयार्थ—(योधैः युद्धे कृते राज्ञा कृतं इति लोकः जल्पते) जैसे योद्धाओं के द्वारा
युद्ध किया जाने पर राजा ने युद्ध किया है ऐसा लोग कहते हैं (तथा जीवेन व्यवहारेण
ज्ञानावरणादि कृतं) वैसे ही जीव के द्वारा व्यवहार से ये ज्ञानावरण आवि किये गये हैं ।

आत्मख्याति—जैसे युद्ध परिणाम से स्वयं परिणमन करते हुए योद्धाओं के द्वारा युद्ध
किया जाता है राजा स्वयं युद्ध परिणाम से परिणमन नहीं करता है तो भी राजा ने युद्ध

(११३ ज०) ज्यो रणभूमि में नृप सेना जब शत्रुसैन्य संग लड़ती है ।

योद्धा का युद्ध देख जनता नृप युद्ध करे यह कहती है ॥

यों ही व्यवहार नयाश्रय से आत्मा कर्ता कहलाता है ।

ज्ञानावरणादिक कर्मों का परिणमन यही बतलाता है ॥१०६ अ०॥

णामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मैत्युपचारो न परमार्थः ॥१०६॥

(उत्थानिका)—अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—जोधेहि कदं जुद्धे राष्ट्रं कर्दंति अपदे लोगो यथा योधैः युद्धे कृते सति राज्ञा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः । तद् व्यवहारेण कदं ज्ञानावरणादि जीवेण तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादिकर्म जीवेनेति । ततः स्थितमेतत् । यद्यपि शुद्ध-निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न मृच्छति च तथापि ॥११३॥

किया है ऐसा उपचार से कहा जाता है यह परमार्थ नहीं है । वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्म-रूप परिणाम से स्वयं परिणमन करते हुए पुद्गलद्रव्य के द्वारा ये ज्ञानावरण आदि कर्म किये गये हैं किन्तु आत्मा स्वयं इन ज्ञानावरण आदि कर्मरूप-परिणाम से परिणमन नहीं करता है फिर भी आत्मा ने इन ज्ञानावरण आदि कर्मों को किया है ऐसा जो कहा जाता है वह उपचार ही है परमार्थ नहीं है ॥१०६॥

भावार्थ—यह आत्मा स्वयं पौद्गलिक द्रव्य कर्मरूप से परिणमन नहीं करता है इसके भावों को निमित्त बनाकर पुद्गलवर्गणार्थे ही कर्मरूप से परिणत होती हैं अतः इस आत्मा ने इन ज्ञानावरण आदि कर्मों को किया है यह कथन उपचाररूप माना जाता है वास्तविक नहीं है ।

उत्थानिका—अब उपचार से कर्म के कर्तृत्व को दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे योद्धाओं के द्वारा युद्ध के किये जाने पर राजा ने युद्ध किया है ऐसा लोग कहते हैं वैसे ही जीव ने कर्मबंध किये हैं ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है । इससे यह बात स्थित हुई कि यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा शुद्धबुद्ध एक स्वभाव वाला है इसलिये यह कर्मों को न उत्पन्न करता है, न करता है, न बाँधता है, न परिणमन कराता है और न उन्हें ग्रहण ही करता है फिर भी व्यवहार से कर्मों को उत्पन्न करता है इत्यादि आगे कहेंगे ॥११३॥

अत एतत्स्थितं:—

(११४ ज०) उत्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।

आदा पुग्गलदब्बं व्यवहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७ अ०॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।

आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारणयस्य वत्तव्यं ॥१०७॥

आत्मख्यातिः—अयं खल्व्वात्मा न गृह्णाति न परिणामयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म । यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणामयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

उत्थानिका—इससे यह बात स्थित हुई कि—

अन्वयार्थः—(आत्मा पुद्गलद्रव्यं जन्मादयति करोति च बध्नाति परिणामयति च गृह्णाति) यह आत्मा पुद्गल द्रव्यमय कर्म को उत्पन्न करता है, करता है, बनाता है, बांधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है यह सब (व्यवहारणयस्य वत्तव्यं) व्यवहारणय का कथन है ।

आत्मख्याति—यह आत्मा नियम से प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य इन पुद्गलद्रव्य-स्वरूप कर्मों को व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से न उनको ग्रहण करता है, न उन्हें परिणमन कराता है, न उन्हें उत्पन्न ही करता है, न उन्हें करता है न उन्हें बनाता है और न उन्हें बांधता ही है । जो यह आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने पर भी इन प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य रूप पुद्गलद्रव्य स्वरूप कर्मों को ग्रहण करता है, परिणमन कराता है, उपजाता है, करता है और बांधता है ऐसा जो विकल्प है वह निश्चित ही उपचार है ऐसा समझना ॥१०७॥

(११४ ज०) आत्मा व्यवहार नयाभय से पुद्गल कर्मों का कर्ता है ।

उन सबको ग्रहण करे बांधे उपजे उन मय परिणमता है ॥

निश्चयनय से नहि कर्ता नहि बंधता उत्पन्न नहीं करता ।

उस रूप न परिणत होता है वह शुद्ध भावमय परिणमता ॥१०७ अ०॥

तात्पर्यवृत्तिः—अनादिबन्धपर्यायवशेन वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गेणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुम्भकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणात्पादयति प्रकृतिबन्धं करोति बध्नाति परिणमयति गृह्णातीति व्यवहारनयस्याभिप्रायेणवत्तत्त्वं व्याख्येयमिति । अथवा उत्पादयति प्रकृतिबन्धं करोति स्थितिबन्धं बध्नात्यनुभागबन्धं परिणमयति प्रदेशबन्धं तप्तायःपिंडो जलवत्सर्वात्मप्रदेशंगृह्णाति चेत्यभिप्रायः ॥११४॥

कथमिति चेत्—

(११५ ज०) तह राया ववहारा दोषगुणोत्पादगोत्ति आलविदो ।

तह जीवो ववहारा दव्वगुणोत्पादगो भणिदो ॥१०८ अ०॥

तात्पर्यवृत्ति—अनादिकालीन कर्मबन्ध की पर्याय के वश से वीतराग स्वसंवेदन लक्षण भेदज्ञान का अभाव होने से रागादि परिणाम से स्निग्ध हुआ यह रागी आत्मा कर्मवर्गेणायोग्य पुद्गलद्रव्य को कुम्भकार के घट के समान द्रव्य कर्मरूप से उत्पन्न करता है—प्रकृतिबन्ध करता है, बांधता है, परिणमन कराता है, ग्रहण करता है यह व्यवहारनय के ही अभिप्राय से कहा गया है ऐसा समझना । अथवा यह आत्मा जो कर्मों को उत्पन्न करता है—प्रकृतिबन्ध करता है, स्थितिबन्ध रूप से बांधता है, अनुभाग बन्धरूप से परिणमन कराता है । जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला जल को ग्रहण करता है वैसे ही यह आत्मा सर्व आत्म प्रदेशों से प्रदेश बन्धरूप कर्मों को ग्रहण करता है ऐसा अभिप्राय हुआ ॥११४॥

भावार्थ—यह आत्मा व्यवहारनय की अपेक्षा से पुद्गल कर्मों की प्रकृतिबन्ध रूप से ग्रहण करता है, स्थिति बन्धरूप से बांधता है, अनुभाग बन्धरूप से परिणमन कराता है और प्रदेश बन्धरूप से सर्वात्मप्रदेशों से ग्रहण करता है । यह व्यवहारनय असत्य नहीं है सारा द्वादशांग इस व्यवहारनय के अभिप्राय से ही रचा गया है अतः सर्वथा इसे असत्य नहीं समझना है । यह संसार और मोक्ष की जो व्यवस्था है वह सब व्यवहारनय की ही महिमा है ।

उत्थानिका—जीव को कर्मों का कर्ता उपचार से कहना सो यह कैसे है ? उसे दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा राजा दोषगुणोत्पादकः इति व्यवहारात् आलपितः) जैसे राजा दोष और गुणों को उत्पन्न करने वाला है ऐसा व्यवहार से कहा जाता है (तथा जीवः

यथा राजा व्यवहारादौ गुणोत्पादक इत्यालपितः ।

तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

आत्मख्यातिः—यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः । तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ॥१०८॥

वसंततिलकाः—जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।

एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, संकीर्त्यन्ते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥६३॥

व्यवहारात् द्रव्यगुणोत्पादकः भणितः) वैसे जीव भी व्यवहार से पुद्गलद्रव्य और गुणों को उत्पन्न करने वाला है ऐसा कहा जाता है ।

आत्मख्याति—जैसे प्रजा के व्याप्य-व्यापक भाव से स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले गुण दोषों में राजा के व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है तो भी लोग ऐसा कहते हैं कि गुण दोषों का उपजाने वाला राजा है यह उपचार-व्यवहार से ही कहा जाता है । वैसे पुद्गल-द्रव्य के व्याप्य-व्यापक भाव से स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले गुण दोषों में जीव के व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव है तो भी जीव इन दोष गुणों का उत्पादक है ऐसा उपचार किया जाता है । अर्थात् यह सूक्ति भी है कि 'यथा राजा तथा प्रजा' जैसा राजा होता है वैसे ही प्रजा होती है ॥१०८॥

अब इसी को स्पष्ट करते हुये कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यदि जीव पुद्गलकर्मों को नहीं करता है तब पुनः उन पुद्गलकर्मों को कौन करता है ? ऐसी आशङ्का होने पर इस कर्ता-कर्म के तीव्र वेगरूप मोह को दूर करने के

(११५ ज०) ज्यों प्रजा के गुण औ दोषों का उत्पादक राजा कहलाता ।

व्यवहार दृष्टि से मात्र कथन निश्चय नहि यह सब बतलाता ॥

त्यों ही व्यवहार नयापेक्षा यह जीव द्रव्य भी कहलाता ।

पुद्गलिक द्रव्य में कर्मरूप गुण का उत्पादक बन जाता ॥१०८ अ०॥

शेला छन्द (मात्रिक) —

यदि पुद्गल कर्मों का कर्ता, जीव नहीं है । तो फिर कर्ता कौन स्वयं, शङ्का ऐसी है ॥

तीव्र विमोह के दूर, करने को पुद्गल कर्म । उसके कर्ता का वर्णन, है भव्य सुनो तुम ॥६३॥

(उत्थानिका)—अथैतदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—

तात्पर्यवृत्तिः—जहूँ राया व्यवहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति भालबिदो यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषिनिर्दोषजनानां दोषगुणोत्पादको भणितः तह जीवो व्यवहारा दब्बगुणुप्पादगो भणितो तथा जीवोपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भणितः । इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः ॥११५॥

(उपसंहारः)—ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातं तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धं पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति । नैवं, हेतुहेतुमद्भावाव्याख्यान-ज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः । तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्ध्यतीति हेतुमद्भावाव्याख्यानं ज्ञातव्यं । इति पुण्यपापादिसप्त-

लिये कहते हैं कि हे भव्यजीवों ! आप सुनो, इन पुद्गलकर्मों के कर्ता को कहते हैं यह कलश काव्य आगे की गाथाओं के लिये उत्थानिका स्वरूप है ऐसा समझना । ६३।

उत्थानिका—अब इसी व्याख्यान का दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा समर्थन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे राजा लोक में सदोषी-निर्दोषी प्रजाजनों के दोष-गुणों को उत्पन्न करने वाला कहा जाता है वैसे ही जीव भी व्यवहार से पुद्गलद्रव्य के पुण्य-पापरूप, गुण-दोषों को उत्पन्न करने वाला कहा जाता है । इस प्रकार व्यवहारनय की मुख्यता से चार गाथासूत्र पूर्ण हुये हैं । इस तरह द्विक्रियावादी के निराकरण का उपसंहार करने वाले व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥११५॥

उपसंहार—

प्रश्न—निश्चयनय से यह आत्मा द्रव्य कर्मों को नहीं करता है ऐसा आपने बहुत बार कहा है, इसी से ही द्विक्रियावादियों का निराकरण सिद्ध हो गया पुनः पुनः इसे ही कहते हुये आपने यह पिष्टपेषण क्यों किया है ?

पदार्थपीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण जदि सो पुगलदब्बं करेज्ज इत्यादि-
गाथाद्वयेन संक्षेपव्याख्यानं । ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं ततोप्येकादश-
गाथाभिस्तस्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पंचविंशतिगाथाभिः
द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयोत्तराधिकारः समाप्तः ।

(११६ ज०) सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०६ अ०॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बंधकर्तारः ।

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगी च बोद्धव्याः ॥१०६॥

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि हेतु और हेतुमान भाव अर्थात् कारण और कार्य भाव के व्याख्यान को बतलाने के लिये ही बार-बार यह कथन किया है अतः इसमें कोई दोष नहीं है । उसी का स्पष्टीकरण—जिस हेतु से यह जीव निश्चयनय से द्रव्य कर्मों को नहीं करता है उसी हेतु से द्विक्रियावादी का निराकरण सिद्ध हो जाता है यह हेतुमान भाव का व्याख्यान जानना चाहिये । इस प्रकार पुण्य-पाप आदि सात पदार्थ की पीठिकारूप महा अधिकार में पूर्वोक्त प्रकार से “जदि सो पुगलदब्बं करेज्ज” इत्यादि गाथा दो से संक्षेप व्याख्यान किया था, पुनः उसके बाद बारह गाथाओं द्वारा उसी का विशेष व्याख्यान किया । अनन्तर ग्यारह गाथाओं द्वारा उसी का उपसंहार करते हुए पुनरपि विशेष व्याख्यान किया है इस प्रकार समुदाय से पच्चीस गाथाओं द्वारा यह द्विक्रियावादी का निषेध करने वाला तीसरा अन्तराधिकार समाप्त हुआ ।

अब उस कलश काव्य के उत्तररूप गाथायें कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सामान्यप्रत्ययाः चत्वारः खलु बंधकर्तारः भण्यन्ते) सामान्य से प्रत्यय—
आस्रव चार हैं वे ही बंध के करने वाले कहे गये हैं (मिथ्यात्वं अविरमणं च कषाययोगी बोद्धव्याः) वे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार जानने चाहिये । (च तेषां

(११६ ज०) सामान्यतया इस जीव द्रव्य में चार बन्ध के कारण हैं ।

मिथ्यात्व तथा अविरति कषाय अरु योग बंध के साधन हैं ॥

ये चारों प्रत्यय कर्मास्रव अरु बन्ध सदा करवाते हैं ।

इनसे विरहित होकर प्राणी प्रत्ययविरहित हो जाते हैं ॥१०६ अ०॥

(११७ ज०) तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।

मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११० अ०॥

(११८ ज०) एदे अचेदणा खलु पुद्गलकम्मदयसंभवा जह्या ।

ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११ अ०॥

तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।

मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमान्तम् ॥११०॥

एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।

ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥१११॥

पुनरपि अयं भेदः त्रयोदशविकल्पः भणितः) और उनके पुनः भी ये भेद तेरह प्रकार के कहे गये हैं (मिथ्यादृष्ट्यादिः यावत् सयोगिनः चरमान्तं) जो कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोग केवली गुणस्थान पर्यंत तेरह गुणस्थान रूप हैं (एते खलु अचेतनाः यस्मात् पुद्गलकर्मोदयसंभवाः) ये सब नियम से अचेतन हैं क्योंकि ये पुद्गलकर्मों के उदय से होते हैं (ते यदि कर्म कुर्वन्ति तेषां वेदकः आत्मा न अपि) यदि ये कर्मों को करते हैं तो उनका वेदक भी आत्मा नहीं हो सकेगा (गुणसंज्ञिताः तु एते प्रत्ययाः यस्मात् कर्म कुर्वन्ति) गुणस्थान नाम वाले ये प्रत्यय जिस हेतु से कर्मों को करते हैं (तस्मात् जीवः अकर्ता च

(११७ ज०) आगे इनके ही भेद कहे तेरह गुणस्थान सहित प्राणी ।

मिथ्यादृष्टी आदिक सयोग केवली प्रभृति श्रेणी मानी ॥

इनमें ही जीव शुभाशुभ भावों से परिणमन किया करता ।

छ्यानी मुनिध्यान अवस्था में निज अमृत पान किया करता ॥११० अ०॥

(११८ ज०) जो पुद्गल कर्म उदय से हैं उत्पन्न अचेतन भाव सभी ।

वे कर्म करें यदि तो भी आत्मा उनका वेदक बने नहीं ॥

पुद्गल ही पुद्गल का कर्ता उससे आत्मा का क्या नाता ।

कर्मों का जीवद्रव्य के संग बस निमित्त मात्र से ही नाता ॥१११ अ०॥

(११६ ज०) गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।

तह्मा जीवोऽकर्त्ता गुणाय कुव्वंति कम्माणि ॥११२ अ०॥ (चतुष्कं)

गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।

तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाय कुर्वन्ति कर्माणि ॥११२॥

आत्मख्यातिः—पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ, तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरति-
कषाययोगा बंधस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्त्तारः, त एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसंयोग-
केवल्यतास्त्रयोदश कर्त्तारः । अर्थेते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्त्तारः
केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव किं जीवसमापन्नपतित ।
अथार्थं तर्कः । पुद्गलजनयमिथ्यात्वादीन् जेदयमानी जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति

गुणाः कर्माणि कुर्वन्ति) उसी हेतु से यह जीव कर्मों का अकर्ता है और ये गुणस्थान ही
कर्मों को करते हैं ऐसा समझना ।

आत्मख्याति—पुद्गलकर्मों का नियम से पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है उस पुद्गल-
द्रव्य की विशेष—पर्याय ही मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार हैं जो कि बंध
के सामान्य हेतु होने से ये चारों प्रत्यय ही बंध के कर्ता कहे जाते हैं । ये ही चार प्रत्यय
भेदरूप से विवक्षित होते हुये मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर संयोगकेवली गुणस्थान पर्यंत
तेरह भेदरूप से कर्ता हो जाते हैं । और ये गुणस्थान पुद्गलकर्मों के उदय से बने हुये
हैं अतः ये अत्यंत अचेतन होते हुये तेरह गुणस्थान नाम से ही कर्मों के कर्ता केवलमात्र
हैं और यदि ये व्याप्य-व्यापक भाव से कुछ भी पुद्गलकर्म को करते हैं तो करते ही
रहें जीव का इसमें क्या आया ? अर्थात् जीव ने कुछ भी नहीं किया । अथवा यहाँ कोई
ऐसा तर्क करे कि पुद्गलमय मिथ्यात्व आदि का अनुभव करते हुये यह जीव स्वयं ही
मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्म को करता है ? उसका समाधान यह है कि यह तो अविवेक-
अज्ञान ही है क्योंकि यह आत्मा निश्चित ही भाव्य-भावक भाव के अभाव से पुद्गलद्रव्य-

(११६ ज०) है गुणस्थान का तारतम्य जब तक आत्मा संग लगा हुआ ।

तब तक ही पुद्गल भावों का सम्बन्ध जीव से जुड़ा हुआ ॥

क्योंकि निश्चय से जीव अकर्ता कर्मबंध नहि हो उसमें

गुणस्थान नाम के प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं सच में ॥११२ अ०॥

स किलाविवेको यतो न खत्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम । अर्थतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वन्ति कर्माणि । ततः पुद्गलकर्मणाम्-कर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारस्ते तु पुद्गलद्रव्यमेव । ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ॥१०६॥११०॥१११॥११२॥

(भूमिका)—अथानंतरं सामणपञ्चया इत्यादिगाथाभादि कृत्वा पाठक्रमेण सप्त-गाथापर्यंतं मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवः कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथन-रूपेण गाथाचतुष्टयं । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षां ये नेच्छन्त्येकांतेन जीवो न करोतीति वदन्ति सांख्यमतानुसारिणः तान्प्रति दूषणं ददाति । कथमिति चेत् । यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति

मय मिथ्यात्व आदि का वेदक—अनुभव करने वाला भी नहीं है पुनः यह पुद्गलकर्मों का कर्ता मला कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है । इससे यह बात सिद्ध हुई कि पुद्गलद्रव्यमय जो सामान्य प्रत्यय चार हैं उनके विशेष प्रत्ययरूप तेरह भेद हैं जो कि 'गुणस्थान' शब्द से कहे जाते हैं वे ही केवल-मात्र कर्मों को करते हैं इसलिये यह जीव पुद्गलकर्मों का अकर्ता है, ये गुणस्थान ही उन पुद्गलकर्मों के कर्ता हैं और वे गुणस्थान तो पुद्गलद्रव्य ही हैं । अतः यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्मों का कर्ता मात्र एक पुद्गल-द्रव्य ही है ऐसा समझना ॥१०६-११०-१११-११२॥

भावार्थ—यहाँ मिथ्यात्व को बंध का कर्ता कहा है अतः मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर कहने वालों को यह गाथा कंठाग्र कर लेनी चाहिये । वास्तव में मिथ्यात्व ही अनंत संसार का कारण है और यह तृतीय गुणस्थान तक बंध का कारण हो रहा है ।

भूमिका—इसके बाव 'सामणपञ्चया' इत्यादि गाथा को आदि में करके पाठक्रम से सात गाथा पर्यंत मूल प्रत्यय चार हैं वे ही कर्मों के कर्ता हैं इस कथन की मुख्यता से व्याख्यान करोगे । उनमें भी सात गाथाओं में जैनमत में शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादानरूप से यह जीव कर्मों को नहीं करता है ये चार प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं इस कथनरूप से चार गाथाएँ हैं । अथवा शुद्धनिश्चयनय की विवक्षा को जो स्वीकार नहीं करते हैं और कहते हैं कि एकांत से ही यह जीव कर्मों को नहीं करता है वे सांख्यमत के अनुयायी हैं उनके प्रति दूषण देंगे । वह दूषण क्या है ? यदि वे प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं तब

तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणं । अथवा तेषां मते जीव एकांतेन कर्म न करोतीति द्वितीयं दूषणं । तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयं । अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छन्ति तान्प्रति पुनरपि दूषणं । कथमिति चेत् । जीवप्रत्यययोरेकांतेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणं । एकांतेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषणमिति चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—निश्चयेन मिथ्यात्वादिपौद्गलिकप्रत्यया एव कर्म कुर्वतीति प्रतिपादयति—

तात्पर्यवृत्तिः—सामान्यपक्षव्या खलु अउरो भण्णन्ति बंधकत्तारो निश्चयनयेनाभेद-
विवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं

तो जीव उनके कर्मों के फल का वेदक भी नहीं रहेगा यह एक दूषण आवेगा । अथवा उनके मत में 'जीव एकांत से कर्मों को नहीं करेगा' यह दूसरा दूषण आवेगा ।

तदनंतर शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादानरूप से जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है ऐसे जैनमत के अभिप्राय से तीन गाथायें कहेंगे । अथवा पूर्वोक्त प्रकार से जो नयविभाग को नहीं मानते हैं उनके प्रति पुनरपि दूषण देते हैं वह क्या है ? वह यह है कि 'जीव और प्रत्यय में एकांत से एकत्व मान लेने पर जीव का अभाव हो जावेगा' यह एक दूषण आवेगा और यदि जीव और प्रत्यय को एकांत से भिन्न ही मान लेंगे तो संसार का ही अभाव हो जावेगा, यह दूसरा दूषण आ जावेगा । इस प्रकार से यह चतुर्थ अंतराधिकार में समुदायरूप से पातनिका कही गई है ।

उत्थानिका—निश्चय से मिथ्यात्व आदि पौद्गलिक प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—निश्चयनय से अभेद की विवक्षा में एक पुद्गल ही कर्मों का कर्ता है और भेद की विवक्षा में तो सामान्यतया मूल प्रत्यय-कारण चार हैं वे चार प्रत्यय ही स्पष्ट-

चत्वारो बंधस्य कर्तारो भण्यन्ते सर्वज्ञैः उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहुवो भवन्ति । सामान्यं कोऽर्थः । विवक्षाया अभावः सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति । मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्या ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्याः । अथ—तेसि पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसविषयो तेषां प्रत्ययानां गुण-स्थानभेदेन पुनरिमो भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्पः केन प्रकारेण मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरसंतं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति । अथ एवे अचेदणा खलु पुगलकम्मुदयसंभवा जह्या एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेना-चेतनाः खलु स्फुटं । कस्मात् पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मादिति । यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति । तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरगादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेना-शुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः ।

तथा सर्वज्ञदेव के द्वारा बंध के कर्ता कहे गये हैं पुनः उनके उत्तर प्रत्यय नाम से बहुत से भेद हो जाते हैं ।

प्रश्न—यहाँ सामान्य शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—विवक्षा का अभाव ही यहाँ सामान्य शब्द का अर्थ है । सर्वत्र सामान्य शब्द के व्याख्यान के समय यही अर्थ लेना चाहिये । वे सामान्य प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार जानने चाहिये । इन्हीं प्रत्ययों के गुणस्थान के भेद से तेरह भेद हो जाते हैं जो कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगकेवली भट्टारक पर्यन्त होते हैं । ये मिथ्यात्व आदि भाव प्रत्यय शुद्धनिश्चयनय से अचेतन ही हैं क्योंकि ये पुद्गलकर्मों के उदय से होते हैं । जैसे स्त्री और पुरुष से उत्पन्न हुआ जो पुत्र है उसे विवक्षा के वश से कोई 'देवदत्ता' का पुत्र है ऐसा कह देते हैं और कोई यह 'देवदत्त' का पुत्र है ऐसा भी कहते हैं इन दोनों कथन में कोई दोष नहीं है । वैसे ही जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग से उत्पन्न हुये ये मिथ्यात्व, रागादि जो भाव प्रत्यय हैं वे अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्ध उपादान-रूप से चेतन हैं क्योंकि जीव से सम्बन्धित हैं और ये ही शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध उपादान रूप से अचेतन हैं क्योंकि पुद्गलकर्मोदय से होने से पौद्गलिक ही हैं । परमार्थ से देखा जाय

परमार्थतः पुनरेकांतेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत् । वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति । एतावता किमुक्तं भवति । ये केचन वदन्त्येकांतेन रागादयो जीवसंबन्धिनः पुद्गलसंबन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या । कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टांतेन संयोगोद्भवत्वात् । अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छामः इति । ते यदि करन्ति कर्म ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वन्ति कर्म तदा कुर्युरेव जीवस्य किमायातं शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सत्त्वे सुद्धा ह मुद्धण्या' इति वचनात् । अथ मतं जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरगादिभावकर्म भुङ्क्ते यतस्ततः कर्तापि भवतीति । नैवं । णवि तेसि देदगो आदा यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोपि न

तो पुनः ये एकांत से न जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप ही हैं किन्तु ये चूना और हल्दी के संयोग से बने हुये भिन्न परिणामरूप ही हैं । वास्तव में देखा जाय तो सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय से ये रागादि भाव हैं ही नहीं क्योंकि ये अज्ञान से उत्पन्न हुये होने से कल्पित ही हैं ।

इससे यह अभिप्राय हुआ कि जो कोई मनुष्य एकांत से इन रागादि भावों को जीव से सम्बन्धित कहते हैं अथवा कोई एकांत से इन्हें पुद्गल से सम्बन्धित कहते हैं, ये दोनों ही कथन मिथ्या हैं क्योंकि ये पूर्व में कथित स्त्री पुरुष के दृष्टांत से संयोग से ही उत्पन्न होते हैं ।

प्रश्न—सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय से ये रागादि भाव किनके हैं ? ऐसा हम पूछते हैं ।

उत्तर—सूक्ष्म शुद्धनिश्चयनय से तो इन रागादि भावों का अस्तित्व ही नहीं है ऐसा मैंने पहले ही कह दिया है पुनः अब इसका क्या उत्तर दें ?

इसलिये ये प्रत्यय यदि कर्मों को करते हैं तो करें, जीव का क्या बिगड़ता है ? शुद्धनिश्चयनय से तो यह बात हमें सम्मत ही है कहा भी है—'सत्त्वे सुद्धा ह मुद्धण्या' 'सभी जीव शुद्धनय से शुद्ध ही हैं' ऐसा वचन है ।

प्रश्न—जैसे यह जीव मिथ्यादृष्टि होकर मिथ्यात्व रागादि भाव कर्मों को भोगता है वैसे ही यह कर्मों का कर्ता भी है क्या बाधा है ?

हि तेषां कर्मणां । यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथं भविष्यति न कथमपि इति शुद्ध-
निश्चयेन सम्मतमेव । अथवा ये पुनरेकांतेनाकर्त्तेति वदन्ति तान्प्रति दूषणं । कथमिति चेत् ।
यदेकांतेनाकर्त्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्त्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्त्ता प्राप्नोति ।
ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणं । तेषां मते वेदकोपि न भवतीति
द्वितीयं च दूषणं । अथ च वेदकमात्मानं मन्यते सांख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणं प्राप्नो-
तीति । अथ—गुणसंज्ञिता दु एवे कम्मं कुव्वन्ति पणवया जह्या ततः स्थितं गुणस्थानसंज्ञिताः
प्रत्ययाः एते कर्म कुर्वन्तीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितं । तथा जीवो कस्मा गुणा य कुव्वन्ति
कम्माणि तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीवः कर्त्ता न भवति । गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्यया
एव कर्म कुर्वन्तीति सम्मतमेव । एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण
गाथाचतुष्टयं गतं ॥११६॥११७॥११८॥११९॥

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि यह आत्मा शुद्धनिश्चयनय से उन कर्मों का
भोक्ता भी नहीं है । और जब भोक्ता ही नहीं है तब कर्त्ता भी भला कैसे हो सकेगा ?
अर्थात् किसी भी प्रकार से नहीं हो सकेगा । इस प्रकार से शुद्धनिश्चयनय से यह बात
सम्मत ही है अथवा जो पुनः एकांत से कर्मों का अकर्त्ता जीव को मानते हैं उनके प्रति यह
दूषण है कि जब यह आत्मा एकांत से कर्मों का अकर्त्ता है तो पुनः जैसे शुद्धनिश्चयनय से
यह अकर्त्ता है वैसे ही यह व्यवहारनय से भी अकर्त्ता हो जावेगा । तब पुनः सर्वथा ही अकर्त्ता
मान लेने पर तो जीव के संसार का ही अभाव हो जावेगा, यह एक दूषण आवेगा । पुनः
उनके मत में यह कर्मों का भोक्ता भी सर्वथा ही नहीं रहेगा यह दूसरा दूषण आ जावेगा ।
और सांख्यमतानुयायी लोग आत्मा को कर्त्ता नहीं मानते हैं मात्र भोक्ता मानते हैं उनके
यहाँ भी स्वमत के व्याघातरूप भी दूषण आ जावेगा । इसलिये यह बात सिद्ध होती है कि
ये गुणस्थान नाम से कहे गये प्रत्यय-आत्मव के कारण ही कर्मों को करते हैं जो ऐसा पूर्व-
सूत्र में कहा गया है उसी हेतु से शुद्धनिश्चयनय से यह जीव उन कर्मों का कर्त्ता नहीं होता
है । गुणस्थान नाम वाले ये प्रत्यय ही कर्मों को करते हैं यह बात सम्मत ही है । इस तरह
शुद्धनिश्चयनय से प्रत्यय ही कर्म करते हैं ऐसे व्याख्यान रूप से चार गाथायें पूर्ण हुई
हैं ॥११६-११७-११८-११९॥

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं; —

(१२० ज०) जह जीवस्स अणणुवओगो कोहो वि तह जदि अणणो ।

जीवस्साजीवस्स य एवमणणत्तमावण्णं ॥११३ अ०॥

(१२१ ज०) एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।

अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४ अ०॥

भावार्थ—यहाँ मिथ्यादृष्टि से लेकर तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान तक कर्म के कर्ता माने हैं चौदहवाँ गुणस्थान छोड़ दिया है क्योंकि वहाँ योग का अभाव हो गया है अतः जहाँ तक योग है वहीं तक कर्मों का आखव-बंध होता है आगे नहीं। यहाँ यद्यपि जीव को अकर्ता सिद्ध करते हुये गुणस्थानों को कर्मों का कर्ता कहा है फिर भी ये गुणस्थान जीव के ही परिणाम हैं न कि अन्य कुछ। अतः कथंचित् जीव ही कर्ता है कथंचित् उसके विभाव परिणाम, ऐसा समझना। यद्यपि तेरहवें गुणस्थान में क्षयोपशम भाव न होने से स्वभाव भाव—आधिक भाव है फिर भी अपेक्षाकृत वहाँ तक कर्तृत्व लिया है।

उत्थानिका—अब जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा जीवस्य उपयोगः अनन्यः तथा यदि क्रोधः अपि अनन्यः) जैसे जीव का उपयोग अभिन्न है वैसे ही यदि जीव से क्रोध भी अभिन्न हो जावे तो (जीवस्य च अजीवस्य एवं अनन्यत्वं आपन्नं) जीव और अजीव में इस प्रकार से एकपत्ता हो

(१२० ज०) ज्यों आत्मा से तन्मय होकर उपयोग सदा संग रहता है ।

त्यों ही क्रोधादि विभाव भाव भी यदि आत्मा में वसता है ॥

तो जीव और पुद्गल में निश्चित एकपत्ता हो जावेगा ।

नहि भेद रहेगा दोनों में आत्मा अजीव बन जावेगा ॥११३ अ०॥

(१२१ ज०) जय जीव अजीव द्रव्य दोनों सर्वथा एक हो जायेंगे ।

एकत्व दोष के कारण वे दोनों निजरूप गँवाएँगे ॥

बस इसी तरह नो कर्म कर्म प्रत्यय अरु जीव यदी मानो ।

दोनों में एकरूपता यदि तो जड़स्वभाव आत्मा जानो ॥११४ अ०॥

(१२२ ज०) अहं दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।

जहं कोहो तहं पच्छय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५ अ०॥

(त्रिकलम्)

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोपि तथा यद्यनन्यः ।

जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नं ॥११३॥

एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाजीवः ।

अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ॥११४॥

अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।

यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्मप्यन्यत् ॥११५॥

आत्मख्यातिः—यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः । तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः । एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्ता-

जावेगा । (एवं च इह यः तु जीवः सः एव नियमतः तथा अजीवः एकत्वे अयं दोषः प्रत्यय-
नोकर्मकर्मणां) और ऐसा होने से इस संसार में जो जीव है वही नियम से वैसे ही अजीव
हो जावेगा, दोनों एक हो जाने पर यह दोष प्राप्त होगा, ऐसे ही प्रत्यय नोकर्म और कर्म
इनमें भी एकत्व का दोष हो जावेगा । (अथ ते क्रोधः अन्यः उपयोगात्मकः चेतयिता अन्यः
भवति) अथवा यदि तुम्हारे मत में क्रोध अन्य है और उपयोगमयी आत्मा अन्य है (यथा
क्रोधः तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्म अपि अन्यत्) तब तो जैसे क्रोध अन्य है वैसे ही प्रत्यय,
कर्म और नोकर्म भी आत्मा से अन्य ही रहेंगे ।

आत्मख्याति—जैसे जीव के साथ तन्मय होने से जीव से उसका उपयोग अभिन्न
है—एक है वैसे ही यदि जड़स्वरूप क्रोध भी जीव से अभिन्न ही हो जावे ऐसा मान लिया
जावे तब तो चैतन्यरूप और जड़—अचेतन इन दोनों में अभिन्नता—एकरूपता हो जाने से

(१२२ ज०) इन दोषों से यदि बचना है तो जीव अजीव भिन्न मानो ।

है क्रोध अन्य उपयोगवान् आत्मा भी अन्य सदा जानो ॥

जैसे आत्मा से क्रोध अलग वैसे ही सब प्रत्यय होते ।

नोकर्म और कर्मदि भाव आत्मा से भिन्न सदा होते ॥११५ अ०॥

वयमेव दोषः । अर्थतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्वो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्मण्यप्यन्यान्येव जडस्वभाव-त्वाविशेषान्तास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वं ॥११३॥११४॥११५॥

(उत्थानिका)—अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकांतेनेति कथयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—जह जीवस्स अणणुवओगो यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोप-योगः । कस्मात्, अनन्यवेद्यत्वात् अणव्यविदेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत् कोहो वि तह जदि अणणो तथा क्रोधोपि यदनन्यो भवत्येकांतेन । तदा किं दूषणं, जीवस्साजीवस्स य एवम-णणत्तमादण्णं एवमभेदे सति सहजशुद्धाखंडैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्व-

तो जैसे जीव उपयोगमयी है वैसे ही वह जड़—अचेतन क्रोधमयी भी हो जावेगा । ऐसा हो जाने पर तो जो जीवद्रव्य है यही अजीव द्रव्य हो जावेगा पुनः एक द्रव्य का लोप हो जावेगा । इसी प्रकार से यदि जीव से प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी अभिन्न हैं तो भी जीव ही अजीव हो जाने से एक द्रव्य का ही लोप हो जानेरूप दूषण आ जावेगा । अब यदि आप इस एक द्रव्य के लोप के भय से ऐसा कहें कि उपयोगमयी जीव अन्य ही है और जडस्वभाव वाला क्रोध अन्य ही है तब तो जैसे उपयोगमयी जीव से जडस्वभाव वाला क्रोध भिन्न है वैसे ही प्रत्यय, नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं—जीव से भिन्न ही हैं क्योंकि ये भी जडस्वभाव वाले हैं, इनमें और क्रोध में जडस्वभाव से कोई भेद नहीं है अतः जीव और प्रत्यय—आत्माओं में एकत्व नहीं है यह बात सिद्ध हो गई ॥११३-११४-११५॥

उत्थानिका—जीव और प्रत्यय—आत्मा में एकांत से एकत्व नहीं है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे जीव में ज्ञानदर्शनमय उपयोग अभिन्नरूप से है—जीव के साथ तन्मय है क्योंकि वह अभिन्नरूप से ही अनुभव में आता है, उसको पृथक् करना भी अशक्य है जैसे कि अग्नि की उष्णता । उसी प्रकार क्रोध भी एकांत से यदि जीव से अनन्य—अभिन्न हो जावे तब तो यह दूषण आवेगा कि इस प्रकार दोनों को अभेदरूप से एक मान लेने पर सहज शुद्ध अखंड एक ज्ञानदर्शनोपयोगमयी जीव का अजीव के

मायन्नमिति । अथ—एवमिह जो दु जीवो सो खेव दु नियमवो तहाजीवो एवं पूर्वोक्तसूत्र-
व्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवः भवति नियमान्निश्चयात् । तथा सति
जीवाभावाद् दूषणं प्राप्नोति । अयमेव ते दोषो पञ्चयणोकम्मकम्माणं अयमेव च दोषो
जीवाभावरूपः । कस्मिन् सति । एकांतेन निरंजननिजानन्दैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति ।
केषां । मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति । अथ प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्व-
त्वमिति । अहं पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो ह्वदि चेदा अथ पुनरभिप्रायो भवतां
पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्यो भिन्नः क्रोधो जीवादन्त्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा
क्रोधात्सकाशात् । जहं कोहो तह पञ्चय कम्मं णोकम्म मवि अण्णं यथा जडः क्रोधो
निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्धिन्नस्तथा प्रत्ययकर्मनोकर्मण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मत
एव । किं च, शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च

साथ एकत्व हो जावेगा । पुनः पूर्वोक्त गाथा के व्याख्यान के क्रम से जो जीव है वही
वैसे ही नियम से अजीव हो जावेगा और ऐसा हो जाने पर तो जीव का ही अभाव हो
जावेगा, यह एक दूषण प्राप्त होगा । पुनः यदि ऐसे ही एकांतरूप से निरंजन, निजानन्द
एक लक्षण वाले जीव के साथ मिथ्यात्व आदि प्रत्यय तथा नोकर्म और कर्मों का भी
एकत्व मान लेंगे तब भी यही जीव के अभाव रूप दूषण ही प्राप्त हो जावेगा । यहाँ पर
गाथा में प्राकृत व्याकरण के नियम से 'प्रत्यय' शब्द ह्रस्व हो गया है ।

अब यदि आप पूर्वोक्त जीव के अभाव होनेरूप दूषण के भय से कहें कि क्रोध
जीव से भिन्न है और विशुद्धज्ञानदर्शनमयी आत्मा भी क्रोध से भिन्न है तब तो जैसे
क्रोध जड़ है, निर्मल चैतन्य स्वभाव वाले जीव से भिन्न है वैसे ही ये प्रत्यय—मिथ्यात्व,
अविरति, कषाय और योगरूप आस्रव तथा कर्म और नोकर्म भी जीव से भिन्न ही हैं
यह बात शुद्धनिश्चयनय से तो हम स्याद्वादियों को भी सम्मत ही है । दूसरी बात यह
है कि शुद्धनिश्चयनय से जीव का अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व और क्रोधादि से भिन्नत्व है
ऐसा व्याख्यान करने पर द्वितीय पक्ष यह आ जाता है कि व्यवहारनय से जीव कर्ता है,
भोक्ता है और क्रोधादि भावों से अभिन्न है यह बात अर्थापत्ति से प्राप्त ही हो जाती है
क्योंकि निश्चयनय और व्यवहारनय ये दोनों परस्पर में सापेक्ष ही हैं ।

भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव । कस्मात् । निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात् । कथमिति चेत् । यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति । ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि । ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबंधाभावः । कर्मबंधाभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति । स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति । एवं

प्रश्न—ये दोनों परस्पर में कैसे सापेक्ष हैं ?

उत्तर—जैसे किसी ने कहा कि देवदत्त नाम का मनुष्य दाहिनी आँख से देखता है तो ऐसा कहने पर यह बात बिना कहे अपने आप सिद्ध हो जाती है कि वह बाँयी आँख से नहीं देखता है । जो लोग पुनः इस प्रकार से परस्पर में सापेक्ष नय विभाग को नहीं मानते हैं वे सांख्य और सदाशिव के मत का अनुसरण करने वाले हैं उनके मत में जैसे शुद्धनय से यह जीव कर्ता नहीं है और क्रोधादि से भिन्न है वैसे ही व्यवहारनय से भी जीव कर्ता नहीं है तथा क्रोधादि से भिन्न ही है । और ऐसी एकांत मान्यता में तो संसारी जीव भी क्रोधादि भावों से यदि परिणमन नहीं करेगा तो पुनः मुक्तजीवों के समान उसके भी कर्मबंध ही नहीं हो सकेगा । पुनः संसारी जीव के भी कर्मबंध का अभाव मान लेने पर तो संसार का ही अभाव हो जावेगा और संसार का अभाव हो जाने पर तो सदा काल जीव को मुक्तपने का ही प्रसंग ही जावेगा अर्थात् पुनः यह संसारी जीव सदा सिद्ध—भगवान्—मुक्तात्मा ही रहेगा । किन्तु यह सब तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है, क्योंकि यह संसार तो प्रत्यक्ष से ही विद्यमान रहा है ।

इस तरह प्रत्यय—आत्मा और जीव में एकांत से एकत्व है इस कथन के निराकरण रूप से तीन गाथाये हुई हैं ।

प्रश्न—शुद्धनिश्चयनय से यह जीव अकर्ता है और व्यवहारनय से कर्ता है ऐसा आपने बहुत बार कहा है और ऐसा होने पर तो जैसे यह जीव व्यवहारनय से ब्रह्म कर्मों का

प्रत्ययजीवयोरेकांतेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतं । अत्राह शिष्यः । शुद्धनिश्चयेना-
कर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं
तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति । नैवं । रागादिभाव-
कर्मणां योसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्य
ज्ञापनार्थं । कथं तारतम्यमिति चेत् । द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि
शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव । यतः कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार
एव । अयमत्र भावार्थः । द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण
रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन । स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति । एवं
पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभिः चतुर्थोत्तराधिकारः समाप्तः
॥१२०-१२१-१२२॥

कर्ता है वैसे ही यह रागादि भाव कर्मों का भी कर्ता है पुनः इन दोनों ही द्रव्यकर्म और
भावकर्मों में एकत्व प्राप्त हो जावेगा ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि रागादि भावकर्मों का कर्ता कहने वाला जो यह
व्यवहारनय है उसे 'अशुद्धनिश्चयनय' यह संज्ञा है यह ऐसा कथन द्रव्यकर्मों में भावकर्मों
के साथ तरतमता बतलाने के लिये ही है ।

प्रश्न—यह तरतमता कैसे है ?

उत्तर—द्रव्यकर्म अचेतन हैं और भावकर्म चेतन हैं फिर भी शुद्धनिश्चयनय की
अपेक्षा से ये भावकर्म भी अचेतन ही हैं । यही कारण है कि 'अशुद्धनिश्चयनय' भी शुद्ध-
निश्चयनय की अपेक्षा से 'व्यवहार' ही है यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना । अर्थात् द्रव्यकर्मों
का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है और रागादि भावकर्मों
का कर्तृत्व-भोक्तृत्व अशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से है पुनः यह अशुद्धनिश्चयनय भी
शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहार ही है ऐसा जानो ।

इस तरह पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिकारूप महा अधिकार में सात
गाथाओं द्वारा यह चौथा अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥१२०-१२१-१२२॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिषिष्यं प्रति; —

(१२३ ज०) जीवे ण स्वयं बद्धं ण स्वयं परिणमदि कम्मभावेण ।

जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६ अ०॥

(१२४ ज०) कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।

संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७ अ०॥

(१२५ ज०) जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।

ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा^१ ॥११८ अ०॥

उत्थानिका—अब सांख्य मत के अनुयायी शिष्य के प्रति पुद्गलद्रव्य को परिणमन स्वभाववाला सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं कर्मभावेन परिणमते) जीव में यह पुद्गल-द्रव्य न स्वयं बंधा हुआ है और न स्वयं कर्मरूप से परिणमन ही करता है (यदि इदं पुद्गलद्रव्यं तदा अपरिणामि भवति) यदि यह पुद्गलद्रव्य ऐसा है सब यह अपरिणामी हो जावेगा । (कर्मणवर्गणासु कर्मभावेन च अपरिणममाणसु) पुनः कर्मण वर्गणाओं के कर्मरूप से परिणमन नहीं करने पर तो (संसारस्य अभावः वा सांख्यसमयः प्रसजति) संसार का अभाव हो जावेगा अथवा सांख्य का सिद्धान्त आ जावेगा । (जीवः पुद्गलद्रव्याणि कर्म-

(१२३ ज०) नहि जीव में पुद्गलद्रव्य वधैं स्वयमेव जीव संग आ करके ।

नहि कर्मरूप परिणमे वही पुद्गल निमित्त को पा करके ॥

यदि ऐसा माने तो पुद्गल परिणामी नहि कहलाएगा ।

वह नित्य अपरिणामी होकर कैसे संसार चलाएगा ॥११६ अ०॥

(१२४ ज०) कर्मादि रूप से कर्मवर्गणाएँ भी नहि परिणमती हैं ।

है अपरिणामि पौद्गलिक कर्म नहि उसमें ऐसी शक्ती है ॥

ऐसी मान्यता सांख्यदर्शन के भावों को बल्लाती है ।

संसार नहीं हो सकता फिर मुक्ती भी नहि बन पाती है ॥११७ अ०॥

(१२५ ज०) पुद्गलद्रव्यों को जीव स्वयं हठपूर्वक कर्म बनाता है ।

ऐसा यदि मानें तो पुद्गल परिणामि स्वयं बन जाता है ॥

यदि अपरिणामि होगा पुद्गल तो कैसे परिणम सकता है ?

कर्मादि रूप बन करके कैसे अपरिणामि रह सकता है ? ॥११८ अ०॥

अहं स्वयमेव हि परिणमति कर्मभावेण पुद्गलं द्रव्यं ।
 जीवो परिणामयदे कर्म कर्मत्वमिति मिच्छा ॥११६ अ०॥
 नियमा कर्मपरिणतं कर्म च य होति पुद्गलं द्रव्यं ।
 तद्वत्तं ज्ञानावरणादपरिणतं मुणसु तच्चैव ॥१२० अ०॥ (पंचकम्)

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।

यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥

कर्मवर्गणां चापरिणममाणामु कर्मभावेन ।

संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥

जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।

तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥११८॥

अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलं द्रव्यं ।

जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥

नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलं द्रव्यं ।

तथा तदज्ञानावरणादपरिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

भावेन परिणामयति) यदि यह जीव पुद्गलद्रव्यों को कर्मरूप से परिणमन कराता है (तानि स्वयं अपरिणममानानि चेतयिता कथं नु परिणामयति) तो पुनः स्वयं परिणमन न करते हुये उन पुद्गलद्रव्यों को यह आत्मा कैसे परिणमन कराता है ? (अथ पुद्गलद्रव्यं स्वयं एव हि कर्मभावेन परिणमते) अथवा पुद्गलद्रव्य स्वयं ही यदि कर्मरूप से परिणत हो जाते हैं तो पुनः (जीवः कर्म कर्मत्वं परिणामयति इति मिथ्या) जीव कर्मवर्गणाओं को कर्मरूप से परिणमन कराता है यह कथन मिथ्या हो जावेगा । (पुद्गलं द्रव्यं कर्मपरिणतं नियमात् चैव कर्म भवति) अतः यह पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणत हुआ नियम से ही कर्म हो जाता है (तथा तत् च एव ज्ञानावरणादि परिणतं तत् जानीत) ऐसा होने पर वह पुद्गलद्रव्य ही ज्ञानावरण आदि रूप परिणत हुआ कर्म हो जाता है ऐसा जानो ।

यदि मानें पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्मादि रूप परिणमता है ।

पर का निमित्त नहीं उसे कर्म नो कर्म रूप कर सकता है ॥

तब तो जीवात्मा का निमित्त मिथ्या भ्रान्ती करवाता है ।

यह कथन तुम्हारा है असत्य कर्मों को जीव कराता है ॥११६॥

सच तो यह पुद्गल द्रव्य नियम से कर्म रूप परिणमता है ।

वह पुद्गल ही ज्ञानावरणादिक कर्मरूप खुद बनता है ॥

अतएव कर्म को पुद्गल की पर्याय सदा जानो जग में ।

इनसे विरहित निज आत्मा को नित शुद्ध बुद्ध मानो सच में ॥१२०॥

आत्मख्यातिः—यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धमन्त्रकर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत् तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः ? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावं ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं ॥११६॥११७॥११८॥११९॥१२०॥

आत्मख्याति—यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं नहीं बंधा हुआ स्वयं ही कर्मभाव से परिणमन नहीं करता है तब तो वह अपरिणामी ही हो जावेगा । और ऐसा होने पर तो संसार का अभाव हो जावेगा । यदि आप ऐसा तर्क दें कि यह जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमन कराता है इसलिये संसार का अभाव नहीं होगा तो पुनः यह प्रश्न होता है कि यह जीव स्वयं परिणमन न करते हुये पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमन कराता है या स्वयं परिणमन करते हुये पुद्गलद्रव्य को कर्मरूप से परिणमन कराता है ? पहला पक्ष तो बन नहीं सकता क्योंकि स्वयं परिणमन न करते हुये ऐसे पुद्गलद्रव्य को यह जीव परिणमन नहीं करा सकता है क्योंकि स्वयं परिणमन नहीं करने वाले को अन्य कोई परिणमन कराने में समर्थ नहीं है । क्योंकि स्वयं जिसमें जो शक्ति नहीं है उसे उसमें अन्य के द्वारा करना शक्य नहीं है । यदि आप दूसरा पक्ष लें कि स्वयं परिणमन करते हुये पुद्गलद्रव्य को परिणमन कराता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य यदि स्वयं परिणमन करने वाला है तो वह अन्य परिणमन कराने वाले पर—जीव द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखेगा । क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती हैं ऐसा नियम है । इसलिये पुद्गलद्रव्य स्वयं ही परिणमन स्वभाववाला होवे । ऐसा होने पर तो जैसे कलशरूप से परिणत हुई मिट्टी स्वयं कलश ही है वैसे ही जडस्वभाव वाला पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरण आदि कर्म से परिणत हुआ पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरण आदि कर्मरूप हो जावे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य परिणमन स्वभाववाला है ॥११६-११७-११८-११९-१२०॥

इसी का कलश काव्य कहते हैं—

उपजाति छन्द—स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

(भूमिका)—अतः परं जीवे ण सयं बद्धं इत्यादि गाथामादि कृत्वा गाथाष्टकपर्यन्तं सांख्यमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जीवपुद्गलयोरेकांतेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथंचित् परिणामित्वं स्थापयति । तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं । तदनंतरं जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापंचकमिति पंचमस्थले समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—अथ सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति—

काव्यार्थ—इस प्रकार यह बात स्थित हो गई कि नियम से पुद्गलद्रव्य में परिणमन शक्ति निर्विघ्नतया स्वाभाविक ही है । इस बात के सिद्ध हो जाने पर पुद्गलद्रव्य जिस भाव को अपने करता है उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता होता है ।

भावार्थ—पुद्गलद्रव्य परिणमनशील है यही कारण है कि वह जीव के भाव को निमित्तमात्र करके स्वयं कर्मरूप से परिणत हो जाता है अतः कर्मों का कर्ता यहाँ पुद्गलद्रव्य ही है ऐसा निष्कर्ष निकलता है ॥६४॥

भूमिका—इसके आगे 'जीवे ण सयं बद्धं' इत्यादि गाथा को आदि में करके आठ गाथा पर्यंत सांख्यमतानुसारी शिष्यों को संबोधित करने के लिये जीव और पुद्गल एकांत से अपरिणामी हैं इस बात का निषेध करते हुये ये दोनों कथंचित् परिणामी हैं ऐसा स्थापित करेंगे । इन आठ गाथाओं में पुद्गल को परिणामी सिद्ध करने के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कहेंगे । पुनः जीवद्रव्य को परिणामी सिद्ध करने की मुख्यता से पाँच गाथायें कहेंगे । इस तरह पाँचवें स्थल की यह समुदाय पातनिका है ।

उत्थानिका—अब सांख्यमत के अनुयायी शिष्यों के प्रति पुद्गलद्रव्य कथंचित् परिणमन स्वभाववाला है ऐसा सिद्ध करते हैं—

रोला छन्द (मात्रिक)—

इस प्रकार पारिणामिक शक्ति, पुद्गल की जो । है निर्विघ्न स्वभाव भूत से सिद्ध जमी वो ॥

पुद्गल जिस स्थिति में, भाव का जन्म कर्ता है । तब उस भाव का पुद्गल ही, कर्ता बनता है ॥६४॥

तात्पर्यवृत्तिः—जीवे ण सयं बद्धं जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्य-
कर्मबद्धं नास्ति । कस्मात्, सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात् । ण सयं परिणमदि कम्मभावेण न च
स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति । कस्मात्, सर्वथा नित्यत्वात् । जवि
पुद्गलद्रव्यमिणं एवमित्थंभूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्धक्तां सांख्यमतानुसारिणां अपपरिणामी
तदा होदि ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति । ततश्चापरिणामित्वे सति किं
दूषणं भवति । अथ—कर्मवर्गणाभिरपरिणमन्तीभिः कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा संसार-
स्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य, सांख्यसमयवदिति । अथ मतं । जीवो परिणामयदे
पुद्गलद्रव्याणि कम्मभावेण जीवः कर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेण
द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवतीति चेत् ते सयम-
परिणमन्तं कर्हं तु परिणामयदि णाणी ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् नत्पुद्गलद्रव्यं
किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावदपरिणममानं परिणामयति न

तात्पर्यवृत्तिः—इस आधारभूत जीव में स्वयं स्वभाव से पुद्गलिक द्रव्यकर्म बंधे नहीं
हैं क्योंकि ज व सर्वदा शुद्ध ही है । यदि यह पुद्गलद्रव्य स्वयं आप ही कर्मभाव से—द्रव्य-
कर्म की पर्याय से परिणमन नहीं करता है क्योंकि यह पुद्गलद्रव्य भी सर्वथा नित्य है यदि
ऐसा है—नित्यरूप पुद्गलद्रव्य है, आप सांख्य मत के अनुयायी लोगों की ऐसी ही मान्यता
है तब तो इस हेतु से यह पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही हो जावेगा । इस तरह पुद्गलद्रव्य के
अपरिणामी हो जाने पर यह दूषण आयेगा कि कर्मवर्गणों द्वारा कर्मभावरूप द्रव्य-
कर्मपर्याय से परिणमन नहीं करने पर तो संसार का ही अभाव हो जावेगा । हे शिष्य !
जैसा कि सांख्य के मत में कहा है वैसा ही एकांत आ जावेगा । यदि आपका ऐसा मत
होवे कि यह जीव कर्ता होता हुआ कर्मवर्गण योग्य पुद्गलद्रव्यों को ज्ञानावरण आदि
कर्मभावरूप द्रव्यकर्मों की पर्याय से बलपूर्वक परिणमन करा लेता है अतः इस कारण से
संसार के अभावरूप दूषण नहीं आयेगा ? तब तो यह प्रश्न उठता है कि यह ज्ञानी जीव
स्वयं अपरिणमनशील है पुनः ऐसा अपरिणामी हुआ यह जीव स्वयं परिणमन नहीं करते
हुये उन पुद्गलद्रव्यों को कर्मरूप से परिणमन कराता है या परिणमन करते हुये पुद्गल-
द्रव्य को परिणमन कराता है ? वह अपरिणमनशील को परिणमन करा नहीं सकता
क्योंकि स्वतः जिसमें जो शक्ति नहीं है वह अन्य के द्वारा नहीं की जा सकती है यह नियम

च स्वतोऽसतो शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । यथा जपापुष्पादिकं कर्तृस्फटिके जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तम्भादौ किं न जनयतीति । अर्थकांतेन परिणममानं परिणामयति । तदपि न घटते । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षते तर्हि जीवो निमित्तकर्तारिमंतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमन्तु । तथा च सति किं दूषणं ? घटपटस्तम्भादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोधः । ततः स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथंचित्परिणामित्वशक्तिः तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता । एवं स्वस्व चंदधिर्न ज्ञानावरणादिद्रव्य-कर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य स एवोपादानकारणं कलशस्य मृत्पिण्डमिव । न च जीवः स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिदं । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानंदकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्यवहारेणोपादेयमिति । एवं शाखात्रय-

है जैसे कि जपापुष्पादि कर्ता द्रव्य स्फटिक में ही उपाधि को उत्पन्न करते हैं, काठ या खंभे आदि में लाल रंग आदि की उपाधि को पैदा नहीं कर सकते हैं । यदि आप कहें कि एकांत से परिणमन करते हुये को ही परिणमन कराता है तो ऐसा भी नहीं घट सकता है क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती हैं । तब तो जीव निमित्त कर्ता के बिना भी स्वयं ही कर्मरूप से परिणमन कर जावे और ऐसा होने पर क्या दूषण होगा ? यह दूषण आयेगा कि घट, बरत, स्तम्भ आदि पुद्गल भी ज्ञानावरण आदि कर्मरूप से परिणत हो जावेंगे किन्तु यह तो प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है । इसलिये यह बात स्थित हो गई कि पुद्गलों में परिणमनशील शक्ति कथंचित् स्वभावभूत है ऐसी परिणमन शक्ति के सिद्ध हो जाने पर यह पुद्गल ही कर्मों का कर्ता हो जाता है वह अपने सम्बन्धी ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म के परिणामरूप पर्याय को करता है वह उसका ही उपादान कारण होता है जैसे कि कलश का उपादान कारण मिट्टी का पिण्ड ही है । किन्तु जीव इन कर्मों का कर्ता नहीं है वह तो मात्र निमित्त कारण ही है अतः यह हेयतत्त्व ही है । इसलिये पुद्गल से भिन्न शुद्ध परमात्मा की भावना से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षण भेदज्ञान के द्वारा जो गम्य है, ऐसा चिदानंद एक स्वभाववाला निज शुद्धात्मा ही शुद्ध निश्चयनय से उपादेय है । पुनः भेदरत्नत्रय भी उपादेय है क्योंकि वह अभेदरत्नत्रय का साधक है अतः व्यवहारनय से उपादेय है ।

शब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः । सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोपि ज्ञातव्यः । इति शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः । एवं पुद्गलपरिणाम-स्थापनार्थं मुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१२३॥१२४॥१२५॥

इस प्रकार तीन गाथाओं द्वारा शब्दार्थ के व्याख्यान से शब्दार्थ को जानना चाहिये, व्यवहार और निश्चयरूप से नयार्थ जानना चाहिये, सांख्य के प्रति जो एकांत का कथन किया उसे मतार्थ जानना चाहिये और आगमार्थ तो प्रसिद्ध ही है । ऐसे ही हेय और उपादेय रूप व्याख्यान से भावार्थ को जानना चाहिये । इस तरह शब्द, नय, मत, आगम और भावार्थ इन पाँचों को सर्वत्र व्याख्यान के समय यथा संभव जान लेना चाहिये । इस प्रकार पुद्गल को परिणमनशील स्थापित करने के लिये मुख्यरूप से तीन गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥१२३-१२४-१२५॥

विशेषार्थ—श्री अमृतचंद्र सूरि ने यहाँ एकांत से पुद्गल को अपरिणामी मानने में दोष देते हुये पाँच गाथायें ली हैं किन्तु श्रीजयसेनाचार्य ने तीन गाथायें ही ली हैं । ये श्रीजयसेनाचार्य पुरुष की भूमिका में गाथाओं की संख्या दे देते हैं अंतराधिकार के पूर्ण करते समय पुनरपि गाथाओं की संख्या बता देते हैं । इस समयसार में इन्होंने गाथा ४३६ मानी हैं और अमृतचंद्रसूरि ने ४१५ मानी हैं । यह गाथाओं का अन्तर प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और मूलाचार में भी है । इसका कारण समझ में नहीं आया है जो भी हो श्रीजयसेनाचार्य भी महान् प्रमाणिक आचार्य हुये हैं उनके द्वारा श्रीकुंदकुंदकृत मानी गई गाथायें अमान्य तो कथमपि नहीं की जा सकती हैं । इन आचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका में गाथायें अधिक ही हैं प्रायः कोई ही गाथायें इनकी टीका में नहीं हैं जैसे कि यहाँ दो गाथायें व इसी अधिकार में एक गाथा और भी श्रीअमृतचंद्रसूरि की टीका में है इनकी टीका में नहीं है ।

यहाँ मूल में आचार्यदेव ने यह सिद्ध किया है कि यदि जीव को या पुद्गल को एकांत से अपरिणामी माना जायेगा तो जीव के साथ कर्मों का संबंध न होने से जीव के संसार का अभाव हो जावेगा या सांख्य के मत में जैसे 'जीव कर्ता नहीं है' ऐसा एकांत-मत आ जावेगा ।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

(१२६ ज०) न स्वयं बद्धो कस्मै न स्वयं परिणमदि कोहमादीहि ।

जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२१ अ०॥

(१२७ ज०) अपरिणमंतमिह स्वयं जीवे कोहादिएहि भावेहि ।

संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२ अ०॥

(१२८ ज०) पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।

तं समयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३ अ०॥

उत्थानिका—अब जीव को परिणमनशील सिद्ध कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(कर्मणि न स्वयं बद्धः क्रोधादिभिः न स्वयं परिणमते) यह जीव कर्मों में न स्वयं बंधा है और न क्रोधादि भावों से परिणमन ही करता है (यदि तव एषः जीवः तदा अपरिणामी भवति) यदि तुम्हारे यहाँ यह जीव ऐसा है तब तो वह अपरिणामी हो जावेगा । (क्रोधादिभिः भावैः जीवे स्वयं अपरिणममाने संसारस्य अभावः प्रसजति वा

(१२६ ज०) नहि जीव स्वयं बंधता कर्मों से क्रोध रूप नहि परिणमता ।

आत्मा की स्थिति यदि ऐसी माने तो कैसे बन सकता ॥

एकांतरूप से जीव द्रव्य को अपरिणामि नहि कह सकते ।

संसार व्यवस्था नहि बनती यदि जीव नहीं परिणमन करे ॥१२१ अ०॥

(१२७ ज०) निश्चय नय से नहि जीव स्वयं क्रोधादि रूप परिणमता है ।

लेकिन संसार अवस्था में कर्मों के संग ही रमता है ॥

यदि एक रूप से मात्र जीव को अपरिणामि कहना होगा ।

तो सांख्य कथन आ जावेगा संसार अभाव सिद्ध होगा ॥१२२ अ०॥

(१२८ ज०) क्रोधादि कर्म पुद्गलस्वरूप जब जीवात्मा संग आते हैं ।

निज के सहकारी से आत्मा को क्रोधरूप परिणामते हैं ॥

सोचो यदि जीवद्रव्य खुद ही परिणमन नहीं कर सकता है ।

तो कैसे क्रोधकर्म उसको निज सम परिणत कर सकता है ? ॥१२३ अ०॥

(१२६ ज०) अहं स्वयम्प्रा परिणमति क्रोधभावेन एव दे बुद्धी ।

क्रोधो परिणामयति जीवं क्रोधादिभिः मिच्छा ॥१२४ अ०॥

(१३० ज०) क्रोदुवजुत्तो क्रोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।

माउवजुत्तो माया लोदुवजुत्तो हवति लोहो ॥१२५ अ०॥ (पंचकम्)

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।

यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥

अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।

संसारस्याभावः प्रगजति सांख्यसमयो वा ॥१२२॥

पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।

तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एवा ते बुद्धिः ।

क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२४॥

क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।

मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

सांख्यसमयः) क्रोधादि भावों के द्वारा जीव के स्वयं परिणमन न करने पर तो संसार का ही अभाव हो जावेगा अथवा सांख्य का मत आ जावेगा । (पुद्गलकर्म क्रोधः जीवं क्रोधत्वं परिणामयति) यदि पुद्गलकर्मरूप क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो (स्वयं अपरिणममानं तं क्रोधः कथं नु—परिणामयति) स्वयं आप परिणमन न करते हुये उस जीव

(१२६ ज०) यदि ऐसी तेरी बुद्धि है आत्मा निजके परिणामों से ।

क्रोधादि रूप परिणत होता बंधता भी है उन कर्मों से ॥

तो पुद्गलकर्म जीव को क्रोधभाव से परिणत करता है ।

यह कथन सदा मिथ्या होगा तर्हि जीव कुपित हो सकता है ॥१२४ अ०॥

(१३० ज०) इसलिए कथन यह सिद्ध हुआ क्रोधादि भाव से युक्तात्मा ।

क्रोधी कहलाता मान कर्म से युत है मानी यह आत्मा ॥

माया में है उपयोग यदी तो माया रूप कहाएगा ।

है लोभ कर्म से युक्त तभी लोभी आत्मा बन जाएगा ॥१२५ अ०॥

आत्मख्यातिः—यदि कर्मणि स्वयमवद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्मक्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणमयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणामयितुं पायैत,

को क्रोध भला कैसे परिणमा सकता है । (अथ एषा ते बुद्धिः आत्मा स्वयं क्रोधभावेन परिणमते) अथवा तुम्हारी ऐसी बुद्धि है कि आत्मा अपने आप क्रोधभाव से परिणमन करता है तो (क्रोधः जीवं क्रोधत्वं परिणामयति इति मिथ्या) क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है ऐसा कहना मिथ्या हो जावेगा । अतः (आत्मा क्रोधोपयुक्तः क्रोधः च मातोपयुक्तः मानः एव) आत्मा क्रोध के उपयोग से सहित हुआ क्रोध ही है और मान के उपयोग सहित हुआ जीव मान ही है (मायोपयुक्तः माया लोभोपयुक्तः लोभः भवति) माया के उपयोग से सहित हुआ माया ही है और लोभ के उपयोग से सहित हुआ जीव लोभ ही होता है ।

आत्मख्याति—यदि कर्मों से नहीं बंधा हुआ यह जीव स्वयं आप ही क्रोधादि भाव से नहीं परिणमन करता है तब तो वह जीव नियम से अपरिणामी ही रहेगा । ऐसा होने पर तो संसार का ही अभाव हो जावेगा । यदि आप ऐसा तर्क दें कि जो क्रोधादि पुद्गलकर्म हैं वे जीव को क्रोधादि भाव से परिणमन कराते हैं अतः संसार का अभाव नहीं होगा । तब पुनः यह प्रश्न होता है कि स्वयं परिणमन न करते हुये जीव को ये क्रोधादि पुद्गलकर्म क्रोधभाव से परिणमन कराते हैं या स्वयं परिणमन करते हुये जीव को ये पौद्गलिक कर्म क्रोधभाव से परिणमन कराते हैं ? इसमें से प्रथम पक्ष लें तो नहीं ले सकते, क्योंकि स्वयं आप परिणमन न करते हुये जीव को अन्य पुद्गलद्रव्य परिणमन कराने में समर्थ नहीं हो सकता है । कारण यह है कि ऐसा नियम है कि स्वतः अविद्यमान शक्ति किसी अन्य के द्वारा की नहीं जा सकती है । यदि आप दूसरा पक्ष लें कि स्वयं परिणमन करते हुये जीव को पुद्गलद्रव्य परिणमन कराता है तो वह अन्य परिणमन कराने वाले की अपेक्षा नहीं रखेगा । क्योंकि वस्तु की शक्तिर्या पर की अपेक्षा नहीं रखती है

न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यादिति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वं ॥१२१॥१२२॥१२३॥१२४॥१२५॥

उपजातिछन्दः—स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

(उत्थानिका)—सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति—

तात्पर्यवृत्तिः—ण सयं बद्धो कस्मे स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकांतेन बद्धो नास्ति सदा मुक्तत्वात् । ण सयं परिणमवि कोहमादीहि न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदय-निरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति । कस्मादेकांतेनापरिणामित्वात् । यदि एस तुज्ज

यह नियम है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि यह जीव स्वयं आप परिणमन स्वभाव वाला है ऐसा होने पर तो जैसे गरुड के ध्यान से परिणत हुआ साधक-मंत्रवादी स्वयं—गरुड ही हो जाता है वैसे ही अज्ञान स्वभाव क्रोधादि से परिणत हुआ उपयोग वाला यह जीव ही स्वयं क्रोधादिरूप हो जाता है । इस तरह से जीव का परिणमन स्वभाव सिद्ध ही है ॥१२१-१२२-१२३-१२४-१२५॥

इसी अर्थ का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—इससे यह बात स्थित हुई कि जीव में परिणमन शक्ति निविघ्नरूप से स्वाभाविक ही है । ऐसी बात के सिद्ध हो जाने पर यह जीव जिस भाव को करता है वह अपने उसी भाव का कर्ता होता है ॥६५॥

उत्थानिका—अब सांख्यमतानुयायी शिष्यों को समझाने के लिये जीव को कथंचित् परिणमन स्वभाव वाला सिद्ध करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—अधिकरणभूत कर्मों में यह जीव स्वयं स्वभाव से एकांत से ही बंधा नहीं है क्योंकि वह सदा मुक्त है और वह स्वयं ही द्रव्यकर्मों से निरपेक्ष है अतः भाव-क्रोधादि से परिणमन भी नहीं करता है क्योंकि वह एकांत से ही अपरिणमनशील है ।

पदरि छन्द (मात्रिक)—इस कारण जीव स्वभाव भूत, निविघ्न परिणमन शक्तिरूप ।

उसमें आत्मा जो भाव लहे, उसका कर्ता खुद जीव कहे ॥६५॥

जीवो अपरिणामी तदा होवि यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतः तव मताभिप्रायेणेत्थंभूतः स्यात्ततः कारणादपरिणाम्येव भवति । अपरिणामित्वे सति किं दूषणं ? अथ—अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति । हे शिष्य सांख्यसमयवत् । अथ मतं पुद्गलकर्म कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् तं समयमपरिणमन्तं कह परिणामएदि कोहत्तं अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत् । कस्मात् । न हि स्वतोऽसती शक्तिः

यदि आपके मत के अभिप्राय से यह जीव ऐसा है तब तो वह अपरिणामी ही रहेगा । और अपरिणामी रहने पर क्या दूषण आयेगा ? सो ही दिखाते हैं—यदि स्वयं आप ही यह जीव भाव क्रोधादि परिणामों से परिणमन नहीं करता है तब तो संसार का ही अभाव हो जावेगा । हे शिष्य ! पुनः आप सांख्य के मत के समान एकांतवादी हो जावेंगे । यदि आप ऐसा कहें कि पौद्गलिक कर्मरूप द्रव्यक्रोध उदय में आकर कर्तारूप होता हुआ इस जीव को बलपूर्वक भावक्रोधरूप से परिणमन करा देता है तब तो प्रश्न यह उठता है कि वह उदयागत द्रव्यक्रोध स्वयं—आप परिणमन नहीं करते हुये जीव को भावक्रोध से परिणमन कराता है या परिणमन करते हुये जीव को भावक्रोध से परिणमन कराता है ? स्वयं परिणमन नहीं करते हुये को तो परिणमन करा नहीं सकता । क्यों ? क्योंकि स्वतः जो शक्ति जिसमें नहीं है वह अन्य के द्वारा नहीं की जा सकती है जैसे जपापुष्प आदि कर्तारूप होते हुये स्फटिक, काँच-दर्पण आदि में उपाधि को उत्पन्न कर देते हैं वैसे ही वे लकड़ी या खम्भे आदि में उपाधि-लालिमा को उत्पन्न नहीं कर पाते हैं । यदि आप दूसरा पक्ष लेवें कि एकांत से परिणमन शील जीव को ही परिणमाते हैं तब तो उदय में आये हुये द्रव्य क्रोध के निमित्त के बिना भी वे जीव भाव क्रोधादि से परिणमन कर जावे । ऐसा क्यों ? क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती हैं ऐसा नियम है । और ऐसा होने पर तो मुक्त हुये सिद्ध जीवों के भी द्रव्यक्रोधादिरूप कर्मों का उदय न होने पर भी भावक्रोधादि हो जावेंगे किन्तु ऐसा तो द्रष्ट नहीं है चूंकि आगम से विरोध आता है ।

यदि इन दूषणों के भय से आप ऐसा कहें कि स्वयं ही यह आत्मा द्रव्यकर्मों के उदय से निरपेक्ष होता हुआ भी आप भावक्रोधरूप से परिणमन कर जाता है तब तो हे

कर्तुमन्येन पार्यते । न हि जपापुण्यादयः कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयंत्युपाधि तथा काष्ठ-
स्तंभादिष्वपि । अर्थकांतेन परिणममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधा-
दिभिः परिणमंतु । कस्मादिति चेत् । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । तथा च सति मुक्ता-
त्मनामपि द्रव्यक्रोधादिकर्मोदयनिमित्ताभावेषु भावक्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तदिष्ट-
मागमविरोधात् । अथ मतं । अहं सद्यभ्यासं पारिणमयि कोहभावेण एस दे बुद्धी अथ पूर्व-
दूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धिः हे
शिष्य, कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवस्य
भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति ।
ततः स्थितं—घटाकारपरिणता मृत्पिण्डपुद्गलाः घट इव अग्निपरिणतोऽपिण्डोऽग्निवत्
तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति मानोपयोगपरिणतो मानो भवति
मायोपयोगपरिणतो माया भवति लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा

शिष्य ! जो वह द्रव्यक्रोध कर्तारूप होता हुआ जीव को भावक्रोधरूप परिणमन कराता है
यह जो पहली गाथा में कहा गया है वह कथन मिथ्या हो जावेगा । इसलिये यह बात
स्थित हुई कि जंसे घट के आकार से परिणत हुये मिट्टी के पिण्डरूप पुद्गल घट हो हैं
और अग्निरूप से परिणत हुआ लोहे का गोला अग्नि ही है वैसे ही यह आत्मा भी क्रोध
के उपयोग से परिणत हुआ क्रोध ही है, मान के उपयोग से परिणत हुआ स्वयं मान ही
है, माया के उपयोग से परिणत हुआ माया ही है और लोभ के उपयोग से परिणत हुआ
लोभ ही है जब यह बात स्थित है तब यह सिद्ध हो गया कि जीव में स्वभाव से ही परि-
णमन करने की शक्ति मौजूद है । और जीव में परिणमन शक्ति के सिद्ध हो जाने पर तो
यह जीव ही कर्तारूप होता हुआ अपनी आत्मा के जिन परिणामों को करता है वह उसी
परिणाम का उपादानरूप से कर्ता हो जाता है तथा द्रव्यकर्मों का उदय तो वहां निमित्त-
मात्र ही है । उसी प्रकार से यह जीव ही निर्विकार चैतन्य-चमत्काररूप शुद्ध भाव से
परिणत होता हुआ सिद्धात्मा भी हो जाता है ।

जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिन्वमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति । किं च विशेषः—‘जाव ण वेदि विसेसंतरं’ इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयोः संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथा-षट्कं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयोः कथंचित्परिणामित्वे सति घटते । तस्यैव कथंचित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदं । अथवा ‘सामण्णपच्चया खलु चउरो’ इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं सामान्यप्रत्यया एवं शुद्ध-निश्चयेन कर्म कुर्वतीति न जीव इति जैनमतं । एकांतेनाकर्तृत्वे सति सांख्यानां संसाराभाव-दूषणं तस्यैव संसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदं । कथमिति चेत् । तत्रैकांतेन कर्तृत्वाभावे सति संसाराभावदूषणं अत्र पुनरैकांतेन परिणामित्वाभावे सांत संसाराभावदूषणं । यतः कारणाद्धावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च भण्यते । इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यान-

अब यहाँ पूर्वगाथाओं से सन्दर्भ जोड़ते हुये विशेष कथन करते हैं कि ‘जाव ण वेदि विसेसंतरं’ इत्यादिरूप से अज्ञानी और ज्ञानी जीव के संक्षेप व्याख्यानरूप से जो पहले छह गाथायें कहीं थीं उनमें पुण्य-पाप आदि जो सात पदार्थ हैं वे जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम से बने हैं और वे सातों ही पदार्थ जीव तथा पुद्गल इन दोनों को कथंचित् परिणमनशील मानने पर ही घटते हैं । अतः यहाँ पर उस जीव को कथंचित् परिणामी सिद्ध करने का ही यह विशेष व्याख्यान है । अथवा ‘सामण्ण-पच्चया खलु चउरो’ इत्यादि रूप से सात गाथाओं में जो पहले कहा था कि सामान्य प्रत्यय ही शुद्ध-निश्चयनय से कर्मों को करते हैं न कि जीव; ऐसा जैनमत है । यदि एकांत से जीव को अकर्ता मानोगे तो सांख्यों के यहाँ संसार के अभाव का दूषण आ जावेगा, उसी संसार के अभाव रूप दूषण को यहाँ विशेष दूषण कहा है । क्यों ? क्योंकि यहाँ यह कहा था यदि एकांत से जीव को अकर्ता मान लेवोगे तो संसार का अभावरूप दूषण आवेगा । अब यहाँ यह कहा है कि यदि एकांत से जीव को अपरिणामी मानोगे तो संसार के अभावरूप दूषण आ जावेगा । अब यहाँ भावकर्मरूप से परिणमन करना ही जीव का कर्तृत्व और भोक्तृत्व कहलाता है यह समझना ।

मुख्यत्वेन गाथापंचकं गतं । एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीव-
पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभिः पंचमांतराधिकारः समाप्तः ॥१२६॥१२७॥
१२८॥१२९॥१३०॥

(भूमिका)—अथ—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि । अण्णाणी तावदु इत्यादि गाथाद्वये तावदज्ञानी जीवस्वरूपं पूर्वं भणितं स चाज्ञानी जीवो यदा विसयक-
सायुवगाढ इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापास्रवबंधपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवति ।
यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां भंदोदये सति भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिरूपेण दानपूजादिना
परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं संक्षेपेण सूचितं जइया इमेण जीवेण आदा
सवाण दोण्हंपि । णादं होदि विसेसंतरं तु इत्यादिगाथाचतुष्टयेन ज्ञानीजीवस्वरूपं च संक्षेपेण
सूचितं । स च ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन यदा
परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां

इस प्रकार जीव को परिणामी मानने के व्याख्यान की मुख्यता से पाँच गाथायें
पूर्ण हुई हैं । इस तरह पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार में जीव
और पुद्गल को परिणामी मानने के व्याख्यान की मुख्यता से आठ गाथाओं द्वारा यह
पाँचवां अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥१२६-१२७-१२८-१२९-१३०॥

भूमिका—अब “जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि । अण्णाणी ताव
दु” इत्यादि दो गाथाओं में अज्ञानी जीव का स्वरूप जो पहले कहा था वह अज्ञानी जीव जब
‘विसयकसायुवगाढ’ इत्यादि अशुभ उपयोग से परिणमन करता है तब पाप, आस्रव और
बंध इन तीन पदार्थों का कर्ता हो जाता है और जब मिथ्यात्व तथा कषायों का भंद उदय
होने पर भोगों की आकांक्षारूप निदानबंध आदिरूप भाव करके दान पूजादि से परिणमन
करता है तब वह पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है । ऐसा पूर्व में संक्षेप से सूचित किया
था । ‘जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि । णादं होदि विसेसंतरं तु’ इत्यादि चार
गाथाओं के द्वारा ज्ञानी जीव का स्वरूप संक्षेप से सूचित किया था । वह ज्ञानी जीव
शुद्धोपयोग भाव से परिणत हुआ अभेदरत्नत्रयलक्षण भेदज्ञान से जब परिणमन करता है
तब निश्चय चारित्र के बिना न होने वाला ऐसा वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर संवर, निर्जरा

त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वं । निश्चयसम्यक्त्वस्थाभावे यदा तु सराग-
सम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परंपरया निर्वाणकारणस्य तीर्थकर-
प्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथंचित्परिणा-
मित्वे सति भवतीति तत्कथंचित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थं
पूर्वमेव संक्षेपेण निरूपितं । पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितं ।
तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां
संक्षेपेणसूचनार्थं संक्षेपव्याख्यानं कृतं । इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन
व्याख्यानं क्रियते । न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति । किमर्थमिति चेत् ? तेषामेव पुण्य-
पापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थमिति । तत्र जो संगं तु मुइत्ता इत्यादिगाथामादि कृत्वा

और मोक्ष इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है । ऐसा भी पहले संक्षेप से निरूपित किया
था । जब यह जीव निश्चय सम्यक्त्व के अभाव में सरागसम्यक्त्व से परिणमन करता है
तब शुद्धात्मा को उपादेय करके परम्परा से निर्वाण के लिये कारण ऐसे तीर्थकर प्रकृति
आदि पुण्य पदार्थ का भी कर्ता हो जाता है ऐसा भी पहले कहा था । वह सब कथन जीव
और पुद्गल को कथंचित् परिणामी मानने पर ही घटित होता है । इस प्रकार वह
कथंचित् परिणामीपना भी पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों के संक्षेप से सूचित करने के लिये
पहले ही संक्षेप से निरूपित किया गया था । पुनः जीव और पुद्गल के परिणामी के
व्याख्यान काल में उसी को ही विशेषरूप से कहा था । वहाँ पर इस तरह कथंचित् जीव-
पुद्गल के परिणमन शील सिद्ध हो जाने पर अज्ञानी और ज्ञानी जीव जो कि गुणी हैं इन
दोनों जीवों के पुण्यपाप आदि सात पदार्थों के होने की संक्षेपरूप से सूचना देने के लिये
ही संक्षेप से व्याख्यान किया था । अब यहाँ पुनः अज्ञानमयगुण और ज्ञानमयगुण की
मुख्यता से व्याख्यान करेंगे किन्तु जीव और अजीव रूप गुणी द्रव्य की मुख्यता से नहीं
करेंगे । ऐसा क्यों ? क्योंकि उन्हीं पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों को संक्षेप से सूचित करने
के लिये ही ऐसा कहेंगे ।

उनमें 'जो संगं तु मुइत्ता' इत्यादि गाथा को आदि में लेकर पाठक्रम से नव गाथा
पर्यंत व्याख्यान करेंगे । उनमें भी पहले तो तीन गाथायें ज्ञानभाव की मुख्यता से हैं, पुनः
ज्ञानी जीव के ज्ञानमय भाव होते हैं और अज्ञानी जीव के अज्ञानमय भाव होते हैं, इस

पाठक्रमेण गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनंतरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठांतराधिकारे समुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति—

(१३१ ज०) जो संगं तु मुक्त्वा जाणदि उवओगमप्पगं शुद्धं ।
तं निस्संगं साधुं परमट्ठवियाणया विदि ॥

यः संगं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमयकं शुद्धं ।

तं निस्संगं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥

कथन की मुख्यता से छह गाथायें हैं । इस प्रकार यह छठे अंतराधिकार की समुदाय-पातनिका कही गई है ।

(ये तीन गाथायें अमृतचंद्रसूरि ने नहीं ली हैं)

उत्थानिका—अब जीव के कथंचित् परिणामी सिद्ध हो जाने पर ज्ञानी जीव ज्ञानमय भावों का ही कर्ता होता है ऐसा अभिप्राय मन में धारण कर आगे तीन सूत्रों को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः संगं तु मुक्त्वा उपयोगं आत्मकं शुद्धं जानाति) जो परिग्रह को छोड़कर उपयोगमय शुद्ध आत्मा को जानते हैं (परमार्थविज्ञायकाः तं निःसंगं साधुं विदंति) परमार्थ के ज्ञाता गणधर आदि उन्हें निष्परिग्रही साधु कहते हैं ।

(१३१ ज०) जो साधु बाह्य आभ्यंतर का सम्पूर्ण परिग्रह तजते हैं ।

शुद्धोपयोगमय आत्मा का नित अनुभव करते रहते हैं ॥

परमार्थविज्ञ गणधर देवादिक उनको ही निःसंग कहें ।

वे ही श्रेणी पर चढ़ करके परमात्म अवस्था शीघ्र लहें ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो संगं तु मुहत्ता जाणवि उवओम मप्पगं सुद्धं यः परमसाधुर्बाह्या-
भ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचारित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कं कर्मतापन्नं
आत्मानं । कथंभूतं । विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोग-
लक्षणं । पुनरपि कथंभूतं । शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । तं निस्संगं साहुं परम-
दृढवियाणया विति तं साधुं निस्संगं संगरहितं विदंति जानंति ब्रुवंति कथयंति वा । के ते,
परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ॥१३१॥

(१३२ ज०) जो मोहं तु मुहत्ता णाणसहावाधियं मुणवि आदं ।

तं जिदमोहं साहुं परमदृढवियाणया विति ॥

तात्पर्यवृत्ति—जो परम साधु बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर वीतराग
चारित्र से अविनाभावी ऐसे भेदज्ञान से अपनी आत्मा को जानते हैं—अनुभव करते हैं ।
कौसी आत्मा का ? जो आत्मा विशुद्धज्ञान दर्शन उपयोग स्वभाव वाली होने से उपयोगमय
है—ज्ञानदर्शन उपयोगलक्षणरूप है और शुद्ध है—भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित
है ऐसी शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें परमार्थ के ज्ञाता गणधर देव आदि महामुनि
निःसंग—परिग्रह रहित साधु जानते हैं अथवा कहते हैं ॥१३१॥

भावार्थ—जो महासाधु सर्व परिग्रह रहित होकर जिनकल्पी हो जाते हैं पुनः
एकांत में पर्यंत, गुफा में या छोटी पर बैठकर अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करते हुये शुद्धो-
पयोगी हो जाते हैं वे ही निःसंग साधु कहलाते हैं ऐसा श्रीगणधरदेव आदि महामुनियों
का कथन है ।

अन्वयार्थ—(यः मोहं तु मुक्त्वा आत्मानं ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते) जो मोह को
छोड़कर आत्मा को ज्ञानस्वभाव से परिपूर्ण मानते हैं (परमार्थविज्ञायकाः तं साधुं जिदमोहं
विदंति) परमार्थ के ज्ञाता महामुनि उन साधु को जिदमोह कहते हैं ।

यः मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानं ।

तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो मोहं तु मुइत्ता पाणसहावाधियं मुणदि आदं यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहं मुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रय-परिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते ज्ञातिः । कं कर्मतापन्नं, आत्मानं । किं विशिष्टं ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णं । तं जितमोहं साधुं परमदृढ-वियाणया विति तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विदन्ति जानन्ति । के ते ? परमार्थ-विज्ञायकास्तीर्थकरपरमदेवादय इति । एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभ-कर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुघ्राणिजिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशति-सूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिःपरिणतेर्विलक्षणा असंख्येयलो-कमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्याः ॥१३२॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो परमसाधु संपूर्ण चेतन-अचेतनरूप शुभ-अशुभ परद्रव्यों में मोह को छोड़कर अपनी आत्मा के शुभ-अशुभ मन वचन काय के व्यापाररूप तीनों योगों के परिहार से परिणत अभेदरत्नत्रयलक्षणस्वरूप भेदज्ञान के द्वारा निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से अधिक—परिणत या परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानते हैं—जानते हैं उन्हें परमार्थ के ज्ञाता तीर्थकर परमदेव आदि निर्मोह साधु कहते हैं अथवा जानते हैं । इसी प्रकार से गाथा में मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, बुद्धि, कर्मों का उदय, शुभ-अशुभ परिणाम, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन नाम वाले बीस सूत्रों का भी व्याख्यान करना चाहिये । पुनः इसी प्रकार से निर्मल परम चैतन्य ज्योति की परिणति से विलक्षण असंख्यात लोकमात्र विभाव परिणामों को जानना चाहिये ॥१३२॥

(१३२ ज०) जो मोहकर्म पर विजय प्राप्त कर निर्मोही बन जाते हैं ।

बस ज्ञानस्वभावी आत्मा को ही अपना ध्येय बनाते हैं ॥

उस मोहरहित मुनिवर को ही आगम के ज्ञाता गुरु कहते ।

यह ही है जितमोही साधू नहि श्रावक यह पद पा सकते ॥

(उत्थानिका)—अथ—

(१३३ ज०) जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।

तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विति ॥

यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमयकं शुद्धं ।

तं धर्मसंगमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

तात्पर्यवृत्तिः—जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमयोगीन्द्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसंगं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेद-रत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कं कर्मतापन्नं । आत्मानं । कथंभूतं, विशुद्धज्ञान-दर्शनोपयोगपरिणतं । पुनरपि कथंभूतं । शुद्धं शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितं । तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विति । तं परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलम्भरूपनिश्चयधर्म-विलक्षणयोग्याकांक्षारहितनिदानब्रह्मादिपुण्यपरिग्रहजन्यव्यवहारधर्मरहितं विदन्ति जानन्ति । के

उत्थानिका—उसी को और कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः धर्मं तु मुक्त्वा शुद्धं उपयोगं आत्मकं जानाति) जो धर्म को छोड़-कर शुद्ध उपयोगमय आत्मा को जानते हैं (परमार्थविज्ञायकाः तं धर्मसंगमुक्तं विदन्ति) परमार्थ के जानने वाले उन्हें धर्म के परिग्रह से रहित जानते हैं या कहते हैं ।

तात्पर्यवृत्ति—जो परम योगीन्द्र स्वसंवेदनज्ञान में स्थित होकर शुभोपयोग परिणामरूप धर्म-पुण्य के परिग्रह को छोड़कर निज शुद्धात्मा से परिणत अभेद रत्नत्रयलक्षण अभेदज्ञान के द्वारा अथवा भेदज्ञान के द्वारा शुद्ध-शुभ-अशुभ संकल्प विकल्प से रहित, विशुद्धज्ञान दर्शन उपयोग से परिणत आत्मा को जानते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं । परमार्थ के ज्ञाता, प्रत्यक्षज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी भगवान् उन्हें धर्मपरिग्रह से रहित परम तपोधन जानते हैं । वह धर्म परिग्रह से रहित अवस्था क्या है ? निर्विकार स्वरूप

(१३३ ज०) व्यवहारिक धर्म छोड़ करके जो निश्चय धर्म को ध्याते हैं ।

शुद्धात्म ज्ञान दर्शन स्वरूप उपयोगी आत्मा पाते हैं ॥

परमार्थज्ञानधारी गणधर उनकी सद्धर्मगुरु कहते ।

जो धर्म परिग्रह से विरहित निज पद में ही रमते रहते ॥

ते ? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति । किं च, कथंचित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धो-
पयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं साधयति परिणामित्वाभावे बद्धो बद्ध एव शुद्धोपयोगरूपं
परिणामांतरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः । एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमय-
परिणामगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१३३॥

तथाहि—

(१३४ ज०) जं कुणवि भावमादा कत्ता सो होवि तस्स कम्मस्स ।

णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६अ०॥

अपनी शुद्ध आत्मा की उपलब्धिरूप निश्चय धर्म से विलक्षण जो भोगों की आकांक्षा
स्वरूप निदान बंध आदि पुण्यरूप परिग्रह है वह व्यवहार धर्म है उस धर्म से रहित और
निश्चय धर्म से परिणत अवस्था ही धर्म-पुण्य परिग्रह से रहित अवस्था है । अभिप्राय यह
हुआ कि जीव को कथंचित् परिणामी मानने पर ही यह जीव जब शुद्धोपयोग से परिणत
होता है तभी मोक्ष को सिद्ध कर लेता है और यदि जीव को परिणमनशील नहीं माना
जाये तो पुनः यह कर्मों से बंधा है तो बंधा ही रहेगा वह कदाचित् भी शुद्धोपयोगरूप
परिणाम से—एक भिन्न परिणामरूप परिणमन नहीं कर सकेगा, तब तो मोक्ष का ही
अभाव हो जावेगा । इस प्रकार से शुद्धोपयोगरूप ज्ञानमय परिणाम गुण के व्याख्यान की
मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥१३३॥

भावार्थ—इन तीन गाथाओं को श्रीअमृतचंद्रसूरि ने नहीं लिया है अतः उन्होंने
इनकी आत्मख्याति टीका नहीं की है । किन्तु श्रीजयसेनाचार्य ने इन्हें श्रीकुंदकुंददेव की
ही मानकर इनकी तात्पर्यवृत्ति टीका की है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—यह जीव अपने भावों का ही करता है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(आत्मा यं भावं करोति सः तस्य कर्मणः कर्ता भवति) यह आत्मा अपने
जिस भाव को करता है वह उस भावरूप कर्म का कर्ता होता है । अतः (ज्ञानिनः सः

(१३४ ज०) आत्मा जो भाव करे जिस क्षण उसका ही कर्ता होता है ।

जो भाव जिस समय नहीं करे उसका नहि कर्ता होता है ॥

ज्ञानी के ज्ञानभाव माना जो निश्चयरत्नत्रयमय है ।

अज्ञानी के अज्ञानभाव होता रागादिभाव मय है ॥१२६ अ०॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।

ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

आत्मख्यातिः—एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वनापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ॥१२६॥

(उत्थानिका)—तदनंतरं यथा ज्ञानमयाऽज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति—

तात्पर्यवृत्तिः—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होधि तस्स भावस्स यं भावं परिणमं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति णाणिस्स स णाणमओ स च भावोऽनंतज्ञानादि-चतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसार-

ज्ञानमयः अज्ञानिनः अज्ञानमयः) ज्ञानी का वह भाव ज्ञानमय है और अज्ञानी का भाव अज्ञानमय है ।

आत्मख्याति—इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से यह आत्मा स्वयं ही आप परिणमन-स्वभाववाला होते हुये भी अपनी आत्मा के जिस भाव को करता है अथवा जिन भावों को अपने करता है वह उसी भाव को कर्मरूप से प्राप्त कराता हुआ उस भाव का कर्ता हो जाता है । वह भाव ज्ञानी पुरुष का ज्ञानमय ही है क्योंकि उसको सम्यक्—अच्छी तरह से स्वपर का भेदज्ञान हो गया है अतः उस भेदज्ञान से अत्यंत-परिपूर्ण और अन्य द्रव्यों से भिन्न आत्मख्याति उदय को प्राप्त हो जाती है । और अज्ञानी जनों को सम्यक्—अच्छी तरह से स्वपर का भेदज्ञान न होने से उस अज्ञानी के परद्रव्यों से भिन्न आत्मा की ख्याति या प्रतीति अत्यंत रूप से अस्त को प्राप्त हो रही है अतः उस अज्ञानी का वह भाव अज्ञानमय ही है ऐसा समझना ॥१२६॥

उत्थानिका—अब यह जीव जिस प्रकार से इन ज्ञानमय और अज्ञानमय रूप दोनों भावों का कर्ता होता है उसी प्रकार को कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यह आत्मा जिन भावों को—परिणामों को करता है वह उसी भाव का ही कर्ता हो जाता है और वह भाव अनंतज्ञान आदि अनंत चतुष्टय लक्षण कार्य समय-

लक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारंभापरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसंवित्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति अण्णाणमओ अणाणिस्स अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः ॥१३४॥

सार को उत्पन्न करने वाला होने से निर्विकल्प समाधि रूप परिणाम से परिणत कारणसमय-सार लक्षण भेदज्ञान के द्वारा सर्व आरम्भ से परिणत नहीं होता है अतः वह ज्ञानी जीव के शुद्धात्मा की ख्यातिरूप है, प्रतीतिरूप है, संवित्ति रूप है, उपलब्धिरूप है और अनुभूति-रूप है इस हेतु से वह भाव ज्ञानमय ही है । पुनः अज्ञानी के पूर्वोक्त भेदज्ञान का अभाव होने से शुद्ध आत्मा की अनुभूति का अभाव है अतः उस अज्ञानी जीव का वह भाव अज्ञान-मय ही होता है ऐसा समझना ॥१३४॥

भावार्थ—यहाँ ज्ञानी शब्द से निर्विकल्पध्यान में स्थित महामुनि को ही लिया है और उनके ही अत्यंतरूप से अर्थात् पूर्णरूप से भेदज्ञान की प्रगटता मानी है । श्रीअमृत-चन्द्रसूरि ने आत्मख्याति के विशेषण में अत्यंत उद्भित, विविधित शब्द कहें हैं जो कि पूर्ण भेदज्ञान को द्योतित करता है । श्री जयसेनाचार्य ने इसे ही निर्विकल्प समाधि शब्द से कह दिया है अतः यहाँ चतुर्थ गुणस्थान में शुद्धात्मा की ख्याति, प्रतीति, संवित्ति, उपलब्धि और अनुभूति नहीं मानी है ऐसा अर्थ समझना चूँकि यह शुद्धात्मा की उपलब्धि सातवें गुण-स्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है ऐसा ही अभिप्राय दोनों टीकाकार आचार्यों का प्रगट हो रहा है । यहाँ यह समझना विशेष है कि पहले आचार्यदेव ने यह कहा है कि जीव कर्मों का कर्ता नहीं है । योग और उपयोग कर्ता हैं । सामान्य प्रत्यय—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रत्यय कर्मों का बंध कराने वाले हैं । इनके विशेष भेदरूप तेरह गुणस्थान कर्मों के कर्ता हैं । यहाँ एकांत का खंडन करते हुये पुनः कह रहे हैं कि जीव जिस भाव को करता है उसी का कर्ता होता है चाहे ज्ञानमय भाव हो या अज्ञानमय । अतः एकांत दुराग्रही न बनकर नयों की अपेक्षा समयसार को समझना चाहिये ।

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह —

(१३५ ज०) अण्णामओ भावो अण्णणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।

णामओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥१२७अ०॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।

ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

आत्मख्यातिः—अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्याति-
त्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिन्सु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः
पराध्यां रागद्वेषाभ्यां तस्मैऽभिभूय अहंकारः स्वयं किलैषोहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च
तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपर-

उत्थानिका—ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है ?
इसे कहते हैं—

अन्वयार्थः—(अज्ञानिनः अज्ञानमयः भावः तेन कर्माणि करोति) अज्ञानी का अज्ञान-
मय भाव है उससे कर्मों को करता है (तु ज्ञानिनः ज्ञानमयः तस्मात् तु कर्माणि न करोति)
और ज्ञानी का ज्ञानमय भाव है वह उससे कर्मों को नहीं करता है ।

आत्मख्याति—अज्ञानी जीव के निश्चय से सम्यक् प्रकार से स्व और पर के भेद-
ज्ञान का अभाव है, इससे उसकी परद्रव्य से भिन्न ऐसी जो आत्मा की प्रतीति है वह अत्यंत
अस्त हो चुकी है अतः इस निमित्त से उसके अज्ञानमय ही भाव होता है । उस अज्ञानमय
भाव के होने पर स्व और पर में एकत्व का अध्यास-आरोप होने से यह आत्मा अपने ज्ञान-
मात्र से भ्रष्ट होता हुआ पर जो राग द्वेष उनके साथ एकरूप होकर अहंकार में प्रवृत्त
होता है तब यह स्वयं ही निश्चय से 'यह मैं राग करता हूँ, रोष अथवा द्वेष करता हूँ' इस
प्रकार राग करता है और द्वेष करता है इसलिये यह अज्ञानमय भाव से अज्ञानी होता हुआ
अपने से भिन्न रागद्वेष को ही अपने आत्मा के करते हुये कर्मों का कर्ता होता है । ज्ञानी के

(१३५ ज०) अज्ञानमयी जो जीव रागद्वेषादि भाव को करता है ।

वह नित्य कर्म का बंध करे नहि कभी अवंधक रहता है ॥

लेकिन ज्ञानी वैरागी मुनि जो निर्विकल्प बन जाते हैं ।

वे किसी कर्म के कर्ता नहि निजमें परिणत हो जाते हैं ॥१२७ अ०॥

विवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपर-योर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराध्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत् एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुध्यति तस्माद् ज्ञानमयभावाद् ज्ञानी परो रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्त करोति कर्माणि ॥१२७॥

आर्या छंदः—ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।

अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

तो सम्यक् प्रकार से स्व और पर का विवेक भेदज्ञान होने से अत्यंत उदय को प्राप्त हुई ऐसी परद्रव्यों से भिन्न जो आत्मा की प्रतीति है उसके कारण इस आत्मा के ज्ञानमय भाव ही होता है और उस ज्ञानमय भाव के होने पर स्व पर में भिन्न-भिन्न का विज्ञान होने से यह ज्ञानमात्र अपनी आत्मा में अच्छी तरह स्थित हो जाता है तब यह अपने से पर-भिन्न राग-द्वेषों से पृथग्भूत होने से अपने रस से ही—स्वभाव से ही अहंकार से दूर हो जाता है पुनः यह स्वयं ही निश्चय से केवल जानता ही है, न राग करता है और न द्वेष ही करता है इस-लिये ज्ञानमय भाव से ज्ञानी हुआ यह आत्मा अपने से भिन्न ऐसे राग-द्वेष भावों को ही अपनी आत्मा के न करता हुआ कर्मों का कर्ता नहीं होता है ॥१२७॥

इसी को कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—ज्ञानी का भाव ज्ञानमय ही होता है पुनः अन्य क्यों नहीं होता है ? ऐसे ही अज्ञानी जीव के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं, अन्य नहीं होते ऐसा क्यों ? यह प्रश्न-रूप काव्य है ॥६६॥

जो कि अगली गाथाओं के लिये उत्थानिकारूप है आगे दो गाथाओं में इसी का उत्तर देंगे ।

अब यहाँ श्री जयसेनाचार्य की टीका में सरल शब्दों द्वारा ग्रंथकर्ता का अभिप्राय देखिये—

पदरि छन्द (मात्रिक)—क्यों ज्ञानी ज्ञान स्वभाव लहे, पर अन्य भाव क्यों नहीं गहे ।

अज्ञानी क्यों अज्ञान रहे, क्यों अन्य भाव को नहीं लहे ॥६६॥

(उत्थानिका)—अथ किं ज्ञानमयभावात्फलं भवति किमज्ञानमयाद्भूवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

तात्पर्यवृत्तिः—अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणवि सेण कम्माणि स्वोपलब्धिभावना-
विलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते । कस्मात् । यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्य-
ज्ञानी जीवः । णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्पा दु कम्माणि ज्ञानिनस्तु निर्विकार-
चिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीवः कर्माणि न
करोतीति । किं च, यथा स्तोकोप्यग्निः तृणकाष्ठराशिं महान्तमपि क्षणमात्रेण दहति तथा
त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरन्तर्मुहूर्तेनापि बहुभवसंचितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा
सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥१३५॥

उत्थानिका—अब ज्ञानमय भाव से क्या फल होता है और अज्ञानमय भाव से क्या फल होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—अपनी आत्मा की उपलब्धि की भावना से विलक्षण होने से अज्ञान-
मय भाव कहा जाता है । क्यों ? क्योंकि उस भाव से—परिणाम से यह अज्ञानी जीव
कर्मों को करता है । और ज्ञानी के निर्विकार चैतन्य चमत्कार की भावना के वश से ज्ञान-
मय भाव होता है उस ज्ञानमय भाव से यह ज्ञानी जीव कर्मों को नहीं करता है । इसी को
कहते हैं—कि जैसे थोड़ी सी भी अग्नि अर्थात् अग्नि का एक कण भी बहुत बड़े भी तृण
और काष्ठ की राशि को क्षणमात्र में जला देता है वैसे ही तीन गुप्तिरूप समाधि लक्षण जो
भेदज्ञानरूपी अग्नि है वह अन्तर्मुहूर्त में भी बहुत भवों में संचित कर्मराशि को जला देती है
ऐसा जानकर सर्वतात्पर्य से—सर्व प्रयत्न से उसी परमसमाधि में ही स्थित होने की भावना
करनी चाहिये ऐसा अभिप्राय है ॥१३५॥

भावार्थ—यहाँ ज्ञानमय भाव को तीन गुप्ति से सहित निर्विकल्पध्यानी मुनि के
शुद्धोपयोग की स्थिति में माना गया है । उसके पूर्व अज्ञानमय भाव है । वह अज्ञानमय
भाव मिथ्यात्व गुणस्थान से मिथ्य गुणस्थान तक बहिरात्मा का भाव है पुनः आगे चतुर्थ,
पंचम और छठे गुणस्थान में सम्यक्त्व सहित होने से श्रद्धानरूप है अतः आत्मा के निर्विकल्प
ध्यान से व्युत्पन्न होने से ही कथंचित् अज्ञानमय है । वास्तव में सिद्धान्त की दृष्टि से विचार

(१३६ ज०) ज्ञानमया भावाओ ज्ञानमओ चैव जायदे भावो ।

जम्हा तम्हा ज्ञानिस्स सव्वे भावा हु ज्ञानमया ॥१२८अ०॥

(१३७ ज०) अज्ञानमया भावा अज्ञानो चैव जायए भावो ।

जम्हा तम्हा भावा अज्ञानमया अज्ञानिस्स ॥१२९अ०॥ (युग्मम्)

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।

यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१२८॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।

यस्मात्तस्माद्भावादज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१२९॥

करके देखा जाये तो यह अज्ञानमय भाव कर्मों को बंध कराने की दृष्टि से दशवें गुणस्थान तक भी माना जाता है और आगे ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान का ही ज्ञानमय भाव कर्मों का अकर्ता होता है ।

इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्मात् ज्ञानमयात् भावात् च ज्ञानमयः भावः एव जायते) जिस हेतु से ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होता है (तस्मात् ज्ञानिनः खलु सर्वे भावाः ज्ञानमयाः) उसी हेतु से ज्ञानी के सभी भाव निश्चय से ज्ञानमय ही होते हैं । (यस्मात् अज्ञानमयात् भावात् च अज्ञानः एव भावः जायते) जिस हेतु से अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव होता है (तस्मात् अज्ञानिनः अज्ञानमयाः भावाः) उसी हेतु से अज्ञानी के अज्ञानमय भाव ही होते हैं ।

(१३६ ज०) ज्ञानी के तो ज्ञानादिभाव ही नित्य उपजते रहते हैं ।

बस ज्ञान ज्ञान में लीन सदा वह ज्ञान गंग में बहते हैं ॥

इस कारण ज्ञानी के समस्त परिणाम ज्ञानमय होते हैं ।

जो निश्चय रत्नत्रय में ही उत्कृष्ट ध्यान में होते हैं ॥१२८ अ०॥

(१३७ ज०) यूं ही अज्ञानी प्राणी के अज्ञानभाव ही होते हैं ।

रागीद्वेषी परिणामों से परिणाम न निर्मल होते हैं ॥

अज्ञानी के इसलिए सतत अज्ञानभाव ही माना है ।

पर में ही कर्ता बुद्धि लिए निज को किंचित् नहि जाना है ॥१२९ अ०॥

आत्मख्यातिः—यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोप्यज्ञानमयत्वमन-
तिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्व एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः । यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः
कश्चनापि भावो भवति स सर्वोपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात् ततः सब एव ज्ञान-
मया ज्ञानिनो भावाः ॥१२८॥१२९॥

अनुष्टुप्—ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।

सर्वोप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

(उत्थानिका)—अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमय-
स्तर्थाज्ञानमय एव भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमयः । किमर्थमिति चेत् ।

तात्पर्यवृत्तिः—ज्ञानमया भावाओ ज्ञानमयो चैव जायते भावो जह्या ज्ञानमयाद्
भावाद् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थाद् ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो

आत्मख्याति—जिस हेतु से निश्चय से अज्ञानमय भाव से जो कुछ भी भाव होते हैं
वे सभी अज्ञानमय अवस्था को उलंघन न कर सकने से अज्ञानमय ही होते हैं इसलिये
अज्ञानी जीवों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं और जिस ज्ञानमय भाव से जो कोई भी
भाव होते हैं वे सभी ज्ञानमय अवस्था का उलंघन न कर सकने से ज्ञानमय ही होते हैं अतः
ज्ञानी जीव के सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं ॥१२८-१२९॥

इसी को कलशकाव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान से बने हुये होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव
अज्ञान से ही बने हुये होते हैं ऐसा समझना ॥६७॥

उत्थानिका—ज्ञानी जीव के ज्ञानमय ही भाव होते हैं न कि अज्ञानमय, वैसे ही
अज्ञानी जीव के अज्ञानमय ही भाव होते हैं न कि ज्ञानमय । ऐसा क्यों ? सो ही कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—ज्ञानमय भाव से अर्थात् निश्चय रत्नत्रय स्वरूप जीव-पदार्थ से ज्ञान-
मय ही भाव उत्पन्न होता है और वह स्वशुद्ध आत्मा की प्राप्तिलक्षण मोक्षपर्याय है ।

पङ्क्ति छन्द (मात्रिक)—ज्ञानी के जो भी भाव कहे, वे ज्ञानहि से निष्पन्न हुए ।

अज्ञानी के सब भाव भये, अज्ञानहि से सब रचे गये ॥६७॥

मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् तस्या णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया तस्मात्कारणात्स्व-
संवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणामा ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवन्ति ।
तदपि कस्मात्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात् । न हि यवनालबीजे वपिते
राजान्नशालिफलं भवतीति । तथैव च—अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो
अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात् तस्या
सव्वे भावा अण्णाणमया अण्णाणिस्स यतः एव तस्मात्कारणात्सर्वे भावाः परिणामा अज्ञानमया
मिथ्यात्वरगादिरूपा भवन्ति । कस्य, अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जी-
वस्येति ॥१३६-१३७॥

जिस कारण से यह ज्ञानमय भावरूप मोक्षपर्याय प्रगट होती है उसी कारण से स्वसंवेदन
लक्षण भेदज्ञानी जीव के सभी भाव-परिणाम ज्ञानमय होते हैं क्योंकि वे ज्ञान से ही उत्पन्न
होते हैं । ऐसा भी क्यों ? क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा वचन
है । देखो, जी के बीजों को बोने पर बासमती चावल पैदा नहीं हो सकता है । उसी प्रकार
अज्ञानमय भाव से-जीवपदार्थ से अज्ञानमय ही भाव या पर्याय उत्पन्न होते हैं । जिस कारण
से ऐसी व्यवस्था है उसी कारण से मिथ्यात्व, रागादि रूप सभी भाव-परिणाम अज्ञानमय
ही होते हैं । ये भाव अज्ञानी जीव के अर्थात् शुद्धात्मा की उपलब्धि से रहित मिथ्यादृष्टि
जीव के माने गये हैं ॥१३६-१३७॥

भावार्थ—यहाँ मिथ्यादृष्टि के भाव मिथ्यात्व से सहित होने से सर्वथा अज्ञानरूप-
मिथ्याज्ञानरूप होते हैं । आगे सम्यग्दृष्टि के चतुर्थगुणस्थान में जो भाव होते हैं वे शुद्धात्मा
की उपलब्धि से रहित होने से कथंचित् अज्ञानमय हैं । पुनः श्रेणी में स्थित निर्विकल्प ध्यानी
महासाधु के भाव कथंचित् ज्ञानमय हैं चूंकि वहाँ शुद्धात्मा की अनुभूति हो रही है किन्तु
जयसेनाचार्य के शब्दों में तो शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष पर्याय है—सिद्ध अवस्था है,
पूर्णरूप से ज्ञानमय भाव वहीं होते हैं क्योंकि वहाँ पर केवल ज्ञानरूप अनंतज्ञान प्रगट होकर
पूर्ण हो चुका है ।

अर्थतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते—

(१३८ ज०) कणयमया भावादो जायंते कुण्डलादयो भावाः ।

अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३० अ०॥

(१३९ ज०) अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविधा वि जायंते ।

णाणिस्स दु णाणमया सब्बे भावा तहा होति ॥१३१ अ०॥ (युग्मम्)

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।

अयोमयकाद्भावाच्च जायते तु कटकादयः ॥१३०॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।

ज्ञानिनस्तु ज्ञानमया सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥१३१॥

उत्थानिका—अब इसी अर्थ का दृष्टान्त से समर्थन करते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा कनकमयात् भावात् कुंडलादयः भावाः जायंते) जैसे सुवर्णमय भाव-पदार्थ से कुंडल, कंकण आदि भाव-पर्यायें होती हैं (तु अयोमयात् भावात् कटकादयः जायंते) और लोहमय भाव-पदार्थ से लोहमयी कड़े आदि होते हैं । (तथा अज्ञानिनः अज्ञानमयात् भावात् बहुविधा अपि जायंते) वैसे ही अज्ञानी के अज्ञानमय भाव से बहुत प्रकार के भी अज्ञानमय भाव होते हैं (तु ज्ञानिनः सर्वे भावाः ज्ञानमयाः भवन्ति) और ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय होते हैं ।

(१३८ ज०) जैसे सोने के पासे से स्वर्णाभूषण बन जाते हैं ।

लोहे की धातु से लोहे के बर्तनादि बन जाते हैं ॥

नहि स्वर्ण से लोहमयी वस्तु को प्राप्त कभी कर सकते हैं ।

लोहे से स्वर्णाभूषण नहि त्रैकाल में भी बन सकते हैं ॥१३० अ०॥

(१३९ ज०) इस विधि से अज्ञानी प्राणी अज्ञानभाव को ही करता ।

अज्ञान भाव को बना बना नाना पर्यायों को धरता ॥

ज्ञानी आत्मा तो ज्ञानभावमय वीतराग बन जाता है ।

वह ज्ञान ध्यान में परिणत हो कैवल्यज्ञान बन जाता है ॥१३१ अ०॥

आत्मख्याति—यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वा-
त्कार्याणां जंबूनदमयाद्भावाज्जंबूनदजातिमनतिवर्तमानाकुंजजंबूनदकुंडलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः
कालायसवलयादयः । कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय
एव भवेयुर्न पुनर्जंबूनदकुंडलादयः । तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधा-
यित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया
एव भावा भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयाः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे
ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ॥१३०॥१३१॥

अनुष्टुप्—अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकां ।

द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुतां ॥६८॥

आत्मख्याति—जैसे निश्चय से पुद्गलद्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाववाला है तो भी
कारण के अनुसार ही कार्य होते हैं ऐसा नियम होने से सुवर्णमय भाव से—पदार्थ से सुवर्ण
जाति का उलंघन न कर सकने से सुवर्णमय ही कुंडल, कंकण, अंगूठी आदि भाव-पर्यायें
उत्पन्न होती हैं, किन्तु उस सुवर्ण से लोहमयी कड़े आदि नहीं बन जाते हैं । तथा लोहमय
भाव से अर्थात् लोहेरूप पदार्थ से लोहा जाति का उलंघन न कर सकने से लोहेरूप ही कड़े
आदि या तथा आदि वस्तुयें होती हैं किन्तु इस लोहे से सुवर्णमय कुंडल आदि नहीं बन
जाते हैं । वैसे ही जीव का स्वयं ही परिणमन स्वभाव है तो भी कारण के अनुरूप ही कार्य
होते हैं ऐसा नियम होने से अज्ञानी जीव के स्वयं अज्ञानमय भाव होने से अज्ञान जाति का
उलंघन न कर सकने के कारण विविध प्रकार के भी अज्ञानमय ही भाव होते हैं न कि
ज्ञानमय, तथा ज्ञानी जीव के स्वयं ज्ञानमय भाव से ज्ञान जाति का उलंघन न कर सकने से
सभी ज्ञानमय ही भाव होते हैं न कि अज्ञानमय, ऐसा समझना ॥१३०-१३१॥

आगे अगली गाथा की सूचना के लिये कलशकाव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यह अज्ञानी आत्मा अपने अज्ञानमय भावों की भूमिका को व्याप्त कर
आगे के लिये द्रव्य कर्मों के लिये निमित्तभूत ऐसे अज्ञानमय भावों का हेतु बन जाता है ।
इसी बात को अगली गाथाओं में दिखायेंगे ॥६८॥

पद्वि छन्द (मात्रिक)—अज्ञानी मिथ्या भाव धरे, अज्ञान भूमिका व्याप्त करे ।

सो द्रव्य कर्म हि निमित्त हुए, सब भाव हेतुपन प्राप्त किये ॥६८॥

(उत्थानिका)—अथ तदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदाष्टांताभ्यां समर्थयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—कनकमयाद्वावात्पदार्थात् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति कृत्वा कुंडलादयो भावाः पर्यायाः कनकमया एव भवन्ति । अयोमयाल्लोहमयाद्वावात्पदार्थाद् अयोमया एव भावाः पर्यायाः कटकादयो भवन्ति यथा येन प्रकारणेति दृष्टान्तगाथा गता । अथ दाष्टांतिमाह अण्णाणेति तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टांतिनाज्ञानमयाद्वावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावाः पर्याया बहुविधा मिथ्यास्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायन्ते । तथैव च पूर्वोक्त-जांबूनददृष्टांतिन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमयाः सर्वे भावाः पर्याया भवन्ति । किं च त्रिस्तरः ।

उत्थानिका—अब इसी व्याख्यान का दृष्टान्त और दाष्टांत के द्वारा समर्थन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है ऐसा नियम होने से जैसे कनकमय भाव से—पदार्थ से कुंडल आदि भाव-पर्यायें सुवर्णमय ही होती हैं और लोहमय भाव से—पदार्थ से लोहमय ही भाव-पर्यायें कड़े आदि रूप में होती हैं यह दृष्टान्त गाथा हुई । अब उसी को दाष्टांत में घटाते हैं—उसी प्रकार पूर्वोक्त लोहे के दृष्टान्त द्वारा अज्ञानमय भाव से अर्थात् अज्ञानमय जीवपदार्थ से अज्ञानी जीव के भाव अर्थात् बहुत प्रकार के मिथ्यात्व, रागादिरूप अज्ञानमय पर्यायें ही होती हैं तथा पूर्वोक्त सुवर्ण के दृष्टान्त द्वारा ज्ञानी जीव के सभी भावपर्यायें ज्ञानमय ही होती हैं । इसी का विस्तार करते हैं—वीतराग स्वसंवेदन भेदज्ञानी जीव जिस शुद्धात्मा के भावनारूप परिणाम को करता है वे उसके सभी ही परिणाम ज्ञानमय होते हैं और पुनः वह महासाधु उस ज्ञानमय परिणाम से संसार की स्थिति को घटाकर सौधर्मेन्द्र, लोकांतिकदेव आदि महा ऋद्धिधारी देव होकर दो घड़ी (४८ मिनट) मात्र काल में मति, श्रुत और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानमय भाव को—पर्याय को प्राप्त कर लेता है अनंतर वहाँ पर विमान, परिवार आदि विभूति को जीर्णतृण के समान गिनता हुआ पाँच महाविदेह में से किसी विदेह में जाकर देखता है । क्या देखता है ? वह देखता है कि यह वही समवसरण है और ये वे ही वीतराग सर्वज्ञदेव हैं तथा ये वे ही भेद-अभेद रत्नत्रय की आराधना से परिणत गणधरदेव आदि हैं कि जिन सबका मैंने पहले परमागम में वर्णन सुना था उन्हीं सबको मैं आज यहाँ प्रत्यक्ष में देख रहा हूँ । ऐसा मानकर वह विशेषरूप से धर्म में दृढ़बुद्धि वाला होकर चतुर्थ गुणस्थान के योग्य शुद्धात्मा

वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीवः यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोपि ज्ञानमयो भवति । ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं हित्वा देवै-
 द्रलौकांतिकादिमहद्द्विकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन भतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयभावं पर्यायं
 लभते । ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पंचमहाविदेहे गत्वा
 पश्यति । किं पश्यतीति चेत्, तदिदं सनवत्तरमं तु एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेद-
 रत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्व श्रूयन्ते परमागमे ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति
 मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यां शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरन्तरं
 धर्मध्यानेन देवल्लोके कालं गमयित्वा, पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजाद्धर्ममंडलीकमहामंड-
 लीकबलदेव कामदेवचक्रवर्तितीर्थंकरपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेऽपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूपं

की भावना को नहीं छोड़ते हुये निरन्तर धर्मध्यान के द्वारा देवलोक में काल को व्यतीत करता हुआ रहता है । पश्चात् वहाँ से श्रुत होकर मनुष्य भव में राजा, राजाधिराज, महाराज, अर्धमंडलीक, मंडलीक, महामंडलीक, बलदेव, कामदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर परमदेवाधिदेव के पदों को प्राप्त करके भी पूर्वभव के संस्कार से भावित किये गये शुद्धात्म-रूप भेदभावना के बल से यहाँ भी मोह को प्राप्त नहीं होता है जैसे कि रामचन्द्र, पांडव आदि महापुरुष मोह को प्राप्त न होकर आत्मभावना से संसार का अन्त करने वाले हुये हैं । उसी प्रकार यह भी यहाँ पर जिनदीक्षा को ग्रहण करके सात ऋद्धियों से समन्वित मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञानरूप चार ज्ञानमय भाव को—पर्याय को प्राप्त कर लेता है । इसके बाद समस्त पुण्य-पापरूप परिणामों को छोड़कर अभेदरत्नत्रय लक्षण द्वितीय शुक्लध्यानरूप विशिष्ट भेदभावना के बल से अपनी आत्मा की भावना से उत्पन्न हुये सुखरूपी अमृतरस से तृप्त होकर सम्पूर्ण अतिशयों से परिपूर्ण तीन लोक के इंद्रों से आराध्य परम अचिन्त्य विभूति विशेष ऐसे केवलज्ञानमय भाव को—पर्याय को प्राप्त कर लेता है यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना । तथा इससे विपरीत अज्ञानी जीव तो मिथ्यात्व रागादिमय अज्ञानभावों को करके नर-नारकादिरूप भाव को—पर्यायों को प्राप्त करता रहता है ऐसा यहाँ भावार्थ है ।

इस प्रकार ज्ञानमय और अज्ञानमय भावों के कथन की मुख्यता से छह गाययें पूर्ण हुई हैं । इस पूर्वोक्त प्रकार से पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों की पीठिकारूप से महा

भेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपांडवादिवत् । ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सप्तद्विचतुर्ज्ञान-
मयभावं पर्यायं लभते । तदनंतरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन
द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा
सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचित्यविभूतिविशेषं केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभत
इत्यभिप्रायः । अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरामादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं
पर्यायं लभत इति भावार्थः । एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं । इति
पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथंचित्परिणामित्वे सति
ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति,
व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोत्तराधिकारः समाप्तः ॥१३८-१३९॥

अधिकार में कथंचित् परिणमनशील होने पर ज्ञानी जीव ज्ञानमय भावों का कर्ता होता है
और उसी प्रकार से अज्ञानी जीव अज्ञानमय भावों का कर्ता होता है, इस व्याख्यान की
मुख्यता से नव गाथाओं द्वारा यह छठा अंतराधिकार समाप्त हुआ ॥१३८-१३९॥

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञानमय भाव से होने वाली शुभगतियों का क्रम श्रीजयसेनाचार्य
ने बहुत ही अच्छा घटित किया है । जैसे कि कोई महामुनि अच्छी तरह संयम को पालन
कर अन्त में समाधि से मरणकर सम्यक्त्व व संयम के प्रभाव से सौधर्म, इंद्र लौकांतिक देव
या अन्य कोई महर्द्धिक देव हुये वहाँ पर अवधिज्ञान से यहाँ के सुने हुये शास्त्रानुसार विदेह
क्षेत्र आदि में भगवान् के समवसरण में जाकर साक्षात् उपदेश सुना । चतुर्थगुणस्थान के
योग्य शुद्धात्मतत्त्व की भावना करते हुये देवपर्याय पूर्ण की । यहाँ ध्यान रखना कि शुद्धात्मा
के ध्यानरूप शुद्धोपयोग परिणति देवों के नहीं हो सकती अतः शुद्धभावना कही है । पुनः
वहाँ से आकर तीर्थंकर या चक्रवर्ती आदि होकर दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त कर लिया । इसमें
ज्ञानमय भाव के पाँच भेद किये हैं । कोई मिथ्यादृष्टि जब सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है
तब उसके कुमति, कुश्रुत अज्ञान, मति-श्रुतज्ञान हो गये वही सम्यग्दृष्टि सज्जाति और
सद्गृहस्थ इन परम स्थानों को प्राप्त कर आगे बढ़ा, तृतीय परम स्थान पारिव्राज्य को
प्राप्त कर महामुनि बन गया । पुनः देवगति प्राप्त कर 'सुरेन्द्रता' नाम के परमस्थान को
प्राप्त करके सौधर्म इंद्र आदि पद को प्राप्त कर वहाँ तीन ज्ञान का धारी हो गया । वहाँ
से च्युत हो मनुष्य लोक में चक्रवर्ती पद यदि प्राप्त किया तो 'साम्राज्य' नाम के पाँचवें

(१४० ज०) अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।

मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२ अ०॥

(१४१ ज०) उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।

जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३ अ०॥

(१४२ ज०) तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।

सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४ अ०॥

(१४३ ज०) एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।

परिणमवे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहि ॥१३५ अ०॥

(१४४ ज०) तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।

तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६ अ०॥ (पंचकम्)

परमस्थान को प्राप्त कर लिया । अनन्तर दीक्षा लेकर अवधि और मनःपर्ययज्ञान प्राप्त कर लिया । मति, श्रुत ज्ञान पहले ही थे पुनः उनसे सहित चार ज्ञानधारी हो गया । अनन्तर घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त करके पूर्णज्ञानमय भाव का स्वामी बन गया और 'आर्हन्त्य' परमस्थान नाम के छठे स्थान को प्राप्त कर लिया । अनन्तर अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर अन्त में सप्तम परमस्थान जो कि 'परिनिर्वाण' है उसे प्राप्त कर लिया । इस प्रकार चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि अंशात्मक ज्ञानमय भाव से देशसंयम और संयम से ज्ञान को बढ़ाता हुआ अन्त में केवलज्ञानी बन जाता है तथा क्रम से सात परमस्थान को प्राप्त करके पूर्ण सुखी परमात्मा हो जाता है यहाँ यह क्रम अच्छी तरह से दिखाया है ।

अज्ञानी अज्ञानमय भावों से द्रव्यकर्म को करता है—ऐसा दिखाते हैं—

अन्वयार्थ—(या जीवानां अतत्त्वोपलब्धिः सः अज्ञानस्य उदयः) जो जीवों को अतत्त्व की उपलब्धि है—तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती है वह अज्ञान का उदय है । (तु जीवस्य अश्रद्धानत्वं मिथ्यात्वस्य उदयः) और जो जीव का श्रद्धान नहीं करना है वह मिथ्यात्व का उदय है । (यत्तु जीवानां अविरमणं भवेत् असंयमस्य उदयः) जो जीवों का अविरति भाव है वह असंयम का उदय है (तु यः जीवानां कलुषोपयोगः सः कषायोदयः) और जो

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।

मिथ्यात्वस्य स उदयो जीवस्याश्रद्धान्तर्त्वं ॥१३२॥

उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणं ।

यस्तु क्लृषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥१३३॥

तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।

शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥

जीवों का मलिन उपयोग है वह कषायों का उदय है (तु यः जीवानां शोभनः वा अशोभनः चेष्टोत्साहः कर्तव्यः वा विरतिभावः तं योगोदयं जानीहि) और जो जीवों के शुभ अथवा अशुभरूप मन वचन काय की चेष्टा के उत्साह का करने योग्य अथवा न करने योग्य विरतिभाव है उसे योग का उदय तुम जानो । (एतेषु हेतुमूलेषु यत्तु कर्मणवर्गणागतं ज्ञाना-वरणादि भावैः अष्टविधं परिणमते) इनके हेतुभूत होते पर जो कर्मणवर्गणा रूप से प्राप्त हुआ है वह ज्ञानावरण आदि भावों से आठ प्रकार से परिणमन कर जाता है । (तत् खलु यदा कर्मणवर्गणागतं जीवनिबद्धं तदा तु परिणामभावानां हेतुः जीवः भवति) वह निश्चय से जब कर्मणवर्गणारूप से प्राप्त हुआ कर्मव्रत्य जीव में बँधता है तब वह जीव उन अज्ञान आदि परिणामरूप भावों का हेतु होता है ऐसा समझना ।

(१४० ज०) जीवों को जो अन्यथारूप पर की उपलब्धी होती है ।

उसको अज्ञान उदय जानो नहि जीवकी वह निज परिणति है ॥

एवं जीवात्मा को तत्त्वों में अश्रद्धान जब होता है ।

निज आत्मतत्त्व से बहिर्भूत मिथ्यात्व उदय तब होता है ॥१३२ अ०॥

(१४१ ज०) चारित्रमोहनी कर्म असंयम का जब तक है उदयभाव ।

पापों से विरति नहीं होती कैसे हों उसके विरतभाव ॥

होगा कषाय का उदय जहाँ क्लृषित परिणाम वहीं होंगे ।

जो भाव मलिनता लिए हुए वे संयम के बाधक होंगे ॥१३३ अ०॥

(१४२ ज०) जो जीवों के मनवचनकाय की सदा प्रवृत्ति चलती है ।

चाहे शुभ हो या अशुभ रूप सब में ही योग प्रवृत्ती है ॥

मनवचनकाय की चेष्टा का उत्साह उन्हीं के होता है ।

बस योग निमित्त से ही जीवों के भाव बहुतविध होते हैं ॥१३४ अ०॥

एतेषु हेतुभूतेषु कर्मवर्गणागतं यत्तु ।

परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥

तत्खलु जीवनिबद्धं कर्मवर्गणागतं यदा ।

तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥१३६॥

आत्मख्यातिः—अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः । मिथ्यात्वासंयमकषाय-योगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः । तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः शुभाशुभ-प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः । अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतु-

आत्मख्याति—अतत्त्व की उपलब्धि—विपरीत तत्त्वों के जानने रूप से जो ज्ञान में आस्वाद—अनुभव आता है वह अज्ञान के उदय से आता है । उसके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चार भेद हैं जो कि कर्म के लिये हेतु हैं ये अज्ञानादि से तन्मयरूप हुये ही चार भाव-आस्वाद के कारण हैं । उनमें से जो तत्त्व के अश्रद्धान रूप से ज्ञान में आस्वाद-अनुभव आता है वह मिथ्यात्व का उदय है । जो अविरतिरूप से ज्ञान में आस्वाद या अनुभव आता है वह असंयम का उदय है । जो मलिन उपयोगरूप से ज्ञान में—ज्ञानस्वरूप आत्मा में स्वादरूप अनुभव आता है वह कषायों का उदय है और जो शुभ-अशुभ की प्रवृत्ति निवृत्ति के व्यापाररूप से ज्ञान में स्वादरूप अनुभव होता है वह योग का उदय है । इन पौद्गलिक, मिथ्यात्व आदि चारों का उदय आगामी कर्मबंध में हेतु है उन चारों के हेतुभूत होने पर जो पुद्गलद्रव्य कर्मवर्गणारूप से आते हैं वे ज्ञानावरण आवि भावों के द्वारा आठ

(१४३ ज०) इन सब हेतु के मिलने पर जो कर्मवर्गणा आती है ।

ज्ञानावरणादिक भेदों से वे आठरूप बन जाती हैं ॥

इनसे विरहित कोई निमित्त नहि कर्मवर्गणा ला सकता ।

यह कर्म ही पुद्गलजीव उभय का सम्मेलन करवा सकता ॥१३५ अ०॥

(१४४ ज०) वह कर्मवर्गणागत पुद्गल जब जीव के संग बंध जाता है ।

जल और दूध की भाँति जीव पुद्गल स्वरूप बन जाता है ॥

उस समय हि उन अज्ञान आदि परिणामों का उद्गम होता ।

वास्तव में उन परिणामों का जीवात्मा ही हेतु होता ॥१३६ अ०॥

भूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावेरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ॥१३२॥१३३॥१३४॥१३५॥१३६॥

(उत्थानिका)—अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपंचप्रत्ययरूपेण पंचविधो भवति स चाज्ञानजीवस्य शुद्धात्मवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेना-
जानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बंधकारणं भवतीति सप्तमांतराधिकारे समुदाय-
पातनिका;—

तात्पर्यवृत्तिः—मिथ्यतस्स दु उदयं जं जीवाणं अतच्चसद्गुह्यं मिथ्यात्वस्योदयो
भवति जीवानामनंतज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरपा-
देयबुद्धिः असंजमस्स दु उदयो जं जीवाणं अविरदत्तं असंयमस्य च स उदयो भवति जीवाना-
मात्मसुखसंवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्तनमिति । अथ—अण्णाणस्स दु उदयो

प्रकार से स्थयं ही परिणत हो जाते हैं । यह कर्मवर्गणारूप कर्मद्रव्य नियम से जब जीव में
बंधता है तब जीव स्थयं ही अपने अज्ञान भाव से पर में ओर अपनी आत्मा में एकत्व का
अधारोप होने से अज्ञानमय ऐसे तत्त्वों के अश्रद्धान आदिरूप अपने परिणाम भावों का हेतु-
कारण हो जाता है ॥१३२-१३३-१३४-१३५-१३६॥

उत्थानिका—यह पूर्व में कहा गया अज्ञानमय भाव ही द्रव्य और भावरूप से पांच
प्रत्यय-कारण की अपेक्षा से पांच भेदरूप हो जाता है पुनः 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' ऐसा
जिन्हें श्रद्धान नहीं है और उसी शुद्धात्मा को जो स्वसंवेदन ज्ञान से नहीं जानते हैं तथा
उसी शुद्धात्मा को परमसमाधिरूप से भावना भी नहीं कर रहे हैं ऐसे अज्ञानी जीव के
वह पांच प्रत्ययरूप अज्ञानमय भाव ही बंध का कारण हो जाता है ऐसा कथन करने
रूप से सातवें अंतराधिकार की यह समुदायपातनिका कही गई है—

तात्पर्यवृत्ति—जब इन जीवों के मिथ्यात्व कर्म का उदय होता है तब अनंतज्ञान
आदि चतुष्टयरूप शुद्धात्म तत्त्व जो कि उपादेय है उसे छोड़कर अन्यत्र श्रद्धान—रुचि—
उपादेय बुद्धि हो जाती है और जब असंयम का उदय होता है तब जीवों के आत्मसुख के
संवेदन—अनुभव का अभाव रहता है अतः वे विषय और कषायों से दूर नहीं हो पाते हैं ।

जं जीवाणं अतश्च उदयलक्ष्मी अज्ञानस्थोदयो भवति यत्किं भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ स जीवानां कषायोदयो भवति यः शांतात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति । अथ—तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिदुदयछाहो तं योगोदयं जानीहि त्वं हे शिष्य जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणाः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति । तत्र व्रतादिकर्तव्यरूपः शोभनः पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीयः स चाशोभनः इति । अथ—एदेषु हेदुसूदेषु कम्मव्यवगणामयं जं तु एतेषु पूर्वोक्तेषु उदयागतेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययेषु कर्मणवर्गणागत परिणतं यदभिनवं नवतरं पुद्गलद्रव्यं परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावोहं जीवस्य-

जब जीवों के अज्ञान का उदय होता है तब भेदज्ञान को छोड़कर यह अतत्त्व का ज्ञान करता रहता है अर्थात् विपरीतरूप से परद्रव्यों के साथ एकत्व की प्रतीति कर लेता है । जीवों के जो कषायों का उदय होता है उससे इन जीवों के शांत आत्मा की उपलब्धिलक्षण शुद्धोपयोग को छोड़कर क्रोधादि कषायरूप उपयोग—परिणाम हो जाते हैं । जीवों के मन वचन कायरूप वर्गणा के आधार से वीर्यान्तराय कर्म से उत्पन्न हुआ कर्मों के ग्रहण करने में हेतु, आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्दलक्षण वाला जो प्रयत्नरूप से चेष्टा में उत्साह है—व्यापार में या प्रवृत्ति में उत्साह है, हे शिष्य ! उसे तुम योग का उदय जानो । वह योग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है । उनमें से जो व्रतादि करने योग्य किर्यारूप है वह शोभन या शुभयोग है और जो अव्रत आदिरूप से छोड़ने योग्य है वह अशोभन—अशुभ योग है ।

इस प्रकार से मिथ्यात्व, असंयम, अज्ञान, कषाय और योग इन पांचों प्रत्ययों के उदय में आकर हेतु भूत—कर्मबंध के लिये कारण बनने पर कर्मण वर्गणा रूप से परिणत जो नूतन पुद्गल द्रव्य हैं वे जीव के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के एक परिणतिरूप परमसामायिक के अभाव में ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मरूप से आठ प्रकार से परिणमन कर जाते हैं और जब ये इन पूर्व सूत्रों में कहे गये कर्मवर्गणा योग्य नूतन पुद्गलद्रव्य

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यकपरिणतिरूपपरमसामयिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्ट-
विधं परिणमतीति । अथ—तं खलु जीवनिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया तत्पूर्वोक्त-
सूत्रोदितं कर्मवर्गणायोग्यमभिनवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिबद्धं जीवसंबद्धं योगवशेनागतं यदा भवति
खलु स्फुटं तइया दु होवि हेदु जीवो परिणामभावाणं तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्य-
प्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु सत्सु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतुः कारणं भवति केषां
परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति । किंच, उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्व-
रागादि भावप्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबंधस्य कारणं भवतीति तात्पर्यं । अयमत्र
भावार्थः, उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन
परिणमतीति तदा बंधो भवतीति नवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेऽपि पांडवादिवत्, यदि पुनरुदय-
मात्रेण बंधो भवति तदा सर्वदैव संसारएव । कस्मादिति चेत्, संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य
विद्यमानत्वात् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभावः पंच-

योग के निमित्त से जीव के साथ संबद्ध होते हैं—बंध जाते हैं तब स्पष्टतया उस समय
पूर्वोक्त उदय में आये हुये द्रव्य प्रत्ययों के निमित्तभूत होने पर अपने-अपने गुणस्थान के
अनुसार यह जीव उन परिणामरूप भावों का—प्रत्ययों का—कारणों का हेतु अर्थात्
कारण हो जाता है । तात्पर्य यह है कि उदय में आये हुये द्रव्य प्रत्ययों के निमित्त से—
द्रव्य मिथ्यात्व, असंयम, अज्ञान, कषाय और योग के निमित्त से जीव के मिथ्यात्व रागादि
भाव प्रत्यय होते हैं । इन भाव प्रत्यय रूप से परिणमन करके यह जीव नवीन कर्मबंध
का कारण हो जाता है अथवा यहाँ ऐसा भावार्थ है कि द्रव्यप्रत्ययों के उदय में आने पर
यदि यह जीव अपने स्वभाव को छोड़कर रागादिरूप भाव प्रत्ययों से परिणमन करता है
तब उसके बंध होता है न कि उदयमात्र से बंध होता है जैसे कि घोर उपसर्ग के आने
पर भी पांडव आदि मुनियों ने राग द्वेष आदि भाव न करके कर्म बंध के न होने से मोक्ष
को प्राप्त कर लिया है । यदि पुनः कर्मों के उदयमात्र से बंध होता है तब तो सदाकाल
ही संसार बना ही रहेगा कभी संसार से मुक्ति ही नहीं हो सकेगी ।

क्यों ? क्योंकि संसारी जीवों के तो सदाकाल ही कर्मों का उदय विद्यमान
रहता है ।

प्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बन्धकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पंचगाथाभिः सप्तमोन्तराधिकारः समाप्तः ॥१४०॥ १४१॥ १४२॥ १४३॥ १४४॥

इस प्रकार पुण्य पाप आदि सातपदार्थों की पीठिकारूप इस महाधिकार में अज्ञान भाव ही पांच प्रत्ययरूप से शुद्ध आत्म स्वरूप से च्युत हुये जीवों के लिये बंध के कारण होते हैं इस व्याख्यान की मुख्यता से पांच गाथाओं द्वारा यह सातवां अंतराधिकार समाप्त हुआ ॥१४०-१४१-१४२-१४३-१४४॥

विशेषार्थ—मूलगाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि 'जो जीवों को अतत्त्व की उपलब्धि है वह अज्ञान का उदय है ऐसे जीव को अभ्रद्वान भाव होता यह मिथ्यात्व का उदय है, इत्यादि। इसकी टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने अज्ञान का अर्थ करके आगे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चारों को तन्मय अर्थात् अज्ञानमय कहकर अज्ञान के ही चार भेद माने हैं। ये चारों ही अस्त्व के या कर्मबन्ध के प्रत्यय अर्थात् कारण हैं। इसके पूर्व श्रीकुंदकुंददेव ने गाथा में भी कहा है कि—

सामण्णपचया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणं कसाययोगा य बोद्धव्वा ॥१०६॥

सामान्य प्रत्यय चार ये बंध के करने वाले हैं इनके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये भेद जानने चाहिये। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने यहाँ उपर्युक्त गाथा के अनुसार चार ही प्रत्यय माने हैं किंतु श्रीजयसेनाचार्य ने (१३२ से १३६ अमृतचन्द्र, तथा १४० से ४४४ जयसेनाचार्य) इन गाथाओं की टीका करते समय पांच प्रत्यय माने हैं। यथा— "मिथ्यात्वाविपञ्चप्रत्ययेषु" मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान, कषाय और योग, इन पांचों को यहाँ गाथा में भी क्रम से लिया है अर्थात् यहाँ सामान्य अज्ञानमयभाव को भी तीसरे नंबर के प्रत्यय में ले लिया है। इन्होंने गाथा की पंक्तियों में भी अन्तर माना है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने 'अण्णाणस्स स उदओ' से गाथा शुरू की है तथा श्रीजयसेनाचार्य ने 'मिच्छत्तस्स बुउदओ' से गाथायें शुरू की हैं।

वैसे तत्त्वार्थसूत्र में भी बंध के पांच हेतु माने हैं। यथा—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥१॥

मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के पांच हेतु हैं।

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः—

(१४५ ज०) जीवस्स दु कम्मणेण य सह परिणामा हु होति रागादी ।

एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिभावण्णा ॥१३७ अ०॥

(१४६ ज०) एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहि ।

ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८ अ०॥ (युग्मम्)

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः ।

एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१३७॥

एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।

तत्कर्मोदयहेतुमिविना जीवस्य परिणामः ॥१३८॥

यहाँ यह बात भी ज्ञातव्य है कि जो मिथ्यात्व को बंध में अकिंचित्कर मानते हैं उन्हें इन श्रीकुंदकुंददेव की गाथाओं का अच्छी तरह मनन, चिंतन करना चाहिये क्योंकि प्रथम गुणस्थान से तृतीय गुणस्थान तक मिथ्यात्व आदि पाँचों प्रत्यय बंध के कारण हैं । आगे मिथ्यात्व छूट गया अविरति आदि चार बंध के कारण हैं । ऐसे गुणस्थानों में क्रम घटा लेना चाहिये ।

उत्थानिका—पुद्गलद्रव्य से पृथक् ही जीव का परिणाम है, ऐसा माना जावे तो—
ऐसी आशंका उठाते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवस्य रागादयः परिणामाः खलु कर्मणा सह च) जीव के जो रागादि परिणाम हैं वे नियम से कर्म के साथ होते हैं (एवं तु जीवः च कर्म द्वे अपि रागादित्वं आपन्ने) इस प्रकार से तो जीव और कर्म ये दोनों भी रागादि परिणाम को प्राप्त हो जायेंगे अतः (रागादिभिः एकस्य जीवस्य तु परिणामः जायते) रागादि भावों से एक जीव का ही परिणाम उत्पन्न होता है (तत् कर्मोदयहेतुभिः विना जीवस्य परिणामः) वह कर्मोदय के निमित्त के बिना एक जीव का ही परिणाम है ।

(१४५ ज०) रागादि विकारी भाव जीव में कर्मों के संग होते हैं ।

कर्मों के साथ सदा उसके परिणाम उसी मय होते हैं ॥

यदि ऐसा है तो जीव कर्म दोनों ही एक सदृश होंगे ।

रागादिभाव को प्राप्त जीव निश्चय से सिद्ध नहीं होंगे ॥१३७ अ०॥

(१४६ ज०) एकान्त से यदि रागादिभाव से जीव सदा परिणमन करे ।

तो शुद्ध जीव में भी मानो रागादिक से परिणमन अरे ॥

लेकिन उदयागत विधि से आत्मा औ परिणाम पृथक् ही है ।

कर्मोदय हेतु बिना परिणाम नहीं होते निश्चित ही है ॥१३८ अ०॥

आत्मख्यातिः—यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्वयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः । अथ चेकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो जीवस्य परिणामः ॥१३७-१३८॥

(भूमिका)—अतः परं जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमिदं षष्ठ्यांतराधिकारे समुदायनातनिका ।

(उत्थानिका)—अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति;—

आत्मख्याति—यदि जीव का जो रागादिरूप अज्ञानमय परिणाम है वह अपने निमित्तभूत उदय में आये हुये पुद्गलकर्मों के साथ ही होता है, ऐसा तर्क उठाया जावे तो जीव और पुद्गलमयीकर्म इन दोनों में ही रागादि अज्ञान परिणामों का प्रसंग आ जावेगा जैसे चूना और हल्दी इन दोनों के साथ मिलने पर दोनों में ही एक ताल रंग आ जाता है किन्तु ऐसा तो इष्ट नहीं है अतः यदि मान लिया जावे कि ये रागादिरूप अज्ञानमय परिणाम एक जीव के ही होते हैं तब तो पुद्गलकर्म के उदयरूप कारण से जीव का परिणाम पृथक् ही है ऐसा सिद्ध हुआ ॥१३७-१३८॥

भावार्थ—यदि यह माना जावे कि पुद्गलकर्म के उदय के साथ ही जीव में रागादि भाव में रागादि भाव होते हैं तब दोनों में रागादि भाव होने का प्रसंग आवेगा किन्तु दोनों कभी रागादि भाव धरते नहीं अतः पुद्गलकर्म के उदय को निमित्त बनाकर जीव में रागादि भाव होते हैं इसलिये वे जीव भाव-परिणाम पुद्गलद्रव्य से भिन्न ही हैं ।

भूमिका—अब आगे जीव और पुद्गल में परस्पर में उपादान कारण है, इसके निषेध की मुख्यता से तीन गाथायें कहेंगे, इस तरह यह आठवें अन्तराधिकार में समुदाय पातनिका है ।

उत्थानिका—निश्चय से कर्म पुद्गल से भिन्न ही जीव का परिणाम है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणाणा दु होंति रागादी यदि जीव-
स्थोपादानकारणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवन्ति । एवं जीवो
कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा एवं द्वयोर्जीवपुद्गलयो; रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे
सति सुधाहरिद्वयोरिव द्वयोरगित्वं प्राप्नोति । तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति स च
प्रत्यक्षविरोध इति । अथ—एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं अथाभिप्रायो
भवतां पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकांतेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते ता
कम्मोदयहेद्वहिं विणा जीवस्स परिणामो तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य
रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य
जीवस्थोपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुभिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा

तात्पर्यवृत्तिः—रागादि परिणाम जीव में होते हैं अतः जीव ही उनका उपादान
कारण है । यदि कर्मोदय को भी रागादि का उपादान कारण मान लिया जाय और कहा
जाय कि उपादानभूत कर्मों के उदय के साथ ही उपादान कारणभूत जीव में रागादि
भाव होते हैं तब तो ये जीव और पुद्गल दोनों ही रागादि परिणामों के उपादान कारण बन
गये अतः सूना और हल्दी के मिलने से हुये एक रंग के समान दोनों में ही रागादि भावों
का प्रसंग हो जायेगा अर्थात् जीव के समान पुद्गल भी रागादि भाव वाला हो जायेगा और
ऐसा होने पर तो पुद्गल को चेतनपता प्राप्त हो जावेगा जो कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध है । यहाँ
यदि पूर्वदूषण के भय से आपका ऐसा अभिप्राय—अभिमत होवे कि एकांत से एक जीव का
ही रागादि परिणाम है जीव ही इन परिणामों का उपादान कारण है तब तो यह दूषण
आवेगा कि कर्मों के उदयरूप हेतु के बिना भी शुद्ध जीव के रागादिभाव हो जावेंगे किन्तु
ऐसा मानने पर भी तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है और आगम से भी विरोध आता है ।

अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि यदि आप ऐसा कहें कि एक जीव के जो कि
इन भावों का उपादान कारण है ऐसे जीव के कर्मों के उदयरूप उपादान हेतु के बिना
रागादि परिणाम होते हैं तब यह कथन तो हमें मान्य ही है अर्थात् द्रव्यकर्मों का उदय
उपादान कारण नहीं है मात्र निमित्त कारण है ऐसा कथन तो हमें सम्मत ही है क्योंकि
यह जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्य कर्मों का कर्ता होता है, अशुद्धनिश्चय-
नय की अपेक्षा से यह रागादि भाव कर्मों का कर्ता है । यह अशुद्धनिश्चयनय भी यद्यपि
द्रव्यकर्मों के कर्तापने के विषयभूत अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा से 'निश्चय'

सम्मतमेव । किं च द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीवः रागादिभाव-
कर्मणामशुद्धनिश्चयेन । स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्थानुपचरिता-
सद्भूतव्यवहारस्यादेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चय-
स्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार भवेति भावार्थः ॥१४५॥१४६॥

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः

* जइ जीवेण सहचिचय पुग्गलद्व्वस्स कम्मपरिणामो ।

एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३६ अ०॥

(१४७ ज०) एकस्स दु परिणामो पुग्गलद्व्वस्स कम्मभावेण ।

ता जीवभावहेद्दहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४० अ०॥ (युग्मम्)

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।

एक पुद्गलजीवो खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नो ॥१३६॥

एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।

तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१४०॥

इस नाम को प्राप्त करता है तो भी शुद्धात्मद्रव्य को विषय करने वाले ऐसे शुद्धनिश्चयनय
की अपेक्षा से वास्तव में यह 'व्यवहार' ही है ऐसा अभिप्राय यहाँ समझना ॥१४५-१४६॥

उत्थानिका—जीव से भिन्न ही पुद्गलद्रव्य परिणाम है, ऐसा कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः) यदि जीव के साथ ही
पुद्गलद्रव्य का कर्मरूप परिणाम होता है तो (एवं पुद्गलजीवो द्वौ अपि खलु कर्मत्वं आपन्नौ)

(१४७ ज०) यदि जीव के संग पुद्गल कर्मों का ऐकांतिक परिणमन कहें ।

तहि निश्चय नय स्वीकारकरे व्यवहार मात्र यह कथन करें ॥

क्योंकि आत्मा ओ कर्म उभय को कर्मपना बन जावेगा ।

दोनों ही कर्म बन जाने से जीवात्मा कहाँ से आवेगा ॥१३६ अ०॥

(१४८ ज०) इस कर्मभाव से यदि हो तो परिणाम एक पुद्गल का ही ।

तो जीवद्रव्य रागादिभाव के बिना कर्म बन जाता भी ॥

है कर्म परिणमन पृथक् पृथक्ता जीवभाव में ही मानी ।

स्याद्वाद कथन द्वारा दोनों की बात कथंचित् है मानी ॥१४० अ०॥

* दिप्पण—यह गाथा श्री जय सेनाचार्य की टीका में नहीं है ।

आत्मख्यातिः—यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः । अथ चेकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ॥१३६॥१४०॥

(उत्थानिका)—अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणाम इति निरूपयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—एकस्स परिणामो पुद्गलद्रव्यस्स कम्मभावेण एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोभ्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः यत् एवं ता जीवभावहेतुहि विना

इस प्रकार से पुद्गल और जीव ये दोनों भी निश्चय से कर्मपने को प्राप्त हो जावेंगे (तु एकस्य पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन परिणामः) तथा एक पुद्गलद्रव्य का कर्मभाव से परिणाम होता है (तत् जीवभावहेतुभिः विना कर्मणः परिणामः) अतः जीव भावों के निमित्त के बिना ही कर्म का परिणाम है ।

आत्मख्याति—पुद्गलद्रव्य का जो कर्म परिणाम है वह उसके निमित्तभूत रागादि अज्ञान परिणामरूप से परिणत जीव के साथ ही होता है, यदि आपका यह तर्क है तो पुनः पुद्गलद्रव्य और जीव इन दोनों के भी कर्मपरिणाम का प्रसंग आ जावेगा जैसे कि हल्दी और चूना ये दोनों जब एक साथ मिलते हैं तो उन दोनों का मिलकर लाल रंग बन जाता है । किंतु ऐसा तो सम्भव है नहीं, अतः यह सिद्ध हो जाता है कि कर्म परिणाम एक पुद्गल-द्रव्य का ही है इसलिये जीव के रागादि भावरूप अज्ञान परिणाम पुद्गल कर्म के निमित्त कारण हैं । पुद्गल द्रव्यकर्म का परिणाम तो जीव के इन रागादि भावों से पृथक् ही है ऐसा समझना ॥१३६—१४०॥

उत्थानिका—अब निश्चय से जीव से पृथक् ही पुद्गलकर्म का परिणाम है, ऐसा निरूपण करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उपादानभूत कर्मवर्गणा योभ्य एक पुद्गलद्रव्य का ही द्रव्यकर्मरूप से परिणमन होता है, यदि ऐसी बात है तो पुनः इस कारण से जीव में होने वाले मिथ्यात्व रागादि परिणाम, कि जिनका जीव ही उपादान कारण है इन परिणामों के कारणरूप हुये बिना भी द्रव्यकर्मों का परिणमन हो जावेगा ।

कम्मस्स परिणामो तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यास्वरागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्य-
कर्मणः परिणामः स्यात् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्म-
पुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमतीराधिकारः समाप्तः ॥१४७॥

इस प्रकार पुण्यपाप आदि सात पदार्थों की पीठिकारूप महाधिकार में जीव और कर्म पुद्गल का परस्पर में उपादान कारण है, ऐसे कथन के निषेध की मुख्यता से तीन गाथाओं द्वारा यह आठवां अन्तराधिकार समाप्त हुआ ॥१४७॥

विशेषार्थ—यहाँ श्रीअमृतचंद्रसूरि ने 'जीवस्स दु कम्मेण' तथा 'एकस्स दु परिणामो' ऐसी युग्म गाथा लेकर पुनः 'जइ जीवेण सहच्चिद्य' ऐसी गाथा पुनः 'एकस्स दु परिणामो' ऐसी गाथा इस युग्म गाथारूप से दो गाथा ऐसी चार गाथायें ली हैं । किन्तु श्रीजयसेना-चार्य ने इन चार में से 'जइ जीवेण सहच्चिद्य' गाथा न लेकर तीन गाथायें मात्र ही ली हैं और इन तीन गाथाओं से ही यह आठवां अन्तराधिकार पूर्ण किया है ।

पहले निमित्त की प्रधानता से कहा गया था कि जीव के रागादिभाव पुद्गलकर्म के उदय से होते हैं अतः वे पुद्गल रूप हैं । यहाँ उपादान की प्रधानता से यह कहा गया है कि रागादिभाव जीव के ही परिणाम हैं परन्तु पुद्गलकर्म के उदय से हुये हैं अतः जीव के स्वभाव नहीं हैं प्रत्युत विभावरूप ही हैं । जैसे चूना और हल्दी दोनों पुद्गल रूप हैं अतः दोनों के मिलने से लाल रंग बन जाता है वह एकरूप ही अथवा एक तृतीय अवस्थारूप होकर भी पुद्गलरूप ही रहता है । यहाँ जीव के रागादि भाव और पुद्गल के कर्मरूप परिणामन दोनों अलग-अलग हैं ऐसा उपादान की अपेक्षा से समझना । इसी बात को श्री जयसेनाचार्य ने खुले शब्दों में कह दिया है कि जीव पीद्गलिक कर्म का उपादान कारण नहीं है और पुद्गलकर्म जीव में होने वाले रागादि भावों का उपादान कारण नहीं है । चूंकि ये दोनों द्रव्य परस्पर में विजातीय द्रव्य हैं चूना और हल्दी के समान एक सजातीय द्रव्य नहीं हैं ।

अतः पुद्गलकर्म का उदय भले ही जीव के रागादिभावों के लिये निमित्त कारण है परन्तु यहाँ उनकी विवक्षा नहीं है ।

ततः किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति तयविभागेनाह—

(१४८ ज०) जीवे कर्म बद्धं पुटं चेदि व्यवहारनयभणितं ।

शुद्धनयस्स दु जीवे अबद्धपुटं हवइ कर्म ॥१४९ अ०॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं ।

शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥१४९॥

आत्मख्यातिः—जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वेव्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः । जीवपुद्गलकर्मणोरेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः ॥१४९॥

(भूमिका)—अथानंतरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहितं शुद्धभारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्याधिकनयेन पुण्य-

उत्थानिका—पुनः प्रश्न होता है कि आत्मा में कर्मबद्ध स्पृष्ट है या अबद्ध स्पृष्ट ? इसका उत्तर आचार्यदेव स्वयं तयविभाग से वे रहे हैं—

अन्वयार्थ—(जीवे कर्म बद्धं च स्पृष्टं इति व्यवहारनयभणितं) जीव में कर्म बंधा हुआ है और स्पर्श भी करता है यह व्यवहारनय ने कहा है (तु जीवे कर्म अबद्धस्पृष्टं भवति शुद्धनयस्य) और जीव में कर्म न बंधा है न स्पर्शता है यह शुद्धनय का कथन है ।

आत्मख्याति—जीव और पुद्गल इन दोनों में एक बंध पर्यायरूप से तद्रूपता—एकरूपता या अभिन्नता होने पर तो भिन्नपने का अभाव है इसी हेतु से जीव में कर्म बंधे हुये हैं और प्रदेशों में एकमेक होने से स्पर्श भी कर रहे हैं, यह व्यवहारनय का पक्ष है । पुनः जीव और पुद्गलकर्म ये दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं अतः इन दोनों में अत्यंत भिन्नता है इस हेतु से जीव में कर्म न बंधे हुये हैं और न स्पर्श ही करते हैं, यह निश्चयनय का पक्ष है ॥१४९॥

भूमिका—अब आगे यह जीव व्यवहारनय से बंधा हुआ है और निश्चयनय से नहीं बंधा है इत्यादि विकल्परूप नय पक्षपात है उस पक्षपात के स्वीकार से रहित, शुद्ध

(१४९ ज०) व्यवहारिक नय यह कहता है कि कर्म जीव से बंधते हैं ।

आत्मा के सभी प्रदेशों में मिल एक संग ही रहते हैं ॥

लेकिन निश्चय नय का कहना है कर्म जीव में नहीं बंधते ।

आत्मा से कर्म अबद्ध और अस्पृष्ट शुद्ध नय से रहते ॥१४९ अ०॥

पापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमेंतराधिकारे समुदाय-
पातनिका ।

(उत्थानिका)—तद्यथा । अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति प्रश्न सति
नयविभागेन परिहारमाह;—

तात्पर्यवृत्तिः—जीवे कर्म बद्धं पुट्टं चेषि व्यवहारणयमणिदं जीवेऽधिकरणभूते बद्धे-
संश्लेषरूपेण क्षीरमीरवत्संबद्धं स्पृष्टं योगमात्रेण लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहार-
नयाभिप्रायः । सुद्वणयस्य तु जीवे अबद्धपुट्टं हवइ कर्म शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेधि-
करणभूते अबद्धं स्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्मस्वरूपं न
भवतीति भावार्थः ॥१४८॥

पारिणामिक परमभाव को ग्रहण करने वाले ऐसे शुद्धद्रव्याधिकनय से पुण्यपापादि पदार्थों
से भिन्न शुद्ध समयसार है ऐसा चार गाथाओं द्वारा कहेंगे, इस तरह नवमें अंतराधिकार
में यह समुदाय पातनिका कही गई है ।

उत्थानिका—आत्मा में कर्म बंधे हैं, स्पर्शित हैं या नहीं बंधे हैं, नहीं स्पर्शित हैं ?
ऐसा प्रश्न होने पर नय विभाग के द्वारा आचार्यदेव परिहार करते हुये कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जीव अधिकरणभूत है उस जीव में यह कर्म बंधे हुये होने से संश्लेष-
रूप से दूध और पानी के समान संबद्ध हैं और योगमात्र से लगे हुये होने से स्पर्शित हैं,
इस प्रकार का यह कथन व्यवहारनय के अभिप्राय से है । पुनः शुद्धनय के अभिप्राय से
इस आधारभूत जीव में कर्म न बंधा हुआ है और न स्पर्शित ही है ऐसा कहा गया है ।
इस प्रकार से निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों का यह विकल्प है, यह शुद्धात्मा का
स्वरूप नहीं है, ऐसा अभिप्राय समझना ॥१४८॥

ततः किं—

(१४६ ज०) कर्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण नयपक्खं ।

पक्खातिवकन्तो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२ अ०॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं ।

पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

आत्मख्यातिः—यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं

उत्थानिका—इन नय पक्षों से क्या होता है ? इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवे कर्म बद्धं अबद्धं एवं तु नयपक्षं जानीहि) जीव में कर्म बंधे हैं या नहीं बंधे हुये हैं ऐसे कथन को तुम नय पक्ष जानो (पुनः यः पक्षातिक्रान्तः भण्यते सः समयसारः) पुनः जो पक्ष से रहित कहे जाते हैं वे ही समयसार हैं ।

आत्मख्याति—नियम से जीव में कर्म बंधे हुये हैं जो यह विकल्प है तथा जीव में कर्म बंधे नहीं हैं ऐसा भी जो विकल्प है, ये दोनों विकल्प भी नियम से नय के पक्ष हैं । जो (महामुनि) इस नय पक्ष का उत्लंघन कर जाते हैं वे ही संपूर्ण विकल्पों से दूर हुये स्वयं निर्विकल्प एक विज्ञानघन स्वभाव वाले होकर साक्षात् 'समयसार' हो सकते हैं । इसमें पहले 'जीव में कर्म बंधे हुये हैं' जो ऐसा विकल्प करते हैं वे जीव में कर्म बंधे नहीं हैं इस एक पक्ष का अतिक्रमण—उत्लंघन करते हुये या इस एक पक्ष को छोड़ देने से भी विकल्पों से दूर नहीं हो पाते हैं और 'जीव में कर्म बंधे नहीं हैं' जो ऐसा विकल्प करते हैं वे भी 'जीव में कर्म बंधे हैं' ऐसे एक पक्ष का उत्लंघन करते हुये भी विकल्पों से दूर

(१५० ज०) कर्मों की बद्ध अबद्ध अवस्था जीव के संग में मानी है ।

निश्चय व्यवहार नयों के बल पर कर्म व्यवस्था जानी है ॥

जो ध्यानी मुनि नय पक्षपात से दूर स्वयं हो जाते हैं ।

वे ही शुद्धात्म के ध्याता वस समयसार कहलाते हैं ॥१४२ अ०॥

द्वितीयमपि पक्षमनतिक्रामन्त विकल्पमतिक्रामति । ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति । य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विदति । यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ॥१४२॥

उपेन्द्रवज्रा छंद—य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।

विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६६॥

नहीं हो पाते हैं । पुनः 'जीव में जो कर्म बंधे हुये हैं और नहीं बंधे हुये हैं' ऐसा विकल्प करते हैं वे तो उन दोनों भी पक्षों का उल्लंघन न करते हुये विकल्पों से दूर नहीं हो पाते हैं । इसलिये जो समस्त नयपक्षों को दूर कर देते हैं—छोड़ देते हैं वे ही समस्त विकल्पों से दूर हो जाते हैं और जो समस्त विकल्पों से दूर हो जाते हैं वे ही 'समयसार' को जानते हैं या समयसार का अनुभव करते हैं ॥१४२॥

प्रश्न—यदि ऐसी बात है तो पुनः कौन ऐसा है कि जो नयपक्ष के त्याग की भावना को नृत्य नहीं कराता है अर्थात् नहीं छोड़ता है ।

उत्तर—उसे ही हम कहते हैं, सुनो—

इस प्रश्न के उत्तर को 'श्री अमृतचंद्रसूरि कलशकाव्यों' द्वारा कह रहे हैं—

काव्यार्थ—जो महापुरुष—महामुनि नयों के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर—लीन होकर—तीन गुप्ति से सहित होकर नित्य ही निवास करते हैं—निरंतर स्थिर होते हैं वे ही महापुरुष विकल्प जाल से शून्य होकर—शांत चित्त हुये साक्षात् अमृत को पीते हैं ॥६६॥

विशेषार्थ—जो महापुरुष संख्यातों भी नयों के पक्ष को छोड़ देते हैं अथवा मुख्य-रूप से व्यवहार और निश्चय इन परस्पर में विरुद्ध ऐसे नयों के पक्ष को छोड़ देते हैं पुनः 'स्वरूप गुप्ताः' से आत्मा के स्वरूप में लीन हो जाते हैं ऐसे महापुरुष तीन गुप्तियों से सहित निर्विकल्प शुद्ध आत्मा के ध्यान में लीन हुये निश्चयधर्मध्यान या शुक्लध्यान के ध्याता होते हैं इसीलिये यहां 'स्वरूपगुप्ता' विशेषण से महामुनि ही माने जायेंगे । चतुर्थ,

अडिल छंद (मात्रिक)—

जो ज्ञानी नय पक्ष छोड़ निज में रमें, करहि आप में नित्य निवास न जग भ्रमें ।

हो विकल्प सब मुक्त शांत चित्त को धरे, वह साक्षात् मु अमृत पान सदा करे ॥६६॥

उपजाति छंद—एकस्य बद्धो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

उपजाति छंद—एकस्य मूढो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

पंचम या छठे गुणस्थानवर्ती मनुष्य नहीं लिये जावेंगे । वे ही संपूर्ण शुभ-अशुभ विकल्पों से रहित होकर शांत चित्त हो जाते हैं ऐसे महाध्यानी मुनि ही साक्षात् आत्मा के अनुभव रूप परमानंदमय अमृत को पीते हैं—आत्मा का अनुभव करते हैं ऐसा समझना ।

काव्यार्थ—एक नय का कहना है कि चैतन्य में कर्म बंधा हुआ है, दूसरे नय का कहना है कि चैतन्य कर्म उस प्रकार नहीं है अर्थात् बंधा नहीं है । ये दोनों नयों के दोनों ही कथन पक्षपात रूप हैं । जो तत्त्व के वेत्ता हैं और पक्षपात से आगे बढ़ चुके हैं—पक्षपात से शून्य हो चुके हैं उनके नित्य ही निश्चय से चैतन्य आत्मा चैतन्य ही है ॥७०॥

भावार्थ—ध्यवहारनय कहता है कि जीव कर्म से बंधा हुआ है और निश्चयनय कहता है कि जीव कर्मों से बंधा नहीं है । ये दोनों नय यद्यपि परस्पर में विरुद्ध कथन करते हैं प्रत्युत आपस में सापेक्ष होने से सही हैं । फिर भी यहाँ जो मुनि इन नयों के विकल्प से रहित निर्विकल्प ध्यान में लीन हो जाते हैं उनके नित्य ही चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र ही प्राप्त होती है ।

काव्यार्थ—एक नय का कहना है कि यह जीव मूढ़ है—मोही है और दूसरे नय का कहना है कि यह जीव मूढ़ नहीं है इस प्रकार से इन दोनों नयों का दो रूप कथन पक्षपात-रूप ही है । जो तत्त्वों के वेत्ता हैं, पक्षपात से छूट चुके हैं उनकी चित्स्वरूप आत्मा निश्चय से नित्य ही चित्स्वरूप ही है ॥७१॥

अडिल्ल छन्द (मात्रिक)—कर्मों से है बद्ध एक नय जो कहे, नहीं बद्ध है चैतन दूसरा नय कहे ।

दो नय के दो पक्ष शून्य जानी रहे, उतही के सिद्धान्त में चैतन कहे ॥७०॥

अडिल्ल छन्द (मात्रिक)—एकहि नय का पक्ष जो मोही आत्मा, दूसरि नय का पक्ष विमोही आत्मा ।

दोनों पक्ष विमुक्त तत्त्व जानी रहे, उनके मत में चैतन ज्योति सदा लहे ॥७१॥

उपजाति छंद—एकस्य रक्तो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

उपजाति छंद—एकस्य दुष्टो (द्विष्टो) न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥

उपजाति छंद—एकस्य कर्ता न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥

काव्यार्थ—एक नय से यह जीव रागी है दूसरे नय से रागी नहीं है, इन दोनों नयों का दोरूप कथन पक्षपातरूप ही है। जो तत्त्व के वेत्ता हैं, नयों के पक्षपात से रहित हो चुके हैं उनकी चित्स्वरूप आत्मा नियम से हमेशा चित्स्वरूप ही है ॥७२॥

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि आत्मा द्वेषी है, किन्तु दूसरे का पक्ष है कि आत्मा द्वेषी नहीं है। चैतन्य आत्मा में इन दोनों का दोरूप कथन पक्षपातरूप है। जो तत्त्व के वेत्ता हैं, नयों के पक्षपात से दूर हो चुके हैं उनकी चैतन्य आत्मा नित्य ही निश्चय से चैतन्यस्वरूप ही है ॥७३॥

काव्यार्थ—एक नय का कथन है कि यह जीव कर्मों का कर्ता है, किन्तु दूसरे नय का कथन है कि यह कर्ता नहीं है। चैतन्य में इन दोनों नयों का दोरूप कथन पक्षपातरूप है। जो तत्त्व के जानी हैं, नयों के पक्षपात का उल्लंघन कर चुके हैं उनकी चैतन्य आत्मा नित्य ही निश्चय से चैतन्यस्वरूप ही है ॥७४॥

अद्वैत छन्द (मात्रिक)—नय व्यवहार सरागी जीव सदा कहे, निश्चय नय से जीव विरामी ही रहे ।
दोनों नय से रहित तत्त्वज्ञानी भये, उनके दर्शन में इक चेतन हो लहे ॥७२॥

अद्वैत छन्द (मात्रिक)—एक पक्ष आत्मा को द्वेषी ही कहे, पक्ष दूसरा आत्मा द्वेषी नहि कहे ।
पक्षपात नय शून्य तत्त्ववेदी रहे, उनके मन में नित्य बुद्ध चेतन लहे ॥७३॥

अद्वैत छन्द (मात्रिक)—

जो पर्यायाधिक दृष्टि जीव कर्ता कहे, निश्चय दृष्टि अकर्ता जीव सदा लहे ।
दो नय के दो पक्षपात बुधजन तर्जें, उनका यह सिद्धान्त सदा निज को भजे ॥७४॥

उपजाति छंद—एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥

उपजाति छंद—एकस्य जीवो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

उपजाति छंद—एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

काव्यार्थ—एक नय से आत्मा कर्मों का भोक्ता है और दूसरे नय से भोक्ता नहीं है । चैतन्यस्वरूप आत्मा में इन दोनों नयों का दोरूप कथन पक्षपात है । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं, नयों के पक्षपात से शून्य हो चुके हैं उनकी आत्मा चैतन्य है वह नियम से सतत चैतन्य ही है ॥७५॥

काव्यार्थ—एक नय कथन है कि यह आत्मा जीव है—दश प्राणों से त्रिकाल में जीता है किन्तु दूसरे नय का कथन है कि यह जीव नहीं है—इसके ये व्यवहार प्राण नहीं हैं । चैतन्य आत्मा में इन दोनों नयों का दोरूप से कथन पक्षपात है । जो तत्त्वों के वेत्ता हैं, नयों के पक्षपात से दूर हो चुके हैं उनकी चित्स्वरूप आत्मा निश्चय से निरन्तर चित्स्वरूप ही है ॥७६॥

काव्यार्थ—एक नय का कथन है जीव सूक्ष्म है और दूसरे नय का कथन है कि जीव सूक्ष्म नहीं है ऐसा यह चैतन्य में दोनों नयों का पक्षपात है । जो तत्त्व के वेदी हैं वे पक्षपात से छूट चुके हैं, उनकी चित्स्वरूप आत्मा नियम से सतत चित्स्वरूप ही है ॥७७॥

अखिल छन्द (मात्रिक)—

एक नयवादी भोक्ता आत्मा को कहे, इतर पक्ष के आत्मा भोक्ता नहि गहे ।

दो विकल्प से मुक्त तत्त्वज्ञानी रहे, उनके आगम में नित चेतन ही लहे ॥७५॥

चोपाई छन्द (मात्रिक)—एक दृष्टि से जीवहि कहे, अन्य दृष्टि से जीव न लहे ।

इन दोनों से रहित सुबान, उनका मत चैतन्य प्रधान ॥७६॥

चोपाई छन्द (मात्रिक)—आत्मा सूक्ष्म कहे व्यवहार, निश्चय से नहि सूक्ष्म प्रकार ।

पक्षपात से शून्य महान्, उनका दर्शन चेतन जान ॥७७॥

उपजाति छंद—एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्विविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥

उपजाति छंद—एकस्य कार्यं न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्विविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥

उपजाति छंद—एकस्य भावो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्विविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि यह जीव हेतु-कारण है और दूसरे नय का पक्ष कि जीव हेतु नहीं है । इस प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से शून्य हैं अतः उनकी आत्मा चित्स्वरूप सतत नियम से चित्स्वरूप ही है । ७८।

काव्यार्थ—एक नय का कथन है कि जीव कार्य है और दूसरे नय का कथन है कि जीव कार्य नहीं है । चित्स्वरूप आत्मा में ये दोनों नयों के दोनों पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से परे हो चुके हैं अतः उनकी चित्स्वरूप आत्मा हमेशा नियम से चित्स्वरूप ही है । ७९।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव भाव-पदार्थ है और दूसरे नय का पक्ष कि जीव पदार्थ नहीं है । ये चैतन्य आत्मा में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से परे हो चुके हैं अतः उनकी चित्स्वरूप आत्मा सतत निश्चय से चित्स्वरूप ही है । ८०।

चोपाई छन्द (मात्रिक)—इक नय से जिय हेतु स्वरूप, कूजे नय से हेतु न रूप ।

दो नय पक्ष रहित विद्वान्, उनके मत में आत्म प्रधान ॥७८॥

चोपाई छन्द (मात्रिक)—एकहि कार्य रूप जिय कहे, अन्य न कार्य रूप जो लहे ।

दोनों नय से शून्य सुजान, उनका मत चैतन्य बखान ॥७९॥

चोपाई छन्द (मात्रिक)—शुद्ध दृष्टि जियभाव स्वरूप, अशुद्धदृष्टि नहि भावस्वरूप ।

दो विकल्प नय मुक्त सुजान, उनका मत चित् चेतन मान ॥८०॥

उपजाति छंद—एकस्य चैको न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

उपजाति छंद—एकस्य सांतो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

उपजाति छंद—एकस्य नित्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

काव्यार्थ—एक नय का कथन है कि जीव एक है, दूसरे नय का कथन है कि जीव एक नहीं है—अनेक हैं अर्थात् अनेक पर्याय रूप है । चैतन्य आत्मा में ये दोनों नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से शून्य हैं, उनकी चित्स्वरूप आत्मा निश्चय से निरन्तर चित्स्वरूप ही है । ८१।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव सान्त (अंत सहित) है, दूसरे नय का पक्ष है कि जीव सान्त नहीं है । ये चैतन्य आत्मा में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से रहित हो चुके हैं अतः उनकी आत्मा चित्स्वरूप निश्चय से निरन्तर चित्स्वरूप ही है । ८२।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव नित्य और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव अनित्य है । चैतन्य में ये दोनों नयों के दो पक्षपात हैं, जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से आगे बढ़ चुके हैं अतः उनकी चैतन्य आत्मा निश्चय से निरन्तर चैतन्यस्वरूप ही है । ८३।

चौपाई छन्द (मात्रिक)—इक नय से आत्म इक रूप, दूजे नय से एक न रूप ।

उभय नयों से मुक्त सुजान, उनका धर्म सुचेतन जान ॥८१॥

सोरठा छन्द (मात्रिक)—इक कह आत्मा सान्त, दूजा कह नहि सान्त है ।

तजें विकल्प सुजान, वह आत्मा चेतन कहे ॥८२॥

सोरठा छन्द (मात्रिक)—इक नय से जिय नित्य, दूजे नय से अनित्य है ।

दो नय से जु विमुक्त, वह बुद्ध चेतन ही लहे ॥८३॥

उपजाति छंद—एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

उपजाति छंद—एकस्य नाना न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

उपजाति छंद—एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातो ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

काव्यार्थ—एक नय का कथन है कि जीव वाच्य-वचन से कहे जाने योग्य है और दूसरे नय का कथन है कि जीव अवाच्य है । चैतन्य आत्मा में ये दो नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे इन पक्षपात से शून्य-निर्विकल्प हो चुके हैं अतः उनकी चित्-स्वरूप आत्मा नियम से निरन्तर चित्स्वरूप ही है । ८४।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव नानारूप है—अनेक पर्यायों को धारण करने वाला है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव नानारूप नहीं है । चैतन्य आत्मा में ये दोनों नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे इन पक्षपात रूप विकल्प से दूर हो चुके हैं, उनकी चित्स्वरूप आत्मा निश्चय से निरन्तर चित्स्वरूप ही है । ८५।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव चेत्य-अनुभव करने योग्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव चेत्य-अनुभव करने योग्य नहीं है । चैतन्य आत्मा में दोनों नयों के ये दोनों पक्षपात हैं । जो तत्त्व के वेत्ता हैं वे इन पक्षपात से रहित हो चुके हैं अतः उनकी चित्-स्वरूप आत्मा निश्चय से निरन्तर चित्स्वरूप ही है । ८६।

सोरठा छन्द (मात्रिक)—भेद वाच्य कह जीव, नहि अभेद से वाच्य है ।

दो विकल्प से मुक्त, बुधजन एक चेतन कहे ॥८४॥

सोरठा छन्द (मात्रिक)—इक नये से बहु जीव, अन्य न बहुविध जीव है ।

दोनों नय से मुक्त, उनका मत बुध चित लहे ॥८५॥

सोरठा छन्द (मात्रिक)—इक नय से जिय चैत्य, अपर नय से न चैत्य है ।

किन्तु विकल्प विमुक्त, बुध चेतन ही कहे ॥८६॥

उपजाति छन्द—एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्विविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

उपजाति छन्द—एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्विविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥

उपजाति छन्द—एकस्य भातो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्विविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्वेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव-दृश्य दिखने योग्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव दृश्य नहीं है । इस प्रकार चैतन्य आत्मा में दोनों नयों के दोनों ये पक्षपात हैं । जो पक्ष के ज्ञाता हैं वे पक्षपात को उत्संघन कर चुके हैं, उनकी चित्स्वरूप आत्मा निश्चय से निरन्तर चित्स्वरूप ही है । ८७।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव वेद्य जानने योग्य है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव वेद्य नहीं है । इस प्रकार चैतन्य आत्मा में दोनों नयों के ये दोनों पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञानी हैं वे इन पक्षपातों को दूर कर चुके हैं, उनकी चैतन्यरूप आत्मा से नित्य ही चैतन्यरूप ही है । ८८।

काव्यार्थ—एक नय का पक्ष है कि जीव भात-प्रकाशमान है और दूसरे नय का पक्ष है कि जीव भात नहीं है । चैतन्य आत्मा में ये दोनों नयों के पक्षपात हैं । जो तत्त्व के ज्ञाता हैं वे पक्षपात से दूर पहुँच चुके हैं अतः उनकी चैतन्य आत्मा निश्चय से निरन्तर चैतन्यस्वरूप ही है । ८९।

अब आचार्य अमृतचन्द्रसूरि नयों के अतिक्रमण से स्वानुभूति होती है ऐसा दिखलाते हैं—

दोहा—एक पने से दृश्य जिय, अन्य पने नहि दृश्य ।

दोनों नय से मुक्त जो, वह बुध चैतन सत्य ॥९७॥

दोहा—आत्म वेद्य व्यवहार से, निश्चय वेद्य न मान ।

दोनों नय से मुक्त बुध, चैतन एक बखान ॥९८॥

दोहा—एक नय से जिय भात है, दूजा कहे न भात ।

दोनों नय से मुक्त बुध, उनका मत चिन्मात्र ॥९९॥

वसंततिलका — स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महती नयपक्षकक्षा ।

अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं ॥६०॥

रथोद्धता छन्द — इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पदीचिभिः ।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्याति तदस्मि चिन्महः ॥६१॥

काव्यार्थ—इस प्रकार से पक्षपातरहित तत्त्वज्ञानी-महामुनि स्वेच्छा से उत्पन्न होते हुए ऐसे बहुत से विकल्प समूहरूप बहुत बड़ी नयों के पक्ष की भूमिका को उल्लंघन करके अंतरंग और बहिरंग में समतारस एक रस के स्वभाव वाले, अनुभूति मात्र अपने एक भाव को—अपने एक स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं ॥६०॥

काव्यार्थ—विपुल, महान् चंचल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उड़ते हुए समस्त इन्द्रजाल को जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण उड़ा देता है वह चिन्मात्र तेजः पुंज में हैं अर्थात् चैतन्य का अनुभव होने पर समस्त नयों का विकल्परूपी इन्द्रजाल उसी क्षण विलय को प्राप्त होता है ऐसा चित्रप्रकाश में हैं ॥६१॥

भावार्थ—इन कलश काव्यों से बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि नयों के पक्ष की अवस्था चौथे गुणस्थान से लेकर पाँचवें और छठे गुणस्थान में रहती है । आगे सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक निर्विकल्प ध्यान में ही यह नयों के पक्षपात रहित अवस्था घटित होती है । यह अवस्था अशुभ और शुभ से आगे बढ़कर तीसरी भूमिका में हैं । उसी में ही-निर्विकल्प ध्यान में यह स्थिति घटित होती है इसे ही श्रीजय-सेनाचार्य अपने सरल शब्दों में कहते हैं—

चाल छन्द (मात्रिक)—जिसमें है स्वेच्छा रूप, बहुत विकल्प लहे ।

जो बहु नय पक्ष स्वरूप, अटवी लधि रहे ॥

अन्तर्बहिः सम रस रूप, इक रस भाव गहे ।

अनुभूति मात्र ही एक, भाव अपूर्व लहे ॥६०॥

चाल छन्द (मात्रिक)—जो विपुल विकल्प स्वरूप, सहरो से उछले ।

यह सब इन्द्र का जाल, बिसकी कान्ति हरे ।

ऐसा वह चेतन मात्र, तेज-पुंज में ह ।

अब आत्मभूति कर प्राप्त, शुद्ध अभयमति हूँ ॥६१॥

(उत्थानिका)—अथ यस्माद्बद्धाबद्धादिविकल्परूपं नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेव बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवो न भवतीति प्रतिपादयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—कम्भं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण नयपक्षं जीवेधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोपि नयपक्षपातः स्वीकार इत्यर्थः पक्खातिशक्तौ पुण भण्णवि जो सो समयसारो नयपक्षातिक्रान्तो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा । तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयेनावद्धो जीव इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति

उत्थानिका—अब जिस हेतु से यह बद्ध-अबद्ध आदि विकल्प रूप से नयों का स्वरूप कहा गया है उसी हेतु से शुद्ध पारिणामिक परमभाव ग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से बद्ध-अबद्ध आदि नयों के विकल्प रूप यह जीव नहीं होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—आधारभूत जीव में यह कर्म बंधे हैं या नहीं बंधे हैं इस प्रकार का जो यह विकल्प है वह दोनों प्रकार का भी नयपक्षपात रूप से स्वीकार किया है । जो नयपक्ष से अतिक्रान्त कहा जाता है वह समयसार है—शुद्धात्मा है ऐसा समझना । उसे ही कहते हैं—‘व्यवहारनय’ से यह जीव कर्मों से बंधा हुआ है इस प्रकार का जो नय का विकल्प है वह शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है । उसी प्रकार निश्चयनय से यह जीव कर्मों से बंधा नहीं है इस प्रकार का भी जो नय का विकल्प है वह शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है । पुनः जो निश्चय और व्यवहार के द्वारा यह जीव अबद्ध है या बद्ध है यह भी जो वचन विकल्प है वह भी शुद्धजीव का स्वरूप नहीं है ।

प्रश्न—क्यों ?

उत्तर—क्योंकि श्रुत के विकल्प ही नय कहलाते हैं ऐसा कथन है । श्रुतज्ञान तो क्षयोपशमिक है और क्षयोपशम तो ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है । यद्यपि यह व्यवहारनय से छद्मस्थ की अपेक्षा से जीव का स्वरूप कहा जाता है फिर भी केवल ज्ञान की अपेक्षा से वह क्षयोपशम भाव शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है ।

वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । कस्मादिति चेत् ? श्रुतविकल्पा नया इति वचनात् । श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकं क्षायोपशमस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात् । यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धजीवस्वरूपं न भवति । तर्हि कथंभूतं जीवस्वरूपमिति चेत् ? योसौ नयपक्षपातरहितस्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति । तथा चोक्तं—

य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।

विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६६॥

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चित्तिद्वयोर्द्वाविति पक्षपाती ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

प्रश्न—तो जीव का स्वरूप क्या है ?

उत्तर—जो यह नयों के पक्षपात से रहित स्वसंवेदन ज्ञानी हैं उनके अभिप्राय से बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, आदि नयों के विकल्पों से रहित, चिदानन्द एक स्वभाव ही जीव का स्वरूप होता है समझना ।

उसी प्रकार से कहा भी है—

जो नयों के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्तलीन हुये नित्य ही स्थित रहते हैं, वे ही विकल्प जालों से च्युत होकर शांत चित्त होते हुये साक्षात् अमृत को पीते हैं ॥

एक नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से बंधा है दूसरे नय का पक्ष है कि जीव कर्मों से नहीं बंधा है चैतन्य आत्मा में ये दोनों नयों के दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व के वेत्ता हैं वे पक्षपात से शून्य हो जाते हैं उनकी चित्स्वरूप आत्मा निश्चय से निरंतर चित्स्वरूप ही है ॥

यहां बात यह है कि आगम के व्याख्यान के समय मनुष्य की बुद्धि जो निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों का आश्रय लेकर चलती है किन्तु वही बुद्धि तत्त्व को जान लेने के बाद स्वस्थ चित्त हुये—अपने आत्मस्वरूप में मन को लीन करने वाले पुरुष के दूर हो जाती है । अर्थात् ऊहापोहरूप नयों के पक्षपात की बुद्धि निर्विकल्प ध्यानी मुनि के नहीं रह पाती है—दूर हो जाती है ।

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका । वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते ।
हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतं ॥१४६॥

पक्षातिक्रान्तस्य किंस्वरूपमिति चेत्—

(१५० ज०) दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।

ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३अ०॥

निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के द्वारा हेय और उपादेय तत्त्व का निर्णय कर लेने पर हेय को छोड़कर उपादेय में लगे रहना यही साधु सम्मत है ॥१४६॥

भावार्थ—यहां श्रीजयसेनाचार्य ने श्रीअमृतचंद्रसूरि के द्वारा रचित ६६ और ७० इन दो कलश काव्यों को लेकर यह सिद्ध किया है कि सरागचारित्रधारी मुनि जब तक विकल्प अवस्था में रहते हैं तभी तक वे नयों का अवलंबन लेते रहते हैं, जब निर्विकल्प ध्यान में—अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप में लीन होकर शुद्धोपयोगी बन जाते हैं तब शुक्ल-ध्यान में या निश्चयधर्मध्यान में लीन होकर शुद्ध आत्मा के अनुभवस्वरूप अमृत का पान करते हुये परमानन्द अमृत से तृप्त होकर शुद्ध हो जाते हैं ।

चौथे और पांचवें गुणस्थानवर्ती भ्रातृक तो इस नयातीत-निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करने के पात्र नहीं हैं । हां, छठे गुण स्थानवर्ती मुनि ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते रहते हैं अतः वे कथंचित पात्र हैं क्योंकि छठे और सातवें गुणस्थानों का काल अंत-मूर्त-अंतर्मूर्त ही है अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि मुनि ही ध्यान में महामुनि बनकर 'स्वरूपगुप्ता' होते हैं । प्रथम ही श्रीअमृतचंद्रसूरि इस बात को कह आये हैं कि-‘उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं इत्यादि, यह अवस्था ध्यान में ही आती है ।

उत्थानिका—जो पक्ष से दूरवर्ती हैं उनका क्या स्वरूप है ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(समयप्रतिबद्धः द्वयोः अपि नययोः भणितं केवलं जानाति तु किंचित् अपि नयपक्षं न गृह्णाति) समय-शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध हुये—लीन हुये पुरुष दोनों भी नयों के कथन को केवल-मात्र जानते हैं किंतु किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं (नयपक्षपरिहीनः) क्योंकि वे नयपक्ष से रहित हो चुके हैं ।

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।

न तु नयपक्षं गृह्णाति किञ्चिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥१४३॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानधनभूतत्वाच्छु तज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति । तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेपि 'परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति न तु

आत्मख्याति—जैसे निश्चय से केवली भगवान् विश्व के—तीन लोक के साक्षीभूत होने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत ऐसे व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयपक्षों का केवल-मात्र स्वरूप ही जानते हैं किंतु किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि वे केवली भगवान् निरंतर उदयरूप, सहज, विमल, सकल, केवलज्ञानरूप से नित्य स्वयं ही आप विज्ञानधन स्वरूप हैं, इसीलिये वे श्रुतज्ञान की भूमिका का उल्लंघन कर चुके होने से संपूर्ण नयों के पक्ष को ग्रहण करने से अत्यंत दूर हो चुके हैं । उसी प्रकार के क्षयोपशम ज्ञान के वृद्धिगत होने से श्रुतज्ञान स्वरूप विकल्पों के उत्पन्न होने पर भी पर को ग्रहण करने के प्रति उत्सुकता के दूर हो जाने से श्रुतज्ञान के अवयवभूत ऐसे व्यवहार और निश्चयनय इन दोनों नयों के पक्ष का केवल स्वरूप ही जानते हैं किंतु वे किन्हीं भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि भतिश्रुतज्ञानी-महामुनि अतीव तीक्ष्ण विवेक दृष्टि से तुषरहित धान्य के सदृश—निर्मल नित्य ही उदयरूप चैतन्यमात्र शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध होने से—शुद्धात्मा में लीन होने से—उस काल में स्वयं आप ही विज्ञानधन स्वरूप हैं और इसीलिये वे श्रुतज्ञानमय संपूर्ण अंतरंग तथा बहिरंग जल्परूप जो विकल्प, उन विकल्पों की भूमिका का उल्लंघन कर चुके हैं यही कारण है कि वे संपूर्ण नयपक्षों के ग्रहण करने से दूर हो चुके हैं और वही निश्चय से संपूर्ण विकल्पों से परे परमात्मा-परम-शुद्ध आत्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योतिस्वरूप,

(१५० ज०) शुद्धात्म तत्त्वज्ञाता मुनिवर निज समयसार में लीन रहें ।

दोनों नयपक्षों को जानें केवल लेकिन स्वाधीन रहें ॥

नहिं दोनों पक्षों में से कुछ भी ग्रहण करें निज जीवन में ।

क्योंकि नयपक्ष रहित ऋषिवर बस ध्यानलीन निज आत्म में ॥१४३ अ०॥

१. परपरिग्रहं प्रति, पर परिग्रह परि, इत्यपि पाठो ।

खरतरदृष्टिगृहीतमुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वान्
श्रुतज्ञानात्मकसमस्तान्तर्निर्गुणत्वविकल्पभूमिकातिक्कांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंच-
नापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योति-
रात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः ॥१४३॥

स्वागताच्छिव—चित्स्वभावभर^१भावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकं ।

बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं ॥६२॥

आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार हैं । अथवा वे ही श्रुतज्ञानी महासाधु संपूर्ण
विकल्पों से अत्यंत दूरवर्ती हैं, परमात्मा-परम उत्कृष्ट आत्मा हैं, ज्ञानात्मा हैं । अथवा
प्रत्यग्ज्योति—अतिशय ज्योतिः स्वरूप हैं, आत्मा की ख्याति—प्रतीतिरूप हैं, अनुभूतिमात्र
होने से समयसार स्वरूप हैं ॥१४३॥

उसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—चित्स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप से
किया गया जिसका परमार्थ स्वरूप है इसलिये जो एक है ऐसे अपार समयसार को मैं
समस्त बंधपद्धति को दूर कर-कर्मोदय से होने वाले सर्वभावों को छोड़कर अनुभव करता
हूँ ॥६२॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार भगवान् अर्हंत केवली सदा नयपक्षों को ग्रहण न करते हुये
भी मात्र उन सभी के जानने और देखने वाले हैं । उसी प्रकार से जो श्रुतज्ञानी भी संपूर्ण
नयपक्षों में से किसी का भी विकल्प न करके जब मात्र उनके ज्ञातादृष्टा हो रह जाते हैं
उस समय वे शुद्धात्मा के ध्यान में पूर्णतया लीन रहते हैं । यह अंतः बाह्य जल्प से रहित,
संपूर्ण विकल्पों की भूमिका से परे जो अवस्था है वह निविकल्प ध्यान में ही घटित होती है
तभी यह आत्मा आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार कहलाता है । सर्वथा यह अवस्था
शुद्धोपयोगी महामुनि के अभेदरत्नत्रय लक्षण एकाग्र चित्ता निरोधरूप शुक्लध्यान में ही

वान छन्द (मात्रिक) — बुध्र ऐसा करे विचार, बन्धन रुद्धि तज्जु ।

जो समयसार नहिं पार, मैं अनुभूति घरूँ ॥

चिद्भावों में उत्पाद, व्यय बर ध्रौव्य रहे ।

ऐसा जिसका परमार्थ एक स्वरूप कहे ॥६२॥

(उत्थानिका)—अथ नयपक्षातिक्रान्तस्य शुद्धजीवस्य किंस्वरूपमिति पृष्ठे सति पुन-
विशेषेण कथयति;—

तात्पर्यवृत्ति—योसौ नयपक्षपातरहितः स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्ध-
मूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं दोषह्वि नयाण भणियं जाणइ यथा भगवान्
केवली निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति । नवरं तु समयपरि-
बद्धो तथापि नवरि केवलं सहजपरमानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन्

घटित होती है । और पुनः कलश काव्य के अनुसार वहीं पर बंध की पद्धति—परंपरा समाप्त
हो जाती है । हां, शुद्धनिश्चयनय से मेरी आत्मा इस निर्विकल्प परिणतिरूप समयसार है
ऐसा तो चतुर्थ, पंचम या छठे गुणस्थान में भी श्रद्धान किया जाता है और भावना भार्या
जाती है किंतु यह भी तो भावना व चिंतन अथवा विचार सब निश्चयनय का पक्ष है ।
इस पक्ष के विकल्प से भी परे होना ही इस गायत्रा द्वारा वर्णित समयसार है वह आज के
युग में हम व आपको अतीव दुर्लभ है । जिनकल्पी, उत्तमसंहननधारी, महामुनि ही इस
तृतीय विकल्पातीत—नयातीत अवस्था के पात्र हैं—अधिकारी हैं अतः वर्तमान में दोनों नयों
के पक्ष को सापेक्ष ग्रहण कर सम्यग्दृष्टि बने रहना और शुद्धनय से शुद्धात्म तत्त्व को
जानकर व्यवहारनय से रत्नत्रय को एक देश या सकल रूप से धारण कर आत्मा को उस
तृतीय भूमिका को प्राप्त करने के लिये पात्र बना लेना यही श्रेयस्कर है यही समयसार
पढ़ने का सार है ।

आगे श्रीजयसेनाचार्य के सरल शब्दों में सुनिये—

उत्थानिका—नयपक्ष का उल्लंघन करने वाले शुद्धजीव का क्या स्वरूप है ? ऐसा
पूछने पर आचार्यदेव पुनः विशेष रूप से कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो ये नयों के पक्षपात रहित स्वसंवेदवज्ञानी उसके अभिप्राय से बद्ध-
अबद्ध, मूढ़-अमूढ़ आदि नयों के विकल्पों से रहित चिदानन्द एकस्वभाव आत्मा को जानते
हैं जैसे कि केवली भगवान् जानते हैं । केवली भगवान् निश्चय और व्यवहार इन दोनों
नयों के द्वारा कहे गये द्रव्य-पर्यायरूप पदार्थ को जानते हैं फिर भी ये केवलमात्र, सहज-
परमानन्द एक स्वभाव वाले समयस्वरूप शुद्ध आत्मा से प्रतिबद्ध अथवा उसके आधीन हुये

नयपक्षपरिहोणो सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुताज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनित-
विकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वाद् न तु नयपक्षं विहृदि किञ्चिच्चि न तु नय-
पक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथायं गणधरदेवादिछद्मस्थजनोपि नयद्वयोक्तं
वस्तुस्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः
सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरी-
भूतत्वान्नयपक्षपातरूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न
गृह्णाति ॥१५०॥

हमेशा विलासमय उदय को प्राप्त केवल ज्ञानरूप से सहित हैं अतः वे श्रुतज्ञानवरण कर्म के
क्षयोपशम से उत्पन्न हुये विकल्प जालरूप जो वो परस्पर विरोधी नयों के पक्षपात हैं
उनसे दूरवर्ती हैं इसलिये कुछ भी नयपक्ष के विकल्प को अपने रूप ग्रहण नहीं करते हैं ।
चूँकि ये केवली भगवान् सर्वथा मोहनीय कर्म और ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अंतराय इन
चारघातिया कर्मों से रहित हो चुके हैं ।

वैसे ही ये गणधर देव आदि छद्मस्थ जन अर्थात् श्रुतज्ञानी महामुनि आदि भी दोनों
नयों द्वारा कहे गये वस्तु के स्वरूप को जानते हैं फिर भी ये केवल चिदानन्द एकस्वभावो
समय—शुद्धात्मा के आधीन होते हुये श्रुतज्ञानवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुये जो विकल्प
जालरूप दोनों नयों के पक्षपात, उनसे रहित हैं शुद्धनिश्चयनय से उनसे दूरवर्ती हैं अतः वे
नयपक्षपात के स्वीकार से विकल्पों को निर्विकल्प समाधि के काल में शुद्धात्मा के रूप से
ग्रहण नहीं करते हैं ॥१५०॥

भावार्थ—यहाँ केवली भगवान् के सदृश गणधर देव आदि श्रुतकेवली साधु या
निर्विकल्प ध्यानी महामुनि ही निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर नयों के विकल्पों से रहित
हो जाते हैं ऐसा सरल शब्दों में कहा गया है । और वही समयसार है ऐसा भी कहा है ।
तात्पर्य यह है कि ध्यान में लीन हुये मुनि किसी भी अन्य पदार्थ के साथ किसी प्रकार का
कोई भी लगाव न रखकर मात्र चिच्चैतन्य स्वरूप अपने आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं ।
अन्यथा वह ध्यान निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप ध्यान भला कैसे कहलायेगा ? यहाँ जो केवली
भगवान् की सदृशता कही है व उतनी ही है कि केवल ज्ञानी भगवान् भी सम्पूर्ण विश्व को
जानते हुये भी उनमें न रागद्वेष करते हैं न विकल्प ही, मात्र अपने स्वभाव में ही लीन हैं वैसे

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते; —

(१५१ ज०) सम्महंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं ।

सम्यग्दर्शनपक्षरहितो भणितो यो स समयसारो ॥१४४ अ०॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशं ।

सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥१४४॥

आत्मख्यातिः—अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते । यः खल्वखिलनय-
पक्षाक्षुण्णतया विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः । यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभाव-
मात्मानं निश्चित्य ततः खल्व्वात्मख्यातये परख्यातिहेतून्खिला एवंद्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधीर्य

ही ध्यानी मुनि भी तात्कालिक ध्यान में लीन हैं अतः वे भी राग-द्वेष रूप से परिणत न होकर मात्र नयों के ही ज्ञाता हैं । हाँ, अन्तर यही है कि केवल ज्ञानी का ज्ञान क्षायिक है, शाश्वत है और महामुनि का ज्ञान अयोपशमिक है । भगवान् पूर्णतया प्रत्यक्ष रूप से सारे विश्व को देखते-जानते हैं किन्तु ये मुनि मात्र स्वानुभव प्रत्यक्ष से केवल अपनी आत्मा का ही अनुभव करते रहे हैं ।

उत्थानिका—पक्षों का उल्लंघन कर जाना ही समयसार है इस प्रकार से सिद्ध हो जाता है, ऐसा आचार्य देव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्यग्दर्शनज्ञानं इति केवलं एतत् व्यपदेशं लभते) यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही केवल यह नाम प्राप्त करता है कि (सर्वनयपक्षरहितः यः भणितः सः समयसारः) सर्वनयों के पक्ष से रहित जो कहा गया है वही समयसार है ।

आत्मख्याति—यह एक ही केवल सम्यग्दर्शन और ज्ञान इस नाम को प्राप्त करता है जो कि निश्चय से अखिल नयों के पक्षों से भेदरूप नहीं किया गया है अतः जिसमें समस्त विकल्प व्यापार विराम ले चुके हैं बस वही 'समयसार' है—आत्मा का शुद्धस्वरूप

(१५२ ज०) जो असली समयसार वह तो सब नयपक्षों से विरहित है ।

वह तो वास्तव में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान रूप ही है ॥

ऐसे ही निर्विकल्प ध्यानी मुनि समयसार कहलाते हैं ।

श्रावक तो श्रद्धा मात्र करें नहि समयसार लख पाते हैं ॥१४४॥

आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैराकुलयन्तीः श्रुतज्ञान-
बुद्धीरप्यवधीर्यं श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्त्यन्तमविकल्पो भूत्वा क्षणित्येव स्वरसत एव
व्यक्तीभवन्तमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरन्तमिवाखंडप्रतिभास-
मयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते जायते च ततः सम्यग्दर्शनं
ज्ञानं च समयसार एव ॥१४४॥

है। अर्थात् यह समयसार एक होकर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इस संज्ञा को प्राप्त होता है। क्योंकि प्रथम श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय करके पश्चात् आत्मख्याति-शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के लिये परख्याति-पर द्रव्यों की अनुभूति के कारण-भूत सम्पूर्ण ही इंद्रिय और मन सम्बंधि बुद्धि को तिरस्कृत कर जिसने मतिज्ञान तत्त्व-मति-ज्ञान—का स्वरूप आत्मा के सम्मुख किया है। उसी प्रकार से नाना विध नय पक्षों के अव-लम्बन द्वारा अनेक विकल्पों से आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञानरूपी बुद्धि को भी गौण कर श्रुतज्ञान के तत्त्व के स्वरूप को भी अपनी आत्मा के अभिमुख करता हुआ जो मुनि अत्यन्त पूर्णरूप से निर्विकल्प हो गया है ऐसा महामुनि ही स्वभाव से ही शीघ्र प्रगट होने वाले, आदि, मध्य और अन्त से विमुक्त आकुलता रहित, एक होने पर भी समस्त विश्व के ऊपर तैरते हुये के समान स्थित, अखंड प्रतिभासमय, अनन्तरूप, विज्ञान घन ऐसे परमात्मास्वरूप 'समयसार' का अनुभव करता हुआ जो आत्मा सम्यक् प्रकार से श्रद्धान किया जाता है और जाना जाता है इसीलिये जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है वह समय-सार ही है ॥१४४॥

भावार्थ—जब यह आत्मा इंद्रिय और मन से उत्पन्न हुये मतिज्ञान को गौणकर वैसे ही अनेक नयों के विकल्परूप श्रुतज्ञान को भी गौणकर मानस मतिज्ञान और स्वसंवे-दनरूप श्रुतज्ञान को अपनी आत्मा के अभिमुख करके निर्विकल्प होकर अपने शुद्ध आत्म-तत्त्व का अनुभव करने लगता है तब वह ध्यान में स्थित हुआ महासाधु समयसार रूप परिणत हो जाता है। उसी समय इसके सम्यग्दर्शन ज्ञान दोनों एकरूप से समयसार ही कहलाते हैं। वह दर्शन ज्ञानमय अवस्था सरागचारित्र के अनन्तर वीतराग चारित्र से सहित है अतः व्यवहाररत्नत्रय के अनन्तर निश्चयरत्नत्रय प्रकट हो जाता है यही अभेद-रत्नत्रय अवस्था ही समयसार अवस्था है। यह भी कारण समयसार है आगे केवलज्ञान का प्रगट हो जाना ही कार्य समयसार है ऐसा समझना।

अब कलश काव्यों से यही विषय स्पष्ट करते हैं—

शार्दूलविक्रीडित—आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
 सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं ।
 विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
 ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोप्ययं ॥६३॥

काव्यार्थ—नयों के पक्षों के बिना अचल और निविकल्प भाव को प्राप्त करता हुआ निभृत-एकाग्रचित्त पुरुषों के द्वारा अनुभव में आता हुआ यह समय का सार—शुद्धात्मा का स्वरूप शोभायमान हो रहा है । यह विज्ञानस्वरूप एकरस से युक्त समयसार है । यही वह भगवान् है, यही वह पुण्य पुरुष है, पुराण पुरुष है, उसे चाहे ज्ञान कहो, चाहे दर्शन कहो अथवा जो चाहे सो कहो वह एक ही इन शब्दों से अनेक नाम को प्राप्त होता है ॥६३॥

भावार्थ—यहाँ उस समयसार का कथन है जो कि आत्मा की शुद्ध परिणतिरूप है । इस अवस्था में नयों का पक्ष छूट जाने से स्थायी निविकल्प ध्यान सिद्ध हो जाता है । इसी को यहाँ भगवान् कहा है, पुण्य पुरुष, पुराण पुरुष कहा है । यहाँ समस्त रागादि भाव निकल चुके हैं इसीलिये ज्ञान मात्र एक रस का ही अनुभव रह जाता है । इस स्थिति को श्रीअमृतचन्द्र पहले भी गाथा १३ की टीका में कलश काव्य में कह चुके हैं कि—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
 क्वचिदपि न स विद्यो याति निक्षेपचक्रं ।
 किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्
 अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥६४॥

समस्त भावों को नष्ट करने वाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य चमत्कारमात्र तेजःपुंज आत्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहां चला जाता है, यह हम नहीं जानते । अधिक और क्या कहें ? द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता है ।

त्रिभंगी-छन्द (मात्रिक)—नय पक्ष रहित जो, नाश रहित जो, निविकल्प को प्राप्त हुआ ।
 निश्चल नर द्वारा अनुभववाला, ज्ञान एक रस युक्त हुआ ॥
 जो समयसार है वह शृंगार है, जिनवर पुण्य पुरुष भी है ।
 वह ज्ञान कहो या दर्शन हो या, एक शब्द से कुछ भी है ॥६३॥

शार्दूलविक्रीडित—दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्युतो,
 दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
 विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्,
 आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥६४॥

वास्तव में यह स्थिति सातवें गुणस्थान से शुद्ध होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है । इसके पहले तो सविकल्प दशा ही रहती है ।

काव्यार्थ—जैसे अपने समूह से च्युत हुये दूर गहन वन में बहने वाले जल को दूर से ही ढलान वाले मार्ग के द्वारा अपने जल समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाता है तो पुनः वह जल अपने समूह में आ मिलता है उसी प्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभाव-रूप अनेक गुणों के समूह से च्युत होकर प्रचुर रसिकता जातों के गहन वन में दूर तक परिभ्रमण कर रहा था उसे दूर से ही विवेकरूपी ढलान वाले मार्ग के द्वारा अपने विज्ञान-घन स्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिये केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को जो एक विज्ञानघन वाला ही अनुभव में आता है ऐसा वह आत्मा, आत्मा को आत्मा में आकृष्ट करता हुआ—खींचता हुआ—सदा विज्ञानघन स्वभाव में आकर मिल जाता है ॥६४॥

भावार्थ—जैसे समुद्र का जल वाष्पादि द्वारा मेघ बनकर इधर-उधर बरसता है । पश्चात् वही जल निम्नगामिनी नदियों द्वारा अंत में समुद्र का समुद्र में मिल जाता है । ऐसी आत्मा भी मोह कर्म के उदय से राग-द्वेष आदि द्वारा परपदार्थों में फँस रहा है । जब मोह का अन्त हो जाता है तब यह पर से विरक्त हो भेदज्ञान के बल से अपने ही चित्पिंड चैतन्य स्वरूप में विलीन हो जाता है ।

त्रिभंगी-छन्द (मात्रिक)—यह जिय स्वभावच्युत, बहु विकल्पयुत, जाल गहन में भ्रमण किया ।
 विज्ञान मार्ग के, गमन शक्ति से, गुण समूह में मिला दिया ॥
 वह एक ज्ञान रस, आत्म रूप लख, रसिकजनों को हरण किया ।
 जो जल समान है, भासमान है, आत्मलीन में प्राप्त हुआ ॥६४॥

अनुष्टुप्—विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलं ।

न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥६५॥

रथोद्धताछंव—यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं ।

यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥६६॥

इंद्रवज्राछंव—ज्ञप्तिः करोती न हि भासतेऽतः ज्ञप्ती करोतिश्च न भासतेऽतः ।

ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥६७॥

काव्यार्थ—विकल्प करने वाला आत्मा केवल कर्ता है और ये विकल्प केवल कर्म हैं । विकल्प सहित पुरुष का कर्ता-कर्म भाव कभी नष्ट नहीं होता है ॥६५॥

भावार्थ—अनादिकाल से भी स्वभाव से यह आत्मा ज्ञायकमात्र है फिर भी मोह के निमित्त से यह नाना प्रकार के विकल्प भावों को करते हुए उन भावों का कर्ता होता है तथा ये विकल्प भाव ही इसके कर्म-भावकर्म-बन रहे हैं अतः इसी विकल्प सहित आत्मा के कर्ताकर्म की प्रवृत्ति कभी भी नष्ट नहीं हो सकती है । वही कारण है कि जब यह निविकल्प ध्यानी बनेगा तभी कर्मों का कर्ता न होकर कर्मबंध से छूटेगा ।

काव्यार्थ—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है । जो करता है वह कहीं जानता नहीं है और जो जानता है वह कहीं करता नहीं होता है ॥६६॥

भावार्थ—आत्मा की कर्तृत्व अवस्था अशुद्ध अवस्था है । यह दसवें गुणस्थान तक भी तरतमता से रहती है । इससे आगे बीतरागी महासाधु के मात्र ज्ञायकभाव ही शुद्ध रह जाता है वहाँ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है ।

काव्यार्थ—जो जानने रूप क्रिया है वह करने रूप क्रिया के अंतः—भीतर में प्रति-भासित नहीं होती है और जो करने रूप क्रिया है वह जानने रूप क्रिया के अंतः—भीतर

अनुष्टुप् छन्द (वर्णिक)—विकल्पक परं कर्ता, कर्म विकल्प केवलं ।

सविकल्प नरं क्वचित्, कर्तुं कर्म न नश्यति ॥६५॥

अनुष्टुप्-छन्द (वर्णिक)—कर्ता स्वयं रहे कर्ता, ज्ञाता ज्ञायक मात्र ही ।

ज्ञायक सो नहीं कर्ता, कर्ता ज्ञायक हो नहीं ॥६६॥

अनुष्टुप् छन्द (वर्णिक)—कर्तृ क्रिया नहीं जप्ति, क्रिया न कर्तृ है ।

दोनों भिन्न सदा सो है, ज्ञाता जो कर्ता न है ॥६७॥

शार्दूलविक्रीडित—कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
 द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
 ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्वयतेति वस्तुस्थितिः,
 नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किं ॥६८॥

में प्रतिभासित नहीं होती है क्योंकि 'करोति और ज्ञप्ति' ये दोनों क्रियाये भिन्न-भिन्न हैं ।
 इसने यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है । ६७।

काव्यार्थ—निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है और न कर्म कर्ता में ही है, यदि इस प्रकार परस्पर में दोनों का निषेध किया जावे तो कर्ता-कर्म की क्या स्थिति होगी ? अर्थात् जीव और पुद्गल में कर्ता-कर्मपना कदापि भी नहीं हो सकेगा । पुनः इस प्रकार तो ज्ञाता सदा ज्ञाता में ही रहता है और कर्म सदा कर्म में ही रहता है यह सदा वस्तु की स्थिति प्रगट है तथापि अरे ! नेपथ्य में—परदे के भीतर यह मोह क्यों अतिशय वेग से नृत्य कर रहा है ? यह बड़े खेद का विषय है । ६८।

भावार्थ—'ज्ञाता ज्ञेय को जानता है' यहाँ ज्ञाता कर्ता हुआ और ज्ञेय उसका कर्म हुआ । किन्तु फिर भी वस्तुस्वरूप की अपेक्षा विचार किया जाय तो ज्ञाता ज्ञाता ही रहता है, ज्ञेयरूप नहीं होता है और ज्ञेय ज्ञेयरूप ही रहता है, ज्ञाता रूप नहीं हो जाता है । मात्र ज्ञाता के ज्ञानरूप गुण की स्वच्छता से ज्ञेय पदार्थ उसमें प्रतिभासित होते हैं । वह ज्ञाता तद्रूप नहीं होता है यह ज्ञाता और ज्ञेय अथवा कर्ता और कर्म की व्यवस्था है । यहाँ यह समझना है कि जब तक मोह कर्म का उदय है तब तक इच्छापूर्वक जानने की क्रिया होने से नाना विकल्प होते हैं, यही तक आत्मा कर्ता होता है और उसके कर्मबंध होते रहते हैं, जब निर्विकल्प दशा हो जाती है तब ज्ञाता मात्र ज्ञाता ही रह जाता है कर्मबंध न होने से वह कर्ता नहीं होता है । अतः यह अनादिकालीन मोह ही पीछे से—परदे के भीतर-से अपना नाट्य दिखलाकर लोगों को मुग्ध कर रहा है यह बड़े दुःख की बात है अथवा मोह भले ही

मद अवसिस्त कपोल छन्द (मात्रिक)—

निश्चय से नहीं कर्तृ कर्म में, कर्म कर्तृ में नहीं बुधजन ।
 कर्ता कर्म निषेध होय फिर, द्वैत रूप स्थिति क्यों मान ॥
 ज्ञाता ज्ञायक में वह कर्मणि, कर्म स्थिति प्रसिद्ध बखान ।
 फिर भी छिपकर मोह वेग से, नृत्य करे यह खेद महान् ॥६८॥

अथवा नानद्यता तथापि ।

संवाक्रांता—

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मपि नैव ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चैश्चिबच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥६६॥

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांता ॥

नृत्य करता रहे तो भी वस्तु का स्वरूप जो है, सो ही रहता है यही आगे के कलश द्वारा दिखलाते हैं—

काव्यार्थ—जिसके अंत में चैतन्य शक्तियों के समूह के भार से देवीध्वमान, अविनाशी, उत्कृष्ट तथा अत्यन्त गम्भीर यह 'ज्ञान ज्योति' प्रगट हो चुकी है कि जिसके प्रभाव से कर्ता कर्ता नहीं होता है-कर्म भी कर्म नहीं होता है प्रत्युत ज्ञान ज्ञान ही हो जाता है और पुद्गल पुद्गल ही हो जाता है ॥६६॥

भावार्थ—जब अंतरंग में ज्ञान ज्योति प्रगट हो जाती है तब यह आत्मा जो कि अज्ञान से कर्ता हो रहा था सो वह अब कर्ता नहीं होता है और कर्म जो कि अज्ञान से पुद्गल कर्मरूप हो रहा था सो वह कर्मरूप नहीं होता है । उस समय तो मात्र ज्ञान ज्ञान-रूप ही रहता है और पुद्गल भी पुद्गलरूप ही रहता है । यह ज्ञानज्योति की प्रगटतारूप अवस्था सातवें गुणस्थान से शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में ही पूर्णता को प्राप्त होती है पुनः आगे केवल ज्ञान को प्रगट कर अखिल विश्व को ज्ञेयरूप से जानते हुए भी अपने आप ही अनंत ज्ञान इस नाम को प्राप्त कर लेती है । फिर भी यह 'ज्ञान ज्योति' श्रद्धानरूप से चौथे गुणस्थान से ही प्रगट हो जाती है, आत्मा में निश्चल अनुभूति रूप से ही सातवें गुण-स्थान से निर्विकल्प ध्यान में प्रगट होती है ।

जो जीव और अजीव कर्त्ता-कर्म वेष को रखकर नाट्यशाला में रंगमंच पर आये थे । वे अपना नाटक दिखाकर जब सम्यग्दृष्टि के ज्ञान द्वारा जान लिये गये तब वे जीव

मद अवलिप्त कपोल छन्द (मात्रिक)—

जिसके उर चैतन्य शक्ति के, गुण समूह से हुआ प्रकाश ।
अचल तेज गंभीर रूप उस, नान ज्योति का हुआ विकास ॥
जिसके बल से कर्त्तृ कर्त्तुं अरु, कर्म कर्म से नहीं बखान ।
ज्ञान ज्ञान ही पुद्गल पुद्गल "अभयमति" भिन्न लहान ॥६६॥

तत्रैवं सति जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ नृत्यानंतरं शृङ्गारपात्रयोः परस्परपृथग्भाववत् शुद्ध-
निश्चयेन जीवाजीवी कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्याती

कर्तृकर्मप्ररूपको द्वितीयोऽंकः ॥२॥

(उत्थानिका)—अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्याधिकनयेन नयविकल्प-
स्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रान्त एव समयसार इत्येव तिष्ठति—

तात्पर्यवृत्तिः—सध्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो इन्द्रियानिन्द्रियजनितबहि-
विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितः^२ समयसारमनु-
भवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत् आत्मा ततः कारणात् सम्मद्दृशणणाणं

और अजीब अपना-अपना कर्त्ता और कर्म वेष छोड़कर पृथक्-पृथक् होकर रंगभूमि से बाहर
निकल गये ।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित आत्मख्याति नाम की इस समय-
सार की व्याख्या में कर्त्ता-कर्म को प्ररूपित करने वाला यह दूसरा अंक पूर्ण हुआ ।

इति श्री मद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित “समयसार” प्राभृत ग्रंथ में श्री अमृत-
चन्द्र सूरि कृत आत्मख्याति के रहस्य को प्रकाशित करने वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत इस
“ज्ञानज्योति” भाषा टीका में यह कर्त्ताकर्म प्ररूपित करने वाला दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ।

उत्थानिका—शुद्ध परिणामिक परमभाव को ग्रहण करने वाले ऐसे शुद्धद्रव्याधिक
नय की अपेक्षा से यह आत्मा नय विकल्पस्वरूप समस्त पक्षपातों का उल्लंघन कर चुका है
ऐसा आत्मा ही समयसार है ऐसी बात सिद्ध हो जाती है, इसे ही कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—इन्द्रिय और मन से होने वाले, बाह्य विषय को जानने वाले ऐसे
सम्पूर्ण मतिज्ञान के विकल्पों से रहित होते हुये बद्ध-अबद्ध आदि विकल्परूप नयों के पक्षपातों
से रहित जो आत्मा है वह निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनियों के द्वारा समयसार का
अनुभव करते हुये जाना जाता है । अथवा बद्ध-अबद्ध आदि नयों के पक्षों से रहित जो
समयसार है उसका अनुभव करता हुआ जो आत्मा है वही निर्विकल्प ध्यानी मुनियों द्वारा

एवं लहदिति णवरि ववदेसं नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं संज्ञां लभते । न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति । एवं निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन नवमोत्तराधिकारः समाप्तः ॥१५१॥

(उपसंहारः)—इत्यनेन प्रकारेण जाव ण वेदि विसेसं इत्यादिगाथामादि कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानिसज्ञानिजीवयोः संक्षेपसूचनार्थं गाथाषट्कं । तदनंतरमज्ञानिसज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथाः । ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरण-

जाना जाता है वही समयसार है । यही कारण है कि वह केवल सकलविमल केवल दर्शन और केवल ज्ञान रूप संज्ञा को प्राप्त कर लेता है किन्तु बद्ध-अबद्ध आदि संज्ञा को प्राप्त नहीं करता है । इस प्रकार निश्चय और व्यावहार इन दोनों नयों के पक्षपात से रहित शुद्ध समयसार के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथाओं द्वारा यह नवमां अधिकार समाप्त हुआ ॥१५१॥

विशेषार्थ—इस गाथा में श्री कुंदकुंदेव ने यह बात कही है कि सर्व नयों के पक्ष से रहित जो कुछ है वही समयसार है । उसके सम्यग्दर्शन ज्ञान ये नाम हैं । यहाँ ऐसा समझना कि ये दर्शन ज्ञान वीतराग चारित्र्य से अविनाभूत हैं । चूंकि इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने 'अत्यंतं निर्विकल्पो भूत्वा' वाक्य रखा है यह अतिशयरूप निर्विकल्प ध्यान में ही घटित होता है । इसी की पुष्टि आगे के सात कलश काव्यों द्वारा की है । उसी को श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि 'निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुषों के द्वारा ही वह समयसार अनुभव में आता है ।' पुनः 'सम्यग्दर्शन ज्ञान संज्ञा' से केवलज्ञान और केवलदर्शन को लिया है अतः उनके शब्दों में यह नय पक्ष रहित समयसार केवलज्ञानमय कार्य समयसार रूप ही लिया गया है ऐसा समझना । इस ग्रंथ में श्री जयसेनाचार्य ने समयसार के कारण समयसार और कार्य समयसार ऐसे दो भेद किये हैं । उनमें से केवलज्ञान की प्राप्ति में कारण ऐसा जो शुद्धोपयोग रूप निश्चयरत्नत्रय है वह कारण समयसार है और केवलज्ञान की प्रगटारूप कार्य समयसार है ।

उपसंहार—इस प्रकार "जाव ण वेदि विसेसंतरं" इत्यादि गाथा की आदि में करके पाठ के क्रम से अज्ञानी और संज्ञानी जीव को संक्षेप से सूचित करते हुये छः गाथायें हुई हैं । पुनः अज्ञानी और संज्ञानी जीव के विशेष व्याख्यान रूप से ग्यारह गाथायें हुई । इसके

मुख्यत्वेन गाथापञ्चविंशतिः । तदनंतरं प्रत्यया एव कर्म कुर्वतीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तकं । ततश्च जीवपुद्गलकथंचित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं । ततः परं ज्ञानमयाज्ञानमय-परिणामकथनमुख्यतया गाथानवकं । तदनंतरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययभेद-प्रतिपादनरूपेण गाथापञ्चकं । ततश्च जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं । ततः परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेण गाथाचतुष्टयं चेति समुदाये-नाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरंतराधिकारैः कर्तृकर्ममहाधिकारः समाप्तः ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्ती-
पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संबंधी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ॥

बाद चेतन और अचेतन के कार्य का एक ही उपादानकर्ता है ऐसे द्विक्रियावादी के निरा-
करण की मुख्यता से पञ्चोस गाथायें हुई हैं । अनंतर प्रत्यय ही कर्मों की करते हैं, इसके
समर्थन द्वारा सात गाथा सूत्र हुये हैं । पुनः जीव और पुद्गल इन दोनों को कथंचित्
परिणामी सिद्ध करने की मुख्यता से आठ गाथासूत्र हुये । तत्पश्चात् ज्ञानमय परिणाम
और अज्ञानमय परिणाम के कथन की मुख्यता से नव गाथासूत्र हुये । अनंतर अज्ञानमय
भाव के मिथ्यात्व आदि पाँच प्रत्यय रूप भेद हो जाते हैं, इस कथन के द्वारा पाँच गाथा-
सूत्र कहे गये हैं । इसके बाद जीव और पुद्गल में परस्पर में एक-दूसरे के प्रति उपादान
कर्तृत्व है, इस कथन का निषेध करते हुये तीन गाथायें कही गई हैं । अनंतर नयों के
पक्षपात से रहित ही शुद्ध समयसार है, इस कथन रूप से चार गाथायें कही गई हैं । इस
तरह समुदाय से अठत्तर गाथाओं में नव अंतराधिकारों द्वारा यह कर्तृकर्म नाम का महा-
धिकार पूर्ण हुआ है ।

यहाँ ऐसा सिद्ध हो जाने पर जीवाजीवाधिकार की रंगभूमि में नृत्य करके शृंगार
और पात्र के परस्पर पृथक् भाव के समान शुद्ध निश्चयनय से जीव और अजीव कर्त्ता और
कर्म के वेष को छोड़कर निकल गये हैं, ऐसा समझना ।

इस प्रकार श्रीजयसेनाचार्यकृत समयसारकी व्याख्या में शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाली
इस तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में पुण्य-पाप आदि सात पदार्थों से सम्बन्धित पीठिकारूप
यह तीसरा महा-अधिकार समाप्त हुआ ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंवाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत ग्रंथ में
 श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्य
 कृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने
 वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत इस "ज्ञान-
 ज्योति" नामा भाषा टीका में
 यह कर्त्ताकर्म नाम का
 बूसरा अधिकार
 पूर्ण हुआ :

नोट—श्रीजयसेनाचार्य के अनुसार यह द्वितीय अधिकार पूर्ण हुआ है ।

कर्त्ता कर्म अधिकार सार

इस समयसार ग्रन्थ में सर्व प्रथम आचार्यदेव ने कहा था कि—

(१५ ज०) भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपापं च ।

आस्रवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३अ०॥

भूतार्थनय से जाने गये ये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा बंध और मोक्ष ये नव पदार्थ ही सम्यक्त्व हैं । अतः इस ग्रन्थ में इन नव पदार्थों का ही वर्णन किया गया है । पुनः जीव और अजीव अधिकार के बाद यह कर्त्ता-कर्म अधिकार कहाँ से आया ? भला यह कौन-सा तत्त्व या पदार्थ है ? ऐसी आशंका होने पर इसका समाधान बहुत ही सुन्दर समझ में आया कि श्रीजयसेनाचार्य की पंक्तियों से, जैसा कि उन्होंने इस अधिकार के प्रारम्भ की भूमिका में ही कहा है—

“पूर्वोक्त जीवाधिकार की रंगभूमि में ये जीव और अजीव दोनों ही यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से कर्त्ता-कर्मभाव से रहित थे फिर भी व्यवहारनय से ये दोनों ही कर्त्ता-कर्म के वेष में शृंगार सहित पात्र के समान प्रवेश करते हैं । इस प्रकार अठत्तर गायकों द्वारा नौस्थलों से व्याख्यान करेंगे । इस प्रकार पुण्य पाप आदि सात पदार्थों की पीठिका रूप से यह तीसरा महाधिकार कहा जा रहा है उसकी यह समुदाय पातनिका है ।”

अतः यह समझ में आता है कि जब ये जीव और अजीव आपस में मिलते हैं, कर्त्ता-कर्म का वेष धारण करते हैं तभी आगे के पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध

और मोक्ष ये सात पदार्थ बनते हैं अन्यथा नहीं बन सकते हैं । जब जीव पौद्गलिक कर्मों के उदय से रागादि भावों को करता है तब यह पुद्गलद्रव्य कार्मणवर्गणा द्वारा कर्मरूप से परिणत हो जाता है । इसके कर्मरूप बनने पर ही उन कर्मों का आना पुण्य और पाप दो रूप से होता, है वह कर्मों का आना ही आश्रय है । उनका प्रयोग विशेष से रुक जाना ही संवर है । उन कर्मों का तप आदि द्वारा एक देश झड़ना निर्जरा है । उन आये हुये कर्मों का जीव के साथ एकमेक होकर टिक जाना बंध है और उन कर्मों का सर्वथा आत्मा से पृथक् हो जाना ही मोक्ष है । यदि यह जीव और पुद्गल कर्त्ता-कर्म के रूप से न परिणत हों तो ये सात पदार्थ बन नहीं सकते इसीलिये यह कर्त्ता-कर्म का कथन आगे के सात पदार्थों का कथन करने में सूत्रिकारूप है और इसका वर्णन विस्तार से होने से यह एक स्वतन्त्र अधिकार बनाया गया है जिसे कि आचार्य ने महा अधिकार कहा है ।

सबसे पहले इसमें यह बतलाया है कि यह जीव जब तक आत्मा और आश्रय इन दोनों का विशेष भेद नहीं जानता है तभी तक अज्ञानी रहता है और जब यह आत्मा और आश्रय का भेदज्ञान कर लेता है तब उसी समय वह आश्रयों से छूट जाता है । यह प्रकरण गाथा ६६ से ७४ अ० (७४ से ७६ ज०) तक है । पुनः ज्ञानी आत्मा का लक्षण करते हुये ७५ से ७६ अ० तक , ८० से ८५ ज० गाथायें हैं । अनंतर यह बतलाया है कि जीव और पुद्गल एक-दूसरे के उपादानरूप से कर्त्ता नहीं हैं किन्तु निमित्त-नैमित्तिक रूप से कर्त्ता अवश्य हैं । ये श्री कुंदकुंददेव की गाथायें हृदयंगम करने योग्य हैं—

(८६ ज०) जीव परिणाम हेतुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तद्देव जीवो वि परिणमइ ॥८० अ०॥

जीव के अशुद्ध भावों को हेतु बनाकर पुद्गल कर्मरूप से परिणमन कर जाते हैं और पुद्गलकर्म के उदय का निमित्त लेकर जीव भी रागादि भावों से परिणमन कर जाता है । अतः ये दोनों निमित्त-नैमित्तिक रूप से एक दूसरे के कर्त्ता हो जाते हैं । इसी निमित्त से जीव कर्त्ता होता है । आगे आचार्य ने ८३-८४ अ० गाथाओं में तय विवक्षा स्पष्ट की है । 'निश्चयतय से यह आत्मा अपने भावों का ही कर्त्ता है और अपने भावों का ही भोक्ता है । वैसे ही व्यवहारतय से यह आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है और उन्हीं पुद्गल कर्मों का भोक्ता भी है । इसमें टीकाकार ने खुलासा किया है कि व्यवहार-

नय से यह कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से अपने अशुद्ध भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता है और शुद्धनिश्चय से अपने शुद्ध भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता होता है ।

आगे आचार्यदेव ने यह कहा है कि यदि यह आत्मा पुद्गल कर्मों को करे और भोगे तो बोकियावादी बन जायेगा । टीका में खुलासा किया है कि यदि आत्मा उपादान-रूप से कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता होवे तो द्विक्रियावाद का दूषण आता है । सो जन्मत में इष्ट ही नहीं है । जैसे घड़ा बनने में मिट्टी उपादान कारण है और कुम्भकार व चाक आदि निमित्त कारण हैं वैसे ही आत्मा पुद्गल कर्मों में निमित्त कारण है और अपने भावों के लिये उपादान कारण है ।

इसके बाद गाथा ८७ से ८६ अ० (८४ से १०३ ज०) तक जीव के उपयोग जो मिथ्यात्व, अविरति आदि रूप हैं वे ही कर्मों के कर्त्ता हैं यह सिद्ध करके पुनः ८७-८८ अ० १०४-१०५ ज० गाथा में निश्चय-व्यवहारनय की अपेक्षा से जीव के कर्तृत्व को स्पष्ट किया है ।

आगे यह गाथा भी हृदयंगम करने योग्य है—

(१०६ ज०) जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।

तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेवणो अप्पा ॥१०२ अ०॥

यह आत्मा जिन शुभ या अशुभ भावों को करता है यह उन्हीं भावों का कर्त्ता होता है और वे भाव ही उस जीव के कर्म हो जाते हैं, पुनः यह आत्मा ही उन भावों का भोक्ता होता है ।

आगे गाथा १०८ अ० (११५ ज०) तक इसी विषय को खोला है । पुनः आगे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार प्रत्ययों को बंध के कर्त्ता माना है । यहाँ गाथा १०६ अ० (११६ ज०) से वह प्रकरण बहुत ही महत्वपूर्ण है । जो कोई मिथ्यात्व को बंध के कारणों में अकिंचित्कर कहते हैं उनके लिये यह गाथा तो सदैव स्मरणीय है कि—

(११६ ज०)सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।

मिच्छत्तं अविरमणे, कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०६ अ०॥

इसी प्रकार गाथा ८८-८९ अ० में भी मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति ये बंध के कारण हैं ऐसा कहा है ।

इसके बाद पुद्गलद्रव्य को और जीव द्रव्य को परिणामी सिद्ध करते हुए कहते हैं कि इन्हें अपरिणामी कूटस्थ नित्य—सर्वथा नित्य मान लिया जावेगा तो संसार का अभाव हो जावेगा अथवा सांख्य का मत आ जावेगा । एक यह गाथा भी कंठाग्र करने योग्य है—

(१३४ ज०) जं कुणवि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।

णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६ अ०॥

यह आत्मा जिस भाव को करता है उसी भाव का कर्ता होता है । ज्ञानी के भाव ज्ञानमय हैं और अज्ञानी के अज्ञानमय हैं । इन १२६ अ० से लेकर गाथा १३१ अ० तक ज्ञानमय और अज्ञानमय भावों का खुलासा किया गया है । गाथा १२८-१२९ अ० की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि “ज्ञानमयाद् भावाद् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थात् ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्ष पर्यायो” ज्ञानमय भाव से अर्थात् निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवपदार्थ से महामुनि के निर्विकल्प शुक्लध्यान से ज्ञानमय भाव ही होता है अर्थात् अपने शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण मोक्षपर्याय उत्पन्न होती है । इस कथन से यह ज्ञानमय भाव शुद्धोपयोगी महामुनि के ही शुरू होता है जो कि मोक्ष की प्राप्ति रूप ज्ञानमय—केवलज्ञानमय पूर्ण अवस्था को प्राप्त करा देता है ।

आगे पुनः मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम, कषाय और योग इन पांच हेतुओं से आठ प्रकार के कर्मों का बंध माना गया है । ये सभी गाथायें मिथ्यात्व को बंध में अकिंचित्कर मानने वालों को चिंतवन करने योग्य हैं ।

यहां तक जीव को कर्मों का अकर्ता कहकर इन प्रत्ययों को बंध का कर्ता सिद्ध किया है आगे गाथा १४१ में दोनों तयों का समन्वय किया है पुनः १४२वीं गाथा भी बहुत महत्वपूर्ण है, कंठाग्र करने योग्य है—

(१४६ ज०) कम्मं बद्धमवद्धं जीवे एवं तु जाण णयपवच्छं ।

पवखातिवकंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२ अ०॥

जीव में कर्म बंधे हैं अथवा नहीं बंधे हैं इन दोनोंको तुम नय पक्ष जानो । पुनः जो पक्ष से दूर हो चुके हैं वे ही समयसार हैं । यह अवस्था निर्विकल्प ध्यानरूप तृतीय भूमिका में ही घटित होती है । सब पूछिये तो इस ग्रन्थ का यही एक सार है । आगे गाथा १४३-१४४ अ० में इसी समयसार को कहा है । दोनों टीकाकार आचार्यों ने भी इस 'समयसार' शब्द का अच्छा विवेचन किया है ।

इन गाथाओं की टीकाओं में वहीं-वहीं विशेषार्थ देकर कुछ विवेचन लिखा है । वास्तव में इन दोनों टीकाओं का एक साथ अध्ययन करने से कोई भी पाठक एकांत दुराग्रही नहीं बनेगा प्रत्युत सही अर्थ समझेगा । नयों का पक्ष कहां तक रहता है ? पुनः कहां से नयातीत अवस्था होती है ? यह बहुत ही स्पष्ट है । यह नयों की अवस्था—पक्षपात छोटे गुणस्थान तक सन्निकल्प अवस्था में है ही, आगे सातवें गुणस्थान से—निर्विकल्प ध्यान से वह नयातीत अवस्था शुरू होकर बारहवें गुणस्थान में पूर्ण होती है । वही शुक्ल-ध्यान केवलज्ञान प्राप्त करा देता है ।

यहां ग्रंथ में ज्ञानमय भाव से एक जगह गाथा १३०-१३१ अ० में पांचों ज्ञान लिये हैं । ज्ञान के दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ । इनमें से मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये स्वार्थ ही हैं अर्थात् इनका प्रयोजन स्वकीय के अज्ञान का अपहरण करना ही है । श्रुतज्ञान स्वार्थ भी है और परार्थ भी है । परार्थ का अर्थ है कि अन्य के अज्ञान तिमिर को दूर करना । नय इसी परार्थ श्रुतज्ञान के विकल्प हैं, कहा भी है—“श्रुतविकल्पा नयाः ।”

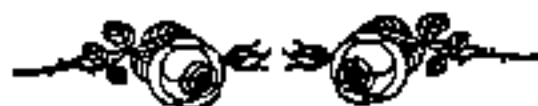
आचार्यों ने अन्य के अज्ञान को दूर करने के लिये नाना प्रकार के वस्तुधर्मों का प्रतिपादन किया है । वस्तुधर्म की इसी प्रतिपादन पद्धति में श्री अमृतचंदसूरि ने भी बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-विरागी से लेकर भात-अभात तक अनेक नय पक्ष दिखलाये हैं । नय वस्तुस्वरूप को समझने और समझाने का एक साधन मात्र है, वस्तु नहीं है, वस्तु तो नयपक्षों से परे है—विकल्प से दूर है ।

इस प्रकार इस कर्त्ताकर्म अधिकार को पूर्ण करते हुये आचार्य श्रीकुंदकुंददेव ने नयों के पक्ष से अतिक्रान्त अवस्था तक मुनियों को पहुंचाने के लिए प्रेरणा दी है ।

इसमें श्री अमृतचंद्रसूरि ने ६६ से १४४ तक गाथाएँ ली हैं। श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा ७४ से गाथा १५१ तक ली हैं। श्रीअमृतचंद्रसूरि की टीका में इस अधिकार तक कलशकाव्य ६६ हुये हैं। ये काव्य गाथाओं के भाव को तो खोलते ही हैं अत्यन्त मधुर और कर्ण प्रिय भी हैं अतः अमृत के समान ही कर्ण व मन को आनंद पहुँचाते हैं। ये भी काव्य कंठाग्र करने के लिये सुंदर हैं।

इस प्रकार यह कर्तृकर्म अधिकार जो कि आगे के सात पदार्थों के कथन की प्रस्तावना रूप है या सूचिका रूप है उसका सार संक्षेप से कहा गया है।

इति श्रीमद् भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित समयसार-प्राभृत ग्रंथ में
श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्य-
कृत तात्पर्यवृत्तिटीका के रहस्य को प्रकाशित करने
वाली आधिका ज्ञानमती कृत इस ज्ञानज्योति
भाषा टीका में यह कर्तृकर्मधिकार
नामक दूसरा अधिकार पूर्ण
हुआ।



अथ पुण्यपापाधिकारः ॥३॥

ॐ

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

द्रुतविलंबितछन्द—तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।

गलपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

मंवाक्रांता—

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गन्तौ शूद्रिकायाः शूद्रो साक्षादथ' च चरतो जातिभेदध्रमेण ॥१०१॥

अब एक ही कर्म पुण्य-पाप रूप से दो पात्र बनकर प्रवेश करता है—

काव्यार्थ—अब कर्त्ता-कर्म अधिकार के बाद शुभ-अशुभ के भेद से दो अवस्था को प्राप्त कर्म को एकरूप करता हुआ अतिशय मोहरज को दूर कर यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर ज्ञानरूपी चंद्रमा स्वयं उर्वित हो रहा है ॥१००॥

भावार्थ—यद्यपि कर्म एक है फिर भी वही पुण्य-पाप के भेद से दोरूप धारण कर नृत्य की रंगभूमि में नृत्य कर रहा था । उसको जब ज्ञान एकरूप से जान लेता है तब वह एकरूप ही हो जाता है जैसे कि रंगमंच पर कोई एक ही पुरुष नृत्य कर रहा हो और दो रूप दिखला कर नृत्य करता हो । पश्चात् जब उसे कोई यथार्थ ज्ञानी पहचान लेवे तब वह अपना दोरूप छोड़कर वास्तविक रूप में आ जाता है वैसे ही यहां कर्म को वेवधारी की उपमा देकर श्री अमृतचन्द्रसूरि ने रंगमंच में प्रवेश कराया है ।

काव्यार्थ—एक कोई पुरुष 'मैं ब्राह्मण हूँ' ऐसे अपने ब्राह्मणपने के अभिमान से दूर से ही मदिरा को छोड़ देता है और अन्य दूसरा पुरुष 'मैं शूद्र हूँ' ऐसा समझकर नित्य उस

भुजंगप्रयात छन्द— वही कर्म पुण्यं वु पापं द्विभेदं, वही कर्म जो एक रूपं मुप्राप्तं ।

भरी मोहरूपी जु धूली नक्षे है, स्वयं ज्ञानरूपी सुधासु लसे है ॥१००॥

भुजंगप्रयात छन्द— द्वि पुत्रं सुसंगहि शूद्रि जने हैं—सुविप्रं व शूद्रं द्विभेदं पले हैं ।

रजे ब्रह्म मध्यं गहे शूद्र जानो—भ्रमं जातिभेदं तथा कर्म मानो ॥१०१॥

(१५२ ज०) कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं ।

कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५ अ०॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चावि जानीत सुशीलं ।

कथं तद् भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४५॥

आत्मख्यातिः—शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात् शुभाशुभपुद्गलपरिणाम-
मयत्वे सति स्वभावभेदात् शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात् शुभाशुभमोक्षबंधमार्गाश्रितत्वे सत्या-

मदिरा से ही स्नान करता है अर्थात् बहुत पीता है । यद्यपि ये दोनों पुरुष एक साथ एक
शूद्रा महिला के ही उदर से जन्मे हैं । दोनों शूद्र ही हैं फिर भी वे जाति के भेद के भ्रम
से आचरण कर रहे हैं ॥१०१॥

भावार्थ—जैसे किसी शूद्रा महिला के एक साथ युगलिया दो पुत्र पैदा हुये । उनमें
एक तो कारणवश ब्राह्मण के घर में पला और दूसरा वहीं अपनी मां के घर पला । जो
ब्राह्मण के घर पाला गया था वह अपने को ब्राह्मण मानकर कभी भी मदिरा को छूता भी
नहीं था और दूसरा अपने शूद्र के जातिगत संस्कार से नित्य ही शराब पीता था । ये दो
जाति के भ्रम से ही अलग-अलग आचरण कर रहे थे । वैसे ही यह कर्म पुद्गल से उत्पन्न
हुआ द्रव्य कर्म है और भाव कर्म भी आत्मा के विकारी भावरूप है अतः यह कर्म एकरूप
ही है फिर भी पुण्य और पाप रूप से दो भेदरूप बन गया है । ज्ञान ही इन्हें एकरूप
बतलाकर इन दोनों से छुड़ाने वाला है, ऐसा समझना ।

अन्वयार्थ—(अशुभं कर्म कुशीलं अपि च शुभकर्म सुशीलं जानीत) अशुभकर्म तो
कुशील है और शुभकर्म सुशील है ऐसा तुम जानो (तत् कथं सुशीलं भवति यत् संसारं
प्रवेशयति) वह कर्म सुशील—अच्छा कैसे हो सकता है कि जो संसार में प्रवेश कराता है ।

आत्मख्याति—कितने ही लोगों का कहना है कि यद्यपि कर्म एक है फिर भी वह
कुछ शुभरूप है और कुछ अशुभरूप है क्योंकि इन दोनों में कारण भेद, स्वभाव भेद, अनुभव

चामर छन्द—(१५२ ज०) शुभ अशुभ रूप कर्म के दोय भेद हैं ।

शुभ सुशील अशुभ को कुशील सर्वजन कहें ॥

निर्विकल्प मुनि के लिए शुभ भी नहीं श्रेष्ठ है ।

जो कराता है सदा संसार में प्रवेश है ॥१४५ अ०॥

श्रयभेदात् चैकमपि कर्म किञ्चिच्छुभं किञ्चिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः, स तु सप्रतिपक्षः । तथाहि—
 शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म ।
 शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म ।
 शुभोऽशुभो वा फलपक्षः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म । शुभाशुभी
 मोक्षबंधमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादानेकी तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबंध-
 मार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ॥१४५॥

उपजातिछंद - हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।

तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ॥१०२॥

भेद और आश्रय भेद है । जीव के शुभ-अशुभ परिणामों के निमित्त से होने से इन दोनों में कारणभेद है । शुभ-अशुभ पुद्गल के परिणाममय होने से इन दोनों में स्वभाव भेद है । शुभ-अशुभ फल का उदय होने से इन दोनों में अनुभव भेद है वैसे ही शुभ-अशुभरूप से मोक्ष तथा बंध मार्ग का आश्रय लेने से इन दोनों में आश्रय भेद भी है । परन्तु उन महानुभावों का यह पक्ष प्रतिपक्ष से सहित है—विरुद्ध है । उसे ही दिखाते हैं—शुभ हो या अशुभ, जो भी जीव का परिणाम है वह केवल अज्ञानमय होने से एक है और उसके एकरूप होने पर कारण भेद न होने से कर्म एक है । शुभ अथवा अशुभ कोई भी पुद्गल का परिणाम हो वह केवल पुद्गलमय होने से एक है और उसके एकरूप होने पर स्वभाव से भेद न होने से वह कर्म एक है । शुभ अथवा अशुभ कर्म के फल का रस केवल पुद्गलमय होने से एक ही है, उसके एक होने पर अनुभव—आस्वाद का भेद न होने से कर्म एक ही है । शुभ या अशुभ मोक्ष और बंध के मार्ग प्रत्येक केवल जीव-पुद्गलमय है अर्थात् शुभ कर्म मोक्ष का मार्ग होने से केवल जीवमय है और अशुभकर्म बंध का मार्ग होने से केवल पुद्गलमय है । ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, इनके पृथक्-पृथक् होने पर भी केवल पुद्गलमय बंधमार्ग के आश्रित होने से इनमें आश्रय भेद नहीं है अतः कर्म एक ही है ॥१४५॥

इसी का कलशकाव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों के सदा अभेद होने से कर्म में भेद नहीं है । इसलिये बंध मार्ग के आश्रित होने से कर्म एक ही माना गया है क्योंकि समस्त शुभ और अशुभ कर्म स्वयं ही बंध के कारण हैं ॥१०२॥

भुजंगप्रयात छन्द (वर्णिक)—स्व हेतु स्वभावं स्ववेदं सहायं, सुचारो अभेदं, नहीं कर्मभेदं ।

अतः बंध मार्गाश्रय कर्म एक, वही कर्म सब, स्वयं बंध हेतु ॥१०२॥

विशेषार्थ—कोई सिद्धांतवादी कहते हैं कि शुभकर्म की उत्पत्ति में जीव के शुभ-परिणाम निमित्त हैं और अशुभकर्म की उत्पत्ति में जीव के अशुभपरिणाम निमित्त हैं। इस प्रकार से दोनों के कारण भिन्न-भिन्न हैं। ऐसे ही ये शुभकर्म शुभ पुद्गल के प्रकृतिरूप हैं और अशुभ कर्म पुद्गल की अशुभ प्रकृति रूप हैं। इस प्रकार से दोनों के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। पुनः शुभकर्म का उदय शुभ रूप फल देता है, सुखदायी होता है और अशुभ कर्म का उदय असाता आदि अशुभरूप फल देने से दुःखदायी होता है इसलिये दोनों के अनुभव भिन्न-भिन्न हैं। ऐसे ही शुभ कर्म मोक्षमार्ग के आश्रित हैं और अशुभ कर्म बंधमार्ग के आश्रित हैं इसीलिए इनके आश्रय भी अलग-अलग हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो स्वर्ग-नरक, धनी-निर्धन या राजा-रंक आदि की व्यवस्था जो संसार में बिख रही है सो भला कैसे दिखेगी ?

इस पर अध्यात्मवेत्ता कहते हैं कि जीव के परिणाम चाहे शुभ हों या अशुभ, दोनों केवल अज्ञानमय हैं इसीलिये एक हैं। ऐसे पुद्गल की प्रकृतियां चाहे शुभ हों चाहे अशुभ, दोनों पुद्गलरूप हैं। उनका उदय भी चाहे शुभ हो या अशुभ, ये केवल पुद्गलमय ही हैं। यही कारण है कि कर्मों में कारण भेद, स्वभाव भेद और अनुभव भेद नहीं हैं। ऐसे ही यद्यपि मोक्षमार्ग शुभ है और बंधमार्ग अशुभ है तथा मोक्षमार्ग केवल जीवमय है और बंधमार्ग केवल पुद्गलमय है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं फिर भी दोनों में भेद होने पर भी कर्म केवल पुद्गलमय बंधमार्ग के आश्रित हैं अतः शुभ-अशुभ कर्मों का आश्रय भी एक ही है। इस तरह अध्यात्म भाषा में निश्चयनय की अपेक्षा से शुभ-अशुभ रूप सभी मात्र जीव को परतन्त्र बनाने में हेतु होने से एकरूप ही माने गये हैं।

यह अवस्था श्रद्धान में भले ही चौथे गुणस्थान से शुरू हो जावे फिर भी चौथे से छठे गुणस्थानवर्ती श्रावक और भुनि अशुभ कर्म के बंध में हेतु ऐसे पांचों पापों से डरते हैं तथा शुभकर्म बंध के हेतु दान, पूजन व स्तव वंदना आदि क्रिया में उनके लिये यह सब प्रवृत्त होते हैं, आगे निर्विकल्प अवस्था में उनके लिये यह सब शुभ-अशुभ

(भूमिका)—अथानंतरं निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूतपुण्यपाप-
रूपेण प्रविशति । कम्ममसुहं कुसीलं इत्यादि गाथामादि कृत्वा क्रमेणैकोनविंशतिसूत्रपर्यंतं
पुण्यपापव्याख्यानं करोति । तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन
नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं तदनंतरमध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना
आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबंधकारणमेव न च मुक्तिकारणं ।
सम्यक्त्वसहितं पुनः परंपरया मुक्तिकारणं च भवति इति मुख्यतया परमट्ठो खलु, इत्यादि-
सूत्रचतुष्टयं । ततः परं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन जीवादीसद्गुणं, इत्यादिगाथानवकं
कथयतीति पुण्यपापपदार्थाधिकारसमुदायपातनिका ।

कर्म समान हो जाते हैं । आगे टीकाकार स्वयं खुलासा करेंगे । अब श्रीजयसेनाचार्य की
भाषा को पहिये—

अब निश्चयनय से एक भी पुद्गल कर्म व्यवहारनय से दो भेद रूप होकर पुण्य-
पापरूप से प्रवेश करता है—

भूमिका—उसमें 'कम्ममसुहं कुसीलं' इत्यादि गाथा को आदि में करके क्रम से
उन्नीस सूत्रों में पुण्य-पाप का व्याख्यान करते हैं । उसमें यद्यपि पुण्य और पाप में व्यवहार
से भेद है फिर भी निश्चयनय से नहीं है । इस व्याख्यान की मुख्यता से छह सूत्र हैं । पुनः
अध्यात्म भाषा में शुद्धात्म भावना के बिना और आगम भाषा से वीतराग सम्यक्त्व के बिना
व्रत, दान आदि पुण्य बंध के कारण ही हैं, मुक्ति के कारण नहीं हैं । किन्तु वे ही व्रत, दान
आदि यदि सम्यक्त्व सहित हैं तो परम्परा से मुक्ति कारण हैं । इस कथन की मुख्यता से
'परमट्ठो खलु' इत्यादि चार सूत्र कहेंगे । इसके बाद निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की
मुख्यता से 'जीवादी सद्गुणं' इत्यादि नव गाथा सूत्र कहेंगे, इस तरह से पुण्य-पाप पदार्थ के
अधिकार की समुदाय पातनिका कही गई है ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—ब्राह्मण्याः पुत्रद्वयं जातं तत्रैक उपनयनवशाद्ब्राह्मणो जातः द्वितीयः पुत्ररूपनयनाभावाच्छूद्र इति । तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीव-परिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयतिः—

तात्पर्यवृत्तिः—कम्मसमुहं कुशीलं सुहकम्मं चापि जाणह सुशीलं कर्माशुभं कुत्सितं कुशीलं हेयमिति । शुभकर्म सुशीलं शोभनमुपादेयमिति केषांचिद् व्यवहारिणां पक्षः सन् निश्चयरूपेण पक्षांतरेण बाध्यते । किह तं होवि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति ? यज्जीवं संसारे प्रवेशयति । हेतुस्वभावानु-भवबंधरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति । तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते, शुभा-

उत्थानिका—एक ब्राह्मणी के एक साथ दो पुत्र हुये, उनमें से एक का उपनयन संस्कार होने से वह ब्राह्मण हो गया और दूसरे का उपनयन संस्कार नहीं होने से वह शूद्र हो गया । वैसे ही पुद्गलकर्म निश्चयनय से एक ही है फिर भी वह जीव के शुभ-अशुभ परिणाम के निमित्त से व्यवहारनय से दो प्रकार हो जाता है, ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जो अशुभ कर्म है वह कुत्सित है—निन्दनीय है अतः छोड़ने योग्य है—नहीं करने योग्य है किन्तु जो शुभकर्म है वह शोभन है—अच्छा है अतः उपादेय है—करने योग्य है । ऐसा किन्हीं व्यवहारी जनों का या व्यवहारनय के अनुयायी जनों का पक्ष है फिर भी यह पक्ष निश्चयनय के पक्ष से बाधित हो जाता है । यहाँ निश्चयवादी कहता है कि वह पुण्यकर्म अच्छा कैसे हो सकता है कि जो जीव को संसार में प्रवेश कराता है—या बनाये रखता है क्योंकि हेतु, स्वभाव, अनुभव और बंधरूप आश्रय, इनमें निश्चयनय से अभेद होने से कर्म में भेद नहीं है । उसे ही कहते हैं—

जीव का शुभ-अशुभ परिणाम ही कर्म का कारण है । वह परिणाम शुद्ध निश्चयनय से एक अशुभ रूप ही प्रतीत होता है । द्रव्य भी पुण्य-पाप रूप से पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है । वह भी निश्चयनय की अपेक्षा से पुद्गल द्रव्य रूप जड़ स्वभाव से एक ही है । इन कर्मों का फल जो सुख-दुःख रूप से अनुभव में आता है, वह कर्मों के फल का अनुभव भी आत्मा

शुभपरिणामो हेतुः स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्वं प्रति एक एव । द्रव्यं पुण्यपापरूपं पुद्गलद्रव्य-
स्वभावः सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्यं प्रति, एक एव । तत्फलं सुखदुःखरूपं स च फलरूपा-
नुभवः । सोऽप्यात्मोत्थनिर्विकारसुखानन्दापेक्षया दुःखरूपेणैक एव । आश्रयस्तु शुभाशुभबन्धरूपः
सोऽपिबन्धं प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदात् । यद्यपि व्यवहारेण
भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिनां पक्षो बाध्यत
एव ॥१५२॥

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति—

(१५३ ज०) सौवर्णिकं पि निगलं बन्धदि कालायसं पि जह पुरिसं ।

बन्धदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्म ॥१४६ अ०॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं ।

बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१४६॥

से उत्पन्न निर्विकार सुखरूप आनन्द की अपेक्षा से एक दुःखरूप ही है और जो कर्मों का
आश्रय है वह शुभ-अशुभ बन्धरूप है । वह भी बन्ध की अपेक्षा से एक ही है । इस प्रकार हेतु,
स्वभाव, अनुभव, आश्रय इन चारों की अपेक्षा विचार करने पर तो पुण्य और पाप इन
कर्मों में सदा ही अभेद है अर्थात् इन पुण्य-पाप के हेतु, स्वभाव आदि एक ही हैं । यद्यपि
व्यवहारनय से भेद है फिर भी निश्चयनय से शुभ और अशुभरूप से भेद नहीं है इसलिये
व्यवहारवादी जनों का पक्ष बाधित ही हो जाता है, ऐसा समझना ॥१५२॥

उत्थानिका—ये दोनों प्रकार के भी कर्म सामान्य से बन्ध के कारण हैं ऐसा सिद्ध
करते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा कालायसं निगलं पुरुषं बध्नाति अपि सौवर्णिकं अपि) जैसे लोहे
की बेड़ी पुरुष को बांधती है वैसे ही स्वर्ण की बेड़ी भी बांधती है (एवं शुभं वा अशुभं

(१५३ ज०) ज्यों सुवर्ण लोह बेड़ियों से जीव ही बंधे ।

त्यों ही शुभ अशुभ कर्म से जीव ही सदा बंधे ॥

शुद्ध आत्मा मुनी के लिये दोहि हेय है ।

थावकों के लिये शुभ सदा ही उपादेय है ॥१४६ अ०॥

आत्मख्यातिः—शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालाय-
सनिगलवत् ॥१४६॥

(उत्थानिका)—अथोभयं कर्म, अविशेषेण बंधकारणं साधयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—यथा सुवर्णनिगलं लोहनिगलं च अविशेषेण पुरुषं बध्नाति तथा
शुभमशुभं वा कृतं कर्म अविशेषेण जीवं बध्नातीति । किंच । भोगाकांक्षानिदानरूपेण रूप-
लावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिन्द्रख्यातिपूजालाभादिनिमित्तं यो व्रततपश्चरणदानपूजादिकं
करोति, स पुरुषः तक्रनिमित्तं रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्तं
हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवनच्छेदनवत् । वृथैव व्रतादिकं नाशयति । यस्तु

कृतं कर्म जीवं बध्नाति) इसी प्रकार शुभ हों चाहे अशुभ किये गये दोनों ही कर्म जीव
को बांधते हैं ।

आत्मख्याति—शुभ और अशुभ कर्म सामान्य से ही आत्मा को बांधते हैं क्योंकि
ये दोनों ही बंधरूप से एक ही हैं जैसे कि सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी बंधन में
डालने की अपेक्षा एक समान ही हैं ॥१४६॥

उत्थानिका—ये शुभ-अशुभ दोनों भी कर्म अभेदरूप से बंध के कारण हैं ऐसा
साधित करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे सोने की बेड़ी हो चाहे लोहे की, दोनों प्रकार की बेड़ियां
सामान्य रूप से पुरुष को बंधन में ही डालती हैं वैसे ही जीव के द्वारा किये गये कर्म चाहे
शुभरूप हों या अशुभ रूप, ये सामान्यतया जीव को बंधन में डालते ही हैं—बांधते ही
हैं । उसे ही कहते हैं कि जो कोई पुरुष यदि भोगों की आकांक्षा, निदान बंधरूप से रूप,
लावण्य, सौभाग्य, कामदेव, देवेन्द्र, अहमिन्द्र आदि पद के निमित्त या ख्याति पूजा, लाभ
आदि लिये व्रत, तपश्चरण, दान, पूजा आदि क्रियायें करता है तो वह मनुष्य, जैसे कि
तक्र-छांछ के लिये रत्नों को बेच देता है या राख के निमित्त रत्नों की राशि जला देता है
अथवा धागे के लिये मोतियों का हार चूर्ण-चूर्ण कर देता है या कोदों को बोन के लिये
चन्दन के बगीचे को काट डालता है, वैसे ही वह अपने व्रत तपश्चरण आदि को व्यर्थ ही
खो देता है । किन्तु जो कोई मनुष्य शुद्धात्म भावना की साधना के लिये बहिरंग व्रत,

शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरंगव्रततपश्चरणादानपूजादिकं करोति स परंपरया मोक्षं लभते इति भावार्थः ॥१५३॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

(१५४ ज०) तद्वा दुःकुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसर्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसर्गरायेण ॥१४७ अ०॥

तपश्चरण, दान, पूजा आदि क्रियाओं को करता है वह परम्परा से मोक्ष को प्राप्त कर लेता है यहाँ ऐसा अभिप्राय है ॥१५३॥

विशेषार्थ—जो संसार के सुखों की आकांक्षा से दान, पूजा आदि क्रियाएँ करते हैं वे अपने पुण्य को भी क्षीण कर लेते हैं । मान लीजिये आपका वह पुण्य अधिक फल देने में समर्थ था किन्तु अल्प फल की भावना से वह सीमित हो गया । अथवा यदि वह पुण्य क्रियाएँ सम्यक्त्व सहित हैं तो परम्परा से मोक्ष के लिये कारण हैं अतः उसके पूर्व संसार के इंद्रादि वैभव तो मिलेंगे ही मिलेंगे । “छायातह संश्रयतः स्वतः स्यात्, कश्छायया याचित आत्मलाभः ।” कोई छाया वाले वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया है तो छाया की याचना करने से भला क्या लाभ है ? वह तो मिल ही गई है । वैसे ही पुण्यादि क्रियाओं से इंद्र, चक्रवर्ती आदि वैभव स्वयं मिलें तो माँगने की क्या जरूरत है ? दूसरी बात यह है कि मोक्ष के इच्छुक सम्यग्दृष्टि मात्र कर्मक्षय की ही भावना करते हैं वे संसार के सुखों की आकांक्षा नहीं करते हैं । तीसरी बात यह है कि नारायण और प्रतिनारायण जितने भी होते हैं वे पूर्वभव में सहामुनि होकर निदान करके ही होते हैं अतः वे भोगों की उत्कट भावना से राज्य में ही सरते हैं । इसी हेतु से ये नरकगति को प्राप्त कर लेते हैं अतः निदान का फल अच्छा नहीं है ऐसा समझना, तथा निदान से तीर्थकर आदि प्रकृतियाँ तो बंध ही नहीं सकती हैं यह नियम है ।

उत्थानिका—आगे शुभ-अशुभ दोनों कर्मों का निषेध करते हैं—

(१५४ ज०) दोय कर्म को कुसील जानकर इन्हें तजो ।
राग व संसर्ग इन दोनों के संग मत करो ॥
क्योंकि इन कुसील के संसर्ग राग से सदा ।
स्वतन्त्रता विनाश शुद्ध आत्म की सर्वदा ॥१४७ अ०॥

तस्मात् कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं ।

स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

आत्मख्यातिः—कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गं प्रतिषिद्धी बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोर-
मामनोरमकरेणुकुट्टिनीरागसंसर्गवत् ॥१४७॥

(उत्थानिका)—अथोभयकर्माविशेषेण मोक्षमार्गविषये निषेधयतिः—

तात्पर्यवृत्तिः—तम्हावु कुसीलेहि य रायं मा काहि मा व संसर्गं तस्मात् कारणात्
कुशीलैः कुत्सितैः शुभाशुभकर्मभिः सह चित्तगतरागं मा कुरु । बहिरंगवचनकायगतसंसर्गं
च मा कुरु । कस्मात् ? इति चेत् । साधीनो हि विनाशो कुशीलसंसर्गरागेण कुशीलसंस-
र्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाशः निर्विकल्पसमाधिविघातरूपः स्वार्थभ्रन्शो हि स्फुटं
भवति अथवा स्वाधीनस्यात्ममुखस्य विनाश इति ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(तस्मात् कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत वा संसर्गं च मा) इसलिये उन
दोनों कुत्सित कर्मों से राग मत करो और उनके साथ संसर्ग भी मत करो (हि कुशीलसंसर्ग-
रागेण स्वाधीनो विनाशः) क्योंकि कुत्सित के संसर्ग और उनके साथ प्रीति करने से स्वा-
धीनता का विनाश हो जाता है ।

आत्मख्याति—कुत्सित शुभ और अशुभ कर्मों के साथ प्रीति और सम्बन्ध ये दोनों
ही निषिद्ध हैं क्योंकि ये दोनों ही बन्ध के हेतु हैं । जैसे कि कुशील जो मन को रमाने वाली
और मन को नहीं रमाने वाली कुट्टिनी हथिनी के साथ राग और संगति करने वाले हाथी
की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है उसे बन्धन में बांध लिया जाता है ॥१४७॥

उत्थानिका—अब दोनों प्रकार के कर्म को साधारणरूप से मोक्षमार्ग के विषय में
निषेध करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—इस कारण कुशील-कुत्सित शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के
साथ मनोगत-मन से प्रीति मत करो और बाहर में वचन तथा काय से इनके साथ संपर्क
मत करो । क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग और राग इन दोनों से नियम से स्वाधीनता का
विनाश हो जाता है अर्थात् निर्विकल्प समाधि के विघातरूप स्वार्थ का नाश हो जाता है
अथवा स्वाधीन आत्मसुख का विनाश हो जाता है ॥१४४॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते—

(१५५ ज०) जह् नाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं विद्याणित्ता ।

वज्जेवि तेण समयं संसर्गं रागकरणं च^१ ॥१४८ अ०॥

(१५६ ज०) एमेव कम्मपयड्डी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।

वज्जंति परिहरंति य तत्संसर्गं सहावरया ॥१४९ अ०॥ (युग्मम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।

वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥

एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।

वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभाववत्ताः ॥१४९॥

उत्थानिका—दोनों प्रकार के कर्म स्वयं निषेध के योग्य हैं ऐसा दृष्टान्त से समर्थन करते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय तेन समकं संसर्गं च रागकरणं वर्जयति) जैसे कोई पुरुष कुत्सित स्वभाव वाले पुरुष को जानकर उसके साथ संसर्ग करना और प्रेम करना छोड़ देता है । (एवमेव च कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं कुत्सितं ज्ञात्वा) इसी प्रकार कर्मप्रकृतियों के शील, स्वभाव को निन्दनीय जानकर (स्वभाववत्ताः वर्जयंति तत् संसर्गं च परिहरंति) स्वभाव में लीन हुये साधु उन्हें छोड़ देते हैं और उनके साथ संपर्क भी छोड़ देते हैं ।

(१५५ ज०) जैसे कोई मनुष्य किसी को कुसील जानकर ।

छोड़ देता उससे राग उसको बुरा मानकर ॥

उसके संग न रहे ना बाह्य प्रेम भी करे ।

तब ही वह शुद्ध निज स्वभाव को किया करे ॥१४८ अ०॥

(१५६ ज०) वैसे ही कर्मप्रकृति को कुसील जानकर ।

भेद जानी छोड़ देते हैं विभाव मानकर ॥

निज स्वभाव में ही सदा लीन रहते जो मुनी ।

वे ही त्याग कर सकें न धावकों में है सुनी ॥१४९ अ०॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्पन्तीं चटुलमुखीं मनोर-
मामनोरमां वा करेणुकुट्टिनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गो प्रतिषेधयति । तथा
किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्पन्तीं मनोरमामनोरमां वा सर्वमपि कर्मप्रकृतिं
तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गो प्रतिषेधयति ॥१४८॥१४९॥

(उत्थानिका)—अथोभयकर्म प्रति निषेधं स्वयमेव श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा दृष्टान्त-
दाष्टान्ताभ्यां समर्थयन्ति,—

तात्पर्यवृत्तिः—यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं ज्ञात्वा वज्जेदि-
तेण समयं संसर्गं रागकरणं च तेनसमकं सह बहिरंगवचनकायगतं संसर्गं मनोगतं रागं च
वर्जयतीति दृष्टान्तः । एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिवं णादुं एवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्त-
न्यायेन कर्मणः प्रकृतिशीलं स्वभावं कुत्सितं हेयं ज्ञात्वा वज्जन्ति परिहरन्ति य तं संसर्गं
सहावरदा इह जगति वर्जयन्ति तत्संसर्गं वचनकायाभ्यां परिहरन्ति मनसा रागं च तस्य

आत्मख्यातिः—जैसे कोई चतुर वनहस्ती अपने को बंधन में डालने के लिये पास
में आती हुई चंचलमुखी सुन्दर अथवा असुन्दर ऐसी कुट्टिनी हथिनी को वास्तव में छोटे
स्वभाववाली जानकर उसके साथ प्रीति और संसर्ग को छोड़ देता है वैसे ही यह राग-
रहित-विरागी ज्ञानीआत्मा अपने को बंध के लिये पास में आती हुई ऐसी शोभन या अशोभन
सभी ही कर्मप्रकृतियों को वास्तव में छोटे स्वभाव वाली जानकर उनके साथ राग और
संसर्ग को छोड़ देता है ॥१४८-१४९॥

उत्थानिका—अब दोनों ही शुभ-अशुभ कर्म कर्मरूप होने से निषिद्ध हैं ऐसा स्वयं
ही श्रीकुन्दकुन्ददेव दृष्टान्त और दाष्टान्त के द्वारा समर्थन करते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—जैसे लोक व्यवहार में देखा जाता है कि कोई पुरुष अपने साथी
अन्य पुरुष को छोटे स्वभाव वाला जानकर बाहर में उसके साथ बोलना-चालना, शरीर
से उसके साथ संपर्क रखना-उसकी संगति करना और मन से उसके प्रति प्रेम रखना छोड़
देता है यह दृष्टान्त हुआ । इसी पूर्वोक्त दृष्टान्त के न्याय से जो महामुनि समस्त द्रव्य और
भावरूप पुण्य-पाप परिणामों के परिहार से परिणत अभेद रत्नत्रय लक्षण वाली ऐसी निर्वि-
कल्प समाधिरूप अपने आत्मस्वभाव में लीन हैं, वे महासाधु इस संसार में कर्मों के प्रकृति,
शील और स्वभाव को कुत्सित जानकर ये कर्म हेय हैं ऐसा समझकर उन्हें छोड़ देते हैं,

कर्मणः । के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्वि-
कल्पसमाधिस्वभाववताः साधव इति दार्ष्टान्तः ॥१५५-१५६॥

अथोभयं कर्म बंधहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

(१५७ ज०) रक्तो बंधदि कम्मं सुं चदि जीवो विरागसंपत्तो ।

एसो जिणोपदेशो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५० अ०॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसंप्राप्तः ।

एष जिणोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥१५०॥

आत्मख्यातिः—यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स
सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयं कर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति तदुभयमपि कर्म
प्रतिषेधयति च ॥१५०॥

वचन और कार्य से उनका संसर्ग छोड़ देते हैं और मन से भी उन कर्मों में राग नहीं करते
हैं । यह दार्ष्टान्त हुआ ॥१५५-१५६॥

उत्थानिका—ये शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के ही कर्म बंध के हेतु हैं और छोड़ने
योग्य हैं ऐसा आगम से सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(रक्तः जीवः कर्म बध्नाति विरागसंप्राप्तः मुच्यते) रागी जीव कर्मों को
बांधता है और वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव छूट जाता है (एषः जिणोपदेशः तस्मात् कर्मसु
मा रज्यस्व) यह श्री जिनेन्द्रदेव का उपदेश है इसलिये तुम कर्मों में प्रीति मत करो ।

आत्मख्याति—जो रागी है वह अवश्य ही कर्मों को बांधता है किन्तु विरक्त हुआ
जीव ही कर्मों से छूटता है ऐसा यह आगम है—सिद्धान्त है और वह आगम ही सामान्य
से राग के निमित्त होने से शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्मों को अभेद रूप से—
अन्तर न करके बंध के हेतु सिद्ध करता है और इन दोनों प्रकार के कर्मों का निषेध करता
है ॥१५०॥

(१५७ ज०) रागी जीव के सदा कर्मों का बंध हो रहा ।

वैरागी जीव तो उन्हीं कर्मों से मुक्त हो रहा ॥

ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है सुनो सभी ।

बनकर विरागि मुनी कर्म से नहीं बंधो कभी ॥१५० अ०॥

स्वागताच्छंद—कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुपान्त्यविशेषात् ।

तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

शिखरिणी—

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल, प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।

तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं, स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

इसे ही काव्यों में कहते हैं—

काव्यार्थ—जिसलिये सर्वज्ञदेव ने समस्त शुभ-अशुभ कर्मों को सामान्य रूप से बंध का कारण कहा है इसीलिये यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने समस्त कर्मों का निषेध किया है और ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है ॥१०३॥

काव्यार्थ—शुभ-अशुभ आचरण रूप सभी कर्म का—क्रियाओं का निषेध करने पर कर्मरहित निवृत्ति अवस्था में प्रवृत्त होते हुये मुनिगुण अशरण नहीं हैं । उस निष्कर्म रूप अवस्था में स्थित होने पर इन मुनियों के तो ज्ञान में ही ज्ञान का आचरण होता है और वह ज्ञान ही निश्चय से शरण है वे मुनिगण उस ज्ञान में लीन हुये स्वयं परम अमृत का अनुभव करते हैं—आस्वाद लेते हैं ॥१०४॥

भावार्थ—यहाँ यह आशंका हुई कि जब शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की क्रियाओं को छोड़ने का उपदेश दिया है तो पुनः मुनिगण क्या करेंगे ? वे अपनी क्रियाओं का पालन कैसे करेंगे ? इसी का उत्तर देते हुये श्री अमृतचंद्रसूरि ने यह कह दिया कि जब सब क्रियाओं से छूटकर परमसमाधिरूप निष्कल्पध्यान में निष्कर्म अवस्था होती है तब ज्ञान में ही ज्ञान प्रतिष्ठित होकर ध्यान इस नाम से परिणमन करता है अतः मुनिराज शरणहीन अशरण नहीं हैं प्रत्युत उस ज्ञानस्वरूप आत्मा में अर्थात् शुद्धोपयोग में लीन हुये परमानंदाभृत का पान करते हुये परमतृप्ति का अनुभव करते हैं । अब आप स्वयं समझ रहे होंगे कि यह पुण्य-पाप को हेय समझकर शुद्धोपयोग में स्थित होने की अवस्था महामुनियों के लिये ही संभव है । वह भी आज के हीन संहननधारी मुनि छठे गुणस्थान योग्य क्रियाओं को पालन

भुजंगप्रसाद छंद (वर्णिक)—सभी कर्म को पूर्ण ज्ञानी कहे हैं, वही बंध का हेतु सामान्य से है ।

इसी से सभी कर्म को रोक ठानो, यही ज्ञान ही मोक्ष का हेतु जानो ॥१०३॥

भुजंगप्रसाद छंद (वर्णिक)—सभी कर्म पुण्य व पाप निरोध, मुनी वृत्ति निष्कर्मता ही अरक्ष ।

सदा लीन जो ज्ञान में वो शरण्य, स्वयं ज्ञान लीन मुनि मोक्ष प्राप्त ॥१०४॥

(उत्थानिका)—अथोभयं कर्म शुद्धनिश्चयेन केवलं बंधहेतुः न केवलं बंधहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति,—

तात्पर्यवृत्तिः—रक्तो बंधवि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो यस्मात् कारणात् रक्तः सन् कर्माणि बध्नाति । मुच्यते जीवः कर्मजनितभावेषु विरागसम्पन्नः एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेषु मा रज्ज एषः प्रत्यक्षीभूतो जिणोपदेशः कर्ता, किं करोति ? उभयं कर्म बंधहेतुं न केवलं बंधहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं न कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारमुखामृतरसस्वादेन तृप्तो भूत्वा शुभाशुभकर्मणि मा रज्यस्व रागं मा कुर्विति । एवं यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्ध-निश्चयेन पुनस्तद्व्यजनितोर्द्वयसुखदुःखयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं ॥१५७॥

करते हुये निर्दोष बने रहें यही बहुत है वे तो शुद्धात्मतत्त्व की भावना करते हुये रहते हैं । अतः यह अवस्था भावक व अव्रती के लिये असंभव है क्योंकि काव्य में स्वयं श्रीअमृतचंद्र सूरि ने ही 'मुनयः' शब्द रखा है ।

उत्थानिका—ये दोनों प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म केवल बंध के ही हेतु नहीं हैं प्रत्युत निषेध करने योग्य—छोड़ने योग्य भी हैं ऐसा आगम से सिद्ध करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जिस कारण से रागी हुआ जीव कर्मों की बांधता है और कर्म से उत्पन्न हुये भावों में वैराग्य से संपन्न हुआ जीव कर्मों से छूट जाता है यह प्रत्यक्षरूप से—स्पष्ट रूप से जितेन्द्रदेव का उपदेश है । यह उपदेश दोनों प्रकार के कर्मों की बंध का हेतु ही केवल नहीं कहता है बल्कि हेय है—छोड़ने योग्य है ऐसा भी कहता है इसी कारण से शुभ-अशुभ संकल्प विकल्पों से रहित होकर अपनी शुद्धात्म भावना से उत्पन्न हुये निर्विकार सुखरूपी अमृतरस के आस्वादन से तृप्त होकर इन शुभ-अशुभ कर्मों में राग मत करो । यहाँ ऐसा कथन है । यद्यपि अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप इन दोनों में भेद है पुनः अशुद्धनिश्चयनय से इन दोनों ही द्रव्य पुण्य-पाप के उदय से उत्पन्न हुये इंद्रियजन्य सुख-दुःख में भी भेद है फिर भी शुद्धनिश्चयनय से इन दोनों में भेद नहीं है । इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से यहाँ छह गाथायें कही गई हैं ॥१५७॥

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

(१५८ ज०) परमदूठो खलु समयो शुद्धो जो केवली मुणी नाणी ।
तस्मिन् दिठवा सहावे मुणिणो पावन्ति निव्वाणं ॥१५९ अ०॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी ।

तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणं ॥१५९॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य^१ शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य
सथोपपत्तेः । तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः^२ परमार्थ आत्मेति यावत्, स तु युगपदे-
कीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया^३ समयः । सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः । केवलचिन्मात्र-

उत्थानिका—अब आगे आचार्यदेव ज्ञान को मोक्ष का हेतु सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(यः खलु शुद्धः केवली मुनिः ज्ञानी परमार्थः समयः) जो नियम से शुद्ध
है, केवली है, मुनि है और ज्ञानी है ऐसा वही परमार्थ समय-जीव पदार्थ है (तस्मिन् स्वभावे
स्थिताः मुनयः निर्वाणं प्राप्नुवन्ति) उस शुद्ध स्वभाव में स्थित हुये मुनिगण निर्वाण को
प्राप्त कर लेते हैं ।

आत्मख्याति—ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान शुभ और अशुभ इन दोनों
प्रकार के कर्मों के बंध का हेतु न होने से वह मोक्ष का हेतु है यह बात निश्चित सिद्ध हो
जाती है—मोक्ष का हेतुपना वैसे ही बनता है । वह ज्ञान सकलकर्म—शुभ-अशुभ आदि
जाति से भिन्न पृथक् ही एक चैतन्य जातिमात्र है वही परमार्थस्वरूप है और वह 'आत्मा'
ही है ऐसा समझना । वह आत्मा एक साथ एकीभावरूप से प्रवर्तन करते हुये ज्ञान और
गमनमय होने से 'समय' कहलाता है । अर्थात् 'सम्—अयते गच्छति जानाति इति समयः'
इस व्युत्पत्ति से जो सम्यक् प्रकार से जानता है—गमन करता है या गुणपर्यायों को प्राप्त

(१५८ ज०) जो केवली ज्ञानी मुनि परमार्थ शुद्ध हो रहे ।

जो शुद्ध समयसार में हि लीन सदा हो रहे ॥

इस ही स्वभावसे मुनी निर्वाण प्राप्त कर सकें ।

इसके बिना शिवधाम कभी प्राप्त नहीं हो सके ॥१५९ अ०॥

१. "अज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोः बंधहेतुत्वे सति"—इत्यपि पाठः । २. चिज्ज्योतिर्मात्रः" इति पाठोऽपि ।

३. ज्ञानमयतया" इत्यपि पाठः ।

वस्तुतया केवली । मननमात्रभावमात्रतया मुनिः । स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी । स्वस्य ज्ञानस्य भाव-
मात्रतया स्वभावः स्वतश्चित्तो मन्त्रादिमात्रतया सद्भावो वेति मन्दसेनेऽपि न च वस्तुभेदः ॥१५१॥

उत्थानिका—अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं भोक्षकारणं कथयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—परमदृष्टो ह्यलु समभौ उत्कृष्टार्थः परमार्थः स कः ? परमात्मा अथवा
धर्मार्थिकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो भोक्षलक्षणोर्थः परमार्थः सोऽपि स एव ।

करता है वह 'समय' शब्द से कहा जाता है । सम्पूर्ण नदों के पक्षों से संकीर्ण न होने से—
रहित एक ज्ञानरूप होने से यह आत्मा शुद्ध है । केवल चैतन्यमात्र वस्तु होने से केवली है ।
मननमात्र—ज्ञानमात्र भावरूप होने से यह आत्मा मुनि है । स्वयं ही ज्ञानरूप होने से
ज्ञानी है । अपने ज्ञान का भावमात्र—सत्तामात्र होने से यह आत्मा ही स्वभावस्वरूप है
अथवा स्वतः चैतन्य के सत्तामात्र रूप से इसे ही सद्भाव कहते हैं । इस प्रकार से इस
आत्मा में शब्दों से भेद होने पर भी वस्तु में भेद नहीं है । ये सभी शब्द शुद्धात्मा के
पर्यायवाची नाम हैं । ॥१५१॥

विशेषार्थ—यहाँ पर कुंदकुंदवेश ने ही स्वयं ही यह कह दिया है कि जो आत्मा
केवल शुद्ध ज्ञान आदि स्वरूप है उस शुद्धात्मा में लीन हुये मुनिगण ही निर्वाण को प्राप्त
कर लेते हैं । अतः यह ध्यान में रखना उचित है कि पुण्य और पाप इन दोनों को छोड़कर
शुद्ध आत्मा में स्थिर होना आवश्यक व अग्रती जनों के लिये संभव नहीं है । किन्तु जब तक
ऐसी उत्कृष्ट मुनि अवस्था न प्राप्त हो सके तब तक पाप को छोड़कर पुण्य का सहारा
लेना ही उचित है पाप के समान पुण्य को समझकर पुण्य क्रिया दान-पूजा आदि छोड़कर
गृहस्थाश्रम के पंचसूता व व्यापार आदि पाप क्रियाओं को करते रहना कथमपि बुद्धि-
मत्ता नहीं है प्रत्युत आत्मव्यञ्जना ही है ।

इसे ही श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं—

उत्थानिका—अब विशुद्ध ज्ञान शब्द से वाच्य जो परमात्मा है वही भोक्ष का
कारण है ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उत्कृष्ट अर्थ—पदार्थ परमार्थ है वह परमात्मा ही है अथवा धर्म,
अर्थ, काम और मोक्ष इन लक्षण वाले परमार्थमें—चार पुरुषार्थ में परम उत्कृष्ट भोक्ष
लक्षणरूप जो पुरुषार्थ है वही परमार्थ है वह भी परमात्मा ही है । अथवा मति, श्रुत, अवधि

अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुटं समग्रो सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः । अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यत्नं अवति स समयः । अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः सोऽपि स एव शुद्धो रागादिभावकर्मरहितो यः सोऽपि स एव केवली परद्रव्यरहितत्वेनासहायः केवली सोऽपि स एव मुणी मुनिः स एव णाणी विशुद्धज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी सोऽपि प्रत्यक्षज्ञानी सोऽपि परमात्मैव । तस्मिन् टिठ्ठा सहाये मुनिगो पावंति णिव्वाणं । तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाणं प्राप्नुवन्ति लभन्त इत्यर्थः ॥१५८॥

मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञान के भेदों से रहित हुआ निश्चयनय से जो एक परमार्थ है—ज्ञानमात्र है वह भी परमात्मा ही है ऐसा स्पष्ट है । जो सम्यक् प्रकार से शुद्ध गुण पर्यायों को प्राप्त करता है, उन शुद्ध गुण पर्यायों से परिणमन करता है वह समय है । अथवा समीचीन अय-संशय आदि से रहित बोध-ज्ञान जिनके हैं वह 'समय' है । यहाँ 'समय' से ज्ञानी आत्मा को लिया है । अथवा 'सम्' एक रूप से परमसमरसी भाव से अपने शुद्ध स्वरूप में 'अयन'—गमन करना, उसी में परिणमन करना 'समय' है वह भी वह शुद्ध आत्मा ही है । जो शुद्ध है, रागादि भावकर्मों से रहित है वह भी वही है—शुद्ध आत्मा ही है । जो परद्रव्यों से रहित होने से असहाय है वह केवली है वह भी वही—शुद्ध आत्मा है । मुनि भी वही शुद्ध आत्मा है । विशुद्ध ज्ञान जिसमें है ऐसा ज्ञानी जो है सो भी प्रत्यक्ष ज्ञानी ही है और वह परमात्मा ही है । उस परमात्म-स्वभाव में स्थित हुये वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में लीन हुये मुनिगण—परम तपोधन ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं, यहाँ ऐसा अर्थ है ॥१५८॥

भावार्थ—जो केवलज्ञानी परमात्मा का लक्षण है वही शुद्ध आत्मा का लक्षण है । यहाँ पर 'परमार्थ' शब्द से आचार्यश्री ने परमात्मा को ही कहा है ऐसे ही 'समय' शब्द से 'शुद्ध' शब्द से 'केवली' शब्द से 'मुनि' शब्द से और 'ज्ञानी' शब्द से भी परमात्मा को ही कहा है । शुद्ध निश्चयनय से हमारी तथा सर्व संसारी जीवों की आत्मा भी शुद्ध है अतः यह परमात्मा ही है । ऐसे परमात्मस्वरूप शुद्ध आत्मा में जो लीन हो जाते हैं—निर्विकल्प

अथ ज्ञानं विधापयति—

(१५६ ज०) परमठ्ठमिह दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।

तं सब्बं बालतवं बालवदं विति सब्बण्ह ॥१५२ अ०॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।

तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं वदन्ति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्ब्रततपः कर्मणोः बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ॥१५२॥

(उत्थानिका)—अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसंवेदनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिकं पुण्यबंधकारणमेवेति प्रतिपादयति;—

शुक्लध्यान में स्थिर हो जाते हैं वे ही मुनिराज मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । यहाँ वे ही मुनि पुण्य-पाप विकल्पों से रहित होने के अधिकारी हैं ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब ज्ञान की विधि बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यः परमार्थे तु अस्थितः तपः करोति च व्रतं धारयति) जो परमार्थ में तो स्थित नहीं है किन्तु तप करता है और व्रतों को भी धारण करता है (सर्वज्ञाः तत्सर्वं बालतपः बालव्रतं वदन्ति) सर्वज्ञदेव उन उनकी बालतप एवं बालव्रत कहते हैं ।

आत्मख्याति—ज्ञान ही मोक्ष का कारण कहा गया है क्योंकि परमार्थ से शून्य पुरुष की अज्ञान से की गई व्रत और तपश्चरण क्रियायें बंध की हेतु हैं । इन व्रत और तप को बालव्रत और बालतप नाम से मान करके इनका प्रतिषेध कर देने पर वह ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है यह बात सिद्ध हो जाती है ॥१५२॥

उत्थानिका—उस परमात्मा में ही स्वसंवेदन ज्ञान से रहित जनों के व्रत तपश्चरण आदि पुण्यबंध के ही कारण हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

(१५६ ज०) ज्ञानरूप आत्मतत्त्व में न जिनकी स्थिती ।

किन्तु व्रत तपो को धारता रहा पुरुष वही ॥

उनके उस तपश्चरण को बालतप कहा गया ।

बाल व्रत के नाम से सर्वज्ञदेव ने कहा ॥१५२ अ०॥

तात्पर्यवृत्तिः—परमदृष्टिम् य अठिबो जो कुणदि तवं ववं च धारयदि तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थ लक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिकं च धारयति तं सध्वं बालतपं बालव्रतं विति सध्वहूण—तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवन्ति कथयन्ति । के ते ? सर्वज्ञाः । कस्मात् ? इति चेत्, पुण्यपापोदयजनितसमस्तेन्द्रियसुखदुःखाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वात् इति ॥१५६॥

तात्पर्यवृत्ति—पूर्वं सूत्र में कथित परमार्थ लक्षण उन्हीं परमात्मस्वरूप में जो स्थित नहीं हैं—शुद्धोपयोगरूप शुक्लध्यान से रहित हैं, वे तपश्चरण करते हैं और व्रतादिकों को भी धारण करते हैं उनको उन सभी क्रियाओं को 'बालतपश्चरण और बालव्रत हैं' ऐसा सर्वज्ञदेव कहते हैं । क्यों ? क्योंकि वे मुनि पुण्य-पाप के उदय से उत्पन्न हुये समस्त इन्द्रिय सुख-दुःख अधिकार के परिहार से परिणत जो अभेदरत्नत्रय लक्षणरूप विशेष भेद-ज्ञान है उससे रहित हैं अतः उनके तप और व्रत बालतप-बालव्रत हैं ऐसा समझना ॥१५६॥

विशेषार्थ—गाथा १५२ अ०, १५७ ज० में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि जो परमार्थ में स्थित नहीं हैं तप और व्रतों को धारण करते हैं वे सब उनका बालतप और बालव्रत है । इसके पहले गाथा १५१ अ. में कहा है कि जो मुनि परमार्थ में स्थित हैं वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं । वहां गाथा में ही परमार्थ के पर्यायवाची नाम दिये हैं कि जो समय है, शुद्ध है, केवली है इत्यादि । इससे यह स्पष्ट है कि यहां 'परमार्थ' से शुद्धात्मा को लिया है । इस कथन से यह समझना चाहिये कि मुनि ही व्रत और तप को धारण करके महाव्रती, तपस्वी-तपोधन कहलाते हैं । जब तक वे निर्विकल्प ध्यान में—तीन गुप्ति से सहित शुद्धोपयोग में लीन नहीं हैं तब तक उनका बाह्यतप और बाह्यव्रत 'बाल' संज्ञा को प्राप्त है । यह बालतप, बालव्रत छोटे गुणस्थानवर्ती मुनि का भी माना जा सकता है क्योंकि वे निर्विकल्प ध्यान में नहीं हैं, भीतराग चारित्ररूप निश्चयचारित्र में नहीं हैं प्रत्युत सविकल्पचर्या में—सरागचर्या में सगे हुए हैं । अतः यहां इन मुनियों को मिथ्यादृष्टि नहीं समझना चाहिये ।

अथवा 'भगवती आराधना' नाम के ग्रंथ में मरण के पांच भेद किये हैं—

पंडिदपंडिदमरणं पंडिदयं बालपंडिदं चैव ।

बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥२६॥

पंडितपंडितमरणे क्षीणकसाया मरंति केवलिणो ।
 विरदाविरदा जीवा मरंति तद्वियेण मरणेण ॥२७॥
 पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चेव ।
 एदाणि तिणिण मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥२८॥
 प्रायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव ।
 तिविहिं पंडितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥२९॥
 अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे कलत्थम्मि ।
 मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥३०॥

मरण के पांच भेद हैं—पंडितपंडित, पंडित बालपंडित, बाल और बाल बाल । क्षीण-कषाय केवली भगवान् प्रथम पंडितपंडितमरण से मरते हैं अर्थात् उनका मरण मरण न कहलाकर निर्वाण या मोक्ष कहलाता है । तीसरे बालपंडितमरण से वेशवती-संयता-संयत मरते हैं इसलिये प्रथम पंडित-पंडितमरण, दूसरा पंडितमरण और तीसरा बाल-पंडितमरण इन तीनों मरणों को जिनैन्द्रदेव ने प्रशंसनीय कहा है । दूसरे पंडित मरण के प्रायोपगमन, भक्त-प्रतिज्ञा और इंगिनीमरण ये तीन भेद हैं । ये युक्ताचारी (आगम के अनुकूल) साधुओं के ही होते हैं । इनमें से भी 'चमकाल' में भक्त प्रत्याख्यान मरण है । शेष दो मरण उत्तमसंहननधारी के ही होते हैं । अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे बालमरण से मरते हैं और मिथ्यादृष्टि जीवों का मरण बालबालमरण कहलाता है ।

यहाँ आचार्य ने पांचवें गुणस्थानवर्ती संयतासंयत के मरण को 'बाल-पंडित' कहा है । तथा चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि के मरण को 'बालमरण' कहा है । इससे यह समझना चाहिये कि 'बाल' शब्द का प्रयोग मात्र मिथ्यादृष्टि के लिये ही नहीं होता है सम्यग्दृष्टि और वेशवती के लिये भी होता है । ऐसे ही यहां भी बालतप और बालव्रत से चौथे-पांचवें गुणस्थानवर्ती के तप और व्रत जैसे ये तप और व्रत माने जा सकते हैं । क्योंकि यहाँ समयसार में तो इस पुण्य-पाप अधिकार में शुद्धोपयोगी मुनि की ही विवक्षा है । अतः बालतप और बालव्रत से यहां मिथ्यादृष्टि मुनि को नहीं लेना चाहिये ।

अथवा कथंचित् द्रव्यालिंगी मिथ्यादृष्टि मुनि के तप और व्रतों को भी बालतप व बालव्रत नाम आयेगा । उसे अज्ञानतप और अज्ञानव्रत कहेंगे किन्तु उन मिथ्यादृष्टि मुनि की परीक्षा या निर्णय हम और आप जैसों के लिये करना शक्य नहीं है यह विषय केवली भगवान् के गम्य ही है ।

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतु नियमयति—

(१६० ज०) वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुर्वंता ।

^१परमट्ठवाहिरा जे णिब्बाणं ते ण विदंति ॥१५३ अ०॥

व्रतनियमान् धारयन्तः शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः ।

परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विदन्ति ॥१५३॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्गतनियमशीलतपः प्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्गतनियमशीलतपः प्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ॥१५३॥

इसलिये यहां प्रकरण में छठे गुणस्थानवर्ती सरागीमुनि ही विवक्षित हैं । यहां मिथ्यात्व की बात नहीं है ऐसा समझ में आता है । क्योंकि श्री जयसेनाचार्य ने कहा है कि “जो अभेदरत्नत्रयलक्षण वाले विशेष भेदज्ञान से रहित हैं उन्हीं के तप व व्रत बालतप व बालव्रत हैं” ऐसी पंक्ति आई है । हां, कथंचित् किन्हीं मुनि के यदि भावों की अपेक्षा चतुर्थ या पंचमगुणस्थान बन जाता है उनके भी तप और व्रत बाल कहला सकते हैं किन्तु यह अवस्था सर्वज्ञगम्य है हम और आप इसका निर्णय नहीं दे सकते हैं ।

उत्थानिका—ज्ञान तो मोक्ष का हेतु है और अज्ञान बंध का हेतु है ऐसा नियम है, इसे ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ये व्रतनियमान् धारयन्तः तथा शीलानि च तपः कुर्वन्तः परमार्थ-बाह्याः) जो व्रत नियमों को धारण करते हुये तथा शील और तपश्चरण करते हुये भी परमार्थ से बाह्य हैं (ते निर्वाणं न विदन्ति) वे निर्वाण नहीं प्राप्त कर पाते हैं ।

आत्मख्याति—ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान के अभाव में स्वयं अज्ञानरूप हुये अज्ञानी जनों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभ क्रियाओं का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है । अज्ञान ही बंध का हेतु है क्योंकि अज्ञान के अभाव में स्वयं ज्ञानरूप हुये ज्ञानी जनों के बाहर में व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभ क्रियाओं का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है ॥१५३॥

१. तात्पर्यवृत्तौ 'तु ण तेण ते होति अण्णाणी' इत्यपि पाठः ।

(१६० ज०) यद्यपि जो व्रत नियम को धारते सदा मुनी ।

शील और तपश्चरण भी बालतप कथा सुनी ॥

परमार्थ ज्ञान से रहित बाह्य ज्ञान है सभी ।

इस ही लिए अज्ञानी मोक्ष प्राप्त कर सके नहीं ॥१५३ अ०॥

शिखरिणोच्छ्व—यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
 शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
 अतोऽन्यद्वन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्,
 ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥१०५॥

(उत्थानिका)—अथ स्वसंवेदनज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति यथाक्रमेण मोक्षबन्धहेतुं दर्शयति;—

विशेषार्थ—यहां पर ज्ञानीजनों की शुभ क्रियायें मोक्ष का कारण कही गई हैं और अज्ञानी जनों की शुभक्रियायें मोक्ष का कारण नहीं मानी हैं । वास्तव में यहां वही ज्ञान विवक्षित है जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य से सहित भेदरत्नत्रय के बाद अभेदरत्नत्रय रूप से-वीतरागचारित्र्य से अविनाभूत है । उसमें स्थित हुये मुनि जब छोटे गुणस्थान में आते हैं तब व्रत, नियम, तप आदि बाह्य क्रियायें करते रहते हैं और जब सातवें आदि गुणस्थानों में ध्यान में लीन होते हैं तभी वे मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । वैसे ही यहां अज्ञानी से एक तो वे हैं जिन्हें सम्यक्त्व नहीं है वे तो मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगे किन्तु जो सम्यक्त्व सहित भी हैं और सम्यक् चारित्र्यधारी हैं फिर भी निर्विकल्प ध्यान में स्थित नहीं हैं वे भी इस भव से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते हैं । पुण्यबन्ध के फलस्वरूप स्वर्गादि के वंभव प्राप्त करते हैं, परंपरा से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा समझना ।

कार्यार्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह ध्रुव है वह जब निश्चल होता हुआ शोभायमान होता है तभी यह मोक्ष का हेतु है क्योंकि वह स्वयं ही मोक्षस्वरूप है । इससे अतिरिक्त जो अन्य है वह बन्ध का हेतु है क्योंकि वह स्वयं बन्धस्वरूप ही है इसलिये ज्ञान-स्वरूप होना ही अनुभूति है और वही मोक्ष का हेतु है ॥१०५॥

उत्थानिका—स्वसंवेदनज्ञान और इससे रहित अज्ञान ये दोनों क्रम से मोक्ष और बन्ध के हेतु हैं ऐसा बिखलाते हैं—

भुजंगप्रयात छंद (वर्णिक)—यही आत्मज्ञानं हि ध्रुव्यं अकंपं, स्वयं ज्ञानभासं यही मोक्षरूपं ।

तथा अन्य जो भी स्वयं हेतु बन्ध, अतः ज्ञानरूपं भुवं स्वानुभूतं ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्तिः—वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवंच कुब्वंता त्रिगुत्तसमाधिलक्षणाद्भेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयन्तः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभन्ते । कस्मादिति चेत्, परमदृढबाहिरा जेण तेण ते होति अण्णाणी येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवन्त्यज्ञानिनः । अज्ञानिनां तु कथं मोक्षः ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरणं बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्षं लभन्ते । तदपि कस्मात्, येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थदिबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवन्ति । ज्ञानिनां तु मोक्षो भवत्येवेति । किंच विस्तरः । व्रतनियमशीलबहिरंगतपश्चरणादिकं विनापि यदि मोक्षो भवति इति तर्हि संकल्पविकल्परहितानां विषयव्यापारेऽपि पापं नास्ति, तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो

तात्पर्यवृत्ति—त्रिगुप्ति से सहित समाधिलक्षण जो भेदज्ञान है उससे जो बाह्य हैं वे व्रत, नियमों को धारण करते हुये तथा शील और तपश्चरण को करते हुये भी मोक्ष को नहीं प्राप्त कर पाते हैं । क्यों ? क्योंकि जिस कारण पूर्वोक्त भेदज्ञान के अभाव से वे परमार्थ से बहिर्भूत हैं इसी कारण वे अज्ञानी होते हैं और अज्ञानी जनों को तो मोक्ष कैसे होगा ? अर्थात् कथमपि नहीं होगा । जो परमसमाधि लक्षण भेदज्ञान से सहित हैं वे तो व्रत नियमों को नहीं धारण करते हुये भी बाह्य द्रव्यरूप शील तथा तपश्चरण आदि को नहीं करते हुये भी मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । ऐसा क्यों ? क्योंकि जिस कारण वे पूर्वोक्त भेदज्ञान के सद्भाव से परमार्थ से बाह्य नहीं हैं—परमार्थरूप से परिणत हैं उसी हेतु से वे ज्ञानी कहलाते हैं और ज्ञानी जीवों को तो मोक्ष होता ही है, इसी को विस्तार से कहते हैं—

शंका—यदि व्रत, नियम, शील और बहिरंग तपश्चरण आदि के बिना भी मोक्ष होता है ऐसा आप मानते हैं तब तो संकल्प-विकल्प से रहित जीवों को भी विषयों में व्यापार—प्रवृत्ति करने पर भी उन्हें पाप का बंध नहीं होगा और तपश्चरण के अभाव में मोक्ष होता है ऐसा जो सांख्यमत और शैवमत के अनुयायी कहते हैं पुनः उन्हीं का मत सिद्ध हो जायेगा ?

भवतीति सांख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मतं सिद्धमिति । नैवं, निर्विकल्पत्रिगुप्ति-समाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति । एवंभूतभेद-ज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परंपरया मुक्तिकारणभूतास्तेऽपि न संति । ये पुनरशुभविषयकषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न संति । न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरंगविषयव्यापारो दृश्यते । तंदुलस्याभ्यंतरे तुषे गते सति बहिरंगतुष इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत्, निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ॥१६०॥

समाधान—ऐसा नहीं कहना, निर्विकल्प ध्यानमय, तीनगुप्ति से सहित जो समाधि है उस समाधिलक्षण भेदज्ञान से जो सहित है उन्हीं महामुनियों के मोक्ष होता है ऐसा विशेषरूप से बहुत बार इस ग्रंथ में कहा गया है । इस प्रकार के भेदज्ञान के काल में जो शुभरूप मन वचन काय कि प्रवृत्तियाँ हैं जो कि परंपरा से मोक्ष के लिये कारणभूत हैं वे भी वहाँ नहीं हैं । पुनः जो अशुभरूप विषय कषायों के व्यापार हैं—प्रवृत्तियाँ हैं वे तो विशेष रीति से वहाँ हैं ही नहीं । वास्तव में चित्त में स्थित रागभाव के नष्ट हो जाने पर बाहर में विषयों का व्यापार नहीं देखा जाता है जैसे कि चावल के अभ्यंतर के तुष-सालिमा के निकल जाने पर बाहर का तुष-छिलका रह ही नहीं सकता है । ऐसा भी क्यों ? क्योंकि निर्विकल्प समाधि लक्षण भेदज्ञान और विषय, कषायों का व्यापार इन दोनों में परस्पर में विरोध है जैसे कि शीत और उष्ण परस्पर में विरोधी हैं ऐसा समझना ॥१६०॥

विशेषार्थ—यहाँ इस गाथा की दूसरी लाइन श्रीजयसेनाचार्य ने ऐसी मानी है कि—

“परमदृढबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ।” इसका अर्थ यह है कि जिस हेतु से वे परमार्थ से बाह्य हैं उसी हेतु से वे अज्ञानी हैं । इसी को टीका में खुलासा किया है । यहाँ गाथा में कहा है कि जो व्रत को धारते और तप को करते हुये भी परमार्थ से बाह्य हैं वे निर्वाण को नहीं प्राप्त कर सकते हैं । इसकी तात्पर्यवृत्ति टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने पर्याप्त खुलासा कर दिया है । बात यह है कि यहाँ उन्हीं मुनि की बात है कि जो निर्विकल्प ध्यानमय तीनगुप्ति सहित ध्यान में लीन हैं यह तृतीयभूमिका का ही विषय है । स्थल-स्थल पर श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी कहा है कि—

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।

तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किनोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८६॥

अहां प्रतिक्रमण ही विष कह बिया गया है वहां भला अप्रतिक्रमण ही अमृत कैसे हो सकता है ? इसलिये मनुष्य नीचे-नीचे गिरता हुआ प्रमाद क्यों कर रहा है ? निष्प्रमादी होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ता है ? तात्पर्य यही है कि यहाँ भीतराग निर्विकल्प ध्यान में प्रतिक्रमण को विष कहा है और छठे-गुणस्थान में प्रतिक्रमण को अमृत कहा है । यदि कोई मुनि छठे गुणस्थान में आहार, बिहार, निहार आदि में प्रवृत्ति करते हुये भी प्रतिक्रमण छोड़ देता है तो वह प्रमादी हुआ नीचे-नीचे चला जाता है । एक तो प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं को नहीं करनेरूप प्रमादी अवस्था, दूसरी प्रतिक्रमण आदि को करने रूप निष्प्रमादी अवस्था और तीसरी निर्विकल्प ध्यान में प्रतिक्रमण नहीं करने रूप अवस्था ।

श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने वहीं टीका में स्वयं कहा है कि 'अप्रतिक्रमणाविरूपा तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन' इस टीका में सूरिस्वर्य ने सिद्ध किया है कि इस तृतीय भूमि रूप शुद्धात्मसिद्धि या शुद्धोपयोग के पहले दूसरी भूमि में प्रतिक्रमण आदि शुभ क्रियायें अमृतरूप हैं । यथा—जब 'व्यग्रहारेण ब्रह्मप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुंभत्वं साधयति' जब तक निर्विकल्पध्यानरूप अवस्था नहीं प्राप्त होती है तब तक के लिये ये शुभरूप आवश्यक क्रियायें अवश्यमेव करणीय हैं ।

यहाँ टीका में श्रीजयसेनाचार्य की यह पंक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है कि "निर्विकल्प-समाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवत् "निर्विकल्प ध्यान रूप भेदज्ञान और विषय कषायों की प्रवृत्ति का परस्पर में विरोध है जैसे शीत और उष्ण स्पर्श । वास्तव में विचार करके देखा जाय तो चतुर्थ-पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावकों की विषयों में प्रवृत्तियाँ भी हैं और कषायें तो हैं ही हैं । अतः चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती को निर्विकल्पध्यान संभव नहीं है । हाँ, मुनि जो कि छठे गुणस्थानवर्ती हैं वे ही सातवें में जाने के अधिकारी हैं । उन्हीं के ही सातवें गुणस्थान में स्वस्थानअप्रमत्त नाम के प्रथम पाये

में कथंचित् निर्विकल्प ध्यान कह सकते हैं। वैसे तो सातवें गुणस्थान के दूसरे पाये में साति-शय अप्रमत्त अवस्था में ही निर्विकल्प ध्यान होता है। जो कि आठवें गुणस्थान में जाने के सम्मुख हुये मुनियों के ही होता है यह दूसरा पाया आज संभव ही नहीं है क्योंकि आज पंचमकाल में उत्तम संहनन का अभाव है। अतः यह पुण्य क्रियाओं को छोड़ने की स्थिति आज के पंचम काल में संभव नहीं है। मुनिगण भी अपनी आवश्यक क्रियाओं में निष्प्रमादी रहते हुये ही आगे आत्मसिद्धि के अधिकारी होंगे ऐसा समझना चाहिये। श्रावकों को तो अपने पद के योग्य दान-पूजादि क्रियायें करते हुये मुनि बनने की भावना करना, उनकी भक्ति करना और मुनि बनने के लिये पुरुषार्थ करना ही उचित है।

यहां जो १०५वें कलशकाव्य में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु और मोक्षरूप कहा है तथा ज्ञानात्मक होने को चाहता है वह ज्ञान क्या है? इस समयसार में श्रीकुंदकुंददेव ने गाथा ६ अ० में जो ज्ञायकभाव कहा है। सर्वत्र ज्ञान शब्द से उसे ही लेना चाहिये। यथा—

णवि होवि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।

एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो दु सो खेव ॥६॥

जो प्रथम गुणस्थान से लेकर छठे गुणस्थान तक होने वाला 'प्रमत्त' नहीं है और सप्तम गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होने वाला अप्रमत्त भाव भी नहीं है ऐसा मात्र जो जानने रूप ज्ञायक भाव है वही ज्ञान शब्द से लिया जाता है। वह ज्ञान मात्र आत्मा का स्वभाव होने से आत्मस्वरूप ही है वह ज्ञान ही रागादि विभावभावों से रहित निर्विकल्प अवस्था में ध्यानरूप हो जाता है—केन्द्रित होकर ध्यान नाम को पा लेता है तभी यह मोक्ष का कारण हो जाता है। आगे वही ज्ञान मोहनीय कर्मों का अभाव हो जाने पर अन्य घातिया कर्मों से रहित होकर अनंत केवलज्ञान नाम को पा लेता है।

यहां समयसार में यह ज्ञान सर्वत्र वीतराग सम्यक्त्व और वीतरागचारित्र से अविनाश्रुत है ठंडाई के समान। ऐसा श्रीजयसेनाचार्य ने बहुत बार कहा हुआ है।

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

(१६१ ज०) परमठ्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।

संसारगमणहेतुं वि मोक्खहेतुं अजाणंता ॥१५४ अ०॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।

संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥१५४॥

आत्मख्यातिः—इह अणु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावित्वात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतु-
भूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवनं भावमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं
प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानानुभवनमात्रसामायिकमात्मस्वभावमलभ-
मानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवर्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्मणिः कर्मा-

उत्थानिका—पुनरपि जो पुण्यक्रियाओं के पक्षपाती हैं उनको समझाने के लिये
आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(ये परमार्थबाह्याः ते अज्ञानेन) जो परमार्थ से बहिर्भूत हैं वे अज्ञान से
(मोक्षहेतुं अजानन्तः संसारगमनहेतुं अपि पुण्यं इच्छंति) मोक्ष के हेतु को नहीं जानते
हुये संसारगमन के हेतु भी पुण्य की इच्छा करते हैं ।

आत्मख्याति—इस संसार में निश्चय से कोई-कोई महानुभाव ऐसे हैं जो कि संपूर्ण
कर्मपक्ष के क्षय से होने वाली आत्मा की उपलब्धिस्वरूप मोक्ष की अभिलाषा करते हुये
भी उस मोक्ष के हेतु भूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप-रत्नत्रय स्वभाव जो कि परमार्थ-
भूत ज्ञान के होने मात्र है—निश्चयरत्नत्रयस्वरूप होने से ऐकाग्र्य लक्षण समयसारस्वरूप
सामायिक चारित्र है उसकी प्रतिज्ञा तो कर लेते हैं—अथवा रत्नत्रय को ग्रहण कर
निश्चयरत्नत्रय की प्रतिज्ञा तो कर लेते हैं फिर भी दुरंत कर्मसमूह से पार होने की सामर्थ्य
न होने से परमार्थभूत ज्ञान-शुद्धात्मा के अनुभव करने मात्र जो 'सामायिक चारित्र' नाम
से आत्मस्वभाव है उसको प्राप्त नहीं कर पाते हुये अतिशय स्थूल संक्लेश परिणाम से तो

(१६१ ज०) परमार्थबाह्या जो मुनी अज्ञानयुक्त हो रहे ।

अज्ञान भाव से ही पुण्य कर्म सदा कर रहे ॥

पुण्य वह संसार गमन का ही हेतु मानिए ।

क्योंकि मोक्ष हेतु ज्ञान उनसे दूर जानिए ॥१५४ अ० ॥

तुभ्यगुरुनाथवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञाना-
दशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मबंधहेतुमप्यज्ञानतो मोक्षहे-
तुमभ्युपगच्छति ॥१५४॥

(उत्थानिका)—अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मभावनां विहाय तेन पुण्यमेवैकांतेन
मुक्तिकारणं ये वदन्ति तेषां प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषणं ददाति—

निवृत्त हो जाते हैं किंतु जो अतिशय स्थूल विशुद्ध परिणामरूप कर्म में प्रवृत्त होते हुये
कर्म के अनुभव की गुरुता और लघुता की प्राप्तिमात्र से ही संतुष्टचित्त होते रहते हैं। वे
सकल कर्मकांड को जड़मूल में नहीं उखाड़ते हुये स्वयं अज्ञान से मात्र स्थूल रूप में लक्ष्य
में आने वाले ऐसे केवल अशुभकर्मों को—अशुभक्रियाओं को बंध का हेतु मान लेते हैं और
व्रत, नियम, शील, तप आदि भी शुभ क्रियाओं को बंध का हेतु न समझते हुये इन्हें मोक्ष
का हेतु मान लेते हैं ॥१५४॥

विशेषार्थ—यहां पर श्रीअमृतचंद्रसूरि ने स्पष्ट कह दिया है कि जो संपूर्ण कर्म के
क्षयरूप मोक्ष को चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्य की एकाग्रता
रूप सामायिक नाम के चारित्र्य की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। यह प्रतिज्ञा जब कोई महानुभाव
मुनि बनकर व्यवहाररत्नत्रय ग्रहण कर लेते हैं तभी होती है। ऐसी स्थिति में वे मुनिराज
यदि निश्चयरत्नत्रय को नहीं प्राप्त कर पाते हैं तो व्यवहाररत्नत्रय में ही संतुष्ट रहते हैं।
अतः वे हिंसा झूठ, आदि पाँचों पापों को संपूर्ण अशुभक्रियाओं को तो बंध का हेतु समझकर
छोड़ देते हैं फिर भी कोई मुनि यदि अज्ञान से व्रत, नियम आदि क्रियाओं को साक्षात्
मोक्ष का हेतु मान लेते हैं तो वे अज्ञानी हैं। हां, यदि वे मुनि व्यवहाररूप शुभ क्रियाओं
को निश्चयरत्नत्रय के लिये साधन मान कर यह चिंतन करते हैं कि निश्चयरत्नत्रयरूप
निर्विकल्प ध्यान ही मोक्ष का हेतु है तो वे ज्ञानी हैं। वे परंपरा से मोक्ष को प्राप्त कर लेते
हैं। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में कहते हैं—

उत्थानिका—अथ वीतराग सम्यक्त्वरूप शुद्धात्मा की भावना को छोड़कर पुण्य
ही एकांत से मुक्ति का कारण है ऐसा जो कहते हैं उन्हीं को प्रतिबोधित करने के लिये
आचार्यदेव पुनरपि दूषण देते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छन्तोऽपि निजपरमात्मभावना-
परिणताभेदरत्नत्रयलक्षणं परमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले एतिज्ञायामि निदानंदैकस्वभाव-
शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्तं परमसामायिकमलभमानाः परमार्थ-
बाह्याः संतः संसारगमनहेतुत्वेन बंधकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छन्ति । किं कुर्वन्तः ?
अभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमजानन्तः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं, बंधहेतुमपि पुण्यं मोक्ष-
हेतुमिच्छन्ति । किं कुर्वन्तः ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकं मोक्षकारणमजानन्तः
संत इति । किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति । अथवा
निश्चयव्रतं तदेवेत्यभिप्रायः । इति वीतरागसम्यक्स्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां बिना व्रत-
तपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावेनासहितं पुनर्बहिरंगसाधकत्वेन परम्परया मुक्ति-

तात्पर्यवृत्तिः—इस जगत में जो कोई सकलकर्म के क्षयरूप मोक्ष को चाहते हैं तथा
निज परमात्मा की भावना से परिणत अभेदरत्नत्रय लक्षण परमसामायिक की पूर्व में
दीक्षा के समय प्रतिज्ञा भी की है फिर भी विदानंद एकस्वभावी शुद्धात्मा का सम्यक्
श्रद्धान उसी का परिज्ञान और उसी में अनुष्ठानरूप निश्चयरत्नत्रय उसरूप सामर्थ्य का
अभाव होने से पूर्वोक्त परमसामायिक चारित्र को नहीं प्राप्त कर पाते हुये परमार्थ से
बहिर्भूत हैं अतः वे संसार गमन के कारणरूप से बंध के कारणों को भी अज्ञान भाव से
पुण्य को चाहते हैं वे अभेदरत्नत्रयस्वरूप ही मोक्ष का कारण है ऐसा नहीं जानते हुये भी
पुण्य को ही मोक्ष का कारण मान लेते हैं । अथवा दूसरा व्याख्यान ऐसा है कि बंध के
कारण भी ऐसे पुण्य को मोक्ष का कारण मान लेते हैं । ये महानुभाव पूर्वोक्त अभेदरत्नत्रय-
रूप परमसामायिक चारित्र ही मोक्ष का कारण है ऐसा नहीं समझते हुये ही पुण्य को मोक्ष
का कारण मान लेते हैं । बात यह है कि निर्विकल्प समाधि के काल में व्रत और अव्रत का
स्वयं ही प्रस्ताव नहीं है—प्रसंग नहीं है । अथवा वह निर्विकल्प ध्यान ही निश्चयव्रत है ऐसा
यहां अभिप्राय समझना । इसलिये वीतराग सम्यक्स्वरूप शुद्धात्मा ही उपादेय है ऐसी भावना
के बिना व्रत, तपश्चरण आदि पुण्य के कारण ही होते हैं और उस भावना से सहित व्रत,
तपश्चरण आदि क्रियायें बहिरंग में साधनरूप होने से परंपरा से मुक्ति के लिये कारण हैं
ऐसा निश्चित है ।

कारणं चेति ध्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं । एवं गाथादशकेन पुण्याधिकारः समाप्तः ॥१६१॥

इस प्रकार के व्याख्यान की मुख्यता से यहाँ चार गाथायें हुईं । इस तरह दश गाथाओं द्वारा यह पुण्याधिकार समाप्त हुआ ॥१६१॥

विशेषार्थ—यहाँ तात्पर्यवृत्तिकार श्रीजयसेनाचार्य ने स्पष्टतया कह दिया है कि जो दीक्षा के काल में सप्तमगुणस्थान के योग्य परमसामाधिक चारित्र्य को स्वीकार करते हैं पुनः भेदरूप रत्नत्रय में आ जाने से उस निश्चयचारित्र्य में चिरकाल स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते हैं अतः वे यदि सर्वथा एकांत से पुण्य को ही—व्रतादि बाह्य चारित्र्य को ही मोक्ष का हेतु मान लेते हैं तब गलत है । हाँ यदि वे शुद्धात्मा की भावना रखते हुये भी असमर्थता से व्रतादि क्रियाओं में लगे हुये हैं तो उनकी ये क्रियायें परम्परा से मोक्ष के लिये कारण हैं । इन्होंने यह भी कहा है कि निर्विकल्प ध्यान में व्रतादि अट्ठाईस मूलगुण एवं अवसादि पापों का विकल्प ही नहीं है वहाँ पर तो जो ध्यानावस्था है उसी में सर्वव्रत और सर्वआवश्यक क्रियायें निश्चयव्रत, निश्चय आवश्यक नाम से घटित हो जाती हैं इसलिये वे अव्रती भी नहीं हैं वे तो अव्रत और व्रतरूप प्रथम व द्वितीय भूमिका से आगे तृतीय भूमिका में पहुँच चुके हैं । इस कथन से जो अभी तीसरी भूमिका में नहीं पहुँचे हैं ऐसे छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों के लिये तो पुण्य क्रियायें उपादेय ही हैं किन्तु जो अभी अव्रती हैं, व्रतरूप दूसरी भूमिका में नहीं आये हैं उनके लिये तो पाप क्रियायें सर्वथा हेय हैं और पुण्यरूप वान-पूजन आदि क्रियायें उपादेय ही हैं ऐसा समझना । हाँ, लक्ष्य मोक्ष का, निश्चयरत्नत्रय का ही होना चाहिये । यहाँ यह बात ध्यान में रखना ही है कि पुण्य क्रिया में भले सम्यक्त्व सहित ही हों फिर भी तत्काल में तो बंध के लिये ही कारण हैं । हाँ, परम्परा से मोक्ष के लिये कारण हैं क्योंकि साक्षात् कर्मक्षय का कारण तो निर्विकल्प ध्यानरूप शुद्धोपयोग ही है और उस शुद्धोपयोग को प्राप्त कराने के लिये ये मुनिव्रत, बाह्य तप और आवश्यक क्रियायें हैं अतः ये कारण की कारण होने से परम्परा से कर्मक्षय के लिये कारण हैं । बात यह है कि पाप रूप अव्रत तो बुद्धिपूर्वक छोड़ने होते हैं और पुण्यरूप व्रत छोड़े नहीं जाते हैं प्रत्युत ध्यान में तन्मय होने पर ये स्वयं छूट जाते हैं । जैसे फल आने पर फूल स्वयं झड़ जाता है उसे तोड़ा नहीं जाता है और यदि फल आने के पहले ही फूल को तोड़ दें तो उसमें फल आयेगा ही नहीं । ठीक यही स्थिति यहाँ है यदि निर्विकल्प ध्यान होने के पहले ही पुण्य

क्रियायें छोड़ दी जावें तो पुनः निर्विकल्पध्यान की प्राप्ति होगी ही नहीं। देखो, तीर्थ-
करों ने भी निर्विकल्पध्यान की सिद्धि के लिये हजारों वर्ष तपश्चरण किया है। श्रीसमंतभद्र
स्वामी ने कहा भी है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्व-माध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।

हे भगवन् ! आध्यात्मिक तप की वृद्धि के लिये आपने घोरतिघोर बाह्य तप को
तपा था ।

इसलिये निर्विकल्प ध्यान में पाप-पुण्यरूप अवत और व्रत का सवाल ही नहीं उठता
है वहाँ पर ये शुभक्रियायें स्वयं ही छूट जाती हैं। अथवा वहाँ पर महाव्रत आदि निश्चय-
व्रत, प्रतिक्रमण आदि क्रियायें निश्चय प्रतिक्रमण आदि कहलाती हैं। जैसा कि वहाँ टीका
में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है और श्रीकुंदकुंददेव ने स्वयं अपने नियमसार ग्रन्थ में
कहा है ।

यहाँ श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने टीका में कहा है कि “समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञापि”
समयसारस्वरूप सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने खोल
दिया है कि “परमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि” बात यह है कि जब कोई भी
पुरुष दीक्षा लेते हैं तब दिगंबर दीक्षा लेते समय सर्वप्रथम निर्वस्त्र मुनि के सातवां गुण-
स्थान होता है। उसे ही सामायिक चारित्र कहते हैं पुनः अट्ठाईस मूलगुण रूप से भेद
करके जो आचार्यदेव उस शिष्य को व्रत देते हैं तब उसे छेदोपस्थापना चारित्र होता है।
यही व्यवस्था है। यहाँ छेद अर्थ छेद करना—व्रतों में दोष लगने पर प्रायश्चित्त देना नहीं
है प्रत्युत छेद का अर्थ भेद करना। अमेव नामक एक सामायिक चारित्र में अट्ठाईस भेद
करके मूलगुणों रूप व्रतों को देना ऐसा है। इसीलिये यहाँ ऐसा कहा है कि पहले सामायिक
या परमसामायिक की प्रतिज्ञा करके भी वे मुनि स्थूल पाँचों पापों को छोड़कर पाँच महाव्रत,
तथा छह आवश्यक आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। सो यही बात है कि पहले सातवें
गुणस्थान में सामायिक चारित्र होता है पुनः छठे गुणस्थान योग्य छेदोपस्थापना चारित्र
होता है, सिद्धान्त से ऐसा भाव समझना चाहिये ।

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति—

(१६२ ज०) जीवादीश्रद्धानं सम्मत्तं तेसिमधिगमो ज्ञानं ।

रागादीपरिहरणं चरणं एषो दु मोक्षपथो ॥१५५ अ०॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानं ।

रागादिपरिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥१५५॥

आत्मख्यातिः—मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादि-
श्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं । रागादिपरिहरणस्वभावेन
ज्ञानस्य भवनं चारित्रं । तदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम् । ततो ज्ञानमेव
परमार्थमोक्षहेतुः ॥१५५॥

उत्थानिका—अब (मोक्ष का हेतु न जानने वाले) ऐसे जीवों को परमार्थस्वरूप मोक्ष
का हेतु दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषां अधिगमः ज्ञानं) जीवादि तत्त्वों का
श्रद्धान करना सम्यक्त्व है उन्हीं को जानना ज्ञान है और (रागादिपरिहरणं चरणं एषः तु
मोक्षपथः) रागादि भावों का त्याग करना यह चारित्र है यही तीनों का ऐक्य ही मोक्ष का
मार्ग है ।

आत्मख्याति—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही नियम से मोक्ष के हेतु हैं । उनमें
से जीवादि पदार्थों के श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान का होना—श्रद्धानरूप से ज्ञान का परिणमन
होना सम्यग्दर्शन है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभाव से—जानने रूप स्वभाव से ज्ञान का
होना ज्ञान है । और रागादि भावों के त्याग स्वभाव से ज्ञान का होना चारित्र है, इस
प्रकारसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ज्ञान के ही परिणमनरूप हैं अतः एकस्व-
रूप ही है इसलिये ज्ञान ही परमार्थस्वरूप मोक्ष का हेतु है यह बात सिद्ध हो गई ॥१५५॥

(१६२ ज०) जीवादि का श्रद्धान ही सम्यक्त्व नाम धारता ।

उतका यथार्थज्ञान सम्यग्ज्ञान नाम धारता ॥

रागादिभाव परिहरण सम्यक्चारित्र है कहा ।

तीनों के सम्मिलन से पथिक मोक्षपथ की लहा ॥ १५५ अ० ॥

(भूमिका)—अथ सविकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन जीवादीसद्ग्रहण मित्यादिसूत्रद्वयं । तदनंतरं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिजीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन वत्थस्स सेदभावो इत्यादि गाथात्रयं । ततः परं पापं पुण्यं च बंधकारणमेवेतिमुख्यतया सो सव्वणाण इत्यादि सूत्रमेकं । ततश्च मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया सम्मत्त इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यंतं तृतीयस्थले व्याख्यानं करोति ।

(उत्थानिका)—तद्यथा—अथ तेषामज्ञानिनां निश्चयमोक्षहेतुं दर्शयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—जीवादीसद्ग्रहणं सम्मत्तं जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेसिमधिगमो णाणं तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं रागादीपरिहरणं चरणं तेषामेव संबन्धित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्र्यं एसो दु मोक्खपहो इत्येव व्यवहारमोक्षमार्गः । अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां

भूमिका—अब सविकल्प होने से और पराश्रित होने से निश्चयनय से पाप के व्याख्यान की मुख्यता से अथवा निश्चय और व्यवहार रूप मोक्षमार्ग की मुख्यता से 'जीवादीसद्ग्रहणं' इत्यादि दो गाथासूत्र कहेंगे । पुनः मोक्ष के लिये हेतुभूत जो ये सम्यक्त्व आदि जीव के गुण हैं उनके ढकनेवाले जो मिथ्यात्व आदि हैं उनकी मुख्यता से 'वत्थस्स सेदभावो' इत्यादि तीन गाथासूत्र कहेंगे । इनके बाद पाप और पुण्य ये दोनों बंध के कारण हो हैं इस मुख्यता से 'सो सव्वणाण' इत्यादि एक गाथा सूत्र कहेंगे । अनन्तर मोक्ष का कारण जो यह जीव गुणी है उसके प्रच्छादन करने वाले की मुख्यता से 'सम्मत्त' इत्यादि गाथा तीन से कहेंगे । इस प्रकार समुदाय से नवगाथापर्यंत यह तृतीयस्थल में व्याख्यान किया जावेगा ।

उत्थानिका—अब उन्हीं अज्ञानी जनों को निश्चयमोक्ष का कारण दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जीव आदि नव पदार्थों का विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्हीं नव पदार्थों का संशय, विमोह और विभ्रम रहित जानना—निश्चय करना यह सम्यग्ज्ञान है और उन्हीं नवपदार्थों के श्रद्धान-ज्ञान के सम्बन्ध से रागादि भावों का त्याग करना यह चारित्र्य है । यह इस प्रकार से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप

पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वं । तेषामेव सम्यक्-परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानं । तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मव्यवस्थानं निश्चयचारित्र्यमिति निश्चय-मोक्षमार्गः ॥१६२॥

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

(१६३ ज०) मोत्तूण णिच्छयट्ठं व्यवहारे ण विदुसा पवट्ठंति ।

परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ॥१५६ अ०॥

व्यवहार मोक्षमार्ग है । अथवा सूतार्थ से जाने गये उन्हीं नव पदार्थों को अपनी शुद्धात्मा से भिन्नरूप से सम्यक् अवलोकन करना—ध्यान करना यह निश्चय सम्यक्त्व है, उन्हीं नव-पदार्थों को सम्यक्-जाननेरूप से शुद्धात्मा से भिन्नरूप निश्चय करना सम्यग्ज्ञान है और उन्हीं पदार्थों को शुद्धात्मा से भिन्नरूप निश्चय करके रागादि विकल्पों से रहित होकर शुद्धात्मा में ही स्थित हो जाना यह निश्चय चारित्र्य है । इस प्रकार यह निश्चय मोक्ष-मार्ग है ॥१६२॥

भावार्थ—यहां गाथा में मात्र मोक्षमार्ग को बतलाया है । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने उन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य को मात्र एक ज्ञान में घटित किया है अथवा एक ज्ञानगुण ही इन तीन रूप से परिणमन करता है अतः ज्ञान ही निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा कहा है सो यहां ज्ञान से वीतरागसम्यक्त्व और वीतरागचारित्र्य से अविनाभावी ज्ञान ही विवक्षित है । श्रीजयसेनारचार्य ने मोक्षमार्ग के व्यवहार और निश्चय दो भेद करके इन रत्नत्रय को दोनों में घटा दिया है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब परमार्थस्वरूप मोक्ष के हेतु से भिन्न कर्म का निषेध करते हैं—

अन्वयार्थ—(विद्वान्सः निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारे न प्रवर्तते) विद्वान् लोग निश्चयनय के विषय को छोड़कर व्यवहार से प्रवृत्ति नहीं करते हैं (तु परमार्थ आश्रितानां

(१६३ ज०) मात्र व्यवहार में वे प्रवर्तन करें ।

जो नहीं निश्चय का अर्थ वर्तन करें ॥

क्योंकि कर्मक्षय तो निश्चय बिना है नहीं ।

शुक्लछानलीन यती मोक्ष पाते सही ॥ १५६ अ० ॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तते ।

परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ॥१५५॥

आत्मख्यातिः—यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्ष-
हेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात् । परमार्थ-
मोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ॥१५६॥

अमुष्णम्—वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।

एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥

यतीनां कर्मक्षयः विहितः) किन्तु परमार्थ के आश्रित हुये यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है ऐसा कहा है ।

आत्मख्याति—कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि परमार्थस्वरूप मोक्ष के हेतु से भिन्न व्रत, तप आदि शुभ कर्मस्वरूप शुभ क्रियारूप ही मोक्ष का हेतु है किन्तु यहां उन सभी शुभक्रियारूप को मोक्ष का कारण मानना निषिद्ध किया है । क्योंकि वह कर्म भिन्न द्रव्य का स्वभाव है अतः उस कर्म स्वभाव से ज्ञान होना—परिणमन करना नहीं होता है । परमार्थरूप मोक्ष का हेतु तो एक द्रव्य का उस एक आत्म द्रव्य का ही स्वभाव है अतः उस ज्ञान स्वभाव से ही ज्ञान का होना—परिणमन करना होता है ऐसा समझना ॥१५६॥

काव्यार्थ—जो ज्ञानस्वभाव से प्रवृत्ति होती है आत्मा में ही स्थिरतारूप चारित्र होता है वह ज्ञान का होना ही है क्योंकि वह एक आत्मद्रव्य का ही स्वभाव है अतः वही एक मोक्ष का हेतु है ॥१०६॥

भावार्थ—यहां निश्चयनय की अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से ज्ञानस्वरूप आत्मा में वर्तन करना—स्थित हो जाना यही निश्चयरत्नत्रय है चूंकि ज्ञान और निश्चय चारित्र ये दोनों आत्मा के ही स्वभाव हैं, इसलिये अभेददृष्टि से एक ज्ञान ही मोक्ष का कारण सिद्ध हो गया ।

भुजंगप्रयास छंद (वर्णिक)—सहे ज्ञान दृष्टि स्वभावश्चरित्रं, रहे सत्य ज्ञान सदा सारभूतं ।

वही एक ही आत्म द्रव्य स्वभाव, वही ज्ञान ही मोक्ष हेतु स्वरूप ॥१०६॥

अनुष्टुप्—कर्म स्वभावसे ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥

अनुष्टुप्—मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

काव्यार्थ—कर्म स्वभाव से वर्तन करना ज्ञान का होना नहीं है क्योंकि वह कर्म आत्मा से भिन्न अन्य पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है अतः यह कर्म मोक्ष का हेतु नहीं है ॥१०७॥

भावार्थ—व्रत, तप आदि क्रियाओं का करना यह व्यवहार चारित्र्य है । यह निश्चय-चारित्र्यरूप ज्ञानस्वभाव से—आत्मा की आत्मा में स्थिरता होने रूप निश्चिकल्प ध्यान से अलग है अतः यह कर्मकाण्ड रूप व्यवहार चारित्र्य परंपरा से ही मोक्ष का कारण है किंतु साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं है यही यह अभिप्राय है ।

काव्यार्थ—कर्म मोक्ष के हेतु का तिरोधान करने वाला है, वह स्वयं ही बंधस्वरूप है तथा मोक्ष के हेतुओं को आच्छादित करने वाला है इसलिये यहाँ इसका निषेध किया गया है ॥१०८॥

भावार्थ—ये क्रियाकाण्ड रूप जो व्रत, तप आदि हैं वे मोक्ष के कारणरूप स्वात्म-ध्यानादि को रोकने वाली हैं अतः इनसे पुण्यकर्म का बंध ही होता है अतः ये मोक्ष के हेतु-स्वरूप जो शुद्ध ध्यानादि हैं उनकी आच्छादक होने से निषिद्ध हैं । हाँ, परंपरा से निश्चयरत्नत्रय के लिये साधन हैं । यदि सम्यक्त्व सहित हैं तभी व्यवहाररत्नत्रय नाम से कथंचित् उपादेय हैं । अन्यथा पुण्य बंध के लिये ही कारण होती हैं इनसे संवर और निर्जरा नहीं होती है । फिर भी ये क्रियायें दुर्गति से रोककर सुगति में ले जाकर उत्तम-उत्तम सुख देने वाली हैं इसलिये सर्वथा निषिद्ध नहीं हैं ।

भुजंगप्रयात छन्द—सकर्म स्वभावं नहीं ज्ञानवृत्तं, रहे भिन्न द्रव्य स्वभाव स्वरूपं ।

अतः पुण्य पापं सभी कर्म ये हैं, नहीं मोक्ष का हेतु तत्त्वार्थ से है ॥१०७॥

भुजंगप्रयात छन्द—वही कर्म जो मोक्ष हेतु ठके हैं, वही बंध रूप स्वयं ही कहे हैं ।

वही मोक्ष हेतु तिरोधायि रूपं, अभी कर्म ही है निषेध स्वरूपं ॥१०८॥

(उत्थानिका)—अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनो-
वचनकायव्यापाररूपं कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—मोक्षं निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये ण
विदुसा पवट्टंति विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तते । कस्मात् ? परमदृढमासिदाणं दु जदीण
कम्मखओ होदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थ-
माश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति । एवं मोक्षमार्गकथनरूपेण गाथा-
द्वयं गतं ॥१६३॥

उत्थानिका—निश्चय मोक्षमार्ग का हेतु शुद्धात्मा का स्वरूप है, उससे भिन्न जो
शुभ-अशुभ मन वचन काय के व्यापाररूप क्रियाएँ हैं वे मोक्षमार्ग नहीं होती हैं, ऐसा प्रति-
पादन करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—निश्चयनय के विषयभूत पदार्थ को छोड़कर विद्वान् जन—ज्ञानी (मुनी)
व्यवहार के विषय में प्रवृत्ति नहीं करते हैं । क्यों ? क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य
की एकाग्रपरिणतिलक्षण जो निजशुद्ध आत्मा की भावना है वही परमार्थ है, उस परमार्थ
का आश्रय लेने वाले जो यतिगण हैं उनके ही कर्मों का क्षय होता है । यहां ऐसा अभिप्राय
है । इस प्रकार मोक्षमार्ग के कथनरूप से दो गाथाएँ हुई ॥१६३॥

विशेषार्थ—श्रीजयसेनाचार्य ने 'व्यवहारे ण विदुसा पवट्टंति' ऐसा कह दिया कि
विद्वान्—ज्ञानी (मुनि) निश्चय को छोड़कर व्यवहार क्रियाओं में प्रवृत्ति नहीं करते हैं ।
यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि—

‘परमदृढमस्तिदाणं दु जदीणं कम्मखओ विहिओ ।’

परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय होता है । अतः अर्थापत्ति
से—यह नियम से सिद्ध हो गया कि श्रावक या अवतीजन परमार्थ का आश्रय लेकर कर्मों
का क्षय नहीं कर सकते हैं । अन्यथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय आ जावेगा अतः दिगम्बर मुनि ही
व्यवहार को छोड़कर निश्चय में प्रवेश करते हैं, वे ही नयातीत होकर कर्मों का क्षय करने
में समर्थ हो सकते हैं । इससे पूर्व श्रावक गण तो शुभक्रियाओं में ही प्रवृत्ति करते हैं, वे

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

(१६४ ज०) वत्थस्स सेदभावो जह् नासेदि मलमेलणासत्तो ।

मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७ अ०॥

(१६५ ज०) वत्थस्स सेदभावो जह् नासेदि मलमेलणासत्तो ।

अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८ अ०॥

(१६६ ज०) वत्थस्स सेदभावो जह् नासेदि मलमेलणासत्तो ।

कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९ अ०॥

(त्रिकलम्)

अभी पंचेन्द्रिय के विषयों से ही नहीं छूटे हैं, पुनः शुभक्रियाओं को छोड़कर भला रहेंगे कहाँ ? अतः यह ग्रन्थ और यह प्रकरण महामुनियों के लिये ही है । हम, आप जैसे पञ्चम गुणस्थानवर्ती मात्र ध्वान और भावना के ही पात्र हैं ।

उत्थानिका—ये कर्म मोक्ष के हेतुरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के आच्छादक हैं ऐसा सिद्ध कर रहे हैं—

अन्वयार्थ—(यथा वस्त्रस्य श्वेतभावः मलमेलनासक्तः नश्यति) जैसे वस्त्र की सफेदी मल के मिलने से लिप्त हुई नष्ट हो जाती है । (तथा खलु सम्यक्त्वं मिथ्यात्व-

(१६४ ज०) जैसे श्वेतवस्त्र का मल के सम्पर्क से ।

श्वेतपना नष्ट होता निजस्वभाव छोड़ के ॥

वैसे ही सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्व के प्रभाव से ।

नष्ट होता आत्मा का गुण मिथ्यात्व भाव से ॥ १५७ अ० ॥

(१६५ ज०) ज्यों विशेष मल से वस्त्र मलिन हो रहा ।

श्वेतपन को छोड़कर निजस्वभाव खो रहा ॥

त्यों ही जीवतत्त्व ज्ञानभाव गुण को छोड़कर ।

अज्ञानरूपी मल से दबता स्वभाव छोड़कर ॥ १५८ अ० ॥

(१६६ ज०) जैसे वस्त्र का सफेद रंग मल संग से ।

नष्ट होता मूल भाव ज्यों स्वभाव भंग से ॥

वैसे ही कषाय मल चारित्र गुण को नाशता ।

क्योंकि वह चरित्र भी अचारित्र भासता ॥ १५९ अ० ॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।

मिथ्यात्वमलमलच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ॥१५७॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।

अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ॥१५८॥

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।

कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यं ॥१५९॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात् तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात् तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्न-

मलावच्छन्नं ज्ञातव्यं) वैसे ही सम्यक्त्व गुण मिथ्यात्व मल से आच्छादित हुआ जानना चाहिये । (यथा वस्त्रस्य श्वेतभावः मलमेलनासक्तः नश्यति) जैसे वस्त्र की सफेदी मल के मेल से लिप्त हुई नष्ट हो जाती है (तथा ज्ञानं अज्ञानमलावच्छन्नं ज्ञातव्यं भवति) वैसे ही ज्ञानगुण अज्ञानरूप मल से आच्छादित हुआ जानना चाहिये । (यथा मलमेलनासक्तः वस्त्रस्य श्वेतभावः नश्यति) जैसे मल के मेल से लिप्त हुआ वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है (तथा चारित्रं अपि कषायमलावच्छन्नं ज्ञातव्यं) वैसे ही चारित्रगुण भी कषायमल से ढका हुआ जानना चाहिये ।

आत्मख्याति—ज्ञान का सम्यक्त्वरूप परिणमन या समीचीन होना यह स्वभाव है और यही मोक्ष का हेतु है । यह सम्यक्त्व स्वभाव या गुण परभावस्वरूप मिथ्यात्व नाम के कर्ममल के द्वारा ढका हुआ होने से तिरोभूत-आच्छादित हो रहा है जैसे कि परभावस्वरूप मल से आच्छादित हुये श्वेतवस्त्र की स्वाभाविक सफेदी ढक जाती है अतः वस्त्र मलिन हो जाता है । ज्ञान का ज्ञानरूप स्वभाव मोक्ष का हेतु है वह परभावरूप अज्ञाननामक कर्ममल से आच्छादित होने से तिरोभूत हो रहा है जैसे कि परभावरूप मल से आच्छादित हुए श्वेतवस्त्र की स्वाभाविक सफेदी मलिन हो जाती है अतः श्वेतस्वभाव मलिन हुआ होने से वस्त्र मंला हो जाता है । ज्ञान का स्थिरत्वरूप स्वभाव चारित्र है, वह मोक्ष का हेतु है, वह चारित्रस्वभाव परभावरूप कषायनामक कर्ममल से ढका हुआ होने से तिरोभूत हो

श्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्र स्वभाव भूतश्वेतस्वभावावत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिसिद्धं ॥१५७॥१५८॥१५९॥

(उत्थानिका)—अथमोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणां जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादनं दर्शयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्नः । तथैव मिथ्यात्वमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्व-

रहा है जैसे कि परभावरूप मेल से लिप्त हुये वस्त्र की स्वभावभूत सफेदी मलिन हो जाने से उस वस्त्र का श्वेत स्वभाव ढका हुआ है । इसलिये मोक्ष के हेतु को आच्छादित करने से ये कर्म निषिद्ध किये गये हैं ॥१५७-१५८-१५९॥

भावार्थ—आत्मा का एकगुण ज्ञान है जो कि विशेषगुण है यही निश्चयरत्नत्रय की अवस्था में एकरूप हो जाता है अतः यहां श्रीअमृतचंद्रसूरि ने ज्ञान को ही सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्ररूप से कहा है । फिर भी यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि ये तीनों गुण मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय इन तीनरूप कर्ममेल से मलिन होकर प्रगट नहीं हो रहे हैं । जब ये कर्ममेल हटाये जाते हैं तभी ये तीन गुण प्रगट होकर रत्नत्रय नाम को प्राप्त कर मोक्ष के हेतु बन जाते हैं । ये तीनों गुण पहले पृथक्-पृथक् होने से छठे गुणस्थान में व्यवहार रत्नत्रय कहलाते हैं पुनः सातवें, आठवें आदि गुणस्थानों में निश्चयरत्नत्रय रूप से एक 'ज्ञाननाम' से कहलाते हुये साक्षात् मोक्ष के कारण होते हैं । इसे ही श्रीजयसेनाचार्य अपने सरल शब्दों में कह रहे हैं—

उत्थानिका—मोक्ष के लिए कारणभूत जो ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं वे जीव के गुण हैं । ये वस्त्र में लगे हुये मेल के समान इन गुणों के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व आदि कर्मों से ढके हुये हैं ऐसा दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे वस्त्र की सफेदी मेल के संसर्ग से नष्ट हो जाती है अर्थात् मेल का विशेषरीति से मेलन—संबंध होने से वह श्वेतवस्त्र की सफेदी ढक जाती है अतः वस्त्र मिला ही दिखता है वैसे ही मिथ्यात्वरूपी मल से आच्छादित हुआ यह मोक्ष का हेतुभूत जीव

गुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनच्छन्नः । तथैवाज्ञानमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनच्छन्नः । तथा कषायकर्ममलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणानां मिथ्यात्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षैः प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रयं गतं ॥१६४-१६५-१६६॥

का सम्यक्त्वगुण नष्ट हो जाता है ऐसा जानना । जैसे वस्त्र की सफेदी मल के विशेष संबंध से आच्छादित हो जाती है तब वस्त्र श्वेत न दिखकर मला ही दिखता है वैसे ही अज्ञानरूपी मल से ढका हुआ यह मोक्ष का हेतु ऐसा जीव का ज्ञानगुण नष्ट हो जाता है ऐसा जानना । जैसे मल के संसर्ग से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है । जीव का जो चारित्रगुण है वह मोक्ष का हेतु है फिर भी उस मल से मलिन हुये वस्त्र के समान ही कषायरूपी कर्म मल से आच्छादित हुआ यह चारित्र गुण नष्ट हो जाता है । इस प्रकार यहां मोक्ष के लिये कारण ऐसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप जीव के गुणों को ये मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायरूप कर्म जो कि इन गुणों के शत्रु हैं वे प्रच्छादित कर रहे हैं ऐसे कथनरूप से यहां तीन गाथायें कही गई हैं ॥१६४-१६५-१६६॥

विशेषार्थ—यहां ये तीन गाथायें श्रीअमृतचंद्रसूरि ने जो ली हैं श्रीजयसेनाचार्य ने अपनी टीका में उनमें किंचित् पाठभेद माना है । जैसे कि अमृतचंद्रसूरि ने कहा है 'मलमेलणासत्तो' और जयसेनाचार्य ने कहा है कि 'मलविमेलणाच्छण्णो' ऐसे ही अंतिम पंक्ति में भी अन्तर है । यथा—“तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णावध्वं ।”

यहां यह बात स्पष्ट है कि मिथ्यात्व एक कर्म है वह मल के सदृश है उसके उदय से सम्यक्त्व गुण आच्छादित हो रहा है । ऐसे ही अज्ञान और कषाय भी मलरूप हैं इनसे आत्मा का ज्ञानगुण और चारित्रगुण ढका हुआ है । जब ये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण प्रकट हो जाते हैं तभी यह जीव कर्मों का नाशकर मोक्षसुख प्राप्त कर लेता है । इसलिये ये मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग हैं । इनसे संसार में ही भ्रमण करना होता है । श्रीकुंदकुंददेव निमित्त को कितना महत्त्व देते थे यह बात इन गाथाओं से स्पष्ट है अतः निमित्त को नहीं मानने वालों के लिये ये गाथायें कंठाग्र करने योग्य हैं ।

यहां पर विशेष समझना चाहिये कि जैसे वस्त्र की सफेदी मेल के संसर्ग से नष्ट हो गई है वैसे ही आत्मा के सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय मल से नष्ट हो रहे हैं। उदाहरण एक देश लागू होता है अतः वस्त्र की सफेदी तो पहले भी हम आप को दिखती थी अनंतरमेल के निमित्त से समाप्त हुई है वैसे ही आत्मा के ये सम्यक्त्व आदि गुण पहले कभी प्रकट नहीं थे। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि आत्मा में ये गुण शक्तिरूप से ही हैं न कि व्यक्तरूप। प्रश्न उठता है कि पुनः आचार्यों ने सूर्य का उदाहरण दिया है—कहा है कि जैसे बादल के हटते ही सूर्य प्रगट हो जाता है वैसे ही मिथ्यात्वादि के हटते ही सम्यक्त्व आदि गुण प्रगट हो जाते हैं। यह उदाहरण भी सर्वथा नहीं लगेगा। पहले आत्मा में ये गुण सूर्य के सदृश रखे हों—विद्यमान हों पुनः बादल के सदृश मिथ्यात्व आदि ऊपर से आये हों ऐसा नहीं। जैसे वस्त्र में सफेदी के परमाणु और मेल के परमाणु दूध और पानी के समान एकमेक हो रहे हैं वैसे ही आत्मा के प्रदेश में स्थित सम्यक्त्व आदि गुण और मिथ्यात्व आदिरूप पुद्गल परमाणु एकमेकरूप हुये हैं इनका एकक्षेत्र में ही रहने रूप एक क्षेत्रावगाही संबंध है। जैसे साबुन आदि क्षार वस्तु के निमित्त से वह वस्त्र का मेल धोया जाता है वैसे ही आत्मा के प्रदेशों से ये कर्म परमाणु क्षयोपशम आदि पांच लब्धियों के द्वारा अलग किये जाते हैं तभी वस्त्र की सफेदी सदृश आत्मा के सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र गुण स्वच्छ होते हैं—प्रगट होते हैं।

ये गुण बीज में वृक्ष के समान और दूध में घी के समान भक्तिरूप से हैं प्रगटरूप नहीं हैं। अथवा इसके लिये इस तरह समझना चाहिये। न्याय ग्रंथों में दो प्रकार के हेतु माने हैं। ज्ञापक हेतु और कारक हेतु। जैसे कोठरी में तिजोरी में रत्न रखे हुये हैं उन्हें देखने के लिये दीपक लेकर जाने से ये प्रगट दीख जाते हैं अतः यहाँ यह दीपक तो ज्ञापक हेतु है। तथा कुंभकार, चाक, चीवर, बंडे आदि घड़ा के लिये निमित्त हैं यहाँ यह कुंभकार घड़े को प्रगट नहीं करता है किंतु मिट्टी के पिंड को घटरूप बनाता है अतः यह कुंभकार यहाँ कारक हेतु है। इसी तरह से आत्मा के सम्यक्त्व आदि को प्रगट करने में क्षयोपशम,

विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण लब्धि आदि निमित्त कारण इन गुणों के लिये कारक हेतु हैं न कि ज्ञापक हेतु । इसलिये सूर्य के ऊपर से बादल छंटे और सूर्य प्रगट हुआ वैसे ही आत्मा के सम्यक्त्व और ज्ञानगुण हैं ऐसा एकांत नहीं पकड़ना चाहिये ।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में श्रीअकलंकदेव ने इस विषय में प्रश्नों को उठाकर बहुत ही अच्छा समाधान दिया है । यथा—“अभव्यस्योत्तरावरणद्वयानुपपत्तिस्तदभावात् । ७। इदमिह संप्रधार्य मनःपर्ययज्ञानगमनशक्तिः केवलप्राप्तिसामर्थ्यं चाभव्यस्य स्याद्वा न वेति ? यदि स्यात्, तस्याभव्यत्वानुपपत्तिः । अथ नास्ति, तदुभयसामर्थ्याभावात् तदावरणकल्पना व्यर्थेति उत्तरस्यावरणद्वयस्य नोपपत्तिः ? न वा, उक्तत्वात् । ८। नवैष दोषः । किं कारणं ? उक्तत्वात् । उक्तमेतत् ‘आवेशवचनात्’ इति । ब्रह्मार्थदेशेन सतोर्मनःपर्ययकेवलज्ञानयोरावरणम्, पर्यायार्थदेशेनासतोः । यदि ब्रह्मार्थदेशेन मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं चास्त्यभव्यस्य, भव्यत्वमस्य प्राप्नोति । न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वं कल्प्यते । किं तर्हि ?

सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् । ९। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति तथा सम्यक्त्वादिव्यक्तियोगाहो यः स भव्यस्तद्विपरीतोऽभव्य इति चोच्यते ।” [तत्त्वार्थ-राजवार्तिक, अध्याय ६, सूत्र ६]

प्रश्न यह हुआ कि अभव्यजीव के मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये दो कर्म नहीं बन सकते हैं क्योंकि उनके ये दो ज्ञान नहीं हैं । अर्थात् मनःपर्यय ज्ञान की शक्ति और केवलज्ञान की सामर्थ्यं अभव्य में है या नहीं ? यदि है तो वह अभव्य नहीं रहेगा । कहो कि नहीं है तब तो इन दोनों ज्ञान की सामर्थ्य का अभाव होने से इन दोनों ज्ञानावरणों की कल्पना भी व्यर्थ ही है ?

इस पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं कहना, क्योंकि मैंने पहले कहा है । क्या कहा है ? नयों की अपेक्षा से यह सब घटित हो जाता है । ब्रह्मार्थिकनय की अपेक्षा

से अभव्य में मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान विद्यमान हैं तभी उन पर आवरण होता है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से ये दोनों ज्ञान अभव्य में अस्तित्वरूप से विद्यमान नहीं हैं—शक्तिरूप से हैं अतः उन पर आवरण होता है ।

पुनः प्रश्न होता है कि यदि द्रव्यार्थिकनय से अभव्य में मनःपर्यय और केवलज्ञान हैं तब तो भव्य हो जायेगा । तब आचार्य कहते हैं भाई ! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की शक्ति के होने और इनकी शक्ति के न होने से भव्य-अभव्य की कल्पना—व्यवस्था नहीं है । तो फिर भी प्रश्न होता है कि यह व्यवस्था कैसे है ? तब उत्तर देते हैं कि सम्यक्त्व आदि गुणों की प्रगटता के होने से और न होने से ही भव्य और अभव्य का भेद होता है । जैसे सुवर्णपाषाण और अंधकपाषाण । जैसे सुवर्ण अवस्था के प्रगट होने के योग को जो प्राप्त करेगा वह स्वर्णपाषाण कहलाता है और जो सुवर्ण नहीं बन पायेगा वह अंधपाषाण कहलाता है । वैसे ही जो जीव सम्यक्त्व आदि पर्यायों की प्रगटता के योग के योग्य हैं—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य को प्रगट करने के लिये योग्य हैं वे भव्य हैं और इससे विपरीत जो इन गुणों को प्रगट करने के लिये योग्य नहीं हैं वे अभव्य हैं । यही कारण है कि अभव्यजीवों में तथा एकेंद्रिय आदि समस्त संसारी जीवों में मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्तिरूप से सदा विद्यमान हैं किंतु अभव्यों में तो ये कभी व्यक्त नहीं होंगे तथा भव्यजीव इन्हें प्रगट कर सकते हैं ।

यहाँ यह प्रकरण लेने का मतलब यही है कि हमारी व आपकी आत्मा के जो ये गुण हैं उन्हें मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय मलों ने ढक बिधा है—मतलब, इन दोषों के निमित्त से वे प्रगट नहीं हो रहे हैं । शक्तिरूप से ही ये सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र्यगुण हैं । आत्मा में प्रगट—विद्यमान, सूर्यबिंबवत् रखे नहीं हैं । पुनः इन मलों के दूर होने से उत्पन्न हो जाते हैं, मूर्तिपंड से बने हुए धड़े के समान ऐसा समझना ।

अथ कर्मणः स्वयं बंधत्वं साधयति—

(१६७ ज०) सो सव्वणाणदरिसो कम्मरएण णियेणवच्छणो ।

संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६० अ०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।

संसारसमावन्तो न विजानाति सर्वतः सर्वं ॥१६०॥

आत्मख्यातिः—यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमत्तादिस्वपुरुषा-
पराधप्रवर्तमानावः प्रेमसावच्छन्नत्वादिः बंधावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमव-
शिष्ठते । ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बंधः । अतः स्वयं बंधत्वात्कर्मं प्रतिषिद्धं ॥१६०॥

उत्थानिका—कर्म स्वयं बंधरूप हैं ऐसा सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—(सः सर्वज्ञानदर्शी निजेन कर्मरजसा अवच्छन्नः) वह आत्मा सर्वज्ञ और
सर्वदर्शी है फिर भी अपने द्वारा संचित कर्मरूपी रज से आच्छादित होता हुआ (संसार-
समावन्तः) संसार अवस्था को प्राप्त हो रहा है (सर्वतः सर्वं न विजानाति) अतः वह सर्व
प्रकार से सर्व पदार्थों को नहीं जानता है ।

आत्मख्याति—जिस हेतु से यह ज्ञान स्वयं ही ज्ञानरूप से सर्व विश्व को सामान्य
और विशेषरूप से जानने के स्वभाव वाला होते हुये भी अनादिकाल से अपने पुरुषार्थ से किये
गये अपराध से प्रवर्तमान जो कर्म वे ही हुये मूल, उन कर्ममलों से आच्छादित हो रहा है
इसी हेतु से बंध अवस्था में सर्व तरफ से सर्व भी अपनी आत्मा को—सर्वविश्व को ज्ञेयाकार
से जानने वाली अपनी आत्मा को नहीं जानता है अतः यह अज्ञानभाव से ही इस संसार में
स्थित है । इस हेतु से यह निश्चित है कि स्वयं यह कर्म ही बंधस्वरूप है और इसीलिये
स्वयं बंधरूप होने से यह कर्म निषिद्ध है ऐसा समझना । ॥१६०॥

(१६७ ज०) हर आत्मा स्वभाव से ही सर्वज्ञानदर्शी है ।

फिर भी कर्मरूपी रज से शान्तभावभ्रष्ट है ।।

संसार में रहकर के वह संसाररूप ही बने ।

संपूर्ण वस्तु जानने में वे नहीं समर्थ हैं ॥ १६० अ० ॥

(उत्थानिका)—अथ कर्म स्वयमेव बंधरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति कथयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—सो सव्यणाणवरिसी कम्मरयेण णियेण उच्छण्णो—स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्णज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोच्छन्नो झंपितः सन् । संसारसमा-
व्यणो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं । संसारसमापन्नः, संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं
वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण । ततो ज्ञायते कर्म कर्तुं जीवस्य स्वयमेव बंधरूपं कथं मोक्षकारणं
भवतीति । एवं पापवत्पुण्यं बंधकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ॥१६७॥

उत्थानिका—आगे कर्म स्वयं बंधरूप है पुनः वह मोक्ष का कारण कैसे होगा ?
ऐसा कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यह शुद्धात्मा निश्चयनय से समस्त परिपूर्ण ज्ञानदर्शनस्वभाव वाला
है तो भी यह स्वयं अपने द्वारा संचित किये हुये कर्म रज से ढका हुआ होने से संसार में
पड़ा हुआ है अतः यह सर्व वस्तु को—सर्वविश्व को सर्वप्रकार से नहीं जानता है अतः यह
जाना जाता है कि यह कर्म ही स्वयं कर्तारूप से जीव के बंधरूप है पुनः यह जीव के मोक्ष
का कारण कैसे हो सकता है ? अर्थात् यह कर्म मोक्ष का हेतु नहीं है । इस तरह पाप के
समान पुण्य भी बंध का कारण ही है इस कथनरूप से एक गाथा हुई ॥१६७॥

भावार्थ—यह गाथा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । अद्यपि यह आत्मा स्वभाव से या
शक्तिरूप से सर्वज्ञ भगवान् है, सर्वदर्शी है फिर भी अपने द्वारा संचित कर्मों से बंधा हुआ
होने से मेघपटल से ढके हुये सूर्य के समान सर्वविश्व को जानने में असमर्थ है और संसारी
हुआ नाना दुःख उठा रहा है ऐसा अभिप्राय है ।

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

(१६८ ज०) सम्पत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठत्ति णायव्वो ॥१६१ अ०॥

(१६९ ज०) णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।

तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२ अ०॥

(१७० ज०) चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३ अ०॥

(त्रिकलम्)

उत्थानिका—कर्म में मोक्ष के हेतु को ढकने का स्वभाव है ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जिनवरैः मिथ्यात्वं सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं परिकथितं) जिनेन्द्रदेव ने मिथ्यात्व सम्यक्त्व को रोकने वाला है ऐसा कहा है (तस्य उदयेन जीवः मिथ्यादृष्टिः इति ज्ञातव्यः) क्योंकि उसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि ऐसा जाना जाता है । (ज्ञानस्य प्रति-

(१६८ ज०) जीव के सम्यक्त्व गुण को रोकता मिथ्यात्व है ।

इसके ही उदय से मिथ्यादृष्टि नाम प्राप्त है ॥

यह कथन श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा सही ।

नष्ट जो मिथ्यात्व को करें लहें वे शिवमही ॥१६१ अ० ॥

(१६९ ज०) आत्मा के ज्ञानगुण को रोकता अज्ञान है ।

इस उदय से जीव द्रव्य हो रहा अज्ञानि है ॥

यह कथन श्री जिनेन्द्रदेव ने कहा सही ।

नष्ट जो अज्ञान को करें लहें वे शिवमही ॥१६२ अ० ॥

(१७० ज०) जीव के चारित्र गुण को रोकता कषाय है ।

इसका उदय ही चरित्रहीनता विभाव है ॥

यह कथन जिनेन्द्रदेव ने कहा सही ।

नष्ट जो कषाय को करें लहें वे शिवमही ॥१६३ अ० ॥

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं ।

तस्योदयेन जीवोऽभिप्रादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥

अज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं ।

तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥

चारित्र्यप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितं ।

तस्योदयेन जीवोऽचारित्र्यो भवति ज्ञातव्यः ॥१६३॥

आत्मख्यातिः—सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वं । ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वं । चारित्र्यस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकः^१ किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्र्यत्वं । अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धं ॥१६१॥१६२॥१६३॥

निबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं) ज्ञान को रोकने वाला अज्ञान है ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (तस्य उदयेन जीवः अज्ञानी ज्ञातव्यः भवति) उसके उदय से यह जीव अज्ञानी जाना जाता है (चारित्र्यप्रतिनिबद्धः कषायः जिनवरैः परिकथितः) चारित्र्य को रोकने वाली कषायें हैं ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है (तस्य उदयेन जीवः अचारित्र्यः ज्ञातव्यः भवति) उनके उदय से यह जीव चारित्र्यरहित अविरती जाना जाता है ।

आत्मख्याति—सम्यक्त्व मोक्ष का हेतु है यह जीव का स्वभाव है इस सम्यक्त्व स्वभाव को रोकने वाला मिथ्यात्व है यह नियम है और वह स्वयं कर्म ही है क्योंकि उसके उदय से ही जीव के ज्ञानस्वभाव में मिथ्यादृष्टिपना आ जाता है । अथवा ज्ञानस्वरूप आत्मा में मिथ्यादृष्टिपना आ जाता है । ज्ञान मोक्ष का हेतु है इस ज्ञानस्वभाव का प्रतिबंधक अज्ञान है यह नियम है । वह अज्ञान स्वयं कर्म ही है उसके उदय से ही ज्ञान में अज्ञानपना आता है । चारित्र्य मोक्ष का हेतु है उस चारित्र्य स्वभाव की प्रतिबंधक कषायें हैं यह नियम है और वे कषायें स्वयं कर्म ही हैं उनके उदय से ही ज्ञान में—ज्ञानस्वरूप आत्मा में अचारित्र्यपना-अविरत अवस्था आती है इसलिये स्वयं मोक्ष के हेतु जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं इनको रोकने वाला होने से इस कर्म का यहां निषेध किया गया है ऐसा समझना ॥१६१-१६२-१६३॥

१. 'प्रतिनिबंधक' इत्यपि पाठः ।

शार्दूलविक्रीडित—संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
 ह्यस्यैव सति इयं कदा किल पादः पुण्यस्य पापस्य वा ।
 सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात्मोक्षस्य हेतुर्भव-
 न्नेष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०६॥

शार्दूलविक्रीडित—यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिज्ञानस्य सम्यक् न सा,
 कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
 कित्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तं-
 मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

काव्यार्थ—मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को समस्त भी जो यह कर्म है वह त्यागने योग्य है । इस प्रकार समस्त भी कर्म के छोड़ देने पर तो पुण्य अथवा पाप की तो बात ही क्या है ? अर्थात् कर्म सामान्य से तो दोनों ही आ जाते हैं । तब सम्यक्त्व आदि निज आत्मा के स्वभावरूप होने से मोक्ष का हेतु होता हुआ निष्कर्म अवस्था से प्रतिबद्ध हुये रस से उद्धत ऐसा ज्ञान स्वयं ही दौड़कर आ जाता है ॥१०६॥

भावार्थ—पुण्य और पापरूप संपूर्ण कर्मों को दूर कर निर्विकल्प ध्यान में लीन हुये मुनि का ज्ञान सम्यग्दर्शन और वीतराग चारित्र्य से सहित मोक्ष का कारण होकर स्वयं अमेदरूप से मात्र ज्ञान नाम से प्रकट हो जाता है ।

काव्यार्थ—जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान की सम्यक् प्रकार से कर्म से विरति नहीं हुई है और तभी तक कर्म—आवश्यकदि क्रियायें और ज्ञान इन दोनों का समुच्चय—एकत्रीकरण भी कहा गया है तब तक इसमें कुछ भी हानि नहीं है । यहां पर यह विशेष है कि आत्मा में कर्म के उदय की जबर्दस्ती से आत्मा के वश के बिना कर्म का

विष्णुपद छंद (मात्रिक)—

मोक्षार्थी को त्याज्यहि, करने योग्य कर्म सारा । कर्म त्याग होने पर फिर नहि पुण्य-पाप न्यारा ।
 सम्यक्त्वादि स्वभाव रूप, शिव हेतु कहा जाता । फिर निष्कर्म अवस्था में खुद ज्ञान दौड़ आता ॥१०६॥

विष्णुपद छंद (मात्रिक)—

जब तक कर्म विरक्ति ज्ञान से, सम्यक् पूर्ण नहीं । तब तक कर्म ज्ञान मिश्रण में कोई विरोध नहीं ।
 किन्तु विषय में कर्म प्रकट जब बंध हेतु वह है । परम ज्ञान ही मोक्ष हेतु एक स्वतः विमुक्त रहे ॥११०॥

शार्ङ्गलविक्रीडित—मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,
मग्ना ज्ञाननयेषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥१११॥

उदय होता है वह तो कर्म—क्रियायें बंध के लिये ही हैं और मोक्ष के लिये परम ज्ञान ही है । वह ज्ञान स्वयं आप कर्म से रहित है यह बात सिद्ध हो जाती है ॥११०॥

भावार्थ—जब तक कर्म का उदय है तब तक वह अपना कार्य करता है और वहीं पर ज्ञान है वह भी अपना कार्य करता है । यह अवस्था छठे-सातवें गुणस्थान में चलती रहती है । एक ही आत्मा में ज्ञान और कर्म—शुभ आवश्यक आवि क्रियायें एक साथ होती हैं इसमें कुछ विरोध नहीं आता । जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते ऐसे ही सम्यग्ज्ञान और कर्म का उदय एक साथ न रह सके ऐसी बात नहीं है । हां, इतना अवश्य है कि जब तक कर्म का उदय रहता है तब तक बंध भी चलता रहता है यह अवस्था भी दशवें गुणस्थान तक है आगे ज्ञान मोक्ष के लिये होता है वह परमज्ञान कहलाता है ।

काव्यार्थ—जो कोई कर्मनय—क्रियानय के अवलंबन में तत्पर हैं, ज्ञान को नहीं जानते हैं वे भी डूब जाते हैं और जो ज्ञाननय के पक्षपाती हैं वे भी डूब जाते हैं क्योंकि वे अति स्वच्छंद होकर क्रियाकांड में मंद उद्यमी—प्रमादी हो जाते हैं । किन्तु जो आप निरन्तर ज्ञानरूप हुये स्वयं कर्म को तो करते नहीं हैं और न प्रमाद के वश में ही होते हैं वे ही सर्व विश्व के ऊपर तरते हैं ॥१११॥

भावार्थ—जो मात्र क्रियाकांड में ही लगे रहते हैं और भेदज्ञान से रहित हैं वे भी डूब रहे हैं और जो भेदज्ञान की डींग भरते हैं किन्तु क्रियाओं में—आवश्यक क्रियाओं में—प्रमादी हैं और स्वच्छंद होकर प्रवृत्ति करते हैं वे भी निश्चयनया-भासी होते हुये संसार में ही डूबते रहते हैं । संसार से वे ही पार हो सकते हैं कि जो न

विशुद्ध छंद (मात्रिक)—

केवल क्रियाकांड में तत्पर, ज्ञान बिना डूबे, मात्र स्वच्छंद चरित्र प्रमादी ज्ञानेच्छुक डूबे ।
पक्ष रहित जो स्वयं ज्ञानमय कर्म नहीं करते, अप्रमाद वश चारितव्य हो, वे जग से तिरते ॥१११॥

मंदाक्रांताछंद—भेदोन्मादभ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं,

मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,

ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम् ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारख्याख्यायामात्मख्याती पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽंकः ॥३॥

क्रियाओं के ही आश्रित होकर व्यवहारनयाभासी हैं और न ज्ञान के ही आश्रित होकर निश्चयाभासी हैं वे ही मोक्ष के पात्र हैं ।

काव्यार्थ—मोहरूपी मदिरा के पीने से भ्रमरस के मार से शुभ-अशुभ कर्म के भेद-रूपी उन्माद को जो नृत्य कराता है ऐसे समस्त कर्म को अपने बल से जड़मूल से उखाड़कर अत्यंत सामर्थ्य से युक्त ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है । वह ज्ञान-ज्योति ऐसी है कि जिसने अज्ञानरूपी अंधकार को ग्रसित कर लिया है; जो लीलामात्र से विकसित होती जाती है और जिसने परमकला—केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है ॥११२॥

भावार्थ—जब तक कर्मों का उदय रहता है तब तक भेदज्ञान प्रगट न होकर भ्रम से इस जीव को संसार में नचाता रहता है पुनः जब भेदज्ञान प्रगट हो जाता है तब वह 'ज्ञानज्योति' नाम से छद्मस्थ जनों का तो निर्विकल्प भेदज्ञान रूप से ध्यानरूप रहता है पुनः आगे वही केवलज्ञान को प्राप्त कराकर पूर्ण ज्ञानरूप हो जाता है । यह अवस्था क्रम-क्रम से ही आती है । पहले सम्यग्दृष्टि जीये गुणस्थान में श्रद्धान करता है पुनः छठे-सातवें गुणस्थान में आत्मा की अनुभूति रूप से प्रगट हो जाता है आगे वही केवलज्ञान रूप से प्रगट होकर संपूर्ण कर्मों को नष्ट कर देता है ।

इस प्रकार पुण्यपापरूप से दो पात्ररूप हुआ कर्म एकपात्ररूप होकर निकल गया ।

विष्णुपद छंद (मात्रिक)—

मोह मद्य पीकर नर को सब-धम से नचा रहा । ऐसे सभी कर्म बलपूर्वक जड़पुत हटा रहा ।

सहस्र प्रकट हो पूर्ण ज्ञानमय परम कला संगे । केलि करें तम हरें परं वह ज्ञान ज्योति प्रकटे ॥११२॥

(उत्थानिका)—अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादि-
कर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा
प्रच्छाद्यते इति प्रकटीकरोति;—

तात्पर्यवृत्तिः—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिकूलं मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरैः परिकथितं
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्यः । ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं प्रतिकूलमज्ञानं भवतीति
जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी भवतीति ज्ञातव्यः । चारित्र्यस्य प्रतिनिबद्धः
प्रतिकूलः क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरैः परिकथितः तस्योदयेन जीवोऽचरित्रो भवतीति
ज्ञातव्यः । एवं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ।

इस प्रकार श्रीमत् अमृतचंद्रसूरि द्वारा विरचित 'आत्मख्याति' नाम की समयसार
की व्याख्या में यह पुण्यपाप प्ररूपक तीसरा अंकपूर्ण हुआ ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित "समयसार" प्राभृत

ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति के रहस्य

को प्रकाशित करने वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत

इस "ज्ञानज्योति" भाषा टीका में यह

पुण्य-पापप्ररूपक तीसरा अधिकार

पूर्ण हुआ ।

उत्थानिका—मोक्ष के हेतु सम्यक्त्व आदि हैं जो कि जीव के गुण हैं, ये मिथ्यात्व
आदि कर्मों से आच्छादित हो रहे हैं ऐसा पहले कहा था अब उन गुणों का आधारभूत गुणी
जो जीव है वही मिथ्यात्व आदि के द्वारा प्रच्छादित हो रहा है ऐसा प्रगट कर रहे हैं—

तात्पर्यवृत्ति—सम्यक्त्व को रोकने वाला उसके प्रतिकूल सम्यक्त्व का शत्रु मिथ्यात्व
है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है । उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि होता
है ऐसा जानना चाहिये । ज्ञान का प्रतिपक्षी अज्ञान है ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है उस अज्ञान
के उदय से यह जीव अज्ञानी होता है ऐसा जानना चाहिये । चारित्र के प्रतिकूल क्रोधादि
कषायें होती हैं ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है उन कषायों के उदय से यह जीव चारित्ररहित

इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारणं तद्गुणपरिणतो जीवो वा मुक्तिकारणं भवति तस्माच्छुद्धजीवाद्भिन्नं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं, तद्व्यापारेणोपाजितं वा शुभाशुभ-कर्म मोक्षकारणं न भवतीति मत्वा हेयं त्याज्यमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं । द्वितीय पातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गतं । ॥१६८-१६९-१७०॥

(उपसंहारः)—अत्राह शिष्यः । जीवादीसद्गुणमित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति । तत्र परिहारः—यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चय-रत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परंपरया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्र-स्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं । निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणं । इति निश्चयनयापेक्षया

अधिरती होता है ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार से मोक्ष के लिये हेतुभूत जो यह जीव गुणी है—गुणों को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य गुणों का आधार होने से गुणी है उन गुणों के प्रच्छादन के कथन की मुख्यता से तीन गाथायें हुई हैं ।

इस प्रकार सम्यक्त्व आदि जीव के गुण मुक्ति के कारण हैं अथवा उन गुणों से परिणत यह जीव ही मुक्ति का कारण होता है इसलिये शुद्ध जीव से भिन्न शुभ-अशुभ मन वचन काय के व्यापाररूप जो क्रियायें हैं अथवा उन क्रियाओं से उपाजित जो शुभ-अशुभ कर्म हैं वे मोक्ष के कारण नहीं हैं ऐसा मानकर शुभ-अशुभ कर्म हेय हैं—त्याग करने योग्य हैं ऐसे व्याख्यान की मुख्यता से नव गाथायें पूर्ण हुई हैं । इस द्वितीय पातनिका के अभिप्राय से पाप अधिकार के व्याख्यान की मुख्यता से यह अधिकार हुआ है ॥१६८-१६९-१७०॥

उपसंहार—प्रश्न—यहाँ 'जीवादीसद्गुण' इत्यादि रूप से व्यवहाररत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है पुनः यह पापाधिकार कैसे है ?

उत्तर—यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग, उपादेयभूत निश्चयरत्नत्रय के लिये कारण होने से 'उपादेय' है और परंपरा से जीव की पवित्रता का कारण होने से 'पवित्र' है फिर भी बाह्य द्रव्य का अवलंबन लेने से पराधीन है अतः वह आगे निश्चयमोक्षमार्ग में पहुँच जाने पर छूट जाता है यह एक कारण हुआ, पुनः निर्विकल्प समाधि में लीन होने वालों को व्यवहार विकल्पों के आलंबन लेने पर स्वरूप से पतित करा देता है—गिरा देता है यह

पापं । अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतिमिति वा पापाधिकारः । तत्रैवं सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन शृङ्गाररहितपात्रवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय निष्क्रांतं ।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां

तात्पर्यवृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थः

पुण्यपापाधिकारः समाप्तः ॥३॥

दूसरा कारण है । इसलिये निश्चयनय की अपेक्षा से पाप है । अथवा सम्यक्त्व आदि के विपक्षभूत जो मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय हैं उनका यहाँ व्याख्यान किया गया है इस कारण यह पापाधिकार है । वहाँ ऐसा होने पर व्यवहारनय से पुण्य-पापरूप से दो भेदरूप भी जो यह कर्म है वह निश्चयनय से शृङ्गार रहित पात्र के समान पुद्गलरूप से एकरूप होकर निकल गया ऐसा अभिप्राय है ।

इस प्रकार श्रीजयसेनाचार्य कृत 'तात्पर्यवृत्ति नामक' शुद्धात्मानुभूति लक्षण इस समयसार की व्याख्या में तीन स्थल के समुदायरूप से उन्नीस गाथाओं द्वारा पुण्य पाप अधिकार नाम का यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ ।

विशेष—श्रीअमृतचंद्रसूरि की अपेक्षा यह तीसरा अधिकार है एवं श्रीजयसेनाचार्य की अपेक्षा यह चौथा अधिकार है ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभूत ग्रंथ में

श्री अमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेना-

चार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित

करने वाली आर्थिका ज्ञानमती कृत इस

"ज्ञानज्योति" नामा भाषा टीका में

पुण्य-पाप को कहने वाला यह

तीसरा अधिकार पूर्ण

हुआ ।



पुण्य पाप—अधिकार सार

इस पुण्य पाप अधिकार में उन्नीस गाथाएँ हैं। उनमें से श्रीजयसेनाचार्य ने दश गाथाओं में पुण्याधिकार को लिया है पुनः नव गाथाओं में पापाधिकार को कहा है। प्रारंभ में ही श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है फिर भी जो संसार में प्रवेश करता है—रोके रखता है वह सुशील कैसे हो सकता है ? इसी की टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने दोनों कर्मों में आश्रय भेद कहते हुये कहा है कि 'शुभाशुभौ मोक्षबंधमागौ' शुभ मोक्षमार्ग का आश्रित है अर्थात् शुभ का आश्रय तो मोक्षमार्ग है और अशुभ का आश्रय बंधमार्ग है। श्रीजयसेनाचार्य ने तो भूमिका में ही कह दिया है—'वीतरागसम्यक्त्वं बिना तु व्रतदानादिकं पुण्यबंधकारणमेव न च मुक्तिकारणं, सम्यक्त्व-सहितं पुनः परम्परया मुक्तिकारणं च भवति' वीतराग सम्यक्त्व के बिना व्रत, दान आदि क्रियाएँ पुण्यबंध के लिये ही कारण है मुक्ति के लिये कारण नहीं हैं और यदि वे सम्यक्त्व सहित हैं तो परम्परा से मुक्ति के कारण हैं। गाथा १४६ में श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि 'सहावरवा' स्वभाव में रत हुये पुरुष इन कर्म प्रकृतियों का संसर्ग छोड़ देते हैं। इसकी टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि 'समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणता-भेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभाववर्ताः साधवः' संपूर्ण द्रव्य और भावरूप पुण्य-पाप परिणाम के परिहार से परिणत अभेद रत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्प समाधिमय स्वभाव में लीन हुये साधु ही इन कर्मों का संसर्ग छोड़ देते हैं। कलशकाव्य १०४ में कहा है कि शुभ-अशुभ कर्म से रहित—निष्कर्म अवस्था में मुनि ही रहते हैं।

आगे गाथा १५१ अ०, १५८ ज० में स्वयं श्रीकुंदकुंददेव ने कहा है कि 'तद्विभ द्दिठवा सहावे मुणिणो पावंति णिठ्वाणं।' परमार्थभूतसमय में स्थित—स्वभाव में स्थित हुये मुनि ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं। गाथा १५४ अ०, १६१ ज० की टीका में श्रीजयसेना-चार्य ने कहा है कि जो 'पुण्यमेव एकांतेन मुक्तिकारणं' पुण्य को ही एकांत से मुक्ति का कारण कहते हैं वे मोक्ष के हेतु को नहीं जानते हैं। यहाँ तक दस गाथाओं में पुण्य अधिकार को समाप्त कर श्रीजयसेनाचार्य ने पाप अधिकार प्रारंभ किया है। इसमें सर्वप्रथम गाथा

है 'जीवादि का भ्रष्टान सम्यग्दर्शन है, उन्हीं का जानना ज्ञान है और रागादि भावों का परिहार करना सम्यक्चारित्र है यही मोक्षमार्ग है। इसकी टीका में श्री जयसेनाचार्य ने व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को ले लिया है। अगली गाथा में यह कह दिया है कि 'परमदृढमस्तिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ, परमार्थ का आश्रय लेने वाले यतियों के ही कर्मों का क्षय कहा गया है। इस कुंदकुंदवेव के कथन से ही स्पष्ट है कि यतिगण ही परमार्थ का—निश्चयनय का आश्रय ले सकते हैं न कि अवती या श्रावकगण। आगे तीन गाथाओं में यह बतलाया है कि जैसे श्वेत वस्त्र का श्वेतपना मल से ढक जाने से वस्त्र मैला हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र ये गुण भी मिथ्यात्व, अज्ञान तथा कषायरूपी मल से ढके हुये हैं। इससे मिथ्यात्व अकिंचित्कर है ऐसा मानने वालों का भी निराकरण हो जाता है तथा जीव संसार में कर्ममल से आच्छादित है यह बात भी सिद्ध हो जाने से 'आत्मा शुद्ध है' ऐसा एकांत दुराग्रह निरस्त हो जाता है। आगे तीन गाथाओं में पुनः कह दिया है कि मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय, सम्यक्त्व ज्ञान और चारित्र के रोकने वाले हैं। इनके उदय से ही यह जीव मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और अवती हो रहा है।

यहाँ एक प्रश्न किया गया है कि 'अंत की नवगाथाओं में से प्रथम ही व्यवहार रत्नत्रय का व्याख्यान किया गया है पुनः इसे पापाधिकार कैसे कहा? उसका उत्तर देते हुये श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि यद्यपि यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयरत्नत्रय का कारण है अतः उपादेय है, तथा जीव को पवित्र करने में कारण होने से पवित्र है फिर भी छूट जाता है अतः हेय है। दूसरी बात यह है कि यह निष्कल्प ध्यान में लीन हुये साधुओं के छूट जाता है अतः निश्चयनय की अपेक्षा से पापरूप हेय है। 'अथवा' कहकर तीसरा समाधान यह दिया है कि इसमें मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय का व्याख्यान किया गया है इसलिये यह अधिकार पापाधिकार है।

इसी विषय में यहाँ सिद्धान्त के आधार से कर्मप्रकृतियों के बारे में किंचित् प्रकाश डाला जा रहा है—

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय नाम से कर्म के आठ भेद हैं। इनके उत्तर भेद एक सौ अड़तालीस हैं। उनमें ज्ञानावरण की पाँच,

दर्शनावरण की नव, मोहनीय की अट्ठाईस और अंतराय की पाँच ये चारों कर्मों की $५ + ६ + २८ + ५ = ४४$ सैंतालीस प्रकृतियाँ पापरूप ही हैं। चूँकि ये चार कर्म जीव के गुणों का घात करने वाले होने से घातिया कर्म कहलाते हैं। इसके बाद वेदनीय की दो, आयु की चार, नाम की तिरानवे और गोत्र की दो ये चार कर्मों की एक सौ एक प्रकृतियाँ अधातिया कहलाती हैं। इनमें भी पुण्य और पापरूप से दो भेद कर दिये गये हैं।

सादं तिण्णेवाऊ उच्चं णरसुरदुगं च पंचिदी ।

वेहा बंधणसंघादंगोवंगांइ वण्णचओ ॥४१॥

समच्चउरवज्जरिसहं उवघादूणगुसुछवक सगमणं ।

तसवार सदुठसट्ठी बादालमभेवदो सत्था ॥४२॥^१

१. सातावेदनीय, २. तिर्यंचायु, ३. मनुष्यायु, ४. देवायु, ५. उच्चगोत्र, ६. मनुष्य-गति, ७. मनुष्यगत्यानुपूर्वी, ८. देवगति, ९. देवगत्यानुपूर्वी, १०. पंचेन्द्रियजाति, ११. औदारिक १२. वैक्रियक, १३. आहारक, १४. तैजस, १५. कर्मण शरीर, १६. औदारिक बंधन आदि पाँच बंधन (१६ से २० तक), २१ से २५ तक औदारिक आदि पाँच संघात, २६. औदारिक अंगोपांग, २७. वैक्रियक अंगोपांग, २८. आहारक अंगोपांग, २९ से ४८ तक शुभ वर्ण पाँच, शुभ रस पाँच, शुभ स्पर्श आठ और शुभ गंध दो, ४९. समचतुरस्र संस्थान, ५०. वज्रवर्षभनाराच संहनन, ५१. अगुरुलघु, ५२. परघात, ५३. आतप, ५४. उद्योत, ५५. उच्छ्वास, ५६. प्रशस्त विहायोगति, ५७. व्रस, ५८. वावर ५९. पर्याप्तिशरीर, ६०. प्रत्येकशरीर, ६१. स्थिर, ६२. शुभ, ६३. सुभग, ६४. सुस्वर, ६५. आदेय, ६६. यशःकोति ६७. निर्माण और ६८ तीर्थकर ये अड़सठ प्रकृतियाँ पुण्य प्रकृतियाँ कहलाती हैं।

अब पापप्रकृतियों को कहते हैं—

घादो णोचमसादं णिरयाऊ णिरयतिरियदुग जादो ।

संठाणसंहदीणं चदुपणपणगं च वण्णचओ ॥४३॥

उवघादमसगमणं धावरदसयं च अप्पसत्था हु ।

घातिया कसों की सैंतालीस प्रकृतियाँ, ४८. नीच गोत्र, ४९. असाता वैदनीय, ५०. नरकायु, ५१. नरकगति, ५२. नरकगत्यानुपूर्वी, ५३. तिर्यंचगति, ५४. तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, ५५ से ५८ तक एकेंद्रिय आदि चार जाति, ५९ से ६३ तक समचतुरस्र बिना पांच संस्थान, ६४ से ६८ तक वज्रवर्षभनाराच से रहित पांच संहनन, ६९ से ८८ तक अशुभ वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि बीस, ८९. उपघात, ९०. अप्रशस्त विहायोगति, ९१. स्थावर, ९२. सूक्ष्म, ९३. अपर्याप्ति, ९४. साधारण, ९५. अस्थिर, ९६. अशुभ, ९७. दुर्भग, ९८. दुस्वर, ९९. अनादेय और १०० अयशःकीर्ति, ये सब सौ प्रकृतियाँ पापप्रकृतियाँ हैं।

वर्णदि जो बीस प्रकृतियाँ हैं वे शुभरूप से पुण्य प्रकृतियों में और अशुभरूप से पाप प्रकृतियों में दोनों में गिनाई गई हैं। इसी अपेक्षा से $६८ + १०० = १६८$ प्रकृतियाँ हो गई हैं। इन बीसों को सामान्यतया लेने से २० भेद रूप गिनती करने से सर्वकर्म प्रकृतियाँ १४८ ही होती हैं।

यहाँ पर विचार करने का विषय यह है कि सम्यक्त्व की घातक मिथ्यात्व प्रकृति, ज्ञान की प्रतिबंधक ज्ञानावरण प्रकृतियाँ तथा चारित्र की घातक अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन आदि कषाय प्रकृतियाँ वे सर्वथा पापरूप प्रकृतियाँ मानी गई हैं। इन्हीं के उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और अव्रती होकर संसार में भ्रमण कर रहा है। यही कारण है कि यहाँ समयसार में भी इस अधिकार के अंत में श्री जयसेनाचार्य ने पापाधिकार कह दिया है। इसमें जो मिथ्यात्व के टुकड़े होने से एक सम्यक्त्व प्रकृति बनी है उसके रहते हुये भी वेदक या अयोपशम सम्यक्त्व बना रहता है फिर भी इस प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व में चल, मलिन व अगाढ़ ये तीन दोष लगते रहते हैं अतः यह प्रकृति देशघाती होकर भी पापप्रकृति में ही आती है।

इसके अतिरिक्त जो तीर्थंकर प्रकृति आहारक शरीर आदि पुण्य प्रकृतियाँ हैं वे तो श्रेणी में स्थित महामुनि से आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक भी बंधती रहती हैं अतः यह निश्चित है कि सर्वप्रथम चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि अव्रती हिंसा आदि पापों को संकल्प पूर्वक त्याग न करते हुए उनसे विरक्त हो जाता है आगे पंचम गुणस्थान में देशव्रती होकर एक देश पापों का त्याग करके श्रावक कहलाता है। छठे गुणस्थानवर्ती मुनि

पूर्णतया पापों का त्याग कर देने से महाव्रती कहलाते हैं। यहाँ तक तो निर्विकल्प ध्यान का अभाव होने से छह आवश्यक क्रियाओं में प्रवृत्ति होती ही है अतः शुभकर्म का बंध अनिवार्य है। आगे भी ध्यान में अबुद्धिपूर्वक भी शुभकर्म का बंध होता रहता है इसलिये छोटे गुणस्थान तक वेवचंदना, गुरुचंदना, दान, पूजा आदि क्रियायें उत्साहपूर्वक बहुत ही आदर से करना चाहिये।

गाथा १५३ अ०, १६० ज० में श्रीजयसेनाचार्य ने अच्छा समाधान दिया है कि संकल्पविकल्प से रहित जीवों की यदि विषयों में प्रवृत्ति हो रही है तो भी पाप नहीं होगा? ऐसा होने पर आचार्यदेव ने कहा है कि त्रिगुप्ति से सहित निर्विकल्प ध्यान में शुभरूप मनवचन काय की क्रियायें भी नहीं हैं जो कि परम्परा से मोक्ष की कारण हैं पुनः अशुभरूप विषय कषायों की तो वहाँ बात ही बहुत दूर है।

“निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ।”

निर्विकल्पसमाधिस्वरूप भेदज्ञान और विषय कषाय में प्रवृत्ति इन दोनों का परस्पर में विरोध है जैसे कि शीत और उष्ण एक साथ नहीं रह सकते।

इन सब उद्धरणों से यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि पुण्य और पाप को एक सवृक्ष समझने वाले महामुनि ही होते हैं। यदि श्रावक या अव्रती ऐसी चर्चा करते हैं तो वे शुद्धोपयोग में तो पहुँचते नहीं हैं और शुभ क्रियाओं को छोड़कर या हेय कहकर अनावर से करके भी अशुभोपयोग में चले जाते हैं। इसलिये मुनियों के उत्कृष्ट परमार्थभूत ध्यान को प्राप्त न करके गृहस्थाश्रम में शुभक्रियाओं को हेय नहीं कहना चाहिए।

श्री अमृतचन्द्रसूरि ने १११वें कलशकाव्य में कहा है कि—

“जो मुनि मात्र क्रियानय—क्रियाकांड में ही लगे हुये हैं, भेदज्ञान का अभ्यास नहीं करते हैं वे भी डूब जाते हैं। पुनः जो मात्र ज्ञाननय—ज्ञान का ही आश्रय लेकर अति स्वच्छन्द हुये क्रियाओं में आलसी हैं वे भी डूब जाते हैं। किन्तु संसार से वे ही पार हो सकते हैं कि जो प्रमादी भी नहीं होते हैं और शुभ क्रियाओं को न करते हुये ध्यान में लीन हो जाते हैं।”

इस प्रकार से संक्षेप में यह पुण्य-पाप अधिकार का सार हुआ ।

इति श्रीमद्भगवत्कुण्डकुंदाचार्य विरचित समयसारप्राप्त ग्रंथ में
 श्रीअमृतचंद्रसूरि कृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्य
 कृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने
 वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत इस ज्ञानज्योति
 नामक भाषा टीका में यह पुण्यपाप-
 अधिकार नामक तीसरा
 अधिकार पूर्ण
 हुआ ।



अथ आस्रवाधिकारः ॥४॥

अथप्रविशत्यास्रवः ।

द्रुतबिलंबितछंद—अथ महामदनिर्भरमंधरं समररंभपरागतमास्रवं ।

अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

(१७१ ज०) मिच्छन्तं अविरमणं कषायजोगा य सण्णसण्णा दु ।

बहुविहभेया जीवे तस्सेव अण्णपरिणामा ॥१६४ अ०॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगो च संज्ञासंज्ञास्तु ।

बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १६४ ॥

अब आस्रव प्रवेश करता है—

जैसे नृत्य के रंगमंच पर नाचने वाला स्वांग धारण कर प्रवेश करता है उसी प्रकार से यहाँ आस्रव का स्वांग है इस स्वांग को यथार्थ जानने वाला जो ज्ञान है उसकी महिमा को कहते हैं—

काव्यार्थ—‘अथ’ शब्द यहाँ मंगलवाची है तथा प्रारम्भवाची है । सो यहाँ कहते हैं—जो किसी से जीता नहीं जा सके ऐसा यह अनुभव गोचर धनुषधारी ज्ञानरूपी सुभट आस्रव को जीतता हुआ जयशील हो रहा है । यह ज्ञान उदार है, गम्भीर है—बाहरहित है और महान् उदय वाला है । तथा आस्रव महामव से अतिशय उन्मत्त है तथा संग्राम की भूमि में आ चुका है ॥११३॥

स्रग्विणी छंद (वर्णिक)—ये ही आस्रव महामत्त से पूण है युद्ध की रंग-भू में प्रमत्तः खड़े ।

धीर औदार्य तेजो प्रतापी महा धनुषधारी अजित् बोध आस्रव जिता ॥११३॥

शंभु छंद (१७१ ज०) मिथ्यात्व तथा अविरति कषाय अरु योग बंध के कारण हैं ।

जो चेतन और अचेतन में बनते आस्रव के कारण हैं ॥

चैतन्य विकारी भाव जीव में बहुत भेद युत होते हैं ।

वे ही अभेद परिणाम जीव में निश्चयतय से होते हैं ॥१६४ अ० ॥

(१७२ ज०) ज्ञानावरणादीयस्स ते तु कम्मस्स कारणं होंति ।

तेसिपि होवि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५ अ०॥

(युगलम्)

ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवति ।

तेषामपि भवति जीवः य रागद्वेषादिभावकरः ॥ १६५ ॥

आत्मख्यातिः—रागद्वेषमोहा आस्रवः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्माश्रयणनिमित्त-

भावार्थ—आस्रव तो महामद से उन्मत्त है और समर भूमि में आ चुका है । ज्ञान अजेय होकर धनुषधारी बनकर उदार, गंभीर और महान उदयरूप हुआ आस्रव नाम के अपने शत्रु को जीतने के लिये प्रगट हो गया है ।

उत्थानिका—अब आस्रव के स्वरूप को कहते हैं—

अन्वयार्थ—(मिथ्यात्वं अविरमणं च कषाययोगौ संज्ञा-संज्ञाः तु) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चारों ही चेतन और योगअचेतन ऐसे दो-दो रूप हैं । (जीवे बहुविध-भेदाः तस्य एव अनन्य परिणामाः) जो जीव में बहुत प्रकार के स्वरूप हैं वे उस जीव के ही अभिन्न परिणाम हैं (ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवति) और जो ज्ञानावरण आदि हैं वे कर्म के कारण होते हैं—वे अचेतन—पुद्गल के परिणाम हैं । (च तेषां अपि जीवः रागद्वेषादिभावकरः भवति) और उन मिथ्यात्व आदि भावों को भी रागद्वेषादि भाव करने वाला जीव कारण होता है ।

आत्मख्याति—राग, द्वेष और मोह ये आस्रव हैं, ये इस जीव में अपने परिणाम के निमित्त से होते हैं अतः ये जड़ नहीं होने से चिदाभास हैं—चैतन्य के ही विकारी परिणाम हैं अतः ये चैतन्यरूप दिखते हैं । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये पुद्गल के

(१७२ ज०) वे प्रत्यय होते हैं ज्ञानावरणादिक कर्मों के कारण ।

रागद्वेषादि भावसंयुत आत्मा होता उनका कारण ॥

संसारी आत्मा इन कर्मों का आस्रव प्रतिक्षण करता है ।

शुद्धात्मस्वरूप मग्न होते ही वह संवर कर सकता है ॥१६५ अ० ॥

त्वात्किलासवाः । तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः । तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वादूरागद्वेषमोहा एवास्रवाः, ते चाज्ञानिन एव भवन्तीति अर्थादेवापद्यते ॥१६४॥१६५॥

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

(भूमिका)—यत्र सम्यग्भेदभावनापरिणतः कारणसमयसाररूपः संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति संवरविपक्षद्वारेण सप्तदशगाथापर्यंतमास्रवव्याख्यानं करोति । तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न संतीति संक्षेपेण संवरव्याख्यानरूपेण 'मिच्छत्तं अविरमणं' इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं रागद्वेषमोहास्रवाणां पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन 'भावो रागादिजुदो' इत्यादि स्वतंत्रगाथात्रयं । ततः परं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य संज्ञानिजीवस्य रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन चउविह इत्यादि गाथात्रयं । अतः परं तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य

परिणाम हैं तथा ये ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्मों के आने में निमित्त हैं इसीलिये ये आस्रव कहलाते हैं । उन मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप पुद्गल के परिणामों में जो ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रवण का—आने का निमित्तपना है, उसका भी निमित्तकारण रागद्वेष मोहरूप जी जीव के अज्ञानमय भाव हैं, इसलिये आस्रव के आने में निमित्तपने का निमित्त होने से राग, द्वेष, मोह ही परमार्थ से आस्रव हैं और ये भाव अज्ञानी जीव के ही होते हैं यह बात अर्थापत्ति से अपने आप सिद्ध हो जाती है ॥१६४-१६५॥

श्री जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका की भूमिका—

अब आस्रव प्रवेश करता है—

(भूमिका)—जहाँ सम्यक् भेद भावना से परिणत कारण समयसाररूप संवर नहीं है वहाँ आस्रव होता है इस तरह संवर के विपक्ष द्वारा सत्रह गाथा पर्यंत आस्रव का व्याख्यान करते हैं । उसमें प्रथम ही कहते हैं कि वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के राग, द्वेष और मोह ये आस्रव नहीं होते हैं इस प्रकार संक्षेप से संवर के व्याख्यान रूप से 'मिच्छत्तं अविरमणं' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे । इसके बाद राग द्वेष मोह आस्रवों के पुनरपि विशेष विवरण की मुख्यता से 'भावो रागादिजुदो' इत्यादि रूप से स्वतंत्र तीन गाथायें कहेंगे । अनंतर केवलज्ञान आदि की प्रगटतारूप जो कार्य समयसार है, उसके लिये कारणभूत जो निश्चय-

मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्रभावनावलेन रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यतया सध्ये पुर्व्वणिबद्धा इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं नवतरद्रव्यकर्माश्रयस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणं भवन्ति, तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन रागो दोसो इत्यादि सूत्रचतुष्टयं कथयति, इति समुदायेन सप्तदशगाथाभिः पंचस्थलैः आश्रवाधिकारसमुदायपातनिका ।

(उत्थानिका)—अथ द्रव्यभावान्नवस्वरूपं कथयति ।

तात्पर्यवृत्तिः—मिच्छतं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृतलक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्यः । मिथ्यात्वाधिरतिप्रमादकषाययोगाः, कथंभूताः, भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतनाः । अथवा संज्ञाः, आहारभयमैश्वर्यपरिग्रहरूपाः, असंज्ञाः ईषत्संज्ञाः, इहलोकाकांक्षापरलोकाकांक्षाकुधर्माकांक्षारूपास्तिस्रः । कथंभूताः, एते बहुविहभेदा जीवे । उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधाः, क्व ? जीवे, अधिकरणभूते । पुनरपि कथंभूताः । तस्मैव अणण्णपरिणामा अनन्यपरिणामाः, अभिन्नपरिणामाः तस्यैव

रत्नत्रय है उससे परिणत हुये संज्ञानीजीव के रागादि भाव प्रत्यय नहीं हैं, ऐसे निषेध की मुख्यता से 'चउविह' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे । अन्तर उसी ज्ञानी जीव के मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों का अस्तित्व होने पर भी वीतराग चारित्र की भावना के बल से रागादि भाव प्रत्यय नहीं होते हैं ऐसे निषेध की मुख्यता से 'सध्ये पुर्व्वणिबद्धा' इत्यादि चार गाथायें कहेंगे । अनंतर उदयागत द्रव्य प्रत्यय नवीन-नवीन द्रव्यकर्मों के आश्रव के लिये कारण होते हैं और उन द्रव्य प्रत्ययों के लिये जीव में होने वाले रागादि भाव प्रत्यय कारण होते हैं, इस प्रकार कारण के व्याख्यान की मुख्यता से 'रागो दोसो' इत्यादि चार गाथा सूत्र कहेंगे । इस प्रकार समुदाय रूप से सत्रह गाथाओं में पांच स्थलों द्वारा आश्रव अधिकार की यह समुदाय पातनिका हुई ।

उत्थानिका—अब द्रव्य और भाव आश्रव के स्वरूप को कहते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—यहाँ गाथा में जो 'सण्णसण्णा' पाठ है उसमें प्राकृतव्याकरण के नियम से अकार का लोप हो गया है ऐसा समझना चाहिये । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पांच प्रकार के प्रत्यय आश्रव के कारण हैं । ये भावप्रत्यय और द्रव्यप्रत्ययरूप से संज्ञा और असंज्ञा अर्थात् चेतन और अचेतन ऐसे दो भेदरूप होते हैं ।

जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति । ज्ञानावरणादीयस्स ते दुः कम्मस्स कारणं होति ते च पूर्वोक्त-
द्रव्यप्रत्ययाः उदयागताः संतः निश्चयचारित्र्याविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्म-
स्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्त्रयस्य कारणभूता भवन्ति ।
तेसिपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवः कारणं भवति ।
कथंभूतः ? रागद्वेषादिभावकरः रागद्वेषादिभावपरिणतः । अयमत्र भावार्थः—द्रव्यप्रत्ययोदये
सति शुद्धात्मस्वरूपभावनां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बंधो भवति नैवोदय-
मात्रेण । यदि उदयमात्रेण बंधो भवति ? तदा सर्वदा संसार एव । कस्मात् ? इति चेत्
संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् । तर्हि कर्मोदयो बंधकारणं न भवति, ? इति
चेत् तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति । निश्चयेन
पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति ॥१७१—१७२॥

अथवा आहार, भय, मंथन, और परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं और ईषत्—किंचित् संज्ञा को
असंज्ञा कहते हैं वे इहलोकाकांक्षा, परलोकाकांक्षा और कुधर्माकांक्षा नाम से तीन असंज्ञायें हैं
अर्थात् 'असंज्ञा से संज्ञा नहीं है' ऐसा अर्थ न करके 'ईषत् संज्ञा' ऐसा अर्थ करते हुये उसके
तीन भेद गए गिने हैं । वे मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय उत्तर प्रत्ययों के भेद से बहुत भेदरूप हो
जाते हैं ।

प्रश्न—ये कहाँ पाये जाते हैं ?

उत्तर—ये जीव में पाये जाते हैं क्योंकि जीव ही इनका आधारभूत है । पुनः ये
प्रत्यय उसी जीव के अनन्य परिणाम हैं—अभिन्न परिणाम हैं—जीव से भिन्न नहीं हैं
यह कथन अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से है । ये मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय जब उदय
में आते हैं तब निश्चयचारित्र्य से अविनाभावी ऐसे वीतराग सम्यक्त्व के अभाव में शुद्धात्म-
स्वरूप से च्युत हुये जीवों के ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के द्रव्य कर्मों के आश्रय के लिये
कारण हो जाते हैं और उन द्रव्यप्रत्ययों के लिये रागादि भावों से परिणत हुआ जीव
कारण हो जाता है । यहाँ यह भावार्थ है कि द्रव्य प्रत्ययों का उदय होने पर शुद्ध आत्म-
स्वरूप की भावना को छोड़कर यह जीव जब रागादि भाव से परिणत होता है तभी उसे
कर्मों का बंध होता है, कर्मों के उदयमात्र से बंध नहीं होता है ऐसा समझना । यदि
उदयमात्र से बंध होता है ऐसा कहो तब तो सर्वदा—सर्वकाल संसार ही बना रहेगा क्योंकि
संसारी जीवों के तो हमेशा ही कर्मों का उदय विद्यमान रहता है ।

प्रश्न—तब तो कर्मों का उदय बंध का कारण नहीं होना चाहिये ?

अब ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

(१७३ ज०) नत्थि द्वा आसन्नबन्धो सम्माद्विद्विस्स आसन्ननिरोहो ।

सन्ते पुव्वणिबद्धे जाणवि सो ते अबन्धन्तो ॥१६६ अ०॥

नास्ति त्वास्त्रबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्त्रवनिरोधः ।

सन्ति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यवच्छन् ॥ १६६ ॥

उत्तर—ऐसी बात नहीं है क्योंकि निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट (व्युत) हुये मुनियों के मोह सहित कर्मों का उदय व्यवहार से निमित्त होता है पुनः निश्चयनय से अपने रागादि अज्ञानभाव ही अशुद्ध उपादान कारण होते हैं ऐसा समझना ॥१७१-१७२॥

विशेषार्थ—यहाँ आचार्यदेव ने इस आसन्न अधिकार में मिथ्यात्व आदि चार प्रत्यय चेतन और अचेतनरूप से दो प्रकार के कहे हैं पुनः यह बताया है कि ये भावरूप मिथ्यात्व आदि जो कि जीव के परिणाम हैं वे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म के लिये कारण हैं और द्रव्यकर्मों का उदय होने से रागादि भाव होते हैं अतः यह द्रव्यकर्म भावकर्म के लिये कारण है । श्रीजयसेनाचार्य ने इस विषय में प्रश्नोत्तर से अच्छा समाधान किया है कि किसी भी महामुनि के असात्ता आदि कर्मों का उदय आ रहा है, उन पर उपसर्ग आया हुआ है या परोषहें आ गई हैं फिर भी यदि वे ध्यान में लीन हैं तो द्रव्यकर्म उदय में आकर फल देकर शङ्क जायेंगे किन्तु आगे के लिये कर्मबन्ध नहीं होगा तभी तो कर्मों का नाश होकर मोक्ष मिलती है अन्यथा किसी जीव को मोक्ष ही नहीं हो सकेगा क्योंकि कर्मों का उदय तो सदा काल ही संसार में संसारी जीवों के रहता ही है । यह अवस्था श्रेणी में स्थित महामुनियों के ही होती है, इससे पूर्व सभी के तरतम भावों से कर्मबन्ध होता ही रहता है । यहाँ टीका में श्री जयसेनाचार्य ने प्रमादसहित आसन्न के पाँच हेतु लिये हैं ।

उत्थानिका—अब ज्ञानी के उन आसन्नों का अभाव दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(सम्यग्दृष्टेः आसन्नबन्धः नास्ति तु आसन्ननिरोधः) सम्यग्दृष्टि के आसन्न

(१७३ ज०) निश्चय सम्यग्दृष्टी के नहि नूतन कर्मों का बन्ध कहा ।

वह तो कर्मों का ही निरोध करता निज आत्म लीन रहा ॥

वस पूर्वबद्ध सत्तास्वरूप कर्मों को जाना करता है ।

लेकिन नवीन कर्मों का नहि वह बन्ध स्वयं कर सकता है ॥१६६ अ० ॥

आत्मख्यातिः—यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः, परस्परविरोधिनो अवश्यमेव निरुध्यन्ते । ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः । अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्तानि नवानि न बध्न्तु सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ॥१६६॥

(उत्थानिका)—अथ बीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावास्रवाणामभावं दर्शयति—

और बंध नहीं है प्रत्युत आस्रव का निरोध है । (पूर्वनिबद्धानि संति तानि अबध्न्तु सः जानाति) जो पहले के बंधे हुये कर्म सत्ता में मौजूद हैं, आगे के कर्म न बांधते हुये वह उनको जानता ही है ।

आत्मख्याति—ज्ञानी जीव के ज्ञानमय भावों के द्वारा अज्ञानमय भाव अवश्य ही रुक जाते हैं क्योंकि ज्ञानमय भाव और अज्ञानमय भाव का परस्पर में विरोध है, ये एक साथ नहीं रह सकते हैं । जिस हेतु से ऐसी बात है उसी हेतु से ये आस्रवस्वरूप राग, द्वेष और मोह जो कि अज्ञानमय भाव हैं उनका निरोध हो जाने से ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही होता है । अतः यह निश्चित हुआ कि ज्ञानी आस्रव निमित्तक ऐसे पुद्गल कर्मों को नहीं बांधता है क्योंकि वह नित्य ही कर्मों का अकर्ता है और इसी हेतु से वह आगे के लिये नूतन कर्मों को न बांधते हुये तथा पूर्व में बंधे हुये ऐसे सत्ता में स्थित कर्मों को मात्र केवल जानता ही है क्योंकि वह ज्ञानी ज्ञानस्वभाव वाला है ॥१६६॥

भावार्थ—यहाँ ये ज्ञानी आत्मा (११-१२वें गुणस्थानवर्ती) महामुनि ही हो सकते हैं उनके ही नूतन कर्मों का आस्रव न होने से पूर्ण संवर होता है और बंधे हुये कर्मों की निर्जरा होती है । यह अवस्था श्रावक के लिये संभव ही नहीं है । आगे श्री जयसेनाचार्य का स्पष्टीकरण देखिये—

उत्थानिका—बीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के राग-द्वेष-मोहरूप भावास्रवों का अभाव है ऐसा दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्तिः—णत्थि इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिदिठस्स आसवणिरोहो न भवतः, न विद्येते । कौ ? तौ आसवबंधौ । गाथायां पुनः समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृतं । कस्यासवबंधौ न स्तः ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । तर्हि किमस्ति ? आसवनिरोधलक्षणसंवरोऽस्ति सो स सम्यग्दृष्टिः संते संति विद्यमानानि ते तानि पुब्बणिबद्धे पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादि कर्माणि । अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् जगण्वि जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति । किं कुर्वन् सन् ? अबंधंतो विशिष्टभेदज्ञानबलान्नवतराण्यभिनवान्यबध्नन्—अनुपार्जयन् इति । अयमत्र भावार्थः । सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति । तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टिः,

सोलसपणवीसणमं दसचउठक्केवक बंधवोच्छिणा ।

दुगतीसचदुरपुण्वे पणसोलसजोगिणो इवको ॥ गो० कर्म० ६४ ॥

तात्पर्यवृत्ति—यहाँ 'णत्थि' इत्यादि पदखंडना रूप से व्याख्यान करते हैं । सम्यग्दृष्टि के आसव और बंध ये दोनों ही नहीं होते हैं । तो क्या होता है ? सम्यग्दृष्टि के आसव के निरोध लक्षण वाला संवर होता है । वह सम्यग्दृष्टि सत्ता में स्थित—विद्यमान उन पूर्व में बंधे हुये को जानता है । अथवा प्रत्यय की अपेक्षा से पूर्व से संबंधित मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों को वस्तुस्वरूप से मात्र जानता है । क्या करते हुये ? विशिष्ट भेदज्ञान के बल से नये-नये कर्मों को नहीं बांधते हुए मात्र जानता ही है । यहाँ अभिप्राय यह है कि सराग और वीतराग के भेद से सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं । यहां प्रसंगोपात्त कर्म प्रकृतियों का क्रम गुणस्थानों में बिखलाते हैं—सोलह, पच्चीस, शून्य, दश, चार, छह, एक ऐसी प्रकृतियां पहले से सातवें गुणस्थान तक बंध से छूट जाती हैं तथा अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में दो, तीस, चार ऐसे छत्तीस, आगे पाँच, सोलह और एक प्रकृतियां नवमं, दसवें और तेरहवें गुणस्थान में बंध से व्युच्छिन्न होती हैं । यह गोम्मटसार कर्मकांड की गाथा का अर्थ है । इसी के अनुसार क्रम से जो सराग सम्यग्दृष्टि हैं उनके चतुर्थ गुणस्थान से सातवें तक या दसवें गुणस्थान तक वा तरतमता से प्रकृतियों की बंधव्युच्छिस्ति होती चली जाती है । और ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में वीतराग सम्यग्दृष्टि के आसव बंध नहीं होता है ।

इत्यादि बंधत्रिभंगकथितबंधविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृती-
नामबंधकः । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि सन् संसारस्थिति-
च्छेदको भवति । तेन कारणेनाबंधक इति । तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं
सरागसम्यक्त्वपर्यंतं, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबंधकः । उपरिसगुणस्थानापेक्षया
पुनर्बंधकः । ततश्च बीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबंधको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः
सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं । इति आस्रवविपक्षद्वारेण संवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यान-
मुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१७३॥

इत्यादि प्रकार से बंध त्रिभंगी में कहे गये बंध-विच्छेद के क्रम से मिथ्यादृष्टि
की अपेक्षा से यह सरागसम्यग्दृष्टि तैत्तलिस प्रकृतियों का अबंधक हो जाता है । यह चतुर्थ-
गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि सत्तत्तर प्रकृतियों का अल्प स्थिति और अल्प अनुभाग-
रूप से बंध करता हुआ भी संसार की स्थिति छेदक होता है इसीलिये वह अबंधक कहलाता
है । इसी प्रकार से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के ऊपर यथासंभव सरागसम्यक्त्व
पर्यंत यह जीव नीचे-नीचे के गुणस्थानों की अपेक्षा से अपने-अपने गुणस्थान में तरतमता
से अबंधक होते हैं किंतु ये आगे-आगे के गुणस्थानों की अपेक्षा से बंधक भी हैं क्योंकि
इनके अपने गुणस्थान योग्य बंध तो है ही है । पुनः बीतराग सम्यक्त्व के हो जाने पर
वह साक्षात् अबंधक हो जाता है ऐसा समझकर 'हम सम्यग्दृष्टि हैं हमें सर्वथा बंध नहीं
है' ऐसा नहीं कहना चाहिये । यहाँ गाथा में 'आस्रवबंधो' एक वचन पद है समाहारद्वन्द्व
समास की अपेक्षा से द्विवचन में भी एक वचन रखा है अतः कोई दोष नहीं है ।

इस तरह आस्रव के विपक्षी द्वारा संवर के संक्षेपसूचन व्याख्यान की मुख्यता से
तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥१७३॥

भावार्थ—यहाँ कर्मकांड के अनुसार गुणस्थानों में जो प्रकृतियाँ बन्ध से व्युत्तिष्ठन्
होती हैं उतनी ही प्रकृतियों का वह गुणस्थानवर्ती अबन्धक है और अपने-अपने गुणस्थान
योग्य प्रकृतियों का बंधक ही है । यहाँ दसवें गुणस्थान तक बंध होने से वहाँ तक सराग-
सम्यग्दृष्टि माने गये हैं आगे ग्यारवें, बारहवें गुणस्थान में बीतराग—यथाख्यातचारित्र्य से
सहित बीतरागी महामुनि बीतराग सम्यग्दृष्टि होते हैं वे ही सर्वथा कर्मों के बंध से रहित
अबंधक हो जाते हैं । अतः बीथे गुणस्थान में अपने को अबंधक नहीं मानना चाहिये ।

अथ रागद्वेषमोहानामासन्नवत्त्वं नियमयति—

(१७४ ज०) भावो रागादियुक्तो जीवेण कदो दु बंधगो भणितो ।

रागादिविप्रमुक्तो अबंधगो जाणगो णवरि ॥ १६७ अ० ॥

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः ।

रागादिविप्रमुक्तोऽबन्धको ज्ञायको नवरि ॥ १६७ ॥

आत्मख्यातिः—इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायस-सूचीमकर्मकरणीत्सुकमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति । ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोद-कत्वाद्बन्धकः । तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ॥ १६७ ॥

उत्थानिका—रागद्वेष मोह ही आसन्नवरूप है ऐसा नियम दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवेन कृतः रागादियुतः भावः तु बंधकः भणितः) जीव के द्वारा किया गया रागादि से सहित भाव ही बंधक कहा गया है (रागादिविप्रमुक्तः ज्ञायकः अबंधकः नवरि) और राग आदि भाव से रहित ज्ञायक भाव ही अबंधक है ऐसा विशेष है ।

आत्मख्याति—इस संसार में निश्चय से राग, द्वेष और मोह के संपर्क से होने वाला जो भाव है वह अज्ञानमय ही है । वह अज्ञानमय भाव ही आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरित करता है जैसे कि चुम्बक पत्थर के सम्पर्क से हुआ सम्बन्ध लोहे की सुई को चलाता है । उसी प्रकार से जीव में विवेक से—भेदज्ञान से उत्पन्न हुआ जो भाव है वह ज्ञानमय है, वह भाव स्वभाव से ही आत्मा को कर्म करने की उत्सुकता से रहित स्थापित करता है जैसे कि चुम्बक पत्थर के संसर्ग बिना लोहे की सुई स्वभाव से ही नहीं चलती है । इसलिये रागादि भावों से संकीर्ण—व्याप्त हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म के कर्तापिने में प्रेरक होने से वह बंध को करने वाला है और रागादि से रहित ज्ञानमय भाव तो आत्मा के

(१७४ ज०) रागादियुक्त अज्ञानभाव ही कर्म नवीन बंधाता है ।

रागादिरहित जो ज्ञानभाव नहीं नये कर्म बंधवाता है ॥

वह तो केवल ज्ञायक स्वरूप पर का संसर्ग नहीं उसमें ।

चैतन्यचमत्कारी आत्मा है शुद्ध न किंचित् दुख उसमें ॥ १६७ अ० ॥

(उत्थानिका)—अथ रागद्वेषमोहरूपभावानामात्मवत्त्वं निश्चिनोति;—

तात्पर्यवृत्तिः—भावो रागादिजुदो जीवेण कश्चो दु बंधगो होदि यथा अयस्कांतोपल-
संपर्कजो भावः परिणतिविशेषः, कालायससूचि प्रेरयति तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भावः
परिणतिविशेषः कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानंदमव्ययमनादिमनंतशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि
जीवं शुद्धस्वभावात्प्रच्युतं कृत्वा कर्मबंधं कर्तुं प्रेरयति । रागादिविष्णुमुक्तो अबंधगो जाणगो
णवरि यथा चायस्कांतोपलसंपर्करहितो भावः परिणतिविशेषः कालायससूचि न प्रेरयति तथा
रागाद्यज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्वबंधकः सन् नवरि किंतु जीवं कर्मबंधं कर्तुं न प्रेरयति । तर्हि
किं करोति ? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति । ततो ज्ञायते निरुपरागचैतन्यचिच्चभत्कार-
मात्रपरमात्मपदार्थाद्धिन्ना रागद्वेषमोहा एव बंधकारणमिति ॥१७४॥

स्वभाव को प्रकाशित करने वाला होने से यह केवल ज्ञायक ही है वह किंचित् मात्र भी
बंध को करने वाला नहीं है ॥१६७॥

भावार्थ—जब तक यह आत्मा का ज्ञानमय उपयोग राग, द्वेष, मोहरूप परिणत
हो रहा है तभी तक कर्मों का बंध होता है और जब यह भाव केवल मात्र ज्ञाता दृष्टा
रूप से रहता है—आत्मा के ध्यान में स्थित हो जाता है तब यह आत्मा कर्मों के बंध से
रहित हो जाता है, तभी यह केषलज्ञानी बन जाता है । यह अवस्था पहले शुक्लध्यान में
मुनियों के होती है पुनः वही ध्यानावस्था कर्मों का नाश कर केवलज्ञान को प्रगट कर
देती है ।

उत्थानिका—अब राग-द्वेष मोहरूप भाव ही आत्मवरूप हैं ऐसा निश्चय से सिद्ध
करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे चुम्बक पाषाण के संसर्ग से उत्पन्न हुआ परिणाम विशेष लोहे
की सूची को प्रेरित करता है—हिलाने-डुलाने वाला होता है । वैसे ही जीव के द्वारा
किया गया जो रागादि अज्ञान से उत्पन्न हुआ भाव—परिणाम विशेष है । जीव शुद्ध-
स्वभाव से आनन्दसहित, अव्यय, अनादि अनस्त-शक्तिमान, उद्योतशील, कर्म के लेप से
रहित गुण वाला है वह अज्ञानजन्य भाव ही ऐसे जीव को शुद्धस्वभाव से च्युत

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

(१७५ ज०) पक्के फलह्य पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे ।

जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुबेई ॥१६८ अ० ॥

पक्के फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृत्ते ।

जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥ १६८ ॥

कर्मबंध करने के लिये प्रेरित करता है । जैसे चुम्बक पाषाण के संपर्क से रहित हुआ भाव—परिणतिविशेष लोहे की सुई को नहीं चलाता है वैसे ही रागादि अज्ञान से रहित हुआ भाव तो अवन्धक होता हुआ जीव को कर्मबंध के लिये प्रेरित नहीं करता है । तो वह क्या करता है ? ज्ञानमय भाव जीव को पूर्वोक्त शुद्धस्वभाव में ही स्थापित रखता है । इसलिये यह जाना जाता है कि निरुपराग चैतन्य चित् चमत्कार मात्र जो परमात्म पदार्थ है उससे भिन्न जो राग-द्वेष और मोह हैं वे ही बंध के कारण हैं, ऐसा निश्चय हुआ ॥१७४॥

भावार्थ—यहाँ मोह से वर्शन मोहनीय से होने वाला मिथ्यात्व भाव विवक्षित है और राग-द्वेष से चारित्रमोह से होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति आदि भाव विवक्षित हैं । यह मोह तो तीसरे गुणस्थान तक ही है, आगे द्वेषभाव क्रोधमान रूप में नवमें तक माना जा सकता है पुनः रागभाव लोभ की अपेक्षा से दसवें गुणस्थान तक होता है । इन भावों को अज्ञान जन्य कहते हैं, इनसे ही कर्मों का आलस्य और बंध होता है किन्तु ज्ञानमय भाव से कर्मों का आलस्य-बंध नहीं होता है तभी तो मोक्ष होता है ।

उत्थानिका—रागादि से अमिश्रित भाव ज्ञानमय भाव है उसे दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा पक्के फले पतिते पुनः वृत्ते न बध्यते) जैसे पके फल के गिर जाने के बाद पुनः वह डंठल में—अपनी टहनियों में नहीं लगता है (जीवस्य कर्मभावे पतिते

(१७५ ज०) जैसे फल के पक जाने पर जब वह तरु से गिर जाता है ।

तब पुनः वृक्ष की डाली से संबंध नहीं जुड़ पाता है ॥

वैसे ही कर्म भाव पककर जब आत्मा से झड़ जाते हैं ।

वे पुनः उदय को प्राप्त न हों निर्जरा तत्त्व कहलाते हैं ॥१६८ अ० ॥

आत्मख्यातिः—यथा खलु पक्वं फलं वृत्तात्सकृद्विश्लिष्टं सन्न पुनर्वृत्तसंबन्धमुपैति तथा कर्मोदयजोभावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन्, न पुनर्जीवभावमुपैति । एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति ॥१६८॥

शालिनीछंद—भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।

रुद्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्त्रयीभान् एवोऽज्ञावः सर्वभावास्त्रयाणां ॥११४॥

पुनः न उदयं उपैति) वैसे ही जीव के पुद्गल कर्म अपने कर्मभाव से अलग हो जाते हैं तब वे उदय में नहीं आते हैं ।

आत्मख्याति—जैसे पका हुआ फल डाल से एक बार अलग हो जावे—गिर जावे, वह पुनः डाल से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होता है—फिर से वृक्ष में जाकर नहीं लग जाता है वैसे ही कर्म के उदय से होने वाला जो भाव है वह एक बार जीव पदार्थ से पृथक् हो जावे तो पुनः वह जीवभाव को प्राप्त नहीं होता है । इस प्रकार से ज्ञानमय भाव वही सम्भव है—वही हो सकता है कि जो रागादि भावों से मिश्रित नहीं है । अर्थात् जहाँ पर रागादि भाव ही समाप्त हो चुके हैं वहीं पर ज्ञानमय भाव माना गया है ॥१६८॥

इसे ही कलशकाव्य से कहते हैं—

काव्यार्थ—राग, द्वेष और मोह के बिना जो जीव का भाव होता है वह ज्ञान के द्वारा निर्वृत्त—बना हुआ ही होता है । वही भाव सम्पूर्ण द्रव्य कर्मों के आश्रवों को रोकता हुआ समस्त भावाश्रवों का अभाव करने वाला होता है ॥११४॥

भावार्थ—जब ज्ञानी मुनि अपने निर्विकल्पध्यान में स्थित हो जाते हैं तब वे द्रव्य-कर्म वर्गणा रूप आते हुये पुद्गल कर्मों को रोक देते हैं तभी उनके मिथ्यात्व, राग, द्वेष आदि भाव न होने से भाव आश्रव भी रुक जाते हैं । अथवा मोह, राग, द्वेष आदि भावों के न होने से पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का आना रुक जाता है । अतः परस्पर में एक-दूसरे का अभाव एक साथ ही हो जाता है ।

अग्निवर्णी छंद (वर्णिक)—रागद्वेषादि को छोड़ जो भाव है, ज्ञान से ही सदा वो सुनिर्वृत्त है ।

द्रव्य कर्म स्वभावो सदा नाशता, भाव आश्रव यही निरय ही रोकता ॥११४॥

(उत्थानिका)—अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य संभवं दर्शयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—पक्के फलस्मिपडिदे जह्ण फलं वज्झदे पुणो विट्ठे यथा पक्के फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृत्ते न वध्यते । जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनितसुखदुःखरूपकर्मभावे कर्मपर्यायि पतिते गलिते निर्जीणे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बंधं नायाति, नैवोदयं च । ततो रागाद्य-भावात् शुद्धभावः संभवति । तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन संवर-पूर्विका निर्जरा भवतीत्यर्थः ॥१७५॥

उत्थानिका—अब रागादि से रहित शुद्ध भाव के होने पर क्या होता है ? सो ही दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे पके हुये फल के डाल से गिर जाने पर पुनः वही फल डाल में नहीं लगता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी जीव के साता-असाता के उदय से होने वाले सुख-दुःख रूप कर्म भाव—कर्म पर्याय के गलित हो जाने पर—निर्जीण हो जाने पर राग, द्वेष, मोह के अभाव से पुनः वह कर्म बंध को नहीं प्राप्त होता है और न वह कर्म फल देने के बाद पुनरपि उदय में ही आता है । इसलिये रागादि के अभाव से शुद्ध भाव सम्भव होता है और इसी हेतु से सम्यग्दृष्टि जीव के निर्विकार स्वसंवेदन के बल से संवरपूर्वक निर्जरा होती है यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना ॥१७५॥

विशेषार्थ—जैसे फल पककर स्वयं डाल से गिर जावे पुनः वह फल उस वृक्ष की डाल में नहीं लग पाता है वैसे ही जीव के पूर्व में बांधे हुये साता-असाता आदि कर्म जब उदय काल में उदय में आकर सुख-दुःख फल दे चुकते हैं तब वे जीव से पृथक् होकर—निर्जीण होकर झड़ जाते हैं पुनः यदि जीव उन कर्मों का उदय आने पर हर्ष-विषाद रूप से परिणत नहीं होता है—राग-द्वेष आदि विकार भाव नहीं करता है तब आगे के लिये कर्म नहीं बंधते हैं । जो फल देकर झड़े थे वे तो पुनः जीव में चिपकते नहीं हैं । रागादि भाव के न होने से आगे के लिये बंधते नहीं हैं तभी संवर और निर्जरा हो जाती है । यह अवस्था निर्विकल्प शुक्लध्यान में महामुनि के ही संभव है ऐसा समझना । हाँ, कर्म उदय में आकर फल देकर झड़ते हैं पुनः वे ही नहीं चिपकते हैं यह तो सभी जीवों में घटता है किन्तु जीव के हर्ष-विषाद आदि भाव होने से आगे के लिये कर्म बंधते रहते हैं । यही कारण है कि यहाँ उस

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्त्रवाभावं दर्शयति;—

(१७६ ज०) पृथ्वीपिंडसमाणा पृथ्वणिबद्धा तु पचचया तस्स ।

कम्मसरीरेण तु ते बद्धा सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१६६ अ०॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।

कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १६६ ॥

आत्मख्यातिः—ये खलु पूर्वमज्ञानेनैव बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्त्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः । ते तु सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्मणशरीरेणैव संबद्धा न तु जीवेन, अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्त्रवाभावो-
ज्ञानिनः ॥१६६॥

जीव की विवक्षा नहीं है प्रत्युत गजकुमार—मुनि आदि जैसे महामुनियों की विवक्षा है ऐसा समझना ।

उत्थानिका—अब ज्ञानी के द्रव्यास्त्रव का अभाव दिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(तस्य पूर्वनिबद्धाः तु प्रत्ययाः पृथ्वीपिंडसमानाः) उस जीव के पूर्व में बंधे हुये जो प्रत्यय हैं वे पृथ्वी के पिंड के समान हैं (ज्ञानिनः ते सर्वेऽपि कर्मशरीरेण तु बद्धाः) ज्ञानी जीव के वे सभी प्रत्यय तो कार्मण शरीर के साथ ही बंधे हुये हैं ।

आत्मख्याति—जो पहले अज्ञान के द्वारा ही बंधे हुये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग नाम से द्रव्यास्त्रवरूप प्रत्यय हैं वे सभी नियम से ज्ञानीजीव से भिन्न द्रव्यरूप ही हैं क्योंकि वे अचेतन पुद्गलद्रव्य के परिणाम होने से पृथ्वी के पिंड के समान ही हैं—जैसे कि मिट्टी का ढेला आदि अन्य पुद्गलस्कन्ध हैं । वे सभी अपने स्वभाव से ही कार्मण शरीर से ही संबद्ध हैं न कि जीव के साथ । इसीलिये ज्ञानी के द्रव्यास्त्रव का अभाव स्वभाव से ही सिद्ध है ॥१६६॥

(१७६ ज०) उस वीतराग सम्यग्दृष्टी ने पूर्व कर्म जो बांधे हैं ।

वे पृथ्वीपिंड सदृश अकार्यकारी प्रत्यय हो जाते हैं ॥

जो यथाख्यात चारित्र्ययुक्त ज्ञानी आत्मा बन जाते हैं ।

उनके कार्मण शरीर रूप से कर्म सभी रह जाते हैं ॥१६६ अ० ॥

उपजातिछंद—भावास्त्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्त्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।

ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्त्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

(उत्थानिका)—अथ ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्त्रवाभावं दर्शयति;—

तात्पर्यवृत्तिः—पृथ्वीपिण्डसमाणा पुष्पणिबद्धा दु पञ्चया तस्स पृथ्वीपिण्डसमानाः अकिंचित्करा भवन्ति । के ते ? पूर्वनिबद्धाः मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः । कस्य ? तस्य वीतराग-सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । यतो रागाद्यजनकत्वादकिंचित्करास्ततः कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबंधो न भवति । तर्हि पृथ्वीपिण्डसमानाः संतः केन रूपेण तिष्ठन्ति ? कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि

इसी का कलशकाव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—भावास्त्रव के अभाव को प्राप्त हुआ यह जीव द्रव्यास्त्रवों से तो स्वतः ही भिन्न है, क्योंकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही एक भाववाला है, इस कारण यह निरास्त्रव है, एक ज्ञायक भाववाला ही है ॥११५॥

उत्थानिका—अब ज्ञानी के नूतन द्रव्यास्त्रव का अभाव दिखलाते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उस वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के ये पूर्व में बंधे हुये मिथ्यात्व आदि द्रव्यप्रत्यय पृथ्वीपिण्ड के समान होने से अकिंचित्कर ही होते हैं क्योंकि ये रागादि को उत्पन्न करने वाले नहीं हैं इसी से अकिंचित्कर—कुछ नहीं करने वाले हैं और इसी हेतु से ज्ञानी के नवीन-नवीन द्रव्य कर्मों का बंध नहीं होता है ।

प्रश्न—तब ये पृथ्वीपिण्ड के समान होते हुये किस रूप से रहते हैं ?

उत्तर—वे सभी द्रव्यप्रत्यय कार्मण शरीररूप से ही बंधे रहते हैं किन्तु रागादि भाव से परिणत जीव रूप से नहीं रहते हैं । अर्थात् वे द्रव्यप्रत्यय भी ज्ञानी जीव में

सखिदणी छंद (वणिक)—विज्ञ जो भाव आस्त्रव कभी ना लहे, वो सदा द्रव्य आस्त्रव बिना ही रहे ।

ज्ञानमुक्त भाव से युक्त ज्ञानी कहे, वो निरास्त्रव सदा एक जाता रहे ॥११५॥

णाणिस्स कामेणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठन्ति, न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण । कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति । किञ्च यद्यपि द्रव्यप्रत्ययाः कामेण-शरीररूपेण मुष्टिवद्धविषकृतिष्ठन्ति तथापि उदयाभावे सुखदुःखविकृतिरूपां बाधां न कुर्वन्ति । तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मस्रवाभाव इति भावार्थः । एवं रागद्वेष-मोहरूपास्रवाणां विशेषविवरणरूपेण स्वतन्त्रगाथात्रयं गतं ॥१७६॥

रागादि भाव को उत्पन्न नहीं कर पाते हैं अतः कर्म रूप से ही बंधे रह जाते हैं । क्योंकि निर्मल आत्मा की अनुभूति लक्षण वाले भेद विज्ञानी जीव को ही यहाँ ज्ञानी कहा है । इसे और स्पष्ट करते हैं कि यद्यपि ये द्रव्यप्रत्यय कामेण शरीर रूप से मुट्ठी में रखे हुए विष के समान स्थित रहते हैं फिर भी ये उदय के अभाव में सुख-दुःख रूप से विकृतिरूप बाधा को नहीं करते हैं । इसी कारण से जीव के नवीन कर्मों के आस्रव का अभाव है ऐसा यहाँ अभिप्राय है ।

इस तरह राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवों के विशेष विवरणरूप से ये स्वतन्त्र तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥१७६॥

भावार्थ—कामेणवर्णणायें पौद्गलिक हैं अतः इन्हें पृथ्वी के पिंड के समान कह दिया है । श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि जैसे कोई हाथ में विष को रखकर मुट्ठी बांध ले, खावे नहीं तो उसे विष नहीं चढ़ेगा वैसे ही यदि ये द्रव्य कर्म मिथ्यात्व, अविरति आदि रूप से सत्ता में बंटे रहें या कदाचित् भसाता आदि रूप से उदय में ली आ जावें, किन्तु यदि कोई महामुनि निर्विकल्प ध्यान में लीन हैं, गजकुमार आदि के समान शुक्लध्यान में स्थित हैं तो उनके लिये ये द्रव्य कर्म पुद्गलस्कंधरूप से मिट्टी के पिंड के समान अकिंचित्कर ही हैं क्योंकि उनको आगे के लिये कर्मों का बंध नहीं होता है । यह ज्ञानी की ध्यालया आगे स्वयं श्री अमृतचंद्रसूरि ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में घटित कर रहे हैं तो ही आप पढ़ेंगे ।

कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

(१७७ ज०) चहुविह अणेयभेयं बंधते णाणदंसणगुणेहि ।

समये समये जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥१७० अ०॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां ।

समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥१७०॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव । यत्तु^१ तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म प्रतिबध्नन्ति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ॥१७०॥

(उत्थानिका)—अथ कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति पृच्छतिः—

तात्पर्यवृत्तिः—चहुविह अणेयभेयं बंधते णाणदंसणगुणेहि चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वं । चतुर्विधा मूलप्रत्ययाः कर्तारः ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविधं

उत्थानिका—ज्ञानी निरास्रव कैसे होता है ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्मात् चतुर्विधाः ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां समये समये अनेकभेदं बध्नन्ति) जिस कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकार के प्रत्यय ज्ञान-दर्शन गुणों द्वारा समय-समय में अनेक भेदरूप कर्मों को बांधते हैं (तेन ज्ञानी तु अबंधः इति) इसीलिये ज्ञानी तो अबंधक ही है ऐसा समझना ।

आत्मख्याति—नियम से ज्ञानी तो आस्रव भाव की भावना के अभिप्राय के अभाव से निरास्रव ही है और जो उस ज्ञानी के भी द्रव्यप्रत्यय प्रतिसमय अनेक प्रकार के पुद्गलकर्म बांधते हैं उसमें ज्ञानगुण का परिणाम ही हेतु है, ऐसा समझना ॥१७०॥

उत्थानिका—अगरे ज्ञानी निरास्रव किस तरह होता है ? ऐसा प्रश्न करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—गाथा में जो 'चहुविह' पद है उसमें प्राकृत ध्याकरण के नियम से

(१७७ ज०) मिथ्यात्व तथा अविरति कषाय अरु योग बन्ध के कारण हैं ।

आत्मा के दर्शन ज्ञान गुणादिक कर्मबन्ध निरवारण हैं ॥

प्रति समय समय पर नव कर्मों को जीव बांधता रहता है ।

ज्ञानी तो स्वयं अबंधक है इसलिये कर्म नहि बंधता है ॥१७० अ०॥

कर्म कुर्वति । काभ्यां कृत्वा ? ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां । दर्शनज्ञानगुणौ कथं बंधकारणभूतौ भवतः ? इति चेत्—अयमत्र भावः, द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः संतः जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बंधकारणं भवति । वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं अज्ञानमेव भण्यते । ततएव 'अज्ञानदंसणगुणेहि' इति पाठान्तरं केचन पठन्ति । समए समए जह्या तेण अबंधुत्ति णाणी कु समये समये यस्मात् प्रत्ययाः कर्तारिः । ज्ञानदर्शनगुणं रागाद्यज्ञानभावपरिणतं कृत्वा नवतरं कर्म कुर्वति । तेन कारणेन भेदज्ञानी बंधको न भवति । किं तु ज्ञानदर्शनरंजकत्वेन प्रत्यया एव बंधकाः, इति ज्ञानिनो निरास्यत्वं सिद्धं ॥१७७॥

'बहुवचन' होने पर भी ह्रस्वत्व हो गया है । चार प्रकार के मूल प्रत्यय हैं । ये कर्ता हैं अतः ये ज्ञानावरण आदि भेद से अनेक प्रकार के कर्मों को करते हैं ।

प्रश्न—फिरके द्वारा फल करते हैं ?

उत्तर—ज्ञान-दर्शन गुण के द्वारा कर्म को बांधते हैं ।

प्रश्न—दर्शन और ज्ञान गुण भला बंध के कारण कैसे होते हैं ?

उत्तर—यहाँ यह अभिप्राय है कि ये द्रव्यप्रत्यय—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग उदय में आते हुये जीव के ज्ञान और दर्शन इन दोनों को रागादि अज्ञान भाव से परिणमन करा देते हैं, तब रागादि अज्ञानभाव से परिणत हुये ये ज्ञान और दर्शन दोनों गुण बंध के कारण हो जाते हैं । वास्तव में देखा जाये तो रागादि भाव से परिणत ये ज्ञान-दर्शन दोनों गुण अज्ञान ही कहलाते हैं इसीलिये ये बंध के हेतु हो जाते हैं । अथवा यहाँ पर कोई-कोई आचार्य ऐसा पाठांतर मानते हैं कि 'अज्ञानदंसणगुणेहि' तब ऐसा अर्थ हो जाता है—'अज्ञान दर्शनगुणाभ्यां' अज्ञान और अदर्शन गुणों द्वारा ये प्रत्यय बन्ध के हेतु हैं ।

जिस हेतु से ये प्रत्यय कर्ता होकर समय-समय में ज्ञानदर्शनगुण को रागादि अज्ञान भाव से परिणत करके नवीन-नवीन कर्मों का बंध करते हैं । इसी कारण से भेदज्ञानी जीव कर्मों का बन्ध करने वाले नहीं होते हैं किन्तु ज्ञानदर्शन गुण को रागादि से अनुरंजित करने वाले प्रत्यय ही बन्ध करने वाले होते हैं इसीलिये ज्ञानी के निरास्यपणा सिद्ध है ॥१७७॥

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

(१७८ ज०) जह्या दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।

अणत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणितो ॥१७९ अ०॥

यस्मात् जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते ।

अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥१७९॥

आत्मख्यातिः—ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्मात्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्र्यावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ॥१७९॥

भावार्थ—ये ज्ञान और वर्धन दो गुण, जीव के उपयोग लक्षण नाम से दो भेदरूप हैं । ये जीव के साथ अनाविकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे । जब तक इनके साथ मिथ्यात्व आविर्भूत, कषाय और योग का सम्पर्क है तब तक ये रागादि विभावभाव से विभावरूप होने से अज्ञान ही कहलाते हैं और तभी तक इनके निमित्त से जीव के साथ कर्मों का संबंध होता रहता है । जब ये दोनों गुण इन कषाय आदि से रहित शुद्ध हो जाते हैं तभी यह जीव ज्ञानी होकर अबंधक हो जाता है । वह अवस्था कहाँ आती है ? सो आचार्यदेव के शब्दों में ही देखिये ।

उत्थानिका—यह ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध में हेतु कैसे है ? इसे ही बिखलाते हैं—

अन्वयार्थ—(यस्मात् तु ज्ञानगुणः जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि अन्यत्वं परिणमते) जिस कारण यह ज्ञानगुण, जघन्यरूप ज्ञान गुण से पुनरपि अन्यरूप परिणमन करता है (तेन तु सः बंधकः भणितः) उसी कारण से वह ज्ञानगुण कर्म का बंधक कहा गया है ।

आत्मख्याति—जब तक ज्ञानगुण का जघन्य भाव है तब तक वह अंतर्मुहूर्त—अंतर्मुहूर्त में विपरिणमनशील होने से पुनः-पुनः अन्य-अन्य रूप से परिणमन करता रहता है । यथा-

(१७८ ज०) जीवात्मा का गुण ज्ञान जघन्य अवस्था जब तक पाता है ।

नहि यथाख्यात चारित्र्य मिला अन्यान्य रूप बन जाता है ॥

गुणज्ञान दशम तक वही जीव कर्मों का बन्ध किया करता ।

फिर यथाख्यात चारित्र्य पाकर कर्मों से मुक्त हुआ करता ॥१७९ अ०॥

(उत्थानिका)—अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति पुनरपि पृच्छति;—

तात्पर्यवृत्तिः—जह्या दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणे यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति । तस्मात्—जघन्यत्वादेव ज्ञानगुणात् सकाशात्, अंतर्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्नोति

ह्योत चरित्र अवस्था के पहले अवश्य ही राग भाव का सद्भाव होने से वह ज्ञानगुण बंध का हेतु ही है ॥१७१॥

भावार्थ—जब तक ज्ञान क्षयोपशमिक रहता है तब तक वह अंतर्मुहूर्त-अंतर्मुहूर्त में अन्य-अन्य रूप से परिणमन करता है—क्षयोपशमज्ञान निर्विकल्पध्यान में अंतर्मुहूर्त तक ही टिक सकता है पुनः अन्य ज्ञेय पर चला जाता है । और यह यथाख्यात चारित्र दसवें गुण-स्थान के ऊपर मोहनीय कर्म के पूर्णरूप से उपशम या क्षय हो जाने से ग्यारहवें उपशान्तमोह और बारहवें क्षीणमोह नाम के गुण-स्थानों में तथा आगे तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में ही होता है । उसके पहले-पहले ज्ञानगुण में राग का सद्भाव अवश्यम्भावी है—रहेगा ही रहेगा क्योंकि यहाँ तक मोहनीय कर्म का उदय विद्यमान है । यही कारण है कि तब तक वह ज्ञानगुण कर्मबंध में हेतु होता रहता है । यह श्रीअमृत-चन्द्रसूरि के वाक्य हैं अतः यहाँ यह निश्चय करना कि दशवें गुणस्थान तक मुनि का ज्ञानगुण बंधक है आगे ही बीतरागी महामुनि जानती हैं—उनका ज्ञानगुण अबंधक है । इस टीका की पंक्तियों को ध्यान में रखकर जो समयसार ग्रन्थ का स्वाध्याय करेंगे वे अर्थ का अनर्थ न करके सही बोध प्राप्त करेंगे । इससे विपरीत इस शास्त्र का अर्थ सही न समझकर शास्त्र को शास्त्र ही बना लेंगे । अब देखिये, श्रीजयसेनाचार्य सरल शब्दों में क्या कह रहे हैं ?

उत्थानिका—ज्ञानगुण का परिणाम बंध में हेतु कैसे है ? शिष्य पुनरपि ऐसा पृच्छता है—

तात्पर्यवृत्ति—जिस हेतु से यथाख्यातचारित्र से पहले जघन्यहीन-सकषाय ज्ञानगुण होता है उसी हेतु से जघन्य होने से ही यह ज्ञानगुण जब तक है तब तक यह जीव अंतर्मुहूर्त से अधिक निर्विकल्प ध्यान में स्थित होने के लिये समर्थ नहीं होता है और इसीलिये

जीवः । ततः कारणात् अन्यत्वं सविकल्पपर्यायांतरं परिणमति । स कः ? कर्ता । ज्ञानगुणः । तेन दु सो बंधगो भणितो तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बंधको भणितः । अथवा द्वितीयध्याख्यानं । जघन्यात् कोऽर्थः, जघन्यात् मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् । काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुणः कर्ता मिथ्यापर्यायं त्यक्त्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्वं परिणमति । तेन दु सो बंधगो भणितो तेन कारणेन न ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अबंधको भणित इत्यभिप्रायः ॥१७८॥

यह ज्ञानगुण अन्यरूप से—सविकल्प पर्यायरूप से परिणमन करता है । तब उस सविकल्प ध्यानरूप उस कषाय भाव से सहित यह ज्ञानगुण बंधक—कर्मबंध करने वाला कहा गया है । अथवा द्वितीय ध्याख्यान ऐसा है । जघन्य से अर्थात् मिथ्यादृष्टि के ज्ञानगुण से सहित जो ज्ञान है वह बंधक होता है । पुनः काललब्धि के वश से सम्यक्त्व के प्राप्त हो जाने पर ज्ञानगुण कर्ता होता हुआ मिथ्यात्व पर्याय को छोड़कर अन्यरूप से—सम्यग्ज्ञानी रूप से परिणमन कर जाता है इस कारण से यह ज्ञानगुण अथवा ज्ञानगुण से परिणत हुआ जीव अबंधक कहा गया है ऐसा अभिप्राय है ॥१७८॥

विशेषार्थ—यहां श्रीजयसेनाचार्य ने श्रीअमृतचन्द्रसूरि के कहे अनुसार जघन्य ज्ञानगुण से यह अर्थ लिया है कि—यथाख्यात चारित्र के पहले-पहले का ज्ञानगुण कषाय-सहित, रागभाव सहित होने से वह बंध को करने वाला होता है । पुनः दूसरे ध्याख्यान में कहा है कि जघन्य अर्थात् मिथ्यात्व सहित ज्ञानगुण बंधक है—अनंतसंसार का कारण है । इसके बाद सम्यक्त्व सहित ज्ञानगुण अपने-अपने गुणस्थान के योग्य प्रकृतियों का बंधक होते हुये भी अपने से नीचे के गुणस्थान की प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति हो जाने से उनका अबंधक हो जाता है । अतः यह गाथा और श्रीअमृतचन्द्रसूरि की टीका सदा ही स्मृतिपथ में रखने योग्य है ।

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

(१७६ ज०) दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।

णाणी तेण दु बज्झवि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२ अ०॥

दर्शनज्ञानचारित्रं परपरिणमते जघन्यभावेन ।

ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १७२ ॥

आत्मख्यातिः—यो हि ज्ञानी स 'बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जानात्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वक^१ कलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात् । अतस्तावज्ज्ञानं ज्ञातव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति । ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ॥१७२॥

उत्थानिका—जब ज्ञानगुण जघन्य भाव से परिणत हुआ बंध का कारण है तो पुनः ज्ञानी निरास्रव कैसे होगा ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव उत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(यत् दर्शनज्ञानचारित्रं जघन्यभावेन परिणमते) जिस कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र जघन्यभाव से परिणमन करते हैं (तेन तु ज्ञानी विविधेन पुद्गलकर्मणा बध्यते) उसी कारण यह ज्ञानी जीव विविध प्रकार के पुद्गलकर्मों से बंध जाता है ।

आत्मख्याति—जो ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवभाव का अभाव होने से निरास्रव ही है किन्तु वह भी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से श्रद्धा करने, जानने और उसी में अनुचरण करने के लिये असमर्थ होता हुआ जघन्यभाव से ही (आयोपशमिक भाव से या कषाय सहित भाव से) ज्ञान का श्रद्धान करना है, जानता है

(१७६ ज०) ज्ञानी के दर्शन सुज्ञान चारित्र जघन्य जहाँ तक है ।

रत्नत्रय की संपूर्ण अवस्था प्राप्त न होती तब तक है ॥

इस कारण ज्ञानी आत्मा के पीद्गलिक कर्म बंधते रहते ।

बिन यथाख्यात चारित्र हुए मुनि आत्मसीख्य वंचित रहते ॥१७२ अ०॥

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवन्ति । अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवल मोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः ।

२. कर्म कलंक इत्यर्थः ।

शार्दूलविक्रीडित - संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमतिशं रागं समग्रं स्वयं,
 बारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
 उच्छिदन् परवृत्तिमेव^१ सकलां ज्ञानस्य पूर्णाभवन्
 आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

और आचरण करता है तब तक उसी जीव के भी जघन्यभाव के अन्य प्रकार से न हो सकने से अनुमान से जानने योग्य ऐसे अबुद्धिपूर्वक कर्मकलंक के उदय के सद्भाव से पुद्गलकर्म का बंध हो जाता है । इसलिये तब तक ज्ञान का श्रद्धान करना चाहिये, ज्ञान को जानना चाहिये और ज्ञान का ही आचरण करते हुए उसमें स्थिर हो जाना चाहिये कि जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है वह उतना पूर्ण भाव—केवलज्ञान भाव अच्छी तरह से देख लिया जाय, जान लिया जाय और आचरणरूप हो जावे । अर्थात् इन रत्नत्रयरूप से अच्छी तरह पूर्ण हो जावे । इसके बाद वह आत्मा साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा आस्रव रहित ही हो जावेगा ॥१७२॥

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा एक ज्ञान रूप जीव के उपयोग को सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र्य रूप से ग्रहण करके जब तक रत्नत्रय को सर्वोत्कृष्ट रूप से नहीं प्राप्त कर लेता है अर्थात् बारहवें गुणस्थान के योग्य नहीं बना लेता है तब तक उसके कषाय का अंश विद्यमान रहने से पौद्गलिक कर्मों का बंध होता है । अतः इस ज्ञानस्वरूप आत्मा में व्यवहार—निश्चयरत्नत्रय को तब तक धारण करना चाहिये जब तक कि यह ज्ञानोपयोग मति, श्रुत आदि से आगे बढ़कर केवलज्ञान तक न हो जावे । जब ज्ञान पूर्ण हो जावेगा तभी वह पूर्णतया आस्रव से रहित हो जावेगा ।

इसे ही कलशकाव्य में दिखाते हैं—

काव्यार्थ—यह आत्मा जब ज्ञानी होता है तब स्वयं अपनी बुद्धिपूर्वक संपूर्ण राग

मुक्तक छंद (मात्रिक)—

जब ज्ञानी जीव स्वबुद्धि पूर्व सब राग स्वयं नित दूर करे ।
 बुद्धी विरहित सब राग मिटन को पुनः पुनः पुरुषार्थ करे ।
 वह ध्यानी ज्ञान विकल्प रूप, सब परिणति कर उच्छेद किया ।
 तब पूर्णभाव से सहित सदा के लिये निरास्रव शुद्ध हुआ ॥११६॥

१. परिवृत्ति—इत्यपि पाठः ।

अनुष्टुप्—सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ ।

कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

(उत्थानिका)—अथ यथाख्यातचारित्र्यादस्तादन्तर्मुहूर्तान्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्यत इति भणितं पूर्वं । एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्,—

तात्पर्यवृत्तिः—दंसणणाणचरितं जं परिणमदे जहण्णभावेण ज्ञानी तावदीहापूर्व-
रागादिविकल्पकरणाभावान्निरास्रव एव । किं तु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे

को निरंतर छोड़ता हुआ तथा जो अबुद्धिपूर्वक राग है उसे भी जीतने के लिये बार-बार ज्ञान के अनुभव रूप अपनी शक्ति को स्पर्शता हुआ, समस्त परपरिणति को जड़भूल से नष्ट करता हुआ, ज्ञान के पूर्णभाव रूप होकर नित्य ही निरास्रव हो जाता है ॥११६॥

भावार्थ—यह आत्मा व्यवहाररत्नत्रय को धारण कर पहले बुद्धिपूर्वक होने वाले रागादि विभाव भावों को छोड़ता है पुनः निश्चय रत्नत्रय के बल से ध्यान में लीन होकर अबुद्धिपूर्वक होने वाले रागादि भावों से दूर हो जाता है तभी यह पूर्णतया निरास्रव हो जाता है ।

काव्यार्थ—ज्ञानी के समस्त ही द्रव्यास्रव की संतति जीवित है पुनः वह नित्य ही आस्रव रहित है ऐसा कैसे कहा ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य देव अगली गाथाओं में उत्तर देते हैं ॥११७॥

यह कलश काव्य अगली गाथाओं के लिये उत्थानिकारूप है । अब इसी पूर्व गाथा की टीका में श्रीजयसेनाचार्य के अभिप्राय को पढ़िये ।

उत्थानिका—यथाख्यात चारित्र के नीचे अन्तर्मुहूर्त के बाद निर्विकल्प समाधि में स्थिर होना शक्य नहीं है ऐसा पहले आपने कहा है पुनः ऐसा होने पर ज्ञानी निरास्रव कैसे होगा ?

तात्पर्यवृत्ति—ज्ञानी जीव के इच्छापूर्वक रागादि विकल्पों को करने का अभाव है इसलिये वह निरास्रव ही है । किन्तु वह ज्ञानी भी जीतने काल तक परमसमाधिरूप ध्यान

तोटक छन्द (वर्णिक)—बुध के सब द्रव्य सुप्रत्यय हैं, उसकी जब संतति नित्य रहे ।

फिर भी वह शुद्ध निरास्रव क्यों, यह प्रश्न उठे स्वयमेव अहो ॥११७॥

सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वासमर्थः तावत्कालं तस्यापि सम्बन्धि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्र्यं तज्जघन्यभावेन सकपायभावेन अनीहितवृत्त्या परिणमति । नाणी तेन दु बज्जदि पुग्गलकस्मेण विविहेण तेन कारणेन स तु भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परंपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते । इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधी स्थित्वा तावत्पर्यंतं शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च । यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्णः केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः । एवं ज्ञानिनो भावास्त्रयस्वरूपनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१७६॥

के अनुष्ठान के अभाव में शुद्धात्मा के स्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करने में असमर्थ है उतने काल तक उसके भी जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य हैं वे अबुद्धि-पूर्वक ही जघन्यभाव से—कषायसहित भाव से परिणमन करते रहते हैं इस कारण यह भेदज्ञानी भी अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार परंपरा से मुक्ति के लिये कारणभूत, तीर्थकर नामकर्म प्रकृति आदि जो कि पौद्गलिक हैं ऐसी विविध पुण्यकर्म प्रकृतियों का बंध करते रहते हैं । ऐसा जानकर ख्याति, पूजा, लाभ, भोगों की आकांक्षारूप निदान बंध आदि जो विभाव भाव हैं उनका परिहार करके निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर तब तक शुद्धात्मा के स्वरूप को देखना चाहिये, श्रद्धान करना चाहिये, जानना चाहिये और आचरण करना चाहिये जब तक कि उस शुद्धात्मस्वरूप का परिपूर्ण केवलज्ञानरूप भाव देखा जाना और आचरणरूप होता है यहां ऐसा अभिप्राय समझना । इस प्रकार ज्ञानी के भावास्त्रय स्वरूप के निषेध की मुख्यता से तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥१७६॥

भावार्थ—यहां श्रीअमृतचन्द्रसूरि के अभिप्राय को ही श्रीजयसेनाचार्य ने सरल शब्दों में स्पष्ट किया है । जब कोई महामुनि निर्विकल्प ध्यान में स्थित होते हैं तब उनके बुद्धिपूर्वक रागद्वेषादि भाव नहीं होते हैं अतः बुद्धिपूर्वक आस्त्रय न होने से वे निरास्त्रय हो हैं । यह ध्यान ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के पहले का ही विवक्षित है क्योंकि जब तक रत्नत्रय के साथ भी कषाय का अंश विद्यमान है तब तक आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक भी तीर्थकर प्रकृति आदि पुण्यप्रकृतियों का बंध होता रहता है वह अबुद्धिपूर्वक ही

(१८० ज०) सर्वे पुण्यनिबद्धा दु एचचया संति सम्मविद्धिठस्स ।

उपभोग्याजोगं बंधंते कर्मभावेण ॥१७३ अ०॥

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्मविद्धिठः ।

उपयोगप्रायोग्यं बध्नांति कर्मभावेन ॥१७३॥

(१८१ ज०) संति दु निरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।

बंधवि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४ अ०॥

संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।

बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥१७४॥

होता है । यहां आचार्यदेव का कहना है कि जब तक केवलज्ञान की प्राप्ति न हो जाय तब तक रत्नत्रय का अनुष्ठान करना चाहिये । छठे-सातवें में मुख्यरूप से व्यवहाररत्नत्रय है आगे ध्यानावस्था में निश्चयरत्नत्रय है यही निश्चयरत्नत्रय साधकतमरूप में बारहवें गुणस्थान के अंतिम क्षण में पहुँचता है तभी वह एक ज्ञान वीतरागसम्यक्त्व और वीतराग-चारित्र के साथ अविनाभावी हुआ केवलज्ञान को प्रकट कर देता है अतः समयसार ग्रंथ के अनुसार ज्ञान से केवलज्ञानरूप कार्यसमयसार की प्राप्ति होती है यह निश्चित हो जाता है ।

उत्थानिका—द्रव्यप्रत्यय के रहते हुये ज्ञानी निरास्रध कैसे हैं ? सो ही बतलाते हैं—

(१८० ज०) जो पूर्वबद्ध प्रत्यय ज्ञानी के निज सत्ता में रहते हैं ।
उपयोग युक्त यदि होते वे तो कर्म रूप से बंधते हैं ॥
लेकिन केवल सत्ता कर्मों का बन्ध नहीं करवा सकती ।
रागादि भाव नहि होने से कर्मों की स्थिति नहि पड़ती ॥१७३ अ०॥

(१८१ ज०) जैसे बाला स्त्री नर के नहि भाव विकारी कर सकती ।
वैसे सत्ता में पड़े कर्म को आत्मा नहि अनुभव करती ॥
लेकिन जैसे तरुणी स्त्री नर को बन्धन में करती है ।
वैसे ही उदय अवस्था कर्मों के बन्धन को करती है ॥१७४ अ०॥

(१८२ ज०) होदूण निरुपभोग्ज्जा तह बंधवि जह हवन्ति उवभोग्ज्जा ।

सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावैहि ॥१७५ अ०॥

(१८३ ज०) एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि (भणिदो) ।

आसवभावाभावे ण पत्तय्या बंधगा भणिदा ॥१७६॥ (चतुष्कं)

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि ।

सत्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥१७५॥

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिर्बंधको भणितः ।

आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥१७६॥

अन्वयार्थ—(सम्यग्दृष्टेः सर्वे पूर्वनिबद्धाः तु प्रत्ययाः संति) सम्यग्दृष्टि के सभी पूर्व में बांधे हुये मिथ्यात्व, अविर्ति आदि आस्रव मौजूद हैं (उपयोगप्राप्त्योग्यं कर्म भावेन बध्नाति) वे उपयोग के प्रयोग करने रूप कर्मभाव से बंध को करते हैं (संति तु निरुपभोग्यानि यथा इह पुरुषस्य बाला स्त्री) सत्ता में स्थित कर्म भोग के योग्य नहीं हैं जैसे लोक में पुरुष के लिये बाला स्त्री भोगने योग्य नहीं है । (तानि उपभोग्यानि बध्नाति यथा नरस्य तरुणी स्त्री) वे ही प्रत्यय उदय में आकर भोगने योग्य हुये आगे के लिये कर्म बांधते हैं जैसे सनुष्य के लिये तरुणी स्त्री भोग योग्य हुई बांधती है । (निरुपभोग्यानि भूत्वा यथा उपभोग्यानि भवन्ति) सत्ता में स्थित उपभोग योग्य नहीं होकर भी जैसे वे उदय में आकर उपभोग योग्य हो जाते हैं (तथा ज्ञानावरणादिभावैः सत्ताष्टविधानि भूतानि बध्नाति) वैसे ही—तब ज्ञानावरण आदि सात कर्मों को, आयु से सहित आठों कर्मों को बांधते हैं ।

(१८२ अ०) जो बीतराग सम्यग्दृष्टी वह कर्मबन्ध नहि करता है ।

जो है सराग सम्यग्दृष्टी वह कर्मबन्ध नित करता है ॥

यह जीव नित्य ज्ञानावरणादिक सात कर्म बांधा करता ।

अरु आयुबन्ध के समय अष्टविध कर्म स्वयं बांधा करता ॥१७५ अ०॥

(१८३ ज०) रागादि भाव का जब अभाव जीवात्मा में हो जाता है ।

तब प्रत्यय बंध नहीं करते नहि आस्रव भी हो पाता है ॥

इस कारण बीतराग सम्यग्दृष्टी बंधक नहि कहलाता ।

आस्रव भावों के नहि होने से सदा अबन्धक कहलाता ॥१७६ अ०॥

आत्मख्यातिः— यतः सदवस्थायां तदाश्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयोवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वाद् 'उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नन्ति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति । संतु, तथापि स तु निराश्रय एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्याश्रयभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानाम्बन्धहेतुत्वात् ॥१७३॥१७४॥१७५॥१७६॥

(एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिः अबन्धकः भणितः) इसी कारण से तो सम्यग्दृष्टि अबन्धक कहा गया है (आश्रयभावाभावे प्रत्ययाः बन्धकाः न भणिताः) क्योंकि आश्रय भावों के अभाव में—रागद्वेषादि भावों के अभाव में ये प्रत्यय मिथ्यात्व, अविरति, आदि बन्ध करने वाले नहीं कहे गये हैं ।

आत्मख्याति—जैसे तत्काल में विवाहित बालस्त्री पहले बाल्य अवस्था में पुरुष के भोगने योग्य नहीं होती है पुनः जब वही स्त्री यौवन अवस्था को प्राप्त हो जाती है तब पुरुष के लिये भोगने योग्य हो जाती है । वैसे ही पहले बँधे हुये कर्म जब तक सत्ता अवस्था में मौजूद हैं तब तक उदय में न आने से भोगने योग्य नहीं होते हैं फिर भी वे ही जब विपाक अवस्था को—उदय को प्राप्त हो जाते हैं तब वे ही भोगने योग्य हो जाते हैं अतः वे विकारसहित उपयोग की योग्यता के अनुसार पुद्गलकर्मरूप द्रव्यप्रत्यय सत्ता में विद्यमान होने पर भी कर्मों के कार्यरूप जीवभाव के सद्भाव में ही कर्म को बाँधते हैं इसलिये ज्ञानी जीव के यदि द्रव्यप्रत्यय पूर्व में बँधे हुये हैं—सत्ता में विद्यमान हैं तो वे सत्ता में विद्यमान रहें फिर भी ज्ञानी जीव तो निराश्रय ही है क्योंकि कर्मोदय के कार्यरूप, राग, द्वेष, मोहरूप आश्रय भाव का अभाव होने पर द्रव्यप्रत्ययरूप—आश्रय बन्ध के हेतु नहीं हैं ॥१७३ से १७६॥

उसे ही कलश काव्य में कहते हैं—

मालिनीछंद—विजहति नहि सत्ता प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥११८॥

अनुष्टुप्—रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः ।
तत एव न बंधोऽस्य, ते हि बंधस्य कारणं ॥११९॥

(उत्थानिका)—अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति चेत्—

काव्यार्थ—यद्यपि अपने-अपने समय का अनुसरण करने वाले—समय पर उदय में आने वाले पूर्व में बंधे हुये द्रव्यरूप प्रत्यय अपनी सत्ता में बने रहते हैं तथापि संपूर्ण राग, द्वेष और मोह का अभाव हो जाने से ज्ञानी जीव के कदाचित् भी कर्मबंध अवतरित नहीं होता है ॥११८॥

काव्यार्थ—ज्ञानी के तो राग, द्वेष, मोह का होना असंभव है इसीलिये उनके बंध नहीं है ? क्योंकि वे राग, द्वेष, मोह ही बंध के कारण हैं ॥११९॥

भावार्थ—कर्म बंधे हुये सत्ता में हों तो रहें किन्तु यदि ज्ञानी मुनि निर्विकल्प ध्यान में स्थित हैं, राग, द्वेष मोहरूप भाव से परिणत नहीं हो रहे हैं तो उनके आगे के लिये कर्मबंध नहीं होता है । यह अवस्था ग्यारहवें गुणस्थान में घटती है । क्योंकि वहाँ तक मिथ्यात्व प्रत्यय भी सत्ता में रह सकता है । कर्म सिद्धांत में मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का सत्त्व भी ग्यारहवें गुणस्थान में माना गया है ।

उत्थानिका—द्रव्यप्रत्ययों के विद्यमान रहने पर ज्ञानी निरास्रव कैसे होता है ? इसे ही दिखाते हैं—

तोटक छंद (वर्णिक)—सद्य द्रव्य सुप्रत्यय पूर्व बंधे-उदयावलि काल प्रतीक धरे ।

नहि सत्त्व तजे रति आदि नशे-बुध के नहि कर्म न बंध सखें ॥११८॥

तोटक छंद (वर्णिक)—रति आदि कभाव सुबुद्ध लहे, इस कारण उसे न बन्धन है ।

से वास्तव में सब बन्धक हैं, उसके रति आदिक कारण हैं ॥११९॥

तात्पर्यवृत्तिः—सर्वे पुष्कणिबद्धा दु पचया संति सम्मदिद्विठस्स सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्ययाः संति तावत्सम्यग्दृष्टेः । उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण यद्यपि विद्यंते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्यं तत्कालोदयप्रायोग्यकर्मतापन्नं कर्म बध्नन्ति । केन कृत्वा ? भावेन रागादिपरिणामेन, न चास्तित्वमात्रेण बंधकारणं भवन्तीति । संतावि गिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स संत्यपि विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते लिगव्यभिचारोऽपि, इति वचना-न्नपुंसकलिगे पुंल्लिगनिर्देशः पुंल्लिगेऽपि नपुंसकलिगनिर्देशः । कारके कारकांतरनिर्देशो भवति, इति । तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवन्ति । केन दृष्टान्तेन ? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य । बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह्णरस्स तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवन्ति । रागादिभावेन नवतराणि च बध्नन्ति । कथं ? यथा तरुणी स्त्री नरस्येति । अथ

तात्पर्यवृत्ति—सभी पूर्व में बांधे गये द्रव्यप्रत्यय सम्यग्दृष्टि के हैं—यद्यपि वे सत्ता में विद्यमान हैं फिर भी वे उपयोग से योग्यतानुसार—उस काल में उदय में आकर अपनी योग्यता के अनुरूप कर्म का बन्ध करते हैं । कैसे ? रागादिपरिणामों के होने से ही वे बंध को करते हैं, वे द्रव्यप्रत्यय अस्तित्वमात्र से बंध के कारण नहीं होते हैं । वे कर्म उदय से पहले निरुपभोग्य हैं—उपभोग करने के योग्य नहीं हैं जैसे कि बाला स्त्री पुरुष के भोगने योग्य नहीं होती है । वे कर्म उदयकाल में उपभोग के योग्य हो जाते हैं—रागादि भाव से नूतन कर्मों का बंध कर देते हैं जैसे कि तरुणी स्त्री पुरुष के लिये भोग्य हो जाती है । अब इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—उदय से पहले ये कर्म उपभोग्य के योग्य नहीं हैं पुनः ये ही कर्म अपने-अपने गुणस्थान के अनुसार उदयकाल को प्राप्त कर जैसे-जैसे भोगने योग्य होते हैं, वैसे-वैसे ही रागादि भाव से आयु के बंध के काल में आठ प्रकार के कर्मों को और शेष काल में सात प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्मों को—द्रव्यकर्म पर्याय से नूतन कर्मों का बंध करते हैं । किन्तु अस्तित्वमात्र से ही ये द्रव्यप्रत्यय कर्म-बंध नहीं करते हैं अर्थात् रागादिभाव आलस्य के अभाव में द्रव्यप्रत्यय अस्तित्वमात्र से ही बंध के कारण नहीं होते हैं इस कारण से ही सम्यग्दृष्टि अबंधक कहा गया है । इसी का विस्तार ऐसा है—मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से चतुर्थगुणस्थान में सरागसम्यग्दृष्टि है वह तैतालिस कर्मप्रकृतियों का अबंधक है और सत्तर प्रकृतियों का अल्पस्थिति,

तमेवार्थं दृढयति । उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकालं प्राप्य यथा यथा भोग्यानि भवन्ति, तथा तथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबंध-काले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पययिण नवतराणि बंधन्ति, न चास्तित्वमात्रेणेति । रागादिभावास्तवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बंध-कारणं न भवन्ति । एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबंधको भणित इति । किं च विस्तरः, मिथ्या-दृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टिः, त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबंधकः । सप्ताधिक-सप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति । तथा चोक्तं सिद्धांते “द्वादशांगावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्धातश्चेति संसारस्थिति-

अल्पअनुभाग रूप से बंधक भी है फिर भी वह संसार की स्थिति का छेद करने वाला होता है । यही बात सिद्धांत ग्रंथ में कही है—“द्वादशांग का ज्ञान, उसमें तीव्र भक्ति, अनिवृत्ति—अविचल परिणाम और केवली समुद्धात ये चार कारण संसार की स्थिति के छेद करने वाले होते हैं” इसी का स्पष्टीकरण करते हैं कि संपूर्ण द्वादश अंगरूप श्रुत के विषय में जो अवगम—ज्ञान है वह व्यवहार से बाह्यपदार्थ विषयक है और निश्चय से तो बीतरागस्वसंवेदन लक्षण रूप जो ज्ञान है वह स्वात्मविषयक है । ‘भक्ति’ शब्द से यहाँ सम्यक्त्व कहा जाता है । व्यवहार की अपेक्षा से पंचपरमेष्ठी के आराधनरूप भक्ति है वह सरागसम्यग्दृष्टिजनों के होती है और निश्चय की अपेक्षा से वह भक्ति शुद्धात्मतत्त्व की भावनारूप है वह बीतराग सम्यग्दृष्टिजनों के होती है । जो निवृत्तिरूप—वापस आनेरूप न हो वह अनिवृत्ति परिणाम है वह शुद्धात्मस्वरूप से चलायमान न होने रूप है । आत्मा की एकाग्रपरिणतिरूप है । इस प्रकार से ऐसी व्यवस्था होने पर द्वादशांग ज्ञान से निश्चय और व्यवहार ज्ञान आ गया, भक्ति से तो निश्चय और व्यवहार सम्यक्त्व आ गया और अनिवृत्ति परिणाम से सराग चारित्र के अनंतर होने वाला बीतरागचारित्र हो गया है । इस तरह से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों भेद-अभेद रत्नत्रयरूप से संसार के नाश के कारण होते हैं । किन्के लिये ? छद्मस्थ जीवों के लिये ये संसार का नाश करने

घातकरणानि भवन्ति” तद्यथा, तत्र द्वादशांगश्रुतविषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः । निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदनलक्षणं चेति । भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सराग-सम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा । निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावना-रूपा चेति । न निवृत्तिरनिवृत्तिः शुद्धात्मस्वरूपादचलनं एकाग्रपरिणतिरिति । तत्रैवं सति द्वादशांगावगमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जातं । भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वं जातं । अनि-वृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानंतरं वीतरागचारित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानधारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छित्तिकारणानि भवन्ति । केषां ? छद्मस्थानामिति । केवलिनां

वाले होते हैं । आगे केवली भगवान् के तो षण्ड, कपाट, प्रतर, और लोकपूरण नामक जो केवली समुद्घात होता है वह समुद्घात संसार के नाश का कारण है ऐसा समझना । इस तरह से द्रव्यप्रत्यय विद्यमान होते हुये भी रागादिभावरूप भावात्मव के अभाव में बंध के कारण नहीं होते हैं । यहां गाथा में ‘संतावि णिरुवभोज्जा वावय में पुल्लिङ्ग का कथन है सो सन्ति अपि निरुपभोग्यानि चाहिये या क्योंकि कर्म शब्द नपुंसकलिङ्ग है फिर भी प्राकृतव्याकरण में कहीं-कहीं लिङ्ग व्यभिचार हो जाने से यहां नपुंसकलिङ्ग के स्थान में पुल्लिङ्ग का प्रयोग किया गया है । प्राकृत व्याकरण में कहीं-कहीं तो पुल्लिङ्ग में नपुंसकलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में पुल्लिङ्ग का प्रयोग हो जाता है ऐसा लिङ्ग व्यभिचार हो जाता है, ऐसे ही कारक में भिन्न कारक का भी निर्देश हो जाता है यह कारक व्यभिचार कहलाता है । उपर्युक्त प्रकार के ध्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुई ॥१८० से १८३॥

विशेषार्थ—श्री जयसेनाचार्य ने जगह-जगह बहुत ही सरल शब्दों में कहा है कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे तक अव्रती, श्रावक और मुनि सराग सम्यग्दृष्टि हैं । अव्रती के व्रत हैं ही नहीं, श्रावक के अणुव्रत हैं और मुनि के ही महाव्रत हैं । मुनि भेदरत्नत्रय के धारक हैं आगे निर्विकल्पध्यानी मुनि सातवें गुणस्थान से बारहवें तक हैं यहां तक अभेदरत्नत्रय हैं । इन भेदाभेदरत्नत्रय के बल से घातिया कर्मों का नाश होता है । केवली

तु भगवतां दंडकपाटप्रतरलोकपूरणरूपः केवलिसमुद्धातः संसारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थः । एवं द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्रवाभावे सति बंधकारणं न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥१८०॥१८१॥१८२॥१८३॥

भगवान् के अंत में यदि आयु कर्म अंतर्मुहूर्त रह गया और नाम गोत्र की स्थिति अधिक रही तो स्वभाव से केवली समुद्धात होता है । उससे उन अधातिया कर्मों की भी स्थिति आयु के बराबर हो जाती है अतः द्वादशांग ज्ञान, भक्ति, अनिवृत्ति परिणाम, केवली समुद्धात ये चार संसार के नाश के लिये कारण हैं ऐसा समझना । यहाँ भक्ति से व्यवहार निश्चय सम्पत्त्व को लिया है यह विषय महत्त्वपूर्ण है ।

श्री वादिराजसूरि ने भी कहा है—

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा ।

भक्तिर्नो चेदनवधिसुखा वंचिका कुञ्चिकेयम् ॥

शक्योद्घाटं भवति कथं मुक्तिकामस्य पुंसो ।

मुक्तिद्वारं परिवृढमहामोहमुद्राकवाटम् ॥१३॥

जिनका ज्ञान शुद्ध है, चारित्र भी निर्दोष है फिर भी हे भगवन् ! यदि उनकी आप में उत्कृष्ट भक्ति नहीं है जो भक्ति अनंत सुख को देने वाली है, अवंचक है और मोक्ष के द्वार को खोलने के लिये कुञ्चिका है । यदि ऐसी भक्ति नहीं है और वह मनुष्य मुक्ति का इच्छुक होते हुये भी, जिस पर महामोह का ताला लगा हुआ है ऐसे मोक्ष के द्वार को वह कथमपि खोल नहीं सकता है ।

यहाँ पर भी भक्ति से दृढ़ श्रद्धा—दृढ़ विश्वास नाम वाला सम्यग्दर्शन ही ग्रहण करना चाहिये । यह व्यवहार भक्ति ही निश्चयभक्ति—आत्मा की भक्ति को प्राप्त कराने वाली है ऐसा समझना ।

(१८४ ज०) रागो द्वेषो मोहो य आस्रवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स ।

तस्मा आस्रवभावेण विणा हेतू ण पच्चया होंति ॥१७७अ०॥

(१८५ ज०) हेतू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणितं ।

तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥ (युग्मम्)

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः ।

तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥१७७॥

हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितं ।

तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥१७८॥

उत्थानिका—रागद्वेषादि ही बंध के कारण हैं—

अन्वयार्थ—(रागः द्वेषः च मोहः आस्रवाः सम्यग्दृष्टेः न संति) राग, द्वेष और मोह आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं (तस्मात् आस्रवभावेन विना प्रत्ययाः हेतवः न भवन्ति) इसलिये आस्रव भावों के बिना प्रत्यय कर्मबंध में हेतु नहीं होते हैं (चतुर्विकल्पः हेतुः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितं) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार प्रकार के हेतु ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म के लिये कारण कहे गये हैं (च तेषां अपि रागादयः) और उन चार हेतुओं के लिये भी रागादि भाव कारण हैं (तेषां अभावे न बध्यन्ते) क्योंकि उन रागादि के अभाव में कर्म नहीं बंधते हैं ।

(१८४ ज०) सम्यग्दृष्टी के राग द्वेष अरु मोह भाव भी नहिं होते ।

क्योंकि आस्रव के बिना सभी प्रत्यय भी बंधक नहिं होते ॥

जब तक जीवात्मा में रागद्वेषादि भाव आते रहते ।

तब तक वे जीव सरागी हैं नहिं वीतरागि कहला सकते ॥१७७ अ०॥

(१८५ ज०) मिथ्यात्व तथा अविरति कषाय अरु योग चार ये बन्ध हेतु ।

ये ही ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के होते बन्ध हेतु ॥

क्योंकि ये प्रत्यय रागहेतु रागादि बिना नहिं बंधते हैं ।

देखो कैसा विधि का विधान ये बिना निमित्त नहिं बंधते हैं ॥१७८ अ०॥

आत्मख्यातिः—रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं विभ्रति द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः ॥१७७॥१७८॥

वसंततिलका—अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिन्हमैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।

रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बंधविधुरं समयस्य सारं ॥ १२० ॥

आत्मख्याति—सम्यग्दृष्टि के राग, द्वेष, मोह नहीं हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टिपने का राग, द्वेष, मोह के साथ होना बन ही नहीं सकता । राग, द्वेष, मोह का अभाव हो जाने पर उस सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय पुद्गलकर्म के लिये हेतु नहीं हो सकते हैं क्योंकि ये द्रव्य प्रत्यय-द्रव्य आत्मत्व पुद्गल कर्म के बंध में हेतु तभी होते हैं जबकि रागादि भाव होते हैं । इसलिये हेतु के हेतु का अभाव होने पर हेतुमान् कार्य का अभाव प्रसिद्ध होने से ज्ञानी जीव के बंध नहीं होता ॥१७७॥१७८॥

भावार्थ—द्रव्य प्रत्यय (मिथ्यात्वादि ४ पौद्गलिक द्रव्य प्रत्यय) पुद्गल कर्मबंध के लिये हेतु हैं और रागादिभाव द्रव्य प्रत्यय के लिये हेतु हैं । रागादि भाव से द्रव्य प्रत्यय होते हैं और द्रव्य प्रत्यय नवीन कर्मों का बंध करते हैं । इसलिये पुद्गलकर्मबंध में द्रव्य-प्रत्यय कारण हैं और उनके लिये रागादिभाव कारण हैं इसी हेतु से ये भावात्मक कारण के कारण होने से कारण कारण कहलाते हैं ।

इसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—उद्धत ज्ञान-उन्नत ज्ञानरूप चिन्ह से सहित, शुद्धनय का आश्रय लेकर जो एकाग्र ध्यान में स्थित हो जाते हैं—हमेशा एकाग्रता का अभ्यास करते हैं । वे ही रागादिभावों से रहित चित्त वाले होते हुये बंध से रहित ऐसे समय के सार को देख लेते हैं—शुद्धात्मा का अनुभव कर लेते हैं ॥१२०॥

तोटक छंद (वर्णिक)—नय ज्ञान सुलक्षण युक्त कहें वह शुद्ध स्वरूप सुभक्ष्य गढ़े ।

नित एकपने निज को परखे रति आदि विमुक्त स्वरूप लखें ॥१२०॥

१. हेतुहेतुत्वाभावे, इत्यपि पाठः ।

वसंततिलकाद्यं—प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।

ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्त्रयैः कृतविचित्रविकल्पजालं ॥१२१॥

(उत्थानिका)—अथ यतएव कर्मबंधहेतुभूता रागद्वेषमोहा ज्ञानिनो न सन्ति, ततएव तस्य कर्मबंधो नास्तीति कथयति ।

भावार्थ—जब शुद्धनय के आश्रयभूत, निश्चयरत्नत्रयस्वरूप, निर्विकल्पध्यान में स्थिर हो जाते हैं तभी वे महामुनि रागादि विभाव भावों से रहित होकर बंध से छूट जाते हैं और तभी वे समयसार स्वरूप अपनी शुद्ध आत्मा का अवलोकन कर लेते हैं । यह अवस्था सप्तम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बारहवें तक होती है ।

काव्यार्थ—जो शुद्धनय से च्युत होकर पुनरपि रागादि भाव के संबंध को प्राप्त होते हैं वे ज्ञान से रहित होते हुये इस संसार में पूर्वबद्ध द्रव्यास्त्रयों के द्वारा अनेक प्रकार के विकल्प जाल से किये गये कर्मबंध को करते रहते हैं ॥१२१॥

भावार्थ—जो साधु निर्विकल्प ध्यान में उतर कर पुनः छठे गुणस्थान में आते हैं तभी वे रागादि भाव करके द्रव्यास्त्रयों के उदय में आगे के लिये कर्मबंध करते रहते हैं । वास्तव में यह कर्मबंध दशवें गुणस्थान तक होता है अतः उपशमश्रेणी में ग्यारहवें गुणस्थान से उतरकर आने वालों की बात समझना । अथवा गुणस्थान के योग्य बंध व्युत्पत्ति के होने रूप बंध अभाव और बंध योग्य प्रकृतिरूप कर्मबंध अवस्था छठे-सातवें आदि गुणस्थानों में भी घटित हो जाती है ।

उत्थानिका—अब जिस हेतु से ज्ञानी के कर्मबंध के लिये हेतुभूत ऐसे राग, द्वेष और मोह नहीं हैं उसी हेतु से उसके कर्मबंध नहीं है ऐसा कहते हैं—

तोटक छंद (वर्णिक)—नय शुद्ध विमुक्त विमूढ हुए, वह ही रति आदिक प्राप्त हुए ।

किर द्रव्य सु आस्रव पूर्व सधे, सविकल्प समूहज कर्म बंधे ॥१२१॥

तात्पर्यवृत्तिः—रागो द्वेषो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्ति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । तथाहि, अनंतानुबन्धिक्रोधमान-मायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्त-तत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य—“संवेओ णिव्वेओ णिदा गल्हा य उवसमो भत्ती । वच्छल्लं अणुकंपां गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स ।” इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अथवा, अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्याना-वरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत्, निर्विकारपरमानंदैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्त-तत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि—प्रशमसंवेगानुकम्पा-

तात्पर्यवृत्ति—राग, द्वेष, मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं क्योंकि उनके साथ में सम्यग्दृष्टिपने का होना नहीं हो सकता है । उसे ही कहते हैं—‘अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व के उदय से होने वाले रागद्वेष, मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं’ यहां यह पक्ष है । क्यों ? क्योंकि केवलज्ञान आदि अनंतगुण सहित परमात्मा को उपादेय मानने पर वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गये छहद्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नव पदार्थों की श्रद्धारूप, तीनमूढ़ता आदि पचचीस दोषरहित सम्यक्त्व हैं । उसी प्रकार से संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, चात्सल्य और अनुकंपा, सम्यक्त्व से युक्त के ये आठ गुण होते हैं । इस गाथा में कहे गये लक्षणरूप, चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सराग सम्यक्त्व का अन्य प्रकार से होना ही नहीं सकता है यहां यह हेतु है । अथवा अनंतानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण नाम वाले क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से होने वाले राग द्वेष, मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं यह पक्ष है । क्यों ? क्योंकि निर्विकार परमानंद एक सुखलक्षण वाले परमात्मा को उपादेय मानने पर छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ-की श्रद्धारूप और तीन मूढ़ता आदि पचचीस दोष रहित उसी के अनुसार प्रशम, संवेग, अनुकंपा, देव धर्म आदि के विषय में आस्तिक्य भावनाओं की प्रकटता लक्षणवाले पंचम गुणस्थान के योग्य देशचारित्र्य के साथ अधिनाभायी जो सराग सम्यक्त्व

देवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पञ्चगुणस्थानयोग्यदेशचारित्र्याविनाभाविसराग-
सम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अथवा अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमान-
मायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः । कस्मादिति चेत्, चिदानन्दक-
स्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादि-
पञ्चविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकंपादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य
षष्ठगुणस्थानरूपसरागचारित्र्याविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अथवा
अनंतानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिताः प्रमादो-
त्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत्—शुद्धबुद्धकस्वभाव-
परमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसंजातसहजानन्दकस्वलक्षणसुखानुभूति-

है उसका अन्य प्रकार से होना संभव नहीं है, यहां यह हेतु है । अथवा अनंतानुबन्धी,
अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, इनके उदय से होने
वाले राग, द्वेष, मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं, यह पक्ष है । क्यों ? क्योंकि चिदानन्द एक
स्वभाव वाली जो शुद्धात्मा है, उसको उपादेय मानने पर छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, सात
तत्त्व, नव पदार्थ की श्रद्धारूप तथा तीनमूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित, उसी के
अनुसार प्रशम, संवेग, अनुकंपा और देव धर्म आदि के विषय में आस्तिक्य भावना, इनकी
अभिव्यक्ति लक्षण वाला, छठे गुणस्थानरूप सरागचारित्र के साथ अविनाभावी जो सराग
सम्यक्त्व है उसका अन्य प्रकार से होना संभव नहीं हो सकता है । अथवा अनंतानुबन्धी,
अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कषाय संबंधी क्रोध, मान, माया,
लोभ के तीव्र उदय से उत्पन्न हुये तथा प्रमाद को उत्पन्न करने वाले जो राग, द्वेष, मोह हैं
वे सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं, यह पक्ष है । क्यों ? क्योंकि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले
परमात्मा को उपादेय मानने पर उस-उस गुणस्थान के योग्य अपनी शुद्धात्मा की
समाधिरूप ध्यान से उत्पन्न, सहजानन्द एक स्वलक्षणरूप सुख की अनुभूतिमात्रस्वरूप जो
अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि गुणस्थान हैं उन गुणस्थान में होने वाले वीतरागचारित्र के
बिना न होने वाले ऐसे वीतरागसम्यक्त्व का अन्य प्रकार से होना संभव नहीं है, यह हेतु
है । उसी प्रकार से कहा भी है—आदि के अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ सम्यक्त्व

मात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । तथा चोक्तं—‘आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया धनन्त्यणुव्रतं । तृतीयाः संयमं तुय्या यथाख्यातं क्रुधादयः ॥’ इति भाषापूर्वाद्धिं व्याख्यानं गतं । तस्या आसन्नभावेण विना हेतुं न पञ्चया होति—यस्माद्गाथायाः पूर्वाद्धिकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न संति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावाश्रवेण विना अस्तित्वमात्रेण, उदयमात्रेण वा द्रव्यप्रत्ययाः सम्यग्दृष्टेर्बन्धहेतवो न भवन्तीति । हेतुं चतुर्विधो अदृष्टवियप्पस्स कारणं होदि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपचतुर्विधो हेतुः ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मणः कारणं

और चारित्र के घातक हैं । द्वितीय—अप्रत्याख्यानानावरण क्रोधादि अणुव्रतों के घातक हैं । तृतीय—प्रत्याख्यानानावरण क्रोधादि संयम का घात करते हैं एवं चौथी-संज्वलन क्रोधादि कषायें यथाख्यात चारित्र का घात करती हैं ।

यहाँ तक भाषा के पूर्वाद्धि का व्याख्यान हुआ । अब आगे—‘इसलिये आसन्नभाव के बिना प्रत्यय हेतु नहीं होते हैं, इसका अर्थ खोल रहे हैं—कि जिस कारण से गाथा के पूर्वाद्धि में कहे गये क्रम से राग, द्वेष, मोह नहीं हैं, उसी कारण से रागादिरूप भावाश्रव के बिना अस्तित्वमात्र से—सत्ता में रहने मात्र से या उदयमात्र से द्रव्यप्रत्यय—मिथ्यात्व आदि प्रत्यय सम्यग्दृष्टि के लिये बंध के हेतु नहीं होते हैं । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप चार प्रकार के जो हेतु हैं वे ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के वृत्तन कर्मबंध के कारण होते हैं और उन उदय में आये हुये मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्ययों के लिये भी जीव में होने वाले रागादि भावप्रत्यय कारण होते हैं क्योंकि यदि उस जीव में होने वाले रागादि भाव प्रत्ययों—आसन्नों का अभाव है और द्रव्यप्रत्ययों का उदय आ रहा है, ऐसी स्थिति में भी वीतराग परमसामायिक भावना से परिणत, अभेदरत्नत्रय—लक्षण भेदज्ञान के सद्भाव में जीव कर्मों से नहीं बँधते हैं जिस कारण से ऐसी बात है । इसीलिये यह निश्चित हुआ कि नवीन-नवीन द्रव्यकर्मों के आसन्न के लिये उदय में आये हुये द्रव्यप्रत्यय कारण हैं और उनके लिये भी—द्रव्यप्रत्ययों के लिए भी जीव में होने वाले

भवति । तेषां पि य रागादी तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययानां उदयागतानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणं भवन्ति । कस्मात् ? इति तेसिम्भावे ण बज्जन्ति तेषां जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतरागपरमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यन्ते यतः कारणादिति । ततः स्थितं नवतरद्रव्यकर्मस्त्रिवस्थोदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणं, तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणकारणव्याख्यानं ज्ञातव्यं ॥१८४॥१८५॥

रागादि भाव प्रत्यय—आत्मव कारण हैं । इस प्रकार से यहाँ कारण के कारण का व्याख्यान जानना चाहिये ॥१८४ से १८५॥

भावार्थ—गाथा में श्री कुंदकुंददेव ने तो संक्षिप्त शब्दों में कह दिया है कि सम्यग्दृष्टि के रागादि भाव आत्मव नहीं हैं अतः द्रव्य मिथ्यात्व आदि आत्मव—द्रव्यप्रत्यय कर्मबंध के कारण नहीं हैं । ये चार प्रत्यय अष्टविधकर्म के लिये कारण हैं और उन चार हेतुओं के लिये जीव के रागादिभाव कारण हैं अतः रागादि के अभाव में कर्म नहीं बँधते । यहाँ श्री जयसेनाचार्य ने गुणस्थान की अपेक्षा से खुलासा किया है और यह सिद्ध किया है कि चतुर्थ, पंचम तथा छठे गुणस्थानों में सरागसम्यक्त्व है आगे सातवें से लेकर बारहवें तक वीतराग सम्यग्दर्शन है । इस टीका के अभिप्राय को यदि समयसार के स्वाध्यायी प्रारम्भ से ही हृदयंगम कर लें तो हम किस गुणस्थान में हैं ? और हमें किन-किन प्रकृतियों का बंध होता है किन-किन का नहीं ? यह व्यवस्था समझ लेने पर हम आज सराग सम्यग्दृष्टि हैं, हमें अपने गुणस्थान के योग्य हो चर्चा करनी चाहिये, चर्चा भले ही सिद्धों की करते रहें ऐसा निर्णय करके प्रवृत्ति करना चाहिये । यहाँ अनंतानुबंधी कषाय को सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनों को घातक माना है सो चारित्र्य प्राभूत में कथित सम्यक्त्व चरण चारित्र्य ही लेना चाहिये न कि स्वरूपाचरण चारित्र्य । यही अर्थ यहाँ संगत है ।

(१८६ ज०) जह पुरिसेण।हारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मांसवसारुधिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७६अ०॥

(१८७ ज०) तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
वज्जन्ते कम्मं ते नयपरिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥ (युगलम्)

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं ।

मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥१७६॥

तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं ।

वज्जन्ति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥१८०॥

उत्थानिका—आगे दृष्टांत देकर समझाते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा पुरुषेण गृहीतः आहारः स उदराग्नि संयुक्तः मांसवसारुधिरादीन् भावान् अनेकविधं परिणमति) जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया भोजन वह उदराग्नि में पहुँचकर मांस, वसा, रुधिर आदि भावों रूप अनेक विध से परिणमन कर जाता है । (तथा ज्ञानिनः तु ये पूर्वं बद्धाः प्रत्ययाः ते बहुविकल्पं कर्म वज्जन्ति) वैसे ही ज्ञानी के जो पूर्व में बंधे हुये प्रत्यय हैं वे बहुत प्रकार के कर्म बाँधते हैं (ते जीवाः तु नयपरिहीनाः) क्योंकि वे जीव तो नय से-शुद्धनय से हीन होते हैं ।

(१८६ ज०) जैसे कोई नर भोजन को सर्वांश ग्रहण जब करता है ।

जठराग्नी का संयोग पाकर वह नानाविध परिणमता है ॥

वह भोजन मांस रुधिर वसादि रस रूप स्वयं बन जाता है ।

जिसके द्वारा पुरुषार्थशील नर को पहचाना जाता है ॥१७६ अ०॥

(१८७ ज०) वैसे ही ज्ञानी संसारी ने पूर्वकर्म जो बाँधे हैं ।

मिथ्यात्व आदि प्रत्यय अनेक जीवात्मा के संग आते हैं ॥

वे जीव शुद्ध नय से विरहित नूतनकर्मों से बंधते हैं ।

इसलिए उन्हें सर्वशदेव अज्ञानी प्राणी कहते हैं ॥१८० अ०॥

आत्मख्यातिः—यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुसद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावेः पुद्गलकर्मबंधं परिणामयति । न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावेः परिणामकरणस्य दर्शनात् ॥ १७६।१८० ॥

अनुष्टुप्—इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि ।

नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्यागाद्बंध एव हि ॥ १२२ ॥

आत्मख्याति—जब ज्ञानी आत्मा शुद्धनय से हीन-रहित होता है तभी उसके रागादिभावों के सद्भाव से पूर्व में बंधे हुये द्रव्य प्रत्यय अपने कारणपने के कारण के सद्भाव में कार्य भाव का निवारण नहीं कर कर पाते हैं अतः उस कार्य के होने से—रागादिभावों के होने से वे द्रव्यप्रत्यय ज्ञानावरण आदि भावों के द्वारा पुद्गलकर्म को बंधरूप से परिणामन करा देते हैं । यह बात अप्रसिद्ध भी नहीं है, पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया भोजन उदराग्नि के द्वारा रस, रुधिर, मांस आदि भावों से परिणामन कर जाता है ऐसा लोक में देखा जाता है ॥१७६।१८०॥

इसी को कलश काव्य में कहते हैं—

काव्यार्थ—यहाँ पूर्वोक्त कथन का यही तात्पर्य है कि शुद्ध नय छोड़ने योग्य नहीं है क्योंकि उस शुद्धनय के ग्रहण करने से बंध नहीं होता है और उसे छोड़ देने से कर्मबंध ही है ॥१२२॥

इसे ही दृढ़ करते हुये कहते हैं—

तोटक छंद (वर्णिक)—यह शुद्ध सही नय हेय नहीं, इसको न तजे फिर बंध नहीं ।

नय शुद्ध तजे जब बंध सभी, नहि भोक्षपुरी फिर जात कभी ॥१२२॥

१. रागादिसद्भावे ।

सादृलविक्रीडितछंद—धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृति,
 त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वकषः कर्मणा ।
 तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य^१ निर्यद्बहिः,
 पूर्णं ज्ञानधनौघमेकमचलं पश्यन्ति शांतं महः ॥ १२३ ॥

मंदाक्रांताछंद—रागादीनां जगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां,
 नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽतः ।
 स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा^२
 नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२४ ॥

काव्यार्थ—पुण्यवान् महापुरुषों को शुद्धनय कभी भी छोड़ने योग्य नहीं है । यह शुद्धनय धीर और उदार महिमा वाले, अनादिनिधन ज्ञान में स्थिरता को कराता हुआ कर्मों को समूलरूप से नष्ट करने वाला है । उस शुद्धनय में स्थित हुये महामुनि बाहर में निकलती हुई अपनी ज्ञानकिरणों के समूह को अल्पकाल में ही समेटकर पूर्ण ज्ञानधन के पुंजरूप एक, अचल, शांत, तेजपुंज को देख लेते हैं ॥ १२३ ॥

काव्यार्थ—रागादि भाव आस्रवों के सब प्रकार से शीघ्र ही दूर हो जाने से नित्य ही उद्योतरूप कोई एक परम वस्तु को अंतरंग में देखने वाले पुरुष का ज्ञान प्रकट हो जाता है । यह ज्ञान अतिविस्ताररूप से फैलता हुआ अपने निजरस के प्रवाह से सब लोकपर्यंत सर्व भावों को अंतर्मग्न करके व्याप्त कर रहा है, सदा अचल है—ज्यों का त्यों बना रहता है और इसकी तुलना में कोई दूसरा अन्य कुछ भी नहीं है ॥ १२४ ॥

मुक्तक छंद (मात्रिक)—जो धीर उदार अनादि निधन, उत्कृष्ट ज्ञान में शांत हुआ ।

सब कर्मों को निर्मूलन कर, वह भव्य शुद्धनय धार लिया ।

उसमें संस्थित निज किरणों को, जट बाह्य दृष्टि से मोड़ लिया ।

तब पूर्ण ज्ञान धन एक अचल, निज शांत तेज को देख लिया ॥ १२३ ॥

मुक्तक छंद (मात्रिक)—सर्व रूप रागादिक आस्रव का, जब ही शीघ्र विनाश हुआ ।

नित भासमान एक परम तत्त्व, को अंतरंग में देख लिया ।

जब नंतानंत स्वरस समूह से, त्रैकालिक सब भाव सखा ।

ऐसे ज्ञानी के अचल अवुल तब, परम ज्ञान निज सूर्य दिखा ॥ १२४ ॥

१. आत्मशुद्ध्यानुभवः । २. ज्ञानविशेषव्यक्तिसमूहः । ३. बहिरनात्मपदार्थं निर्यद् ब्राम्भत् ।

४. अनंतानंतेः । ५. स्वरसस्य चिद्रूपतायाः विसरैः प्रसरैः । ६. सर्वभावानतीतानागतवर्तमानान् पदार्थान् प्लावयन्नात्मनि प्रतिबिम्बितान् कुर्वन् ।

इति आस्रवो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्याती

आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः ॥४॥

भावार्थ—रागादि भावों के दूर हो जाने पर यह भेदविज्ञान ही निर्विकल्प शुक्ल-ध्यान के प्रभाव से केवलज्ञान बन जाता है । यह ज्ञान उन्हीं महापुत्रि के प्रकट होता है कि जो जिनकल्पी महासाधु होकर उत्तम संहनन आदि सामग्री की पूर्णता से शुक्लध्यान को ध्याते हैं । पुनः इस केवलज्ञान के प्रभाव से वे महापुरुष सर्व लोक-अलोक को एक साथ जान लेते हैं । अन्नती या देशन्नती रागादि आस्रवों को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं अन्यथा वस्त्रधारी की मुक्ति मान लेने से दिगंबरस्वरूप जिनमुद्रा को धारण करना व्यर्थ हो जावेगा अतः इन भावास्रवों का अभाव जिस सम्यग्दृष्टि के होता है वे बीतरागसम्यग्दृष्टि ही हैं ऐसा समझना ।

इस प्रकार आस्रव रंगभूमि में अपना स्वांग लेकर आया था सो वह ज्ञान के प्रभाव से तिरस्कृत होकर रंगभूमि से निकल गया ।

इस प्रकार श्रीअमृतचंद्रसूरि विरचित आत्मख्याति नाम की टीकारूप इस समयसार की व्याख्या में आस्रव को प्ररूपित करने वाला यह चौथा अंक पूर्ण हुआ ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभूत

ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति के रहस्य

को प्रकाशित करने वाली आर्यिका ज्ञानमतीकृत

इस "ज्ञानज्योति" भाषा टीका में

यह आस्रव को प्ररूपित करने

वाला चौथा अधिकार

पूर्ण हुआ ।

(उत्थानिका)—अथ यदुक्तं पूर्वं रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमचैतन्यचमत्कार-
लक्षणनिजपरमात्मपदार्थभावनारहितानां बहिर्मुखजीवानां पूर्वबद्धप्रत्ययाः नवतरकर्म बध्नन्ति
तमेवार्थं दृष्टान्ताभ्यां दृढयति;

तात्पर्यवृत्तिः—जह पुरिसेणहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं यथा पुरुषेण
गृहीताहारः स परिणमति अनेकविधं बहुप्रकारं । किं ? मांसवसासृधिरादी भावे उदराग्निसंयुक्तो
मांसवसासृधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति । कथंभूतः सन् ? उदराग्निसंयुक्तः
इति दृष्टान्तो भवति । तह णाणिस्स दु पुट्ठं जे बद्धा पच्चया बहुविधप्यंज्जन्ते कम्मं ते—तथैव
च पूर्वोक्तोदराग्निसंयुक्ताहारदृष्टान्तेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य, न च विवेकिनः । पूर्व
ये बद्धाः, मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः जीवगतरागादिपरिणाममुदराग्निस्थानीयं लब्ध्वा ते बहु-

उत्थानिका—जो पहले कहा है कि रागादि विकल्परूप उपाधि से रहित, परम
चैतन्यचमत्कारलक्षण निज परमात्मास्वरूप पदार्थ की भावना से रहित जो बहिर्मुख जीव
हैं उनके पूर्व में बँधे हुये प्रत्यय नवीनतर कर्म का बंध करते हैं अब इसी अर्थ को आचार्य-
देव दृष्टान्त और दाष्टान्त के द्वारा दृढ़ कर रहे हैं—

तात्पर्यवृत्ति —जैसे पुरुष के द्वारा ग्रहण किया गया जो भोजन है वह उदराग्नि
से संयुक्त होकर मांस, वसा, सृधिर आदि पर्यायरूप से अनेक प्रकार से परिणमन कर जाता
है, यह दृष्टान्त हुआ । इसी प्रकार से पूर्वोक्त उदराग्नि से संयुक्त भोजन के दृष्टान्त के
समान जो चैतन्य लक्षण वाले जीव अज्ञानी हैं, विवेकी नहीं हैं, उन अज्ञानी जीव के जो
पूर्व में बँधे हुये मिथ्यात्व आदि द्रव्य प्रत्यय हैं वे उदराग्नि के स्थानीय—समान, जीव में
होने वाले रागादि परिणाम को प्राप्त करके बहुतभेदरूप कर्म का बंध करते हैं । यहाँ
जिन जीवों से सम्बन्धित ये प्रत्यय कर्म बाँधते हैं वे जीव कैसे हैं ? वे जीव परमसमाधि
लक्षण भेदज्ञानरूप शुद्धनय से अछूट हैं—च्युत हैं—रहित हैं । अथवा यहाँ दूसरा ध्याख्यान
यह है कि वे प्रत्यय—मिथ्यात्व आदि द्रव्यप्रत्यय अशुद्धनय की अपेक्षा से जीव से परिहीन—
भिन्न नहीं हैं । यहाँ ऐसा तात्पर्य समझना कि निजशुद्धात्मा को ध्येयरूप करके जो संपूर्ण
कर्मों को निर्मूलन करने में समर्थ शुद्धनय है वह विवेकी जनों द्वारा त्याग करने योग्य
नहीं है ।

विकल्पं कर्म बध्नन्ति । नयपरिहीणा दु ते जीवा येषां जीवानां संबन्धिनः प्रत्ययाः कर्म बध्नन्ति ते जीवाः । कथं भूताः ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद् भ्रष्टाः च्युताः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं, ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति । एवं कार्यकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥१८६॥१८७॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ सप्तदशगाथाभिः पञ्चस्थलैः संवरविपक्षद्वारेण पञ्चमः आत्मवाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

इस प्रकार कार्यकारण के व्याख्यान की मुख्यता से चार गाथायें पूर्ण हुई ।

॥१८६-१८७॥

इस प्रकार श्रीजयसेनाचार्यकृत समयसार की व्याख्या में शुद्धात्मानुभूतिलक्षण तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका में सत्रह गाथाओं द्वारा पाँच स्थलों में संवर के विपक्ष द्वारा यह पाँचवाँ आत्मव अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने 'जीवाजीवाधिकार' एक मानने से यहाँ इसे चौथा अधिकार कहा है और श्रीजयसेनाचार्य ने 'जीवाधिकार' और 'अजीवाधिकार' को अलग-अलग करके इसे पाँचवाँ अधिकार कहा है ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंडकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभूत

ग्रंथ में श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका

एवं श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के

रहस्य को प्रकाशित करने वाली आर्यिका

ज्ञानमतीकृत इस "ज्ञानज्योति"

नामा भाषा टीका में आत्मव

नामक यह चौथा

अधिकार पूर्ण

हुआ ।



आस्रव अधिकार का सार

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार ही प्रत्यय कर्म आस्रव के लिये कारण हैं ऐसा प्रथम ही कह दिया है। ऐसे यह जीव के परिणाम ही ज्ञानावरण आदि कर्मों के लिये कारण हैं और उन मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के लिये जीव के रागादि भाव ही कारण हैं। आगे गाथाओं में कहा है कि—सम्यग्दृष्टि के आस्रव नहीं हैं। इसे ही श्रीजयसेनाचार्य ने गाथा १७३ ज० की टीका में कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के सतत्तर प्रकृतियाँ बँधती हैं, मात्र तैत्तलिस प्रकृतियाँ बंध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं, वे नहीं बँधती हैं। इसके आगे भी सरागसम्पक्त्व पर्यंत गुणस्थानों की अपेक्षा बंध और बंधव्युच्छिन्ति की अपेक्षा बंध और अबंध लगा लेना चाहिये। क्योंकि—“वीतरागसम्पक्त्वे जाते साक्षादबंधको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं।” वीतराग सम्यग्दर्शन के हो जाने पर यह साक्षात् अबंधक हो जाता है, ऐसा समझकर ‘हम सम्यग्दृष्टि हैं’ हमें सर्वथा बंध नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिये। यह अवस्था ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही घटती है।

गाथा १७१ अ०, १७८ ज० अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है—

जहमा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।

अणत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

जिस कारण ज्ञानगुण फिर भी जघन्य ज्ञानगुण से अन्यरूप से परिणमन करता है। इसी कारण वह ज्ञानगुण कर्मबंध करने वाला कहा गया है। इसकी आत्मव्याप्ति टीका में श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने कहा है कि—“यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यं भाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात्।” यथाख्यातचारित्र के पहले-पहले राग का सद्भाव अवश्य ही है अतः तब तक यह ज्ञानगुण बंध का हेतु होता है।

यह यथाख्यातचारित्र ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में ही होता है अतः उसके पहले दशवें गुणस्थान तक बंध अवश्यंभावी है ऐसा श्रीअमृतचन्द्रसूरि के शब्दों से ही

स्पष्ट है। पुनः जो अमृतचन्द्रसूरि की टीका से चौथे गुणस्थान में अबंध अवस्था-शुद्धावस्था आदि घटाने का प्रयास करते हैं उनके लिये यह टीका की पंक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि समयसार स्वाध्याय के प्रारंभ में ही ऐसी पंक्तियाँ हृदयंगम कर ली जावें तो विसंवाद की गुंजाइश ही नहीं रहे।

आगे भी गाथा १७२ अ०, १७६ ज० में कहा है कि 'जब तक ये दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य जघन्य भाव से—सरागरूप से परिणमन करते हैं तब तक यह ज्ञानी आत्मा भी कर्मों से बँधता रहता है।'

यहाँ यह बात भी विशेष ज्ञातव्य है कि मूल में—गाथा में श्रीकुंदकुंददेव ने मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार आस्रव के लिये प्रत्यय माने हैं—ये ही बंध के लिये भी कारण हैं। श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने भी चार ही लिये हैं किन्तु जयसेनाचार्य ने पाँच लिये हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग यह तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा से कथन है। वहाँ चार प्रत्यय में प्रमाद को अलग नहीं लिया है अतः उसे कषाय में अंतर्भूत हुआ समझना चाहिये।

इसमें जो राग, द्वेष, मोह को भावास्रव कहा है उसमें मोह से दर्शनमोहनीय कर्म विवक्षित है और राग-द्वेष से चारित्र्य मोह की पञ्चवीसों प्रकृतियाँ आ जाती हैं। जैसे कि अनंतानुबंधी आदि चारों जाति के क्रोध, मान, भाया और लोभ ऐसे चार-चार भेद हैं। इनमें से क्रोध-मान द्वेष के अंतर्गत हैं और भाया तथा लोभ राग के अंतर्गत हैं। ऐसे ही हास्य, रति, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ये पाँच नोकषाय प्रकृतियाँ राग के अंतर्गत हैं तथा अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये द्वेष में सम्मिलित हैं। ये सभी जीव के परिणाम रूप होने से ही भावास्रव कहलाती हैं।

इस आस्रव अधिकार को पढ़कर मोहरूप मिथ्यात्व से तो सर्वथा दूर होना चाहिये और अनंतानुबंधी तो मिथ्यात्व की सहचारिणी होने से उसी के साथ दूर हो जाती है। इसके बाद अप्रत्याश्यानावरण आदि कषायों से अपने को बचाते हुये अपने-अपने गुणस्थान के योग्य भी कषायों को मंद करते हुये आत्मा के स्वरूप का सतत चिंतन करते रहना चाहिये।

प्रश्न—श्री जयसेनाचार्य की टीका में एक श्लोक आया है—

आद्याः सम्यक्त्वचारित्र्ये द्वितीया घनन्तणुव्रतं ।

तृतीयाः संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः ॥

आदि की अनंतानुबंधी क्रोधादि कषायें सम्यक्त्व और चारित्र्य का घात करती हैं, अप्रत्याख्यावरण क्रोधादि अणुव्रतों का घात करती हैं, प्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायें संयम का घात करती हैं और चौथी संज्वलन क्रोधादि कषायें यथाख्यात चारित्र्य का घात करती हैं ? अब इसमें अनंतानुबंधी कषायें कौन से चारित्र्य का घात करती हैं ? क्या उस चारित्र्य को स्वरूपाचरण कहा जा सकता है ?

उत्तर—चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र्य न होने से ही उसे अव्रती या अचारित्रवान् अथवा असंयमी कहा है । अतः यहाँ चारित्र्य का घात जो लिया है उससे ऐसा समझ में आता है कि श्री कुंदकुंददेव ने चारित्र्यपाहुड़ में सम्यक्त्वाचरण चारित्र्य माना है उसका ही घात मानना संगत प्रतीत होता है । जैसे कहा भी है—

जिणणाणदिट्ठसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ।

विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाइं ।

परिहरिसम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

णिरसंकिय णिक्कंखिय णिच्चिदिगिच्छा अमूढविट्ठीय ।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छत्तपहावणा य ते अट्ठ ॥७॥

तं चेव गुणविमुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खिठाणाय ।

तं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित दो प्रकार के चारित्र्य में पहला सम्यक्त्वाचरण चारित्र्य है जो कि ज्ञान दर्शन से शुद्ध है । दूसरा भी जिनदेश के ज्ञान से उपदेशित संयमचरण चारित्र्य है । वह पहला चारित्र्य मिथ्यात्व के शंकावि दोषों को त्रिमूढ़ता आदि सम्यक्त्व के मलों को मन, वचन, काय से छोड़ने से ही होता है । निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ गुण या

अंग हैं। यही जिन भगवान् का श्रद्धान जब निःशंकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है तब प्रथम सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है। यह मोक्ष की प्राप्ति का साधन है।

यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र चतुर्थगुण स्थान में सम्यग्दर्शन के गुणस्वरूप ही है। इससे अतिरिक्त स्वरूपाचरण चारित्र तो स्वरूप में—आत्मा में आचरण—स्थिरता रूप है। जैसा कि कहा है—“स्वरूपे चरणं चारित्रं, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः शुद्धचेतन्यप्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यं। साम्यं तु दर्शनचारित्र-मोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।”

“स्वरूप में चरण करना सो (स्वरूपाचरण) चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना यह इसका अर्थ है। वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है, शुद्ध चेतन्य का प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मा का गुण होने से साम्य है और साम्य भाव सम्पूर्ण दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ—राग-द्वेष के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है।” इन पंक्तियों से यह स्वरूपाचरण चारित्र बारहवें गुणस्थान में ही घटता है। हाँ कथंचित् बुद्धि-पूर्वक रागद्वेषादि का अभाव होने से सातवें गुणस्थान से भी माना जा सकता है। जैसा कि पं० बालतराम ने छहडाला में भी कहा है—

‘यों है सकल संजम चरित सुनिये स्वरूपाचरण अब।’

जिस होत प्रगटे आपनी निधि मिटे पर की प्रवृत्ति सब ॥

इसलिये यह निश्चित है कि असंयत सम्यग्दृष्टि के आगम की मान्यता से स्वरूपाचरण चारित्र न होकर सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है। अतः पंच अणुव्रत आदि न होने से उसे अव्रती कहने में भी बाधा नहीं आती है।

इस तरह आश्रव अधिकार में कर्मों के आने के आगमन को बतलाया गया है।

इन आसनों को रोकने का उपाय सोचना ही आवश्यक है अतः उसे ही आगे के अधिकार में कहेंगे ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदाकुंदाचार्य विरचित समयसारप्राप्त ग्रंथ में
 श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मव्याप्तिटीका एवं श्रीजयसेना-
 चार्यकृत तात्पर्यवृत्तिटीका के रहस्य को प्रकाशित
 करने वाली आर्यिका ज्ञानमती कृत इस
 ज्ञानज्योति नामा भाषा टीका में
 यह आसनाधिकार नामक
 चौथा अधिकार पूर्ण
 हुआ ।



॥ अथ संवराधिकारः ॥५॥

卐

अथ प्रविशति संवरः ।

शार्दूलविक्रीडितछंद—आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रव-

न्यवकारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरं ।

व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुर-

ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अब रंगभूमि में संवर प्रवेश करता है ।

प्रथम ही टीकाकर मंगल के लिये सब स्थांगों को जानने वाले ऐसे चिन्मय ज्योति का मंगल करते हैं—

काव्यार्थ—अनादि काल से जो आस्रव का विरोधी है ऐसे संवर को जीतकर यह आस्रव मद से गर्वित हुआ था, उस आस्रव का तिरस्कार करके उस पर जिसने सदा के लिये विजय प्राप्त की है, ऐसे संवर को संपादित करता हुआ, समस्त पररूप से भिन्न और अपने स्वरूप में निश्चल यह चिन्मय ज्योति सम्यक् प्रकार से अपने स्वरूप में स्फुरायमान होती हुई अपने रस की अतिशयता से वृद्धिगत हुई प्रगट हो रही है । १२५ ।

छप्पय छंद (मात्रिक)—तंत काल से निज विरोधि संवर जीते हैं,

पञ्च सहित आस्रव तज उस पर विजय करे हैं ।

ऐसे संवर धरे भिन्न पर द्रव्यों से हैं,

निज में स्थिर अतिशय शोभित स्वच्छ दिखे हैं ।

निज स्वरस भार से पूर्ण जो, ऐसी आत्म ज्योति जगे ।

शिव विभूति को प्राप्त करके सदा 'अभय' गुण को भजे ॥१२५॥

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनन्दति—

(१८८ ज०) उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।

कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८९ अ०॥

(१८९ ज०) अट्ठवियप्पे कम्मं णोकम्मं चावि णत्थि उवओगो ।

उवओगहिम य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१९० अ०॥

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोप्युपयोगः ।

क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥१८९॥

अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।

उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१९०॥

उत्थानिका—उसमें प्रथम ही संपूर्ण कर्मों के रोकने का परम उपाय जो भेदविज्ञान है उसकी प्रशंसा करते हैं—

अन्वयार्थ—(उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु कोऽपि उपयोगः नास्ति) उपयोग में उपयोग है क्रोधादि भावों में कोई भी उपयोग नहीं है (क्रोधे च एव हि क्रोधः उपयोगे खलु क्रोधः नास्ति) और क्रोध में ही क्रोध है उपयोग में कोई क्रोध नहीं है । (अष्ट विकल्पे कर्मणि च अपि नोकर्मणि उपयोगः नास्ति) आठ प्रकार के कर्म में और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है (च उपयोगे अपि कर्म च नोकर्म नो अस्ति) और उपयोग में भी कर्म तथा नोकर्म नहीं है । (यदा तु जीवस्य एतत् अविपरीतं तु ज्ञानं भवति) जब जीव का यह

(१८८ ज०) उपयोग में ही उपयोग कहा क्रोधादि में नहि उपयोग कहा ।

क्रोधादि में ही क्रोधादि रहें उपयोग में नहि क्रोधादि कहा ॥

यद्यपि व्यवहार नयाश्रय से उपयोग में ही क्रोधादि रहें ।

लेकिन निश्चयनय कहता है दोनों ही भिन्न स्वरूप लहें ॥१८९ अ०॥

(१८९ ज०) नहि कर्म और नोकर्मों में भी होता है उपयोग कभी ।

उपयोग में भी नहि होते हैं वे कर्म और नोकर्म कभी ॥

यह शुद्धात्मा की कथनी है उसमें न कर्म न नोकर्म रहें ।

लेकिन संसारी आत्मा का उपयोग कर्म के संग रहे ॥१९० अ०॥

(१६० ज०) एयं तु अविवरीवं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।

तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३ अ०॥

(त्रिकलम्)

एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।

तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१८३॥

आत्मख्यातिः—न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेस्तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठित्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते । तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं । जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात् । क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादी स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः, न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नो कर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नो कर्म वा संति परस्परमत्यंतं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात् । न च यदा ज्ञानस्य प्रत्येकस्वरूपं तदा क्रुध्यत्ता विद्यते, क्रोधादीनां

ज्ञान विपरीतता रहित हो जाता है (तदा उपयोगशुद्धात्मा किंचित् भावं न करोति) तब यह उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा कुछ भी भाव नहीं करता है ।

आत्मख्याति—नियम से एक द्रव्य का दूसरा कोई कुछ भी नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य के प्रदेश भिन्न होने से एक सत्ता नहीं हो सकती है । और दोनों द्रव्य की सत्ता के न होने से जीव के साथ पुद्गल का आधार-आधेय संबंध भी नहीं है इसलिये प्रत्येक द्रव्य का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने रूप ही आधार-आधेय संबंध ही ठहरता है । इस हेतु से ज्ञान अपने जाननेरूप क्रिया के स्वरूप में प्रतिष्ठित है । वह जाननेरूप क्रिया ज्ञान से अभिन्न होने से ज्ञान में ही होती है । क्रोधादि कषायों क्रोधादिपता जो अपना स्वरूप है उसी में प्रतिष्ठित हैं क्योंकि क्रोधादिरूप क्रियायें अपने क्रोधादि से अभिन्न होने से क्रोधादि कषायों में ही रहती हैं । पुनः क्रोधादि कषायों में या कर्म अथवा नो कर्म में ज्ञान नहीं है

(१६० ज०) ऐसा सत्यार्थ ज्ञान जब जिस भव्यात्मा में हो जाता है ।

तब वह परभावों को भी नहि करता निज में खो जाता है ॥

ऐसी शुद्धात्म अवस्था मुनि को क्षपक श्रेणि में लाती है ।

इससे विपरीत धारणा प्राणी को भव भ्रमण कराती है ॥१८३ अ०॥

च यथा क्रुध्यतादिस्वरूपं तथा जानतापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानतायाः क्रुध्यता-
देशचस्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वं ।
किं च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोप-
निरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं
विभाव्यतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो
विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं
ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभाव्यतो नापराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने
एव । क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानं ।

और ज्ञान में क्रोधादि कथार्ये, कर्म अथवा नोकर्म नहीं हैं क्योंकि ये परस्पर में अपने-अपने
स्वरूप से अत्यंत विपरीत हैं अतः परमार्थ से इनमें आधार-आधेय संबंध नहीं है । जैसे
ज्ञान का जानना यह स्वरूप है वैसे ही क्रोध करना आदि भी स्वरूप नहीं है और जैसे
क्रोधादि का क्रोध क्रियारूप स्वरूप है वैसे जानने की क्रियारूप भी स्वरूप किसी भी
प्रकार से व्यवस्थापित करना शक्य नहीं है क्योंकि जाननेरूप क्रिया और क्रोध करनेरूप
क्रिया इन दोनों में स्वभाव भेद उद्भासित—प्रकट ही हो रहा है अतः दोनों में स्वभाव
भेद होने से वस्तुभेद ही है अतः ज्ञान और अज्ञान इन दोनों में आधार-आधेय भाव नहीं
है । इसे ही दृष्टांत से दिखलाते हैं—जब आकाश द्रव्य एक ही है उसको अपनी बुद्धि में
स्थापित करके आधार-आधेय भाव कल्पित किया जाता है तभी आकाश के सिवाय—
शेष अन्य द्रव्यों के आधार-आधेय भाव का निरोध होने से ही बुद्धि में भिन्न-भिन्न
आधार की अपेक्षा नहीं रहती है और जब भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रही तब बुद्धि में
यही निश्चित हुआ कि आकाश द्रव्य एक ही है वह एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है उस
आकाश का आधार अन्य द्रव्य नहीं है वह आप अपने ही आधार है । ऐसा समझने पर
अन्य का अन्य में आधार-आधेय भाव प्रतिभासित नहीं होता है ।

इसी प्रकार से जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में आरोपित करके उसी में
आधार-आधेय भाव माना जाता है तब ज्ञान से अतिरिक्त अन्य शेष द्रव्यों के आरोप का
निरोध—निराकरण हो जाने से ही बुद्धि में भिन्न-भिन्न आधार की अपेक्षा उत्पन्न नहीं
होती है और भिन्न आधार की अपेक्षा बुद्धि में नहीं होती है तब एक ज्ञान एक ज्ञान में ही
प्रतिष्ठित हुआ विभावित करने पर—समझने पर अन्य का अन्य में आधार-आधेय भाव

शार्दूलविक्रीडित—चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-

रन्तर्दार्ढ्यदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।

भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः

शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य विपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति । ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भः प्रभवति । शुद्धात्मोपलम्भात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति ॥१८१-१८२-१८३॥

प्रतिभासित नहीं होता है । इसलिये ज्ञान ज्ञान में ही है और क्रोधादि क्रोधादि में ही हैं ऐसा भेदविज्ञान सिद्ध हो गया ।

इसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त होता है इसका निश्चय करने वालों को कहते हैं कि हे सत्पुरुषों ! चित्तरूपता को धारण करने वाला ज्ञान और जडरूपता को धारण करने वाला राग, इन दोनों का अंतरंग में भेद करने वाली तीक्ष्ण छैनी—के द्वारा-उग्र अभ्यास के द्वारा सभी ओर से पूर्णरूप से विभाग करके यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त हुआ है, इसलिये अब एक शुद्ध विज्ञान-घन के पुंज में स्थित और अन्य राग भाव से रहित भेदज्ञान में ही आनन्द को प्राप्त करो ॥१२६॥

इस प्रकार यह भेदविज्ञान जब ज्ञान में विपरीतपक्ष को कणिका को भी—अंश मात्र को भी नहीं प्राप्त करता हुआ निश्चल स्थित हो जाता है सभी शुद्धोपयोगमय स्वरूप से वह ज्ञान मात्र ज्ञानरूप ही होता हुआ किंचित् मात्र भी राग, द्वेष, मोहरूप भाव को नहीं बनाता है । इसलिये भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग, द्वेष और मोह के अभावरूप संवर प्रकट होता है ॥१८१-१८२-१८३॥

छप्पय छन्द (मात्रिक)—ज्ञान सुचेतन रूप राग जडता को धारा ।

दोनों के बिच होय तीक्ष्ण छैनी से न्यारा ॥

भेद ज्ञान निर्मल उत्पन्न हुआ है अब ही ।

हे सत्पुरुषों ! रागादि से च्युत हो सब ही ॥

इस समय शुद्ध निज ज्ञान-घन, है स्वरूप द्रव रूप ही ।

भेद ज्ञान आश्रय करें अब आनन्द अनुभूति अभी ॥१२६॥

(भूमिका)—संवरअधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरगादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आस्रवो नास्ति तत्र संवरो भवतीत्यास्रवविपक्षद्वारेण, चतुर्दशगाथापर्यंतं वीतरागसम्यक्त्वरूपसंवर-व्याख्यानं करोति । तत्रादौ भेदज्ञानात् शुद्धात्मोपलब्धो भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन उवओगे—इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलब्धो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण जह कणयमग्नि इत्यादि गाथाद्वयं । ततः परं शुद्धभावनया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन सुद्धं तु वियाणंतो इत्यादि गाथाकं । ततः परं केन प्रकारेण संवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया अप्पाणमप्पणा इत्यादि गाथात्रयं । अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं क्रियेतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टान्तेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण उवदेसेण इत्यादि गाथाद्वयं । तदनंतरं अथोदयप्राप्तप्रत्ययागतानां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतानां रागादिभावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि संवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन तेसि हेइ इत्यादि गाथात्रयं । एवं आस्रवविपक्षद्वारेण संवरव्याख्याने समुदायपातनिका ।

भावार्थ—जब ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही निश्चल होकर ध्यानरूप हो जाता है तथा निर्विकल्प ध्यान की अवस्था में वह ज्ञान उत्कृष्ट भेदविज्ञान कहलाता है और उस भेदविज्ञान से शुद्धात्मा का प्राप्ति हो जाती है वही शुद्धोपयोग कहलाता है । उस शुद्धोपयोग के होने पर राग, द्वेष और मोह के नहीं रहने से पूर्णतया आस्रव के रुक जाने से संवर होता है ।

अब श्री जयसेनाचार्य संवर अधिकार की प्रारम्भ करते हैं—

भूमिका—अब संवर प्रवेश करता है । इस संवर के अधिकार में जहाँ मिथ्यात्व, रागादि से परिणत बहिरात्मा की भावनारूप आस्रव नहीं है वही संवर होता है । इस तरह आस्रव के विपक्ष के द्वारा चौदह गाथा पर्यंत वीतराग सम्यक्त्वरूप संवर का व्याख्यान करते हैं । उसमें सर्वप्रथम भेदज्ञान से शुद्धात्मा का लाभ होता है । इस प्रकार संक्षेप रूप व्याख्यान की मुख्यता से 'उवओगे' इत्यादि तीन गाथायें हैं । इसके अनंतर भेदज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि कैसे होती है ऐसा प्रश्न होने पर परिहाररूप से 'जह कणयमग्नि' इत्यादि दो गाथायें कहेंगे । पुनः शुद्ध भावना से यह जीव शुद्ध होता है इस कथन की मुख्यता से 'सुद्धं तु वियाणंतो' इत्यादि रूप एक गाथा कहेंगे । इसके बाद किस प्रकार से संवर होता है ? ऐसा पूर्वपक्ष करने पर परिहार की मुख्यता से 'अप्पाणमप्पणा' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे । अनंतर यह आत्मा परोक्ष है उसका ध्यान कैसे करना ? ऐसा पूछने

(उत्थानिका) — तद्यथा — प्रथमतस्तदावच्छुभाशुभकर्मसंवरस्य परमोपायभूतं निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति; —

तात्पर्यवृत्तिः — उद्योगो उद्योगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मवोपयोग-स्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मा तिष्ठति कोहादिसु णत्थि कोवि उद्योगो शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोप्युपयोग आत्मा कोहे कोहो चेव हि क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुटं तिष्ठति उद्योगे णत्थि खलु कोहो उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुटं क्रोधः ॥ अट्ठविमप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उद्योगो तथैव चाष्टविधज्ञानावरणादिद्रव्य-

पर देवतारूप के दृष्टांत द्वारा परोक्ष में भी जाना जाता है । इस तरह परिहाररूप से 'उवदेसेण' इत्यादि दो गाथायें कहेंगे । अनंतर उदय को प्राप्त जो प्रत्यय हैं जो कि रागादि अध्यवसानरूप हैं उनके अभाव में जीवगत रागादि भावास्त्रवों का अभाव होता है । इत्यादि संवर के क्रम के व्याख्यान की मुख्यता से 'तेसि हेव' इत्यादि तीन गाथायें कहेंगे । इस प्रकार आस्रव के विपक्ष के द्वारा संवर के व्याख्यान में समुदाय पातनिका हुई ।

उत्थानिका — अब सबसे पहले यह कहते हैं कि शुभ और अशुभ इन दोनों प्रकार के कर्म के संवर का परम उपायभूत जो निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप भेदज्ञान है उसका निरूपण करते हैं —

तात्पर्यवृत्ति — ज्ञान-दर्शन उपयोग लक्षण वाला होने से यह आत्मा ही अभेदनय से उपयोग कहलाता है । इस उपयोग नाम वाली शुद्धात्मा में उपयोगस्वरूप आत्मा रहती है । शुद्ध निश्चयनय से क्रोधादि परिणामों में कोई उपयोगस्वरूप आत्मा नहीं है । स्पष्टतया क्रोध में ही क्रोध रहता है उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में नियम से क्रोधभाव नहीं है । उसी प्रकार से आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों में तथा औदारिक शरीर आदि नोकर्मों में भी उपयोग नहीं है — उपयोग शब्द से वाच्य शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला परमात्मा नहीं है और उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा में भी शुद्ध निश्चयनय से कर्म तथा नोकर्म नहीं हैं । जब जिस काल में चिदानंद एक स्वभाव के संवेदनरूप, विपरीत अभिप्राय से रहित भेदज्ञान इस जीव की हो जाता है तब उसी काल में उस भेदविज्ञान से अपनी आत्मा की उपलब्धि

कर्मणि, औदारिकशरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोगः उपयोगशब्दवाच्यः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा उद्योगहिं य कस्मे णोकस्मे चावि णो अत्थि उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति । एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होवि जीवस्स इदं तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसंबितिरूपं विपरीताभिनिवेशरहितं भेदज्ञानं यदा भवति जीवस्य तद्वया ण किंचि कुव्वदि भावं उद्योगमुद्धव्या तस्माद्धेदविज्ञानात्स्वात्मोपलंभो भवति शुद्धात्मोपलंभे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरगादिभावं न करोति न परिणमति । कथंभूतः सन् ? निर्विकार-चिदानन्दैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धस्वभावः सन्निति । यत्रंभूतो संवरो नास्ति तत्रा-स्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यं । एवं पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धा-त्मोपलंभो भवति । शुद्धात्मोपलंभे सति मिथ्यात्वरगादिभावं न करोति ततो नवतरकर्मसंवरो भवतीति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१८८॥१८९॥१९०॥

हो जाती है और शुद्ध आत्मा की उपलब्धि हो जाने पर यह जीव कुछ भी मिथ्यात्व रागादि भावों को नहीं करता है—उन रूप से परिणमन नहीं करता है । बल्कि वह आत्मा निर्विकार चिदानन्द एक लक्षण वाले शुद्धोपयोग से शुद्धात्मा—शुद्ध स्वभाव ही परिणमन करता है । जहाँ पर इस प्रकार का संवर नहीं है वहाँ पर आस्रव होता है । इस संवर अधिकार में सर्वत्र यह बात जाननी चाहिये ।

इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है, शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर मिथ्यात्व, रागादिभाव को यह जीव नहीं करता है, उसी से नवीनतर कर्मों का संवर होता है । इस संक्षेपरूप व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथा सूत्र हुये हैं ॥१८८॥१८९॥१९०॥

विशेषार्थ—यहाँ गाथा में श्री कुन्बकुन्ददेव ने कहा है कि उपयोग में ही उपयोग है, क्रोधादि कषायों में उपयोग नहीं है । इसकी टीका में श्री अमृतचन्द्रसूरि ने भी नय-विवक्षा को नहीं खोला है किन्तु श्री जयसेनाचार्य ने कह दिया है कि शुद्ध निश्चयनय से

शुद्धज्ञानदर्शनस्वरूप शुद्ध आत्मा में ही उपयोग है और क्रोध में ही क्रोध है । शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा यह आत्मा कभी अशुद्ध उपयोग से परिणत ही नहीं होता है । हां, अशुद्धनय की अपेक्षा से देखा जाय तब यह आत्मा जिस भाव को करता है उस रूप से ही परिणत हुआ देखा जाता है, तभी तो संसार है । जब यह क्रोध कषाय से परिणमन करता है सब क्रोधरूप ही हो जाता है जैसे कि तपाया हुआ लोहे का गोला तत्काल अग्निमय हो जाता है । श्रीकुन्दकुन्ददेव ने इसी समयसार में स्वयं यह बात कही है—

कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।

माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥ (अ०)

क्रोध के उपयोग से युक्त हुआ आत्मा क्रोध है, मान के उपयोग से उपयुक्त हुआ आत्मा मान है, माया के उपयोग से युक्त हुआ आत्मा माया है और लोभ के उपयोग से युक्त हुआ आत्मा लोभ है ।

इससे यह अर्थ निकलता है कि शुद्धोपयोग में स्थित हुए मुनि ही क्रोधादि कषायों से रहित शुद्धात्मा को प्राप्त कर लेते हैं, उन्हीं के पूर्ण संवर होता है । चतुर्थ, पंचम गुण-स्थान में तो यथायोग्य अशुभ कर्मों का ही संवर होता है ऐसा समझना ।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलब्ध ? इति चेत्—

(१६१ ज०) जह कणयमग्निगतवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।

तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥१८४॥

(१६२ ज०) एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।

अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥ (युग्मं)

यथा कनकमग्निगतप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।

तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ॥१८४॥

एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं ।

अज्ञानतमोऽवच्छन्नः

आत्मस्वभावमजानन् ॥१८५॥

उत्थानिका—भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है ऐसा क्यों ? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्यदेव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा अग्नितप्तं अपि कनकं तं कनकभावं न परित्यजति) जैसे अग्नि से तपाया हुआ भी सुवर्ण उस अपने सुवर्णभाव को नहीं छोड़ता है (तथा कर्मोदयतप्तः ज्ञानी तु ज्ञानित्वं न जहाति) वैसे ही कर्मों से संतप्त हुआ ज्ञानी भी ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है । (एवं ज्ञानी जानाति) ऐसा ज्ञानी जानता है (अज्ञानी अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावं अजानन् रागं एव आत्मानं जानाति) और अज्ञानी अंधकार से व्याप्त हुआ अपने आत्म-स्वभाव को नहीं जानते हुए राग को ही आत्मा जानता है ।

(१६१ ज०) ज्यों अग्नि में तपकर सोना असली सोना बन जाता है ।

स्वर्णत्व भाव को नहि तजने से सोना ही कहलाता है ॥

त्यों ही कर्मोदय से पीड़ित ज्ञानी यदि ज्ञान न तजता है ।

तब ही वह सच्चा ज्ञानी है नहि कर्म बंध फिर करता है ॥१८४ अ०॥

(१६२ ज०) ज्ञानी यह भली भांति जानें अज्ञानी रागयुक्त होता ।

वह तो पर में ही निज बुद्धि करके निज आत्मा को खोता ॥

अज्ञान तिमिर से अन्ध सदृश अज्ञानी की परिणति होती ।

आत्मस्वभाव को जाने बिन नहि संवर की परिणति होती ॥१८५ अ०॥

आत्मख्यातिः—यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावाज्ज्ञानी सन्नेवं जानाति । यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपटब्धमपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात् । तदपोहेन तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात् । न चास्ति वस्तुच्छेदः सतो नाशासम्भवात् । एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किन्तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते । यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नजानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते । ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलभः ॥१८४॥१८५॥

आत्मख्याति—जिस जीव के पूर्वोक्त कथित भेदविज्ञान है वही आत्मा उस भेद-विज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी होता हुआ ऐसा जानता है । जैसे प्रचंड अग्नि से अच्छी तरह तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपने को नहीं छोड़ता है वैसे ही प्रचंड—तीक्ष्ण कर्मों के उदय से संतप्त हुआ भी ज्ञान अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता है क्योंकि हजारों कारणों के मिलने पर भी स्वभाव को छोड़ना अशक्य है यह नीति है । यदि कोई वस्तु अपने स्वभाव को छोड़ दे तो उस स्वभावमात्र वस्तु का ही विनाश हो जावेगा किन्तु वस्तु का विनाश तो है नहीं क्योंकि सत्—विद्यमान का नाश असंभव है । ऐसा जानता हुआ ज्ञानी आत्मा कर्मों से आक्रांत होते हुये भी न राग करता है, न द्वेष करता है और न मोह हो करता है किन्तु शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है ।

इससे विपरीत जिसके पूर्वोक्त कथित भेदविज्ञान नहीं है वह उस भेदविज्ञान के अभाव से अज्ञानी होता हुआ अज्ञान अंधकार से व्याप्त होने से चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को नहीं जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता हुआ राग करता है, द्वेष करता है और मोह करता है वह कदाचित् भी शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं कर पाता है । इसलिये भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है यह बात सिद्ध हो गई ॥१८४—१८५॥

भावार्थ—यहाँ यह सिद्ध किया है कि ज्ञानी आत्मा राग, द्वेष, मोह नहीं करता है चूँकि जानना मात्र ही उसका स्वभाव होने से वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है । यहाँ सूचित आई है कि हजारों कारणों के द्वारा भी स्वभाव को छोड़ना शक्य नहीं है । वास्तव में हजारों कारण मिल जायें किन्तु जी के बीज से चावल, धान्य पैदा नहीं किये जा सकते हैं

(उत्थानिका)—अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलब्धो भवतीति पुनरपि पृच्छति—

तात्पर्यवृत्तिः—जह कणयमग्नितद्वियं कणयसहायं ण तं परिच्छयदि—यथा कनकं सुवर्णमग्नितप्तमपि तं कनकस्वभावं न परित्यजति । तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन संतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति । किं तद् ?—शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं ज्ञानित्वं पांडवादिवदिति । एवं जाणदि णाणी एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति । कोऽसौ ? वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानी अण्णाणी मुणदि रागमेवाहं अज्ञानी पुनः पूर्वोक्तभेदज्ञाना-

अथवा हजारों कारण मिल जाने पर भी अग्नि को शीतल नहीं किया जा सकता है । यदि वह शीतल हो जाये तो अग्नि ही नहीं रहेगी । संसार में किसी भी सत् वस्तु को जड़ से नष्ट नहीं किया जा सकता है । वैसे ही महामुनि तीव्र असाता के उदय से उपसर्ग अथवा परीषह से आक्रांत—सहित भले ही हो जायें किन्तु वे राग, द्वेष, मोह के न करने से अपने ज्ञानस्वरूप में स्थिर बने रहते हैं तभी वे आत्मा को शुद्ध कर लेते हैं । यह श्रद्धान हम और आप को, अवती या वेशवती अथवा महावती को भी होता है । जितने-जितने अंशों में राग, द्वेष, मोह का अभाव होता जाता है उतने-उतने अंशों में भेदविज्ञान का सद्भाव होने से कर्मबन्ध मन्व होता है । जब पूर्णतया निर्विकल्प ध्यान में उपयोग से रागादि विकार भाव समाप्त हो जाते हैं, तभी आत्मा शुद्ध हो जाती है । इसे ही श्री जयसेनाचार्य कहते हैं—

उत्थानिका—भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की उपलब्धि कैसे होती है ? ऐसा शिष्य पुनरपि पूछता है—

तात्पर्यवृत्ति—जैसे सोना अग्नि में तपकर भी अपने सोने के स्वभाव को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार से कर्मों के उदय से तीव्र परीषह और उपसर्ग के द्वारा संतप्त होते हुये भी राग, द्वेष, मोह परिणाम के परिहार से परिणत अभेद रत्नत्रयलक्षण भेदज्ञान से सहित भेदज्ञानी आत्मा शुद्धात्मा के संवेदनरूप अपने ज्ञानीपने को नहीं छोड़ता है जैसे कि पांडव आदि महामुनियों ने अपने स्वभाव को नहीं छोड़ा था । इस तरह पूर्वोक्त प्रकार से जो अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है । वह कौन है ? वह वीतराग स्वसंवेदन लक्षण सहित

भावात् मिथ्यात्वरगादिरूपमेवात्मानं मनुते जानाति । कथंभूतः सन् ? अण्णाणतमोच्छृणो
अज्ञानतमसोच्छन्नः प्रच्छादितो झंपितः । पुनरपि कथंभूतः सन् । आदसहावं अयाणंतो
निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारस्वभावं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन्
इति । एवं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पृष्ठे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वयं
गतं ॥१६१॥१६२॥

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर ? इति चेत् —

(१६३ ज०) सुद्धं तु विद्याणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।

जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्धं तु विज्ञानं शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।

जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं

लभते ॥१८६॥

भेदज्ञानी आत्मा ही है । इससे अतिरिक्त अज्ञानी पूर्वोक्त भेदज्ञान के अभाव से मिथ्यात्व
रागादिरूप ही अपनी आत्मा को मानता है । वह अज्ञानअंधकार से आच्छन्न हुआ निर्विकल्प
ध्यान के अभाव में निर्विकार परम चैतन्य चमत्कारस्वभाव शुद्धात्मा को नहीं जानता हुआ—
अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं करता हुआ ही अज्ञानी है । इस तरह भेदज्ञान से
शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ? ऐसे प्रश्न के उत्तर के रूप में दो गाथायें हुई
हैं ॥१६१—१६२॥

भावार्थ—यहां अज्ञानी के लक्षण में मिथ्यात्व रागादि भाव लिये हैं । उन्हें क्रम से
घटाना चाहिये । पहले गुणस्थान से तीसरे तक मिथ्यात्व भाव रहता है, चौथे में रागादि
भाव रहते हैं । आगे छठे गुणस्थान में भी संज्वलन कषाय सम्बन्धी राग-द्वेष रहते हैं अतः वे
सर्वथा अज्ञानी नहीं हैं । निर्विकल्प समाधि में होने वाले भेदविज्ञान के अभाव से ही अज्ञानी
हैं तथा ये रागादि भाव मेरे स्वभाव नहीं हैं ऐसी भावना से परिणत होने से कथंचित् जानी
भी है ।

(१६३ ज०) शुद्धात्मतत्त्व के ज्ञाता ही निज शुद्धात्मा को पाते हैं ।

वे कर्मों का संवर करते आश्रय को दूर भगाते हैं ॥

लेकिन जो अज्ञानी अशुद्ध आत्मा को ही जाना करते ।

वे उस अशुद्ध आत्मा को ही पाते आश्रय में रत रहते ॥१८६ अ० ॥

आत्मख्यातिः—यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयाद्भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यक्षकर्मास्त्रिवर्णनिमित्तस्य रागद्वेषमोह-संतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यो हि नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यक्षकर्मास्त्रिवर्णनिमित्तस्य रागद्वेष-मोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः ॥१८६॥

भालिनीछंद—यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।

तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

उत्थानिका—शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है ऐसा क्यों ?

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य देव कहते हैं—

अन्वयार्थ—(जीवः शुद्धं तु विजानन् शुद्धं च एव आत्मानं लभते) जीव आत्मा को शुद्ध जानता हुआ शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है (अशुद्धं तु जानन्, अशुद्धं एव आत्मानं लभते) और आत्मा को अशुद्ध जानता हुआ अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है ।

आत्मख्याति—जो महापुरुष नित्य ही अविच्छिन्न धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा को प्राप्त करते हुए—अनुभव करते हुए स्थित हैं 'वे ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय भाव ही होता है' इस न्याय अनुसार नवीन कर्मों के लिये आस्त्रव के निमित्त ऐसे राग, द्वेष, मोह की संतान—परम्परा के निरोध से शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं और जो नित्य ही अज्ञान से अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हुये रहते हैं वे अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय भाव ही होता है । इस नीति के अनुसार नवीन कर्मों के लिये आस्त्रव के निमित्त राग, द्वेष, मोह की संतान का निरोध न होने से अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करते हैं, इसलिये शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है यह बात सिद्ध हो गई ॥१८६॥

इसी का कलश काव्य कहते हैं—

काव्यार्थ—यदि किसी प्रकार से भी यह जीव धारावाही ज्ञान के द्वारा निश्चल

छप्पय छन्द (मात्रिक)—यदि यह आत्मा धारावाही ज्ञानहि द्वारा ।

किसी तरह नित शुद्धात्म उपलब्धि निहारा ॥

फिर यह जो भी आत्म सुखामृत प्रकट हुआ है ।

पर परिणति के एक जाने से शुद्ध हुआ है ॥

अत्यन्त शुद्धि की प्राप्ति जब, आत्म गुणों में होत है ।

स्फटिक मणि सम आत्म में तब ज्ञान का हि उद्योत है ॥१२७॥

(उत्थानिका)—अथ कथं शुद्धात्मोपलंभात्संवर इति पुनरपि पृच्छति—

तात्पर्यवृत्तिः—सुद्धं तु विद्याणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्म-
रहितमनंतज्ञानादिगुणस्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवत्
ज्ञानी जीवः । एवं गुणविशिष्टं यादृशं शुद्धात्मानं ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते ।
कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृशं कार्यमिति हेतोः जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं
सहदि असुद्धं मिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानं जानन्ननुभवत् सन् असुद्धं, नरनारकादिरूपमेवात्मानं
लभते । स कः ? अज्ञानी जीव इति । एवं शुद्धात्मोपलंभादेव कथं संवरो भवतीति पृष्ठे
प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गता ॥१६३॥

शुद्ध आत्मा को प्राप्त करते हुये रहते हैं वे आत्मा उदयरूप आत्मा के उद्यान
में क्रीड़ा करने वाले ऐसे आत्मा को परपरिणति के निरोध से शुद्ध ही प्राप्त कर
लेते हैं । १२७ ।

भावार्थ—जो महान् पुरुष धारावाही ज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं
वे आत्मा को शुद्ध ही करके स्वयं शुद्ध हो जाते हैं ।

उत्थानिका—शुद्धात्मा की प्राप्ति से कैसे संवर होता है ? शिष्य ऐसा प्रश्न
करता है—

तात्पर्यवृत्ति—ज्ञानी जीव भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित अनंत ज्ञानादि
गुणस्वरूप शुद्ध आत्मा को निर्विकार सुख की अनुभूति लक्षण वाले भेदज्ञान के द्वारा जानते
हुये—अनुभव करते हुए रहते हैं । ये इन गुणविशिष्ट जैसी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं—
भाते रहते हैं वे वैसी ही आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि 'उपादानकारण के सदृश ही
कार्य होता है' इस हेतु से मिथ्यात्व आवि से परिणत असुद्ध आत्मा को जानते हुए—अनुभव
करते हुये नर-नारकादि रूप ही असुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं ऐसे वे अज्ञानी जीव
कहलाते हैं । इस प्रकार शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से ही कैसे संवर होता है ? ऐसा पूछने पर
प्रत्युत्तर के कथनरूप से एक गाथा हुई है ॥ १६३ ॥

भावार्थ—जो आत्मा को असुद्ध अनुभव करते हैं वे असुद्ध ही पाते हैं, जो शुद्ध
ज्ञानस्वरूप अनुभव करते हैं वे शुद्ध प्राप्त कर लेते हैं ।

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

(१६४ ज०) अप्पाणमप्पणा रुंद्धिऊण वो पुण्णपावजोएसु ।

वंसणणाणहि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णहि ॥१८७॥

(१६५ ज०) जो सर्वसंगमुक्को ज्ञायवि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।

णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ' एयत्तं ॥१८८॥

(१६६ ज०) अप्पाणं ज्ञायंतो वंसणणाणमओ अण्णमओ ।

लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥ (त्रिकलम्)

आत्मानमात्मता रुद्ध्या त्रिपुण्यपापयोपयोः ।

दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥१८७॥

य सर्वसंगमुक्तो ज्ञायत्यात्मानमात्मनात्मा ।

नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चेतयत्येकत्वं ॥१८८॥

आत्मानं ज्ञायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।

स भवेत्तच्चिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तं ॥१८९॥

(१६४ ज०) जो प्राणी आत्मा को आत्मा के द्वारा पाप क्रियाओं से ।

छुड़वाता पुण्यक्रिया को भी रत हो चैतन्य क्रियाओं में ॥

दर्शन ज्ञानावस्थित होकर पर में नहि बाँछा करता है ।

आस्रव को तजकर वही मुनी संवर सुतत्त्व आचरत है ॥१८७ अ०॥

(१६५ ज०) जो सर्व परिग्रह को तजकर निज आत्मा को ही ध्याते हैं ।

वे मुनि आत्मा के द्वारा ही आत्मानंदामृत पाते हैं ॥

जो कर्म और नोकर्मों के भी नहि कर्ता कहलाते हैं ।

वे चेतन सुख के उपभोक्ता एकत्व अवस्था पाते हैं ॥१८८ अ०॥

(१६६ ज०) वे दर्शनज्ञानमयी अनन्य आत्मीय ध्यात को करते हैं ।

इसलिए अन्य व्रव्यादिक में परिणमन नहीं वे करते हैं ॥

शीघ्रातिशीघ्र वे कर्मरहित आत्मा की प्राप्ति करते हैं ।

ऐसे परिणामों से संयुत मुनिवर ही संवर करते हैं ॥१८९ अ०॥

आत्मख्यातिः—यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे प्रवर्तमानं, दृढतरभेदविज्ञाना-
वष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यन्तं रुंध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्त-
परद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन्, मनागपि कर्मनोकर्मणोर-
संस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते, स खल्वेक-
त्वचेतनेनात्यन्तविविक्त^१ चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः
शुद्धात्मोपलम्भे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रान्तः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति ।
एष संवरप्रकारः ॥१८७॥१८८॥१८९॥

उत्थानिका—किस प्रकार से संवर होता है ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(यः सर्वसंगमुक्तः आत्मा आत्मानं आत्मना द्विपुण्यपापयोः रुन्ध्वा) जो
सर्वपरिग्रह से मुक्त हुए आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा दो पुण्य-पाप योग से रोककर
(दर्शनज्ञाने स्थितः अन्यस्मिन् इच्छाविरतः) दर्शनज्ञान में स्थित हैं और अन्य वस्तु में
इच्छा से रहित हुये (आत्मना आत्मानं ध्यायति कर्म नोकर्म न अपि) आत्मा के द्वारा आत्मा
को ध्याते हैं कर्म और नोकर्म को नहीं । (चेतयिता एकत्वं चेतयति) ऐसे चेतयिता आत्मा
एकत्व का अनुभव करते हैं (सज्ञान दर्शनमयः अनन्यमयः आत्मानं ध्यायन् अचिरेण कर्म-
प्रविमुक्तं आत्मानं एव लभते) वे दर्शनज्ञानमय हुये अन्यमय न होकर आत्मा को ध्याते हुये
शीघ्र ही सर्व कर्म से रहित आत्मा को ही प्राप्त कर लेते हैं ।

आत्मख्याति—जो पुरुष नियम से राग-द्वेष-मोह हैं मूल जिसमें ऐसे शुभ-अशुभ
योग में प्रवृत्ति करती हुई अपनी आत्मा को दृढतर भेदविज्ञान के अवलम्बन से आत्मा के
द्वारा ही अत्यन्त रोककर शुद्ध ज्ञान दर्शनमय अपने आत्मद्रव्य में अच्छी तरह प्रतिष्ठित—
स्थित हो जाते हैं वे समस्त पर द्रव्य से इच्छा का निरोध करके समस्त परिग्रह से रहित
होकर नित्य ही अतिशय निश्चल होते हुए किंचित् भी कर्म-नोकर्म का स्पर्श न करने से
अपनी आत्मा को ही अपनी आत्मा के द्वारा ध्याते हुये स्वयं सहज चेतनास्वरूप होने से

भालिनोच्छ्रं— निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलभः ।

अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

एकत्व स्वरूप का ही अनुभव करते हैं वे निश्चित ही एकत्व के अनुभव द्वारा अत्यंत विविक्त-परद्रव्यों से पूर्णतया भिन्न, चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा का ध्यान करते हुए शुद्ध दर्शन-ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त कर लेते हैं और शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाने पर समस्त परद्रव्यमय अवस्था को छोड़कर शीघ्र ही सम्पूर्ण कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं । यही संवर का प्रकार है ॥ १८७-१८८-१८९ ॥

भावार्थ—जो महामुनि पहले संपूर्ण परिग्रह से रहित हो चुके हैं वे पुण्य-पाप से छूटकर इच्छा का पूर्णतया निरोध करके अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करते हैं वे ही आत्मा को सर्व कर्मों से रहित शुद्ध मुक्त कर लेते हैं । इसमें मुनि बनने के बाव अशुभ कर्मों का संवर हुआ पश्चात् ध्यान में लीन होने पर शुभकर्मों का भी संवर हुआ ऐसा क्रम समझना ।

अब इसी को काव्य के द्वारा कहते हैं—

काव्यार्थ—जो पुरुष विज्ञान की शक्ति से अपनी आत्मस्वरूप की महिमा में लीन हो रहे हैं उनको नियम से शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है और पुनः वे अचलित होकर अखिल अन्य द्रव्यों से दूर स्थित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में अक्षयरूप कर्मों से मोक्ष मिल जाता है । १२८ ।

छप्पय छन्द (मात्रिक) — भेद ज्ञान के बल से निज महिमा में रत जो ।

उन्हें नियम के शुद्धतत्त्व की प्राप्ति हुई सो ॥

तथा अनन्तर अचल रूप से पर द्रव्यों को ।

अपने से ही भिन्न समझ कर दूर रहे वो ॥

जो अन्य द्रव्य से सर्वदा, निस्पृहपन से है जुड़ा ।

उन भव्यों के कर्म का ही 'अक्षय मोक्ष' कहे सदा ॥१२८॥

(उत्थानिका)—अथ केन प्रकारेण संवरो भवतीति पृष्ठे पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति ।

तात्पर्यवृत्तिः—अप्पाणमप्पणा संधिदूषण दो (सु) पुण्णपावजोगेसु आत्मानं कर्मत्वापन्नं आत्मना करणभूतेन द्वयोः पुण्यपापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभ-योगाभ्यां सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य । दंसणणाणह्मि ठिरो दर्शनज्ञाने स्थितः सन् । इच्छाविरदो य अण्णह्मि अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये सर्वत्रेच्छारहितश्चेति प्रथमगाथा गता । जो यः कर्ता सब्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा आत्मा, पुनरपि कथंभूतः । सब्वसंगमुक्को निस्संगात्मतत्त्वविलक्षणबाह्याभ्यन्तरसर्वसंगमुक्तः सन् । ज्ञायदि ध्यायति । कं, अप्पाणं निजशुद्धात्मानं । केन करणभूतेन । अप्पणो स्वशुद्धात्माना । णवि कम्मं णोकम्मं नैव कर्म नोकर्म ध्यायति, आत्मानं ध्यायन् । किं करोति । चेदा चित्तेदि एवं गुणविशिष्टचेतयितात्मा चित्तयति । किं ? एयत्तं “एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ।” इत्याद्येकत्वं इति द्वितीयगाथा गता । सो इत्यादि । सो स

भावार्थ—जो भेदविज्ञान के द्वारा अपनी आत्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं वे ही अक्षय मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं ।

उत्थानिका—किस प्रकार से संवर होता है ? ऐसा पूछने पर पुनः विशेष रूप से उत्तर देते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—अपनी आत्मा आत्मा के द्वारा पुण्य और पाप योग में वर्तन कर रही है जो उसे अपने स्वसंवेदन ज्ञान के बल से शुभ-अशुभ योगों से रोककर—हटाकर दर्शन ज्ञान में स्थित होते हुये अन्य देह आदि परद्रव्यों में सर्वत्र इच्छा से रहित हो जाते हैं, यह प्रथम गाथा हुई । वह आत्मा पुनरपि अपने निःसंग रूप आत्म तत्त्व से विलक्षण सम्पूर्ण बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रहों से रहित होते हुये अपनी शुद्ध आत्मा के द्वारा निज शुद्ध आत्मा को ध्याते हैं, कर्म और नोकर्म को नहीं ध्याते हैं । इन गुणों से विशिष्ट चेतनस्वरूप

पूर्वसूत्रद्वयोक्तः पुरुषः अप्पाणं स्मार्थतो एवं पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं कर्मतापन्नं चित्तयन् निर्विकल्परूपेण ध्यायन् सन् । दंशणणाणमद्वयो दर्शनज्ञानमयो भूत्वा अणणमणो अनन्यमनाश्च लहवि लभते । कमेव अप्पाणमेव आत्मानमेव । कथंभूतं, कम्मणिम्मवकं भावकर्मद्रव्यकर्मनो-कर्मविमुक्तं । केन, अचिरेण स्तोककालेन । एवं केन प्रकारेण संवरो भवति, इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१६४॥१६५॥१६६॥

आत्मा 'मैं एक हूँ, निर्मम हूँ, शुद्ध हूँ, जानी हूँ और योगीन्द्रों के ही गोखर हूँ, मेरे से बाह्य सभी पदार्थ सर्वथा संयोग से उत्पन्न होने से मेरे से भिन्न ही हैं।' इत्यादि प्रकार से अपने एकत्व स्वरूप का ही चितवन करते हैं। यह द्वितीय गाथा हुई। इन पूर्वोक्त दो गाथाओं द्वारा कथित पुरुष पूर्वोक्त प्रकार से आत्मा का चितवन करते हुये—निर्विकल्प ध्यान के द्वारा ध्याते हुये ज्ञानदर्शनमय होकर अन्य में मन को न लगाकर—एकाग्रमना होकर अल्पकाल में ही भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह किस प्रकार से संवर होता है? ऐसा प्रश्न होने पर विशेष रीति से परिहार के व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें हुई ॥१६४-१६५-१६६॥

भावार्थ—श्री जयसेनाचार्य ने यहाँ तीन गाथाओं में संवर के लिये पात्र कौन हैं और उसका फल क्या है? इसे ही स्पष्ट किया है कि जो महापुरुष संसार की समस्त वस्तुओं से इच्छा को दूर कर सर्व परिग्रहों के त्यागी होकर महामुनि हो जाते हैं। पुनः निश्चल होकर शुद्धोपयोग में स्थिर होकर अपनी शुद्ध आत्मा को ध्याते हैं वे ही शुभ-अशुभ कर्मों को आते हुये रोककर पूर्ण संवर करते हुये संसार के दुःखों से छूटकर पूर्ण शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर सिद्ध बन जाते हैं। हाँ, दान-पूजा आदि क्रियाओं में लगे हुये श्रावक पाप कर्मों का संवर करते हुये पुण्य कर्म का बंध कर लेते हैं वे परम्परा से मोक्ष के अधिकारी होते हैं ऐसा समझना।

(उत्थानिका)—अथ परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं भवतीति प्रश्ने सत्युत्तरं ददाति;—

(१६७) उपदेशेण परोक्खं रुवं जह पस्सिदूण णादेदि ।

भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥

उपदेशेन परोक्षरूपं यथा दृष्टा जानाति ।

भण्यते तथैव धियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च ॥

तात्पर्यवृत्तिः—उपदेशेण परोक्खं रुवं जह पस्सिदूण णादेदि यथालोके परोक्षमपि देवतारूपं परोपदेशाल्लिखितं दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति । भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य । तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते । कोसौ ? जीवः, केन रूपेण ? मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा संप्रधारयति । तथा चोक्तं । गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं । जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरं ॥१६७॥

उत्थानिका—अब परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे होता है ? ऐसा प्रश्न होने पर प्रत्युत्तर देते हैं—

अन्वयार्थ—(यथा उपदेशेन परोक्षरूपं दृष्ट्वा जानाति) जैसे उपदेश के द्वारा परोक्ष-रूप को देखकर—श्रद्धान करके जानता है (तथैव जीवः भण्यते च धियते दृष्टः च ज्ञातः) वैसे ही जीव भी उपदेश के द्वारा कहा जाता है और ग्रहण किया जाता है सो वही देखा गया और जाना गया है ।

तात्पर्यवृत्ति—जैसे लोक में परोक्ष भी देवता का रूप पर के उपदेश से लिखित—चित्र में बना हुआ देखकर कोई देवदत्त पुरुष उसे जान लेता है उसी प्रकार से वचन के द्वारा जीव को कहा जाता है और मन के द्वारा उसी जीव को ग्रहण किया जाता है । उसे ही कहते हैं कि मैंने इसे देख लिया और जान लिया है ऐसा लोग मन में धारण कर लेते हैं—निश्चय कर लेते हैं । कहा भी है—

(१६७ ज०) जैसे परोक्ष उपदेशों से रूपादिज्ञान हो जाता है ।

मानो उसको ही देख लिया ऐसा अनुभव हो जाता है ॥

बस उसी तरह यह जीव तत्त्व वचनों के द्वारा कहलाता ।

उसको ही चेतन जीव समझ उस पर विश्वास किया जाता ॥

(उत्थानिका)—अथ—

(१६८) कोविदिवच्छो साहू संप्रतिकाले भणिज्ज रुवमिणं ।

पक्कक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं ॥

कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणेत रूपमिदं ।

प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं ॥

तात्पर्यवृत्तिः—अथ मतं भणिज्ज रुवमिणं पक्कक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठंतं । योसौ प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति तस्य पार्श्वे पृच्छामो वयं । नैवं कोविदिवच्छो साहू संप्रतिकाले भणिज्ज कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले ब्रूयात् ? न कोपि । किं ब्रूयात्, न कोपि । किं

‘गुरु के उपदेश से, उनके बताये हुये मार्ग द्वारा अभ्यास करने से और अपने अनुभव से जो जीव स्व-पर के अन्तर को—भेद को जान लेता है वही निरंतर होने वाले मोक्ष के सौख्य को जानता है ।’ ॥१६७॥

उसे ही आगे और भी स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थः—(कोविदितार्थः साधुः भणेत) कौन विद्वन् साधु ऐसा कहेगा कि (इदं रूपं संप्रतिकाले परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं एव दृष्टं) यह आत्मरूप वर्तमान काल में परोक्षज्ञान में प्रवृत्त हुआ प्रत्यक्ष ही देख लिया गया है अर्थात् कोई नहीं कहेगा ।

तात्पर्यवृत्ति—कोई कहे कि ‘जो कोई प्रत्यक्ष से आत्मा को दिखलाते हैं उनके पास चलकर हम पूछें’ सो ऐसी बात नहीं है । भला कौन ऐसा अज्ञानी साधु है जो कि वर्तमान में ऐसा कहे कि अथवा पाठ भेद से ऐसा अर्थ करना कि—भला कौन ऐसा बुद्धिमान साधु वर्तमान में ऐसा कहेगा कि यह आत्मा का स्वरूप मैंने प्रत्यक्ष में देख लिया है जैसे कि बीधे काल में केवली भगवान देख लेते थे अर्थात् कोई भी बुद्धिमान सज्जन पुरुष ऐसा नहीं

(१६८ ज०) क्या वर्तमान में आत्म तत्त्व छद्मस्थ प्राप्त कर सकते हैं ।

क्या कोई ज्ञानवान साधु यह प्रतिपादन कर सकते हैं ॥

क्योंकि इसका साक्षात्कार कैवल्यज्ञान में होता है ।

केवल परोक्ष संवेदन से कुछ ज्ञान उसे भी होता है ॥

१. ‘कोविदितार्थः’ ऐसा पाठ भी कोई-कोई विद्वान् मानने हैं ।

तु रुचमिणं पञ्चवक्त्रमेव विदुः इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं । चतुर्थकाले केवल-
ज्ञानिवत् । अपि तु नैवं । कथंभूतमिदमात्मस्वरूपं । परोक्षखण्डे पञ्चदशतमं केवलज्ञानापेक्षया
परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमानं, इति । किञ्च विस्तरः । यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्प-
रहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनमेव परोक्षं भव्यते, तथापि इन्द्रियमनोजनित-
सविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षं । तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति,
केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति । किं तु
चतुर्थकालेऽपि केवलिनः, किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति ? तेषां दिव्यध्वनिना भणित्वा
गच्छन्ति । तथापि श्रवणकाले श्रोतॄणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति ।
तथा इदानीं कालेऽपीतिभावार्थः । एवं परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं क्रियते, इति प्रश्ने
परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ॥१६८॥

कहेगा । यह आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान की अपेक्षा से देखा जाय तो परोक्ष ही है क्योंकि
श्रुतज्ञान से जाना जाता है । इसका विस्तार यह है कि यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से
रागादिविकल्पों से रहित स्वसंवेदनरूप यह भावश्रुतज्ञान शुद्ध निश्चयनय से परोक्ष कहा
जाता है फिर भी इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले सविकल्प ज्ञान की अपेक्षा से यह
प्रत्यक्ष है । इस कारण से यह आत्मा स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष होता है । पुनः
केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष भी होता है । इसलिये 'यह सर्वथा परोक्ष ही है' ऐसा कहना
नहीं हो सकता है । क्योंकि चतुर्थकाल में भी केवली भगवान् क्या किसी को आत्मा को हाथ
में लेकर दिखाते थे ? नहीं, वे भी तो दिव्यध्वनि के द्वारा ही कहते थे । फिर भी श्रोताओं
को वह आत्मा दिव्य ध्वनि के सुनते समय परोक्ष ही रहती थी, अनन्तर परमसमाधि के काल
में महाभुक्तियों को वह आत्मा प्रत्यक्ष हो जाती थी । स्वसंवेदन-स्वयं के अनुभव होने से प्रत्यक्ष
कही जाती है वैसे ही इस वर्तमान काल में भी यही बात है ऐसा भावार्थ समझना । इस
तरह परोक्ष आत्मा का ध्यान कैसे किया जावे ? ऐसा प्रश्न होने पर परिहाररूप से दो
गाथायें पूर्ण हुई हैं ॥१६८॥

विशेषार्थ—ये प्रश्नोत्तररूप की गाथायें श्री अमृतचन्द्रसूरि की टीका में नहीं हैं। यहां ऐसी आशंका हुई थी कि जब आत्मा का स्वरूप परोक्ष है तो उसका ध्यान कैसे करना? उसी का उत्तर देते हुये आचार्यदेव ने कहा है कि जैसे लोक में किसी न किसी को परोक्ष भी देवता का रूप समझाकर उसका चित्र बना दिया तो वह उसे अच्छी तरह समझ लेता है उसी प्रकार से आचार्यों ने आत्मा का अंश ज्ञानदर्शनमय अद्वैतिक स्वरूप बतलाया है जो 'अहंप्रत्यय' 'मैं' इस ज्ञान से ही जाना जाता है उसी का ध्यान करना चाहिये। वास्तव में चतुर्थकाल में केवली भगवान ने भी किसी को आत्मा को हाथ में लेकर नहीं दिखाया था प्रत्युत दिव्यध्वनि से उसके स्वरूप को ही सुनाया था। जब श्रोतागण उपदेश सुनते थे तब उन्हें आत्मस्वरूप परोक्ष ही रहता था किन्तु वे ही जब महामुनि होकर निर्विकल्प ध्यान में भी स्थित होते थे तभी उन्हें उस आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव आता था। ऐसे ही आज भी महामुनियों को ध्यान में ही आत्मा का अनुभव होता है। चौथे, पांचवें और छठे गुणस्थान में प्रत्यक्ष नहीं होता है। हां, स्वसंवेदन ज्ञान की अपेक्षा से कथंचित् यह आत्मा स्वानुभवगम्य है—प्रत्यक्ष है ऐसा समझना चाहिये। व्यवहार में 'मैं खाता हूँ, मैं जाता हूँ।' इस अहं प्रत्यय से भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार कराया गया है। इन्द्रिय से होने वाला ज्ञान सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान है इस अपेक्षा से भी प्रत्यक्ष कह सकते हैं। अतः एकांत से आत्मा प्रत्यक्ष ही है या परोक्ष ही है ऐसा नहीं कहना चाहिये। अनेकांत को समझने का प्रयास करना चाहिये।

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

(१६६ ज०) तेसि हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सख्खदरसीहि ।

मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१६०॥

(२०० ज०) हेउअभावे नियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१६१॥

(२०१ ज०) कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।

णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१६२॥ (त्रिकलम्)

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिनः ।

मिथ्यात्वस्य अज्ञानस्य च संसारमाणा योः ॥१६०॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आसवनिरोधः ।

आसवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥१६१॥

कर्मणोऽभावेन च नो कर्मणामपि जायते निरोधः ।

नो कर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥१६२॥

(१६६ ज०) उन रागद्वेष अहं मोह रूप आस्रव के हेतु बताए हैं ।

मिथ्यात्व और अज्ञान अविरती योग चार कहलाए हैं ॥

ये चारों अध्यवसान जीव में आस्रव को करवाते हैं ।

इनके बिन आस्रव नहीं होता सर्वजदेव बतलाते हैं ॥१६० अ०॥

(२०० ज०) हेतु बिन ज्ञानी के अवश्य आस्रव निरोध हो जाता है ।

आस्रवभावों के बिना कर्म का भी निरोध हो जाता है ॥

कर्मों के रुकते ही प्राणी निज में निज को पा जाता है ।

नूतन कर्मों का बंध नहीं होता संवर कहलाता है ॥१६१ अ०॥

(२०१ ज०) जब कर्मनिरोध हुआ तब ही नोकर्मों का रोधन होता ।

नोकर्म रोध हो जाने से संसार भ्रमण रोधन होता ॥

ऐसे क्रम से संवर करके एक दिन परमात्मा बन जाता ।

इस संवर के बल से आत्मा निर्जरा मोक्ष भी प्रगटाता ॥१६२ अ०॥

आत्मख्यातिः—संति तावज्जीवस्य, आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि^१ मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोग-
लक्षणानि अध्यवसानानि । तानि रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावस्य हेतवः । आस्रवभावः कर्महेतुः ।
कर्म नोकर्महेतुः । नोकर्म संसारहेतुः, इति ततो नित्यमेवायमात्मा, आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्या-
त्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति । ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति । ततः कर्म
आस्रवति, ततो नोकर्म भवति, ततः संसार प्रभवति । यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धं
चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां
आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः । तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः, तदभावेऽपि भवति
कर्माभावः, तदभावे नोकर्माभावः, तदभावेऽपि भवति संसाराभावः । इत्येष संवरक्रमः ॥१६०॥१६१॥
१६२॥

उत्थानिका—किस क्रम से संवर होता है ? सो ही कहते हैं—

अन्वयार्थ—(सर्वदर्शिभिः तेषां हेतवः अध्यवसानानि भणितः) सर्वज्ञदेव ने उन
राग, द्वेष, मोह रूप आस्रवों के हेतु अध्यवसान भाव कहे हैं (मिथ्यात्वं, अज्ञानं च अविरति-
भावः च योगः) ये मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति भाव और योग ये अध्यवसान भाव हैं ।
(हेतु अभावे नियमात् ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः जायते) इन हेतुओं का अभाव हो जाने पर
ज्ञानी के नियम से आस्रव का निरोध हो जाता है (आस्रवभावेन बिना कर्मणः अपि निरोधः
जायते) आस्रव भाव के बिना कर्मों का भी निरोध हो जाता है (च कर्मणः अभावेन नोकर्मणां
अपि निरोधः जायते) और कर्मों का अभाव हो जाने पर नोकर्मों का भी निरोध—संवर
हो जाता है (च नोकर्मनिरोधेन संसारनिरोधनं भवति) और नोकर्मों का संवर हो जाने पर
संसार का अभाव हो जाता है ।

आत्मख्याति—इस जीव के जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगस्वरूप
अध्यवसान—परिणाम हैं वे आत्मा और कर्म इन दोनों में एकत्व की कल्पना के मूल कारण
हैं । ये मिथ्यात्व आदि परिणाम ही राग, द्वेष, मोह लक्षण वाले आस्रव भाव के हेतु हैं ।
ये आस्रवभाव कर्म के लिये हेतु हैं, ये कर्म-नोकर्म शरीर आदि के लिये हेतु हैं और ये
नोकर्म ही संसार के हेतु हैं इसलिये यह आत्मा नित्य ही आत्मा और कर्म में एकत्व का
निश्चय करके या कल्पना करके मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगमय ही आत्मा को

समझ लेता है। इन मिथ्यात्व आदि कारणों से ही राग, द्वेष, मोहरूप आस्रव भाव को भाता है—रागादि भावों को करता है, उन रागादिभावों से ज्ञानावरण आदि कर्म आते हैं, कर्मों से नोकर्म—शरीर होता है और शरीरादि नोकर्म से संसार होता है। जब यह आत्मा आत्मा और कर्म में भेदविज्ञान के हो जाने से शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा को प्राप्त कर लेता है तभी मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग लक्षण वाले अध्यवसान—परिणाम जो आस्रव भाव में हेतु हैं उनका अभाव हो जाता है, इन मिथ्यात्व आदि अध्यवसान भावों के अभाव में राग, द्वेष, मोहरूप आस्रवभाव का अभाव हो जाता है, रागादिभावों के अभाव में कर्मों का अभाव हो जाता है, कर्मों के अभाव में नोकर्मों का अभाव हो जाता है और नोकर्म के अभाव में संसार का भी अभाव हो जाता है। इस प्रकार यही संवर का क्रम है ॥१६०-१६१-१६२॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये द्रव्य प्रत्यय कहलाते हैं, ये ही आस्रव के लिये कारण माने गये हैं। जब इन द्रव्य प्रत्ययों का उदय होता है तब आत्मा में राग, द्वेष और मोहभाव उत्पन्न होते हैं, उन भावों से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के कर्म नानाविध उत्तर भेदों सहित बंध जाते हैं, इन कर्मों के निमित्त से ही शरीर आदि की रचना होती है और शरीर आदि के निमित्त से ही चतुर्गतिरूप संसार बन रहा है। यह आत्मा जब काललब्धि आदि के निमित्त से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है तभी सम्यग्ज्ञानी बनकर, महाव्रती मुनि बनकर, निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर, शुद्धोपयोगी होता हुआ अपनी आत्मा के स्वरूप में लीन होकर पूर्ण भेदविज्ञानी हो जाता है, तभी मिथ्यात्व, अज्ञान आदि द्रव्य प्रत्ययों का अभाव हो जाता है—मिथ्यात्व आदि प्रकृतियाँ बंध से व्युच्छिन्न हो जाती हैं, उनके अभाव में रागादि भावास्रव नहीं होते हैं तब कर्मों का बंध रुक जाने से शरीर आदि नोकर्म भी नहीं रहते हैं तभी संसार का अभाव होकर मोक्ष हो जाता है।

आजकल चौथे, पांचवें, छठे गुणस्थान में क्रम-क्रम से मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवों का संवर होता है। पुण्य कर्मों का संवर नहीं हो पाता है क्योंकि उसके योग्य शुक्लध्यान नहीं है अतः पूर्ण संवर नहीं होता है ऐसा समझकर अपने गुणस्थान के योग्य क्रियाओं में प्रमादी नहीं होना चाहिये। इसे ही कलश काव्यों से दिखलाते हैं—

उपजातिछंद—संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।

स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं ॥१२६॥

अनुष्टुप्—भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।

तादृशावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

काव्यार्थ—यह संवर साक्षात् शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से ही प्रगट होता है और वह शुद्धात्मा की उपलब्धि भेदविज्ञान से ही होती है इसलिये उस भेदविज्ञान को अत्यंत-रूप से ही भाते रहना चाहिये ॥१२६॥

भावार्थ—भेदविज्ञान चतुर्थ, पंचम गुणस्थान में श्रद्धारूप से रहता है । पुनः छठे, सातवें गुणस्थान में कथंचित् ध्यानरूप से प्रारम्भ हो जाता है, पुनः आगे शुद्धात्मा की प्राप्ति कराकर आगे बढ़ते हुये केवलज्ञान को प्राप्त करा देता है अथवा वह ज्ञान ही स्वयं केवल-ज्ञानमय पूर्णज्ञानरूप से परिणत हो जाता है ।

काव्यार्थ—यह भेदविज्ञान अविच्छिन्न धारारूप से तब तक भाते ही रहना चाहिये कि जब तक यह ज्ञान पर से छूटकर अपने ज्ञान में ही प्रतिष्ठित हो जावे—स्थिर हो जावे ॥१३०॥

भावार्थ—इस भेदविज्ञान को उठते-बैठते, चलते-फिरते, आवश्यक क्रिया आदि करते समय तथा ध्यानादि के समय सतत भाते ही रहना चाहिये । कब तक ? जब तक कि यह ज्ञान ज्ञान में ही लीन न हो जावे—यह ज्ञान केन्द्रित होकर निर्विकल्प ध्यानरूप न हो जावे यहाँ ऐसा अभिप्राय है ।

चामर छन्द (वर्णिक)—द्रव्यदृष्टि शुद्ध आत्म तत्त्व को सदा गहे ।

शुद्ध तत्त्व प्राप्ति से हि कर्म का निरोध है ॥

और शुद्ध आत्म तत्त्व भेद ज्ञान से कहे ।

भव्य भेद ज्ञान रूप भावना सदा लहे ॥१२६॥

चामर छन्द (वर्णिक)—ज्यों न अन्य भाव रिक्त ज्ञान ज्ञान में रहे ।

भेद ज्ञान त्यों अखंड रूप ध्यान में रहे ।

ज्ञान ध्येय रूप से, अभेद शुद्ध को गहे

मोक्ष में अभी अकंप रूप से सदा रहे ॥१३०॥

अनुष्टुप्—भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।

अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

काव्यार्थ—इस संसार में जो कोई भी सिद्ध हुये हैं वे सब इस भेदविज्ञान से ही हुये हैं और जो कोई यहाँ कर्मों से बंधे हुये हैं वे सब इस भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हुये हैं ॥१३१॥

भावार्थ—‘अहमिक्को खलु सुद्धो’ इत्यादि प्रकार से सम्यग्दृष्टि जीव के पहले तो ‘मैं एक हूँ, ज्ञानवर्शन स्वरूप हूँ, शुद्ध हूँ’ अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है ऐसा शरीर आदि पर का एवं अपने स्वरूप का भेदज्ञान होता है यही भेदज्ञान आगे ध्यानावस्था में अनुभव में आत्मा से पर को भिन्न कर देता है तभी घोर उपसर्ग परीषह आदि में मुनि विचलित नहीं होते हैं पुनः यही भेदविज्ञान रागादि भावकर्मों से सर्वथा जीव को छुड़ाकर बारहवें गुणस्थान में शुद्ध बना देता है तभी वह केवलज्ञान उत्पन्न करा देता है । अतः पहले सराग सम्यग्दृष्टि का भेदज्ञान उपादेय है पुनः आगे भीतराग सम्यग्दृष्टि का भेदज्ञान साक्षात् सिद्ध अवस्था के लिये कारण है । श्रीजयसेनाचार्य ने अनेक जगह भेदज्ञान का लक्षण किया है । यथा—‘परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणस्यभेदज्ञानस्याभावे’ परमोपेक्षा संयम की भावना से परिणत जो अभेदरत्नत्रयलक्षण भेदज्ञान है उसके अभाव में जीव कर्मों का कर्त्ता होता है इत्यादि ।

चामर छन्द (वर्णिक)—भेद ज्ञान से हि सिद्ध हो रहे, हुए सदा ।

ज्ञान के बिना न कोई मुक्त हो सके कदा ॥

कोई भी सुधी प्रणीत भेद ज्ञान से छुटे ।

वे ही भेदज्ञान के अभाव से सदा बंधे ॥१३१॥

संवाक्यताछंद—

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभात् रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।

विभ्रततोषं परमममलालोकमम्लानमेकं 'ज्ञानं' जाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

काव्यार्थ—भेदज्ञान के प्रगट करने रूप अभ्यास से शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि होती है, शुद्ध तत्त्व की उपलब्धि से रागसमूह का प्रलय कर दिया जाता है और रागसमूह के नष्ट हो जाने से कर्मों का संवर हो जाता है । पुनः यह ज्ञान अपने ज्ञान में ही अविचल हुआ उदित हो जाता है कि जो परम संतोष को धारण करता है, निर्मल आलोक घाता है, म्लानता से रहित है और इसका उद्योत सदाकाल ही रहता है ॥१३२॥

भावार्थ—पहले तो भेदज्ञान के उदित होने के लिये अभ्यास आवश्यक है । पुनः भेदज्ञान के अभ्यास से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है । उस शुद्धात्मा की प्राप्ति हो जाने पर—उस शुद्धोपयोग ध्यान में स्थित होने से राग, द्वेष आदि विभाव भाव समाप्त हो जाते हैं । तभी इस चारित्र मोहनीय के नष्ट हो जाने से कर्मों का आना पूर्णतया रुक जाता है, मात्र एक सातावेवनीय का आस्रव होता रहता है जो कि ईर्ष्यापथ आस्रव नाम से प्रसिद्ध है इससे भगवान् केवली का भी कुछ नहीं बिगड़ता है । इस तरह क्रम से पूर्ण संवर के होने से आत्मा में पूर्ण सन्तोष—शान्ति प्रगट हो जाती है । ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से मलिनता नष्ट हो जाने से यह ज्ञान म्लानतारहित—अम्लान और रागादि कलुषता के अभाव से निर्मल हो जाता है, यह एक—अभेदरूप अथवा पूर्णरूप हो जाता है और नित्य ही उद्योतमान रहता है, क्रम से प्रकट होने का अभाव हो जाता है ।

मुक्तक छन्द (मात्रिक)—जिस भेदज्ञान अनुभूति मात्र से,
शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति कहे ।
उस शुद्धतत्त्व उपलब्धि मात्र से,
राग समूह विलीन रहे ।
'अभयभती' रागादि प्रलय से
विभ्रि के संवर से ज्ञान कहे ।
जो शान्त अमल विकसित अकंप,
इक ज्ञान रूप उद्योत रहे ॥१३२॥

१. यदनाविकालादारभ्याशुद्धरागादिविभावरूपेण परिणतं तदेव काललब्धि प्राप्य शुद्धस्वरूपेण परिणतमित्यर्थः ॥

इति संवरो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायात्मख्याती

संवरः प्रकाशः पञ्चवर्गोऽयः ॥५॥

इस प्रकार यहाँ से संवर निकल गया । अर्थात् रंगभूमि में संवर अपना स्वांग लेकर आया था सो ज्ञान के द्वारा ज्ञान लेने के बाद वह नृत्य करके रंगभूमि से निकल गया ऐसा समझना । इस प्रकार श्रीअमृतचन्द्रसूरि विरचित आत्मख्यातिनाम की समयसार की व्याख्या में संवर को प्ररूपित करने वाला यह पांचवां अंक पूर्ण हुआ ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत

ग्रंथ में श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत आत्मख्याति के रहस्य

को प्रकाशित करने वाली आधिका

ज्ञानमतीकृत इस "ज्ञानज्योति"

भाषा टीका में यह संवर

को प्ररूपित करने वाला

पांचवां अधिकार

पूर्ण हुआ ।



(उत्थानिका)—अथ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिविभावकर्मरूपाणामध्यवसानानां अभावो भवतीत्यादिरूपेण संवरस्य क्रमाख्यानं कथयति—

तात्पर्यवृत्तिः—तेसि हेतू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्ववरसीहि । तेषां प्रसिद्धानां जीवगतरागादिविभावकर्मरूपाणां भावासवाणां हेतवः कारणानि भणितानि । कानि ? उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि । कैः, सर्वदशभिः । ननु अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि, तानि जीवगतान्येव भवन्ति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि भावप्रत्ययानि कथं भवन्तीति ? नैवं, यतः कारणात् भावकर्म द्विधा भवति । जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च ।

उत्थानिका—उदय में प्राप्त हुये द्रव्य प्रत्यय ही हैं स्वरूप जिनके ऐसे रागादि अध्यवसान भावों का अभाव हो जाने पर जीव में होने वाले रागादि भावकर्म रूप अध्यवसान भावों का भी अभाव हो जाता है इत्यादि रूप से संवर के क्रम का व्याख्यान करते हैं—

तात्पर्यवृत्ति—उन प्रसिद्ध जीवगत रागादि विभाव कर्मरूप जो भावासव हैं उनके कारण उदय में आये हुये द्रव्यप्रत्यय से होने वाले रागादि परिणाम हैं ऐसा श्री सर्वज्ञदेव ने कहा है ।

प्रश्न—अध्यवसान—परिणाम जो भावकर्मरूप हैं वे जीव में होने से जीवगत ही होते हैं, वे उदय को प्राप्त हुये द्रव्य प्रत्यय में होने वाले भावप्रत्यय कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि भावकर्म के दो भेद हैं—जीवगत भावकर्म और पुद्गलगत भावकर्म । उसे ही कहते हैं—जो भावक्रोधादि की प्रगटता रूप हैं वे जीवगत भावकर्म हैं और जो पुद्गलपिंड की शक्तिरूप हैं वे पुद्गलद्रव्यगत भावकर्म हैं । कहा भी है—

‘कर्मरूपपुद्गल का जो पिंड है वह द्रव्यकर्म है और क्रोधादि परिणाम भावकर्म हैं ।’ इस गाथा में जीव में होने वाले ऐसे जीवगत भावकर्म को कहा है । पुनः ‘कर्मरूप पुद्गल

तथाहि—भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते । पुद्गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं ।
 तथा चोक्तं—पुद्गलपिण्डो द्रव्यं कोहादी भावद्रव्यं तु—इति जीवभावगतं भण्यते । पुद्गलपिण्डो
 द्रव्यं तस्सती भावकर्मं तु—इति पुद्गलद्रव्यगतं । अथ कृष्णलो यथा मधुरकटुकद्रव्यस्य
 भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं, तद्व्यक्तिकारणभूतं मधुर-
 कटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं । एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्गलगतं च द्विधेति
 भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं । कानि तानि, अध्यवसानानि । मिच्छन्तं अण्णाणं
 अविरतिभावो य जोगो य मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिर्योगश्चेति । प्रथमगाथा गता ॥ हेतुअभावे
 नियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययानां जीवगतभावास्त्व-
 हेतुभूतानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य उदयागतद्रव्यकर्मरूपाणां अभावे सति नियमा-
 त्रिश्चयात् रागादिरूपभावास्त्वनिरोधलक्षणः संवरो जायते । आसवभावेण विना जायदि
 कम्मस्स दु णिरोहो निरास्त्वपरमात्मतत्त्वविलक्षणस्य जीवगतभावास्त्वस्य भावेन स्वरूपेण
 विना जायते कर्मणो निरोधः रूपः संवरः । कस्य ? परमात्मतत्त्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मणः

का जो पिण्ड है वह द्रव्यकर्म है और उन्हीं में जो फल देने की शक्ति है वह भावकर्म है ।
 इस कथन से पुद्गल में होने वाले ऐसे पुद्गलद्रव्यगत भावकर्म को कहा है । अब इसका
 दृष्टान्त दे रहे हैं—

जैसे मधुर या कड़वे किसी पदार्थ को खाने के समय मधुर या कड़वे स्वाद से अनुभव
 के विकल्प रूप जो भाव हैं वे जीव में होने वाले होने से जीवभावगत हैं । पुनः उन
 मीठे-कड़वे के अनुभव में जो कारणभूत मीठे और कड़वे द्रव्य में होने वाले शक्तिरूप
 भाव हैं वे पुद्गल में होने वाले होने से पुद्गलद्रव्यगत हैं । इस तरह यहां भावकर्म का
 स्वरूप जीवगत और पुद्गलगत ऐसे दो प्रकार के होते हैं ऐसा भावकर्म के व्याख्यान के
 समय सभी जगह समझ लेना चाहिये । वे भावकर्मरूप अध्यवसान मिथ्यात्व, अज्ञान,
 अविरति और योग इन चार प्रकार के हैं । इस तरह यहां प्रथम गाथा हुई ।

ये पूर्वोक्त उदय में आये हुये द्रव्यप्रत्यय जीवगत भावास्त्व के लिये हेतुभूत हैं,
 वीतराग स्वसंवेदन ज्ञानी जीव के उदय में आने वाले द्रव्यकर्मरूप इन प्रत्ययों का अभाव

इति द्वितीयगाथा गता ॥ कम्मसाभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो । ततएव नवतर-
कर्माभावेन संवरेण शरीरादिनोकर्मणां च जायते निरोधः संवरः । णोकम्मणिरोहेण य संसार-
णिरोहणं होवि । नोकर्मनिरोधेन संवरेण संसारातीतशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतद्रव्यक्षेत्रादिपंच-
प्रकारसंसारनिरोधनं भवतीति तृतीयागाथा गता । एवं संवरक्रमाख्यानेन गाथात्रयं
गतं ॥१६६॥२००॥२०१॥

एवं पात्रवदास्रवविपक्षभूतः संवरो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां
तात्पर्यवृत्तौ चतुर्दशगाथाभिः षट्सुस्थलैः आस्रवविपक्षद्वारेण संवरनामा
षष्ठोऽधिकारः समाप्तः ॥५॥

हो जाने पर निश्चय से रागादि भावास्रव के निरोधस्वरूप संवर हो जाता है, पुनः
आस्रव रहित परमात्म तत्त्व से विलक्षण जीवगत भावास्रवों के बिना कर्मों के निरोधरूप
संवर हो जाता है, जो कि परमात्म तत्त्व के प्रच्छादक नूतन द्रव्यकर्म हैं उनका अभाव
हो जाता है : यह दूसरी गाथा हुई । इसके बाद नूतन कर्मों का अभाव हो जाने पर
शरीर आदि नोकर्मों के निरोधरूप संवर हो जाता है, नोकर्म के संवर से संसार से परे
शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रतिपक्षी जो द्रव्य क्षेत्र काल भव और भावरूप पांच प्रकार के संसार
हैं उन संसार के निरोधरूप संवर हो जाता है, ऐसी यह तीसरी गाथा हुई । इस प्रकार
संवर के क्रम के व्याख्यान से तीन गाथायें पूर्ण हुई ॥१६६-२००-२०१॥

इस प्रकार पात्र के समान आस्रव के विपक्षरूप यह संवर इस रंगभूमि से निकल
कर चला गया ।

इस तरह श्रीजयसेनाचार्यकृत शुद्धात्मानुभूतिलक्षण वाली
'तात्पर्यवृत्ति' नाम की इस समयसार की व्याख्या
में चौदह गाथाओं में छह स्थलों से आस्रव
के विपक्ष द्वारा यह 'संवर' नाम का
छठा अधिकार समाप्त
हुआ ।



नोट—श्रीअमृतचंद्रसूरि ने जीवाजीवाधिकार को एक ही रखा है अतः उनके अनुसार यह पांचवां अधिकार पूर्ण हुआ है । तथा श्रीजयसेनाचार्य ने जीवाधिकार और अजीवाधिकार को अलग-अलग कर दिया है अतः उनके अनुसार यह छठा अधिकार पूर्ण हुआ है । श्रीअमृतचंद्रसूरि ने यहां तक एक सौ ब्यानवे (१६२) गाथायें मानी हैं एवं एक सौ बत्तीस कलश काव्य बनाये हैं । श्री जयसेनाचार्य ने यहां तक दो सौ एक (२०१) गाथायें मानी हैं ।

इति श्रीभद्रभगवत्कुंदकुंदाचार्य विरचित "समयसार" प्राभृत
ग्रंथ में श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मस्थिति टीका एवं
श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य
को प्रकाशित करने वाली आर्यिका
ज्ञानमतीकृत इस "ज्ञानज्योति"
नामा भाषा टीका में संवर
को कहने वाला यह
पांचवां अधिकार
पूर्ण हुआ ।



संवर अधिकार का सार

यहां आचार्य श्रीकुंदकुंददेव ने इस संवर अधिकार में प्रारम्भ में कहा है कि उपयोग में ही उपयोग है क्रोधादि कषायों से, कर्म अथवा नोकर्म शरीर आदि में उपयोग नहीं है। इसकी टीका में श्रीजयसेनाचार्य ने कहा है कि “निर्विकारचिदानन्दकलक्षण-शुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धस्वभावः सन्निति । यत्रैवंभूतो संवरो नास्ति तत्रास्त्रवो भवति ।” निर्विकार चिदानन्द एक लक्षण वाले शुद्धोपयोग से यह शुद्धात्मा शुद्धस्वभावी होता है जहां ऐसा संवर नहीं है वहां आस्त्रव होता है ऐसा इस अधिकार में सर्वत्र समझना। इसी की आत्मख्याति टीका में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने भी यही बात कही है कि ‘जब यह भेदविज्ञान अचलित—स्थिर हो जाता है तभी शुद्धोपयोगमय होने से ज्ञान ज्ञानरूप ही रह जाता है तभी किंचित मात्र भी राग-द्वेषादि नहीं रह जाते हैं। इसीलिये भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और उसकी प्राप्ति से रागादि का अभाव होकर संवर होता है।

आगे पुनः भेदविज्ञान से कैसे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है? उसे ही खुलासा करके शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है यह स्पष्ट किया है। पुनः गाथा १८७ से १८६ अ०, १६४ से १६६ ज० तक यह कहा है कि पुण्य-पाप का निरोध करके दर्शनज्ञान में स्थित हो जाते हैं वे सर्व परिग्रहत्यागी मुनि ही आत्मा का ध्यान करके कर्मों से छूट जाते हैं। यहां बिल्कुल स्पष्ट है कि यह प्रकरण महामुनियों के लिये ही है। पुनरपि आगे तीन गाथाओं में भी (१६० से १६२ तक अ०, १६६ से २०१ तक ज०) में क्रम का बहुत ही सुन्दर वर्णन है कि मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार हेतु आस्त्रव के हेतु हैं। इनके अभाव से आस्त्रव का निरोध होता है। इनका अभाव भी क्रम-क्रम से ही होता है ऐसा समझना चाहिये। पहले से तीसरे गुणस्थान तक मिथ्यात्व है आगे उसका निरोध हुआ, पहले से तीसरे तक ही मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान है अतः उसके आगे उसका भी निरोध हुआ। पहले से चौथे तक अविरति है, पांचवें में वेशविरति है

उसका भी आगे छठे में निरोध हो गया । इसके आगे योग है अथवा दसवें तक कषायें हैं । क्रम-क्रम से इनका निरोध होने से आस्रव का निरोध होता है ।

संज्ञांतिक भाषा में योग का निरोध तो चौदहवें गुणस्थान में होता है वहीं पर सातावेदनीय के आस्रवरूप भी कर्मों का पूर्णतया निरोध हो जाता है, इस कर्म के अभाव में पुनः चौदहवें गुणस्थान के अन्त में नोकर्मरूप शरीर आदि का अभाव हो जाता है तभी संसार का अभाव हो जाने से यह जीव सिद्ध हो जाता है । अथवा कथंचित् अध्यात्मदृष्टि से दशवें गुणस्थान में कषायों का अभाव हो जाने से कर्म-नोकर्म और संसार का भी अभाव हो जाता है क्योंकि आगे क्षीणसोह गुणस्थानवर्ती महामुनि नियम से तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान् हो जाते हैं और उनके सातावेदनीय का आस्रव कुछ अर्थ नहीं रखता है इसलिये उनके संसार का अभाव ही हुआ समझना चाहिये ।

इस अधिकार की टीका में य कलशकाव्य में श्रीअमृतचंद्रसूरि ने कहा है कि—

संपद्यते संवर एष साक्षात्, शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।

स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमसीवभाव्यं ॥१२६॥

यह संवर शुद्धात्मा की प्राप्ति से होता है, शुद्धात्मा की प्राप्ति भेदविज्ञान से होती है इत्यादि । ।

इसकी हिन्दी टीका में पं० जयचंद्र छाबड़ा ने भी कहा है कि—

भेदविज्ञान कला प्रगटे तब शुद्ध स्वभाव लहे अपना ही ।

रागद्वेष विमोह सबहि गलि जाय इमे दुठ कर्म रुका ही ॥

उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करे बहु तोष धरे परमात्म माही ।

यों मुनिराज भली विधि धारत केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥

इसमें इन्होंने अन्त में यही कहा है कि मुनिराज ही भली प्रकार से भेदविज्ञान की प्राप्ति करके शुद्ध आत्मा के स्वभाव को प्रगट करके रागादि का अभाव कर उज्ज्वल ज्ञान

को प्रगट कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । इस प्रकार से यह पूर्ण संवर तो मुनियों के ही होता है ।

अविरत सम्यग्दृष्टि या श्रावकों के आवश्यक क्रिया—दान, पूजन आदि करते समय अशुभ कर्मों का आना रुक जाने से अशुभ कर्मों का संवर होता है, पुण्यकर्मों का बंध होता है और पुराने बंधे हुये असाता आदि अशुभ कर्मों की ही निर्जरा भी होती है । इसलिये यदि कोई कहे कि अविरति भी शुभ क्रियाओं को हेय बुद्धि से करे यह समझ में नहीं आता है क्योंकि उसे तो संसार शरीर और भोगों से बँराग्य होने से उन्हें वह हेय बुद्धि से करता है किन्तु पंचपरमेष्ठी में अतिशय अनुरागपूर्ण भक्ति होने से उनकी पूजा आदि बड़े आदर से, उपादेय बुद्धि से ही करता है । हां, वह यह भावना अवश्य भाता रहता है कि कब मुझे शुद्धोपयोग परिणतिरूप आत्मा का अनुभव प्राप्त होगा । उसके पहले कब मैं निर्ग्रन्थ दिगंबर मुनि बनकर सकल चारित्र्य का पालन करूँगा ? यह भी भावना भाता रहता है ।

यही क्रम हमें एक न एक दिन शुद्धात्म तत्त्व को प्राप्त करायेगा इसमें कोई संदेह नहीं है ।

इति श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यविरचित समयसारप्राभूत ग्रंथ में
श्रीअमृतचंद्रसूरिकृत आत्मख्याति टीका एवं श्रीजयसेनाचार्य-
कृत तात्पर्यवृत्ति टीका के रहस्य को प्रकाशित करने
वाली आर्यिका ज्ञानमतीकृत इस ज्ञानज्योति
नामा भाषा टीका में यह संवराधिकार
नामक पाँचवां अधिकार
पूर्ण हुआ ।



✱ समयसार प्रशस्ति ✱

महावीर प्रभु को वंदन कर उनके शासन की सरण लिया ।

मां सरस्वती अमृत वाणी को भक्तिभाव से नमन किया ॥

श्री कुंदकुंद आभ्याय सरस्वति गच्छ बलात्कारगण माना ।

इस मणिमाला के गुरुओं को नमते ही पाप कर्म हाना ॥१॥

इसमें चारित्र्यचक्रवर्ती श्री सांतिसागराचार्य हुये ।

उनके ही पट्टाध्वीश प्रथम श्री वीरसागराचार्य हुये ॥

इनकी शिष्या में ज्ञानमती, गणिनी आशिका प्रसिद्ध हुई ।

मां सरस्वती की कृपा प्राप्त कर कुछ बुद्धि प्रस्फुटित हुई ॥२॥

यह वर्तमान आध्यात्मिक युग श्री कुंदकुंद को जग जाने ।

अध्यात्मशास्त्र श्री समयसार उसके वाचन में रुचि ठाने ॥

श्री अमृतचंद्रसूरि जयसेनाचार्य उभय की टोकाये ।

ये भाषाओं का मर्म खोलती, भव्य जनों के मन भाये ॥३॥

इन दोनों का अनुवाद किया मैं ज्ञानज्योति टीका करके ।

यह महाग्रन्थ है मुनियों का ऐसा अभिप्राय समझ करके ॥

इसमें नयपक्षातीत कथन बस समयसार को ही माना ।

श्री कुंदकुंद स्वयमेव कहे उनके वचनों की सरधाना ॥४॥

वर तीर्थ हस्तिनापुर उत्तम यह सुंदर जंबूद्वीप बना ।

इस मध्य सुमेरु चौरासी फुट मोथ रहा उत्तुंग बना ॥

वीराब्द पचीस शतक पंद्रह फागुन सुदि स्यारस खेळ तिथि ।

यह पूर्ण किया टीका मैंने जो ज्ञानज्योति से मान्य अती ॥५॥

वर अष्टसहस्री मूलाचारादिक का मैं अनुवाद किया ।

स्याहाद अंद्रिका टीका से श्री नियमसार विख्यात किया ॥

इन्द्रध्वज कल्पदुम विधान सर्वतोभद्र आदिक रचना ।

अद्भुत विधान जगमान्य हुये बस जिन भक्ति की ही महिमा ॥६॥

मेरे से लिखित व अनुवादित मुद्रित अब तक सो ग्रन्थ हुये ।

बस आत्म विशुद्धी हो मेरी इसना ही मेरा लक्ष्य हिये ॥

जयशील रहे जिनशासन यह जब तक नभ में जगि सूर्य रहें ।

जयशील थे जंबूद्वीप रहे इस मध्य सुदर्शन मेरु रहे ॥७॥

श्री कुंदकुंद आचार्य शिरोमणि इस जब में जयशील रहें ।

श्री अमृतचंद्रसूरि जयसेनाचार्य गुरु जयशील रहें ॥

जयशील रहे यह ज्ञानज्योति टीका तब तक ही इस युग में ।

जब तक जिन धर्म उद्योत करे, सज्जानमती हो जन मन में ॥८॥

❀ परिशिष्ट ❀

समयसार-मूलगाथा

[श्री जयसेनाचार्य की टीका के आधार से संवर अधिकार तक]

वदित्तु सव्वसिद्धे, धुवममलमणोवमं गदि पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥
जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदं तं हि ससमयं जाण ।
पुगलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥२॥
एयत्तणिच्छयमवो समओ सध्वत्थ सुंदरो लोगे ।
बंधकहाएयत्ते तेण विसंवादिणो होदि ॥३॥
सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स धि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विभत्तस्स ॥४॥
तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सविह्वेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घित्तव्वं ॥५॥
णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणमो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धा णादा जो सो दु सो चेव ॥६॥
वव्हारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणमो सुद्धो ॥७॥
जह् णयि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेवुं ।
तह् वव्हारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥
जो हि सुदेणमिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ॥९॥
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुदकेवली तहमा ॥१०॥ (युगलम्)

णाणट्ठिम भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
 ते पुण तिण्णिवि आदा तहमा कुण भावणं आदे ॥११॥
 जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
 सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥१२॥
 ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
 भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥१३॥
 सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहि ।
 ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे ॥१४॥
 भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
 आसवसंवरणिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥
 जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
 अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥१६॥
 जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
 अपदेसमुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१७॥
 आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
 आदा पच्चक्खणो आदा मे संवरे जोगे ॥१८॥
 दंसणणाणच्चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
 ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्चयदो ॥१९॥
 जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्वहवि ।
 तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थोओ पयत्तेण ॥२०॥
 एवं हि जीवराथा णादव्वो तह य सद्वहेदव्वो ।
 अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥२१॥ (युगलम्)
 कम्मो णोकम्महिय अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
 जा एसा खुल बुद्धी अप्पडिबुद्धी हवदि ताव ॥२२॥
 जीवेव अजीवे वा संपदि समयमिहि जत्थ उवजुत्तो ।
 तत्थेव बंध मोक्खो, होदि समासेण णिदिट्ठो ॥२३॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सोहोदि तस्स भावस्स ।
 णिच्छयदो व्यवहारा पोगलकम्माण कत्तारं ॥२४॥
 अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
 अण्णं जं परदब्बं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२५॥
 आसि मम पुब्बमेदं अहमेदं चावि पुब्बकालहिम ।
 होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ॥२६॥
 एवं तु असंभूदं आदविषयं करेदि सम्मूढो ।
 भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असम्मूढो ॥२७॥ (त्रिकलम्)
 अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दब्बं ।
 बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२८॥
 सव्वण्हुणाणदिदुठो जीवो उवओगलवखणो णिच्चं ।
 कह सो पुग्गलदब्बीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२९॥
 जदि सो पुग्गलदब्बीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
 तो सक्का वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दब्बं ॥३०॥ (त्रिकलम्)
 जदि जीवो ण सरीरं तिथयरायरियसंथुदी चेव ।
 सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥३१॥
 व्यवहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इवको ।
 ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकदुठो ॥३२॥
 इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
 मण्णवि ह्मु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥३३॥
 तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीर गुणा हि होति केवलिणो ।
 केवलिगुणो थुणदि ओ सो तच्चं केवलं थुणवि ॥३४॥
 णयरिम्म वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
 देहगुणे थुध्वंते ण केवलिगुणा थुदा होति ॥३५॥
 जो इंदिए जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
 तं खलु जिविदियं ते भणंति णिच्छिदा साहू ॥३६॥

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
 तं जिदमोहं साहुं, परमट्ठवियाणया विति ॥३७॥
 जिवमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
 तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३८॥
 णाणं सत्त्वेभावे पच्चवखाई परेत्ति णाङ्गण ।
 तम्हा पच्चवखाणं णाणं नियमा मुणेदव्वं ॥३९॥
 जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयवि ।
 तह सव्वे परभावे, णाङ्गण विमुंचदे णाणी ॥४०॥
 णत्थि मम कोवि जोहो दुग्गवि उवओग एव अहमिक्को ।
 तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विति ॥४१॥
 णत्थि मम धम्म आवी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
 तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विति ॥४२॥
 अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूद्धो ।
 णवि अत्थि मज्झ किंचिवि, अप्पणं परमाणुमित्तंपि ॥४३॥
 अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
 जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविति ॥४४॥
 अवरे अज्झवसाणे, सुतिव्व—मंदाणुभागगं जीवं ।
 मण्णंति तहा अवरे, णोकम्मं चाधि जीवोत्ति ॥४५॥
 कम्मसुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
 तिव्वत्तणमदंत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४६॥
 जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
 अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४७॥
 एवविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
 तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिदिदट्ठा ॥४८॥
 एवे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पणा ।
 केयत्तिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति वुचंति ॥४९॥

अट्ठविहं पि य कम्मं सब्बं पुग्गलमयं जिणा विति ।
 जस्स फलं तं वुच्चदि वुवखं ति विपच्चमाणस्स ॥५०॥
 ववहारस्स वरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
 जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥५१॥
 राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
 ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥५२॥
 एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावार्णं ।
 जीवो त्ति कव्वो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥५३॥ (युगलम्)
 अरसमरुवमगंधं अध्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
 जाण अलिगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥५४॥
 जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णणि रसो णवि य फासो ।
 णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ॥५५॥
 जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
 णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥
 जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
 णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ॥५७॥
 जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण वंघठाणा वा ।
 णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥
 णो ठिदिबंघट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
 णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥
 णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
 जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥ (षट्कम्)
 ववहारेण दु एदे जीवस्स हवन्ति वण्णसादीया ।
 गुणठाणंताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥६१॥
 एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
 ण य हुंति तस्स ताणि दु उदओग गुणाधिगो जम्हा ॥६२॥

पंथे मुस्संतं पस्सिद्वण लोगा भणंति ववहारी ।
 मुस्सवि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सवे कोई ॥६३॥
 तह जीवे कम्ममाणं रोकम्ममाणं च पस्सिद्वं वण्णं ।
 जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो ॥६४॥
 एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्विट्ठा ।
 सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्ह ववविसंति ॥६५॥
 तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होति वण्णादी ।
 संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णावओ केई ॥६६॥
 जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जवि हि ।
 जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेतो हि वे कोई ॥६७॥
 जवि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होति वण्णादी ।
 तम्हा संसारत्था जीवा रुवित्तमावण्णा ॥६८॥
 एवं पोगलवच्चं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
 णिव्धाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोगलो पत्तो ॥६९॥ (पुगलम्)
 एवकं चं दोण्णि लिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
 बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥७०॥
 एवाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहि ।
 पयडीहि पुगलमईहि ताहि कहं भण्णदे जीवो ॥७१॥
 पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बावरा य जे चेव ।
 देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥७२॥
 मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा ।
 ते कह हथंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥७३॥
 जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हं पि ।
 अण्णाणी तावदु सो कोधादिमु वट्ठदे जीवो ॥७४॥
 कोधाविमु वट्ठंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
 जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्ववरसीहि ॥७५॥ (पुग्गम्)

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
 णादं होदि विसेसंतरं तइया ण बंधो से ॥७६॥
 णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीय भावं च ।
 दुक्खस्स कारणं ति य तदो गिर्यत्ति कुणदि जीवो ॥७७॥
 अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्मसओ णाणदंसणसमागो ।
 तहिं ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥
 जीवणिबद्धा एदे अध्व अणिच्चा तहा असरणा य ।
 दुक्खा दुक्खफलाणि य णादूण णिवत्तदे तेहि ॥७९॥
 कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
 ण करेदि एवमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥
 कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
 धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८१॥
 ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये ।
 णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८२॥
 ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
 णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥८३॥
 ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
 णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥८४॥
 ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
 पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमदि सएहि भावेहि ॥८५॥
 जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
 पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥
 ण वि कुट्टरदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
 अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८७॥
 एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
 पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥ (त्रिकलम्)

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
 वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८६॥
 ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करोदि अणेयविहं ।
 तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८७॥
 जदि पुग्गलकम्मणिणं कुब्बदि तं चेव वेदयदि आदा ।
 दो किरियावादित्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ॥८८॥
 जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुब्बन्ति ।
 तेण दु मिच्छादिट्ठी दो किरियावादिणो होति ॥८९॥
 पोग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
 पोग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥९०॥
 मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
 अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥९१॥
 पोग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं ।
 उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु ॥९२॥
 उवओगस्स अणाई परिणामा तिणिण मोहजुत्तस्स ।
 मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदि भावो य णादव्वो ॥९३॥
 एवेसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
 जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९४॥
 जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
 कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पोग्गलं दव्वं ॥९५॥
 परमप्पाणं कुब्बदि अप्पाणं पि य परं करंतो सो ।
 अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९६॥
 परमप्पाणमकुब्बं अप्पाणं पि य परं अकुब्बंतो ।
 सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि ॥९७॥
 तिविहो एसुवओगो अस्सविथप्पं करेदि कोधोहं ।
 कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९८॥

तिविहो एमुवओगो अस्तवियप्पं करेदि धम्मादी ।
 कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥१०२॥
 एवं पराणि दब्बाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
 अप्पार्णं अवि य परं करेदि अण्णाणभावेण ॥१०३॥
 एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
 एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सच्चकत्तित्तं ॥१०४॥
 व्यवहारेण दु आदा करेदि धडपडरथाणि दब्बाणि ।
 करणाणि य कम्माणि य णोकम्मणीह विविहाणि ॥१०५॥
 जदि सो परदब्बाणि य करिज्ज नियमेण तम्मओ होज्ज ।
 जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसि हवदि कत्ता ॥१०६॥
 जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दब्बे ।
 जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसि हवदि कत्ता ॥१०७॥
 जे पुग्गलदब्बाणं परिणामा होति णाणआवरणा ।
 ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०८॥
 जं भायं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
 तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेवगो अप्पा ॥१०९॥
 जो जहिम गुणो दब्बे सो अण्णहिम दु ण संकमदि दब्बे ।
 सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दब्बं ॥११०॥
 दब्बगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयहिम कम्महिम ।
 तं उभयमकुच्चंतो तहिम कहं तस्स सो कत्ता ॥१११॥
 जीवहिम हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
 जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥११२॥
 जोधोहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
 तह व्यवहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥११३॥
 उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिह्णदि य ।
 आदा पुग्गलदब्बं व्यवहारणयस्स वत्तव्वं ॥११४॥

जह राया चवहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविबो ।
 तह जीवो घवहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥११५॥
 सामणपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
 मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा बोद्धव्वा ॥११६॥
 तेसि पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो ।
 मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११७॥
 एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंमवा जहमा ।
 ते जदि करंति कम्मं णवि तेसि वेदगो आदा ॥११८॥
 मुण सण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जहमा ।
 तम्हा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११९॥ (चतुष्कं)
 जह जीवस्स अणणुवओगो कोधो वि तह अदि अणणो ।
 जीवत्साजीवस्स य एवमणणत्तमावणं ॥१२०॥
 एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमवो तहाजीवो ।
 अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥१२१॥
 अह पुण अण्णो कोहो अणुवओगप्पगो हववि चेदा ।
 जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥१२२॥
 जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
 जदि पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥१२३॥
 कम्मइयवगणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
 संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२४॥
 जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वणि कम्मभावेण ।
 ते सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणो ॥१२५॥ (त्रिकलम्)
 ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहि ।
 जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि ॥१२६॥
 अपरिणमंते हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहि ।
 संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२७॥

पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
 तं सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहो ॥१२८॥
 अह सयमप्पा परिणमदि कोहत्तभावेण एस दे बुद्धी ।
 कोहो परिणामयदे जीवस्स कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२९॥
 कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
 माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१३०॥
 जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
 तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥१३१॥
 जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
 तं जियमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥१३२॥
 जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
 तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विति ॥१३३॥
 जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होवि तस्स भावस्स ।
 णाणिस्स दु णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१३४॥
 अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
 णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्या दु कम्माणि ॥१३५॥
 णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
 जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया ॥१३६॥
 अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायदे भावो ।
 तह्या सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१३७॥
 कणयमया भावादो जायते कुंडलादयो भावा ।
 अयमययाभावो जह जायंते तु कडयादी ॥१३८॥
 अण्णाणमया भावा अण्णाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
 णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होति ॥१३९॥ (युग्मम्)
 मिच्छत्तस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं ।
 असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं ॥१४०॥

अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
 जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ ॥१४१॥
 तं जाण जोग उदअं जो जं वाणं तु चिट्ठउच्छाओ ।
 सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो धा ॥१४२॥
 एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवगणागयं जं तु ।
 परिणमवे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहि ॥१४३॥
 तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवगणागयं जइया ।
 तइया दु होदि हेदु जीवो परिणामभावाणं ॥१४४॥ (पंचकम्)
 जीवस्स दु कम्मेण यसह परिणामा दु होति रागादी ।
 एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिभावणा ॥१४५॥
 एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहि ।
 ता कम्मोदय हेद्वहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४६॥
 एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
 ता जीवभावहेद्वहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४७॥ (युग्मम्)
 जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिवं ।
 सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्ध पुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४८॥
 कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपवखं ।
 पक्खातिवकंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४९॥
 दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरि तु समयपडिबद्धो ।
 ण दु णयपवखं गिण्हदि किंचिवि णयपवखपरिहीणो ॥१५०॥
 सम्मद्वंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
 सव्वणयपवखरहिदो भणिवो जो सो समयसारो ॥१५१॥
 कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
 किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१५२॥
 सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
 बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१५३॥

तह्या दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसगं ।
 साधीणो हि धिणासो कुसीलसंसगरायेण ॥१५४॥
 जहणाम कोवि पुरिसो, कुच्छियसीलं जणं विघाणित्ता ।
 वज्जेदि तेण समयं संसगं रायकरणं च ॥१५५॥
 एमेव कम्मपयडी सोलसहायं हि कुच्छिदं णावुं ।
 वज्जंति परिहरंति य तस्संसगं सहावरदा ॥१५६॥
 रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
 एसो जिणोवदेसो तह्या कम्मेसु मारज्ज ॥१५७॥
 परमट्ठो खलु समओ, सुद्धो जो केवलो मुणो णाणो ।
 तह्मि ट्ठिदा सहावे, मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५८॥
 परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं ववं च धारयदि ।
 तं सव्वं बालतवं बालववं विति सव्वण्ह ॥१५९॥
 वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
 परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होति अण्णाणी ॥१६०॥
 परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छन्ति ।
 संसारगमणहेवुं विमोक्खहेउं अजाणंता ॥१६१॥
 जीवादी सदहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
 रागादि परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१६२॥
 मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्ठन्ति ।
 परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥१६३॥
 वत्थस्स सेवभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
 मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥१६४॥
 वत्थस्स सेवभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
 अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णादव्व ॥१६५॥
 वत्थस्स सेवभावो जह णासेदि मलविमेलणाच्छण्णो ।
 तह दु कसायाच्छण्णं चारित्तं होदि णादव्वं ॥१६६॥ (त्रिकलम्)

सो सव्वणाणवरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो ।
 संसारसमावण्णो णवि जाणवि सव्वदो सव्वं ॥१६७॥
 सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं ।
 तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठोत्ति णायव्वो ॥१६८॥
 णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं ।
 तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६९॥
 चारित्तं पडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं ।
 तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१७०॥
 मिच्छत्तं अविरमणं कषाय जोगा य सण्णसण्णादु ।
 बहुविहभेदा जीवे तस्सेव अण्णपरिणामा ॥१७१॥
 णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होति ।
 तेसिपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१७२॥
 णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठस्स आसवणिरोहो ।
 संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१७३॥
 भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि ।
 रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि ॥१७४॥
 पक्के फलम्मि पडिदे जह् ण फलं बज्झदे पुणो विटे ।
 जीवस्स कम्मभावे पहिदे ण पुणोदयमुवेहि ॥१७५॥
 पुठवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
 कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेदि णाणिस्स ॥१७६॥
 चहुविह अण्यभेयं बंधते णाणदंसणगुणेहि ।
 समये समये जह्वा तेण अबंधुत्ति णाणी दु ॥१७७॥
 जह्मा दु जह्णादो णाणगुणादो पुणोचि परिणमदि ।
 अणत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७८॥
 दंसणणचरित्तं, जं परिणमदे जह्णभावेण ।
 णाणी तेण दु बज्झदि पुगलकम्मेण विविहेण ॥१७९॥

सन्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठस्स ।
 उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१८०॥
 संती दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
 बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह्णरस्स ॥१८१॥
 होद्वण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह्णहवन्ति उवभोज्जा ।
 सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणाविभावेहि ॥१८२॥
 एवेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि ।
 आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिवा ॥१८३॥ (चतुष्कं)
 रोगो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स ।
 तहमा आसवभावेण विणा हेद्व ण पच्चया होति ॥१८४॥
 हेद्व चट्ठवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि ।
 तेषिं पिथ रागादं तेषिमभावे ण वज्झन्ति ॥१८५॥
 जह्णपुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणोयविहं ।
 मंसवसारुहिरादी भावे उदरगिसंजुत्तो ॥१८६॥
 तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
 वज्झन्ते कम्मं ते णयपरिहीणा दु ते जीवा ॥१८७॥
 उवओगे उवओगो कोहाविसु णत्थि कोवि उवओगो ।
 कोहे कोहो चेवहि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८८॥
 अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे खावि णत्थि उवओगो ।
 उवओगहिमय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१८९॥
 एवं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स ।
 तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धया ॥१९०॥ (त्रिकलम्)
 जह्णकणयमगितवियं पि कणयसभावं ण तं परिकव्वयदि ।
 तह कम्मोदयतविदो ण जह्णदि णाणी दु णाणित्तं ॥१९१॥
 एवं जाणदि णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
 अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१९२॥

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धचेवप्पयं सहदि जीवो ।
 जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहवि ॥१६३॥
 अप्पाणमप्पणारुद्धिऊण दो पुण्णपाव जोगेसु ।
 दंसणणाणहिमठिदो इच्छाविरदो य अण्णहिम ॥१६४॥
 जो सव्वसंगमुक्को ज्ञायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
 णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चित्तेदि एयत्तं ॥१६५॥
 अप्पाणं ज्ञायंतो दंसणणाणमओ अण्णणमणो ।
 लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥१६६॥
 उव्वेसेण परोक्खं रुक्खं जह पत्तिदूण णादेदि ।
 मण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥१६७॥
 कोविदिदण्णो साहू संपडिकाले भणिज्ज रुक्खमिणं ।
 पक्कवत्थमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्ठत्तं ॥१६८॥
 तेसि हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहि ।
 मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदभावो य जोगो य ॥१६९॥
 हेउ अभावे नियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
 आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दुणिरोहो ॥२००॥
 कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो ।
 णो कम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ॥२०१॥



❖ विशेष गाथायें ❖

(समयसार में कुछ गाथायें हैं जिनकी टीका में लिखा है कि ऐसे ही राग, द्वेष, आदि सोलह सूत्रों को लगाकर पढ़ना चाहिये । ऐसी ही दो गाथाओं में यहां राग, द्वेष आदि पक्ष लगाकर पढ़ने का दिशा निर्देश है ।)

जो मोहं तु जिणित्ता णाण सहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥३२॥ अ (३७ ज)

(इस गाथा में राग आदि सोलह पक्ष लगाकर १६ गाथायें बनाई हैं ।)

जो रागं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदरागं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥१॥

जो दोसं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिददोसं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥२॥

जो कोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदकोहं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥३॥

जो माणं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदमाणं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥४॥

जो मायं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदमायं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥५॥

जो लोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।

तं जिदलोहं साहुं परमट्ठवियाणया विति ॥६॥

જો કમ્મં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદકમ્મં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૭॥

જો જોકમ્મ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

જિદજોકમ્મં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૮॥

જો નિયમણં જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદમણં હિ સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૯॥

જો વયણં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદવયણં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૦॥

જો કાયં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદકાયં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૧॥

જો સોદં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદસોદં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૨॥

જો ચક્ષું તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદચક્ષું સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૩॥

જો ઘાણં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદઘાણં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૪॥

જો રસણં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદરસણં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૫॥

જો ફાસં તુ જિણિત્તા ણાણસહાવાધિયં મુણહ આદં ।

તં જિદફાસં સાહું પરમટ્ઠવિયાણયા ચિત્તિ ॥૧૬॥

जिदमोदस्स वु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥३३॥ अ (३८ ज०)

(इस गाथा में भी सोलह पद लगाकर १६ गाथायें और बनाई हैं ।)

जिदरागस्स वु जइया खीणो रागो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणरागो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥१॥

जिदबोसस्स वु जइया खीणो बोसो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणबोसो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥२॥

जिदकोहस्स वु जइया खीणो कोहो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणकोहो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥३॥

जिलमाणस्स वु जइया खीणो माणो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणमाण भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥४॥

जिणमायस्स वु जइया खीणो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणमायो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥५॥

जिदलोहस्स वु जइया खीणो कम्मो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणलोहो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥६॥

जिदकम्मस्स वु जइया खीणो कम्मो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणकम्मो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥७॥

जिदणोकम्मस्स जवा खण्णोकम्मो हविज्ज साहुस्स ।

तइया खण्णोकम्मो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥८॥

जिवचित्तस्स वु जइया खीणो चित्तो हविज्ज साहुस्स ।

तइया हु खीणचित्तो भण्णदि सो निच्छयविदूहि ॥९॥

જિદવયણસ્સ દુ જઇયા સ્ત્રીણો વયણો હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણવયણો ભણ્ણદિ સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૦॥
 જિદકાયસ્સ દુ જઇયા સ્ત્રીણો હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણકાયો ભણ્ણદિ સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૧॥
 જિદસોદસ્સ દુ જઇયા સ્ત્રીણો સોદો હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણસોદો ભણ્ણદિ સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૨॥
 જિદચક્ષુસ્સ દુ જઇયા સ્ત્રીણો ચક્ષુ હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણચક્ષુ ભણ્ણદિ સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૩॥
 જિદધાણસ્સ દુ જઇયા સ્ત્રીણો ધરણો હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણધાણો ભણ્ણદિ જો સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૪॥
 જિદરસણસ્મ દુ જઇયા સ્ત્રીણો રસણો હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણરસણો ભણ્ણદં સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૫॥
 જિદફાસસ્સ દુ જઇયા સ્ત્રીણો ફાસો હવિજ્જ સાહુસ્સ ।
 તદ્વયા હુ સ્ત્રીણફાસો ભણ્ણદિ સો ણિચ્છયવિદૂહિ ॥૧૬॥

